॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७



श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

पञ्चतन्त्रम्

रत्ना' हिन्दी टीकोपेतम्

टीकाकार

० गोकुलदास गुप्त बी० ए०

सम्पादक

पं० रामचन्द्र झा व्याकरणाचार्यः



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण प्रथम, वि० संवत २०१२

मूल्य अजिल्द ४-००, सजिल्द ५

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

प्रधान कार्यालय

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१

फोन : ६३१४५

प्राक्कथन

सम्पूर्ण विश्व पञ्चतन्त्र की उपयोगिता से परिचित है। यद्यपि यह ग्रन्थ सरल संस्कृत भाषा में लिखा है तथापि हिन्दी मात्र के ज्ञाता तो इसका आनन्द नहीं ही उठा सकते। जो टीकाएँ हिन्दी में प्रकाशित हुई भी हैं वे इस कोटि की है कि संस्कृत के ज्ञाता ही उनसे लाभान्वित हो सकते हैं। अतः स्व० गोकुल दास गुप्त विरचित स्वतन्त्र रूप की यह व्यवस्थित सरल हिन्दी टीका प्रकाशित की गई है।

इस टीका की यह विशेषता है कि एक मात्र हिन्दी जानने वाले भी पञ्चतन्त्र की कथाओं में आये हुए उपदेशों तथा नीतितत्त्वों से भली भाँति अवगत हों तथा पदे-पदे संस्कृत भाषा एवं साहित्य का आनन्द लेते हुए विषय को हृदयङ्गम कर सकें।

विद्यार्थियों, अध्यापकों एवं साहित्य तथा नीतिप्रेमियों को समान रूप से लाभ हो इस बात का प्रस्तुत टीका में अत्यधिक ध्यान रखा गया है। परन्तु निःसंकोच यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें किसी प्रकार की त्रुटि है ही नहीं। अस्तु, इस प्रकाशन से टीकाकार की दिवङ्गत आत्मा को शान्ति एवं पाठक को आनन्द अवश्य प्राप्त होगा ऐसी आशा है।

टीकाकार का परिचय

प्रस्तुत टीका के रचयिता चोखम्वा सस्कृत सीरीज तथा चौग्वम्वा विद्याभवन, वाराणसी के अध्यक्ष स्वनामधन्य बावू जयकृष्णदासजी गुप्त के ज्येष्ठ पुत्र स्व० बाबू गोकुलदासजी गुप्त हैं। आपके सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि—

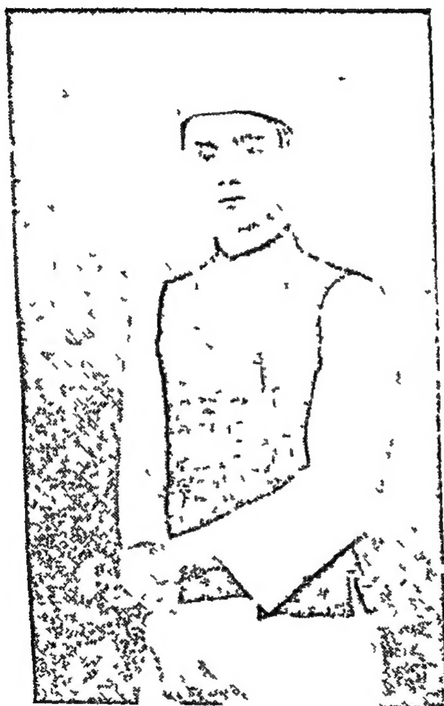
'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया'।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु'खभाग् भवेत् ॥'

यह अभिलाषा ही आपकी थी। जगत् में जो कुछ है सब भगवान् का प्रकाश है। मानव के भीतर भी भगवान् है। मानव जिस दिन इस बात को सम्यक् रूप से उपलब्ध करता है, उसी दिन से वह भगवान् मे निवास करता है। वेदान्त-वादियो में वैष्णवों ने नरनारायण के रूप का अवलम्बन करके इस बात को खूब दिखलाया है। आप उसी वैष्णव कुल के स्वच्छ नील गगन मे उत्फुल्ल सुधाकर की भाँति उदित हो रहे थे, किन्तु २१ वर्प की आयु में ही आपका दुखद निधन हो गया। आप रामायण, गीता और नीति-ग्रन्थों का अध्ययन विशेष अभिरुचि से किया करते थे। पञ्चतन्त्र की यह टीका आप के समक्ष प्रकाशित नहीं हो सकी, अतः आपकी स्मृतिस्वरूप यह पुस्तक आज आपको ही भेंट की जा रही है। इसका सम्पादन करते समय दिवङ्गत गुप्तजी का अभाव यदा-कदा मुझे किंकर्तव्यविमूढ कर देता था, किन्तु यावच्छक्य मैने इसको सुचारु बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी सम्पादन में कुछ दोष रह गया हो तो पाठक उसे सुधार कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

वाराणसी
वि० स० २०१५

विनीत
—रामचन्द्र झा

टीकाकार



गो० बा० गोकुलदास जी गुप्त

कथानुक्रमणिका

प्रथम तन्त्र : मित्रभेद

द्वितीय तन्त्र : मित्रसम्प्राप्ति

तृतीय तन्त्र : काकोलूकीय

चतुर्थ तन्त्र : लब्धप्रणाश

पंचम तन्त्र : अपरीक्षित कारक



पञ्चतन्त्रम्

प्रथमतन्त्रम् : मित्रभेदः

तत्र कथामुखम्

ब्रह्मा रुद्र कुमारो हरिवरुणयमा वह्निरिन्द्र कुवेर
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्युदधियुगनगा वायुरुर्वी भुजङ्गा ।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दितिरदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्या
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसुमुनय पान्तु नित्य ग्रहाश्च ॥ १ ॥
मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय ।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्य ॥ २ ॥
सकलार्थशास्त्रसार जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम् ।
तन्त्रै पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहर शास्त्रम् ॥ ३ ॥

विष्णुशर्मा ग्रन्थारम्भ मे निर्विघ्नपूर्वक ग्रन्थसमाप्ति के लिए मङ्गलाचरण करते है—ब्रह्मा इत्यादि । ब्रह्मा, महेश, कार्तिकेय, विष्णु, वरुण, यम, अग्नि, इन्द्र, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, सरस्वती, समुद्र, युग (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि), पर्वत, वायु, पृथ्वी, वासुकि आदि नागराज, कपिलादि सिद्ध, नदी, अश्विनीकुमार (यमल स्ववैंद्य), लक्ष्मी, दिति, अदितिपुत्र देवता, चण्डिकाप्रभृति माताएँ, वेद (ऋग्, युजु, साम, अथर्व), तीर्थ—काशी प्रयागादि, यज्ञ—अश्वमेधादि, गण—प्रथमादि, वसु (धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास), मुनि-व्यासादि और ग्रह-सूर्यादि, नव, ये सब नित्य हम लोगो की रक्षा करें ॥१॥

मनु, बृहस्पति, शुक्राचार्य, पुत्र (व्यास) के सहित पराशरमुनि, विद्वान् चाणक्य तथा नीतिशास्त्र के बनानेवालो के प्रति मेरा नमस्कार है ॥ २ ॥

इस ग्रन्थ की मौलिकता सिद्ध करने के लिए कहते है—सकलार्थ-इत्यादि ।

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्य नाम नगरम्। तत्र सकलार्थिकल्पद्रुम प्रवरमुकुटमणिमरीचिमञ्जरीचर्चितचरणयुगल सकलकलापारङ्गतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव। तस्य त्रय पुत्रा परमदुर्मेधसो बहुशक्तिरुग्रशक्तिरनन्तशक्तिश्चेति नामानो बभूवु। अथ राजा ताञ्शास्त्रविमुखानालोक्य सचिवानाहूय प्रोवाच—'भो, ज्ञातमेतद्भवद्भिर्यन्ममैते पुत्रा शास्त्रविमुखा विवेकरहिताश्च तदेतान्पश्यतो मे महदपि राज्य न सौख्यमावहति।

अथवा साध्विदमुच्यते-

अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्पदु खाय यावज्जीव जडो दहेत्॥ ४॥

वर गर्भस्रावो वरमृतुषु नैवाभिगमन
वर जात प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता।

इस ससार मे उपलब्ध सम्पूण अर्थशास्त्र के निष्कर्ष की समालोचना कर मैं (विष्णुशर्मा) ने पाँच तन्त्रो से युक्त इस मनोहर शास्त्र को बनाया है ॥३॥

इस प्रकार सुना जाता है कि दक्षिण देश मे महिलारोप्य नाम का नगर था। वहाँ समस्त याचको के लिए कल्पवृक्ष के समान, उच्चतम राजाओ की मुकुटमणियो के किरणसमूह से पूजित चरणयुगलवाला और समग्र कलाओ का पारदर्शी अमरशक्ति नाम का राजा था। उसके परम मूर्ख तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे—बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति। उन पुत्रो को शास्त्र से विमुख देखकर राजा ने मन्त्रियो को बुलाकर कहा—'यह तो आप लोगो को विदित ही है कि ये मेरे पुत्र शास्त्रज्ञान से विमुख तथा विवेकशून्य हैं। इसलिए इन्हे देखते हुए मुझे यह विशाल राज्य भी आनन्द नही देता।'

अथवा यह किसी ने ठीक ही कहा है—

उत्पन्न ही नही हुए, उत्पन्न होकर मर गये एव मूर्ख—इन तीन पुत्रो मे से उत्पन्न ही न हुए और उत्पन्न होकर मर गये ये दोनो बल्कि अच्छे है क्योंकि वे अत्यन्त अल्प दु ख देनेवाले होते हैं, किन्तु अन्तिम मूर्ख पुत्र तो जीवनपर्यन्त सन्ताप ही देता रहता है ॥ ४ ॥

बल्कि गर्भ का पतन हो जाना अच्छा है, ऋतुकाल मे स्त्री के पास न जानाक अच्छा है, किसी प्रकार सन्तति के उत्पन्न होने पर उसका तत्काल ही मर जाना

वरं वन्ध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाविद्वान्रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥ ५ ॥
किं तया क्रियते धेन्वा या न सूते न दुग्धदा ।
कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न भक्तिमान् ॥ ६ ॥
वरमिह वा सुतमरणं मा मूर्खत्वं कुलप्रसूतस्य ।
येन विबुधजनमध्ये जारज इव लज्जते मनुजः ॥ ७ ॥
गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमा यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥ ८ ॥

तदेतेषां यथा बुद्धिप्रकाशो भवति तथा कोऽप्युपायोऽनुष्ठीयताम् । अत्र च मद्दत्तां वृत्तिं भुञ्जानानां पण्डितानां पञ्चशती तिष्ठति । ततो 'यथा मम मनोरथाः सिद्धिं यान्ति तथाऽनुष्ठीयताम्' इति । तत्रैकः प्रोवाच 'देव, द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते । ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि । एवं च ततो

अच्छा है, अथवा पुत्र न होकर कन्या का ही जन्म होना अच्छा है, स्त्री का वन्ध्या होना या सन्तान का गर्भ मे ही रहना अच्छा है, किन्तु रूप-सम्पत्ति-गुण-सम्पन्न होता हुआ भी मूर्ख पुत्र अच्छा नही है ॥ ५ ॥

उसे गौ से क्या प्रयोजन जो न बच्चा उत्पन्न करती है और न तो दूध ही देती है ? उसी प्रकार उस पुत्र से क्या प्रयोजन जो न विद्वान् हो और न माता-पिता, गुरु एवं इष्टदेवो मे प्रेम करनेवाला हो ॥ ६ ॥

अथवा इस ससार मे पुत्र का मरण अच्छा है, परन्तु कुल मे उत्पन्न पुत्र का मूर्ख होना उचित नही है । क्योकि उस मूर्ख पुत्र से विद्वानो के मध्य मे जारज पुत्र के समान मनुष्य लज्जित होता है ॥ ७ ॥

गुणी लोगो की गणना के समय जिसके नाम पर अँगुली शीघ्रता के साथ न गिरे, यदि उस प्रकार के पुत्र से उसकी माता पुत्रवती है तो बताओ फिर वन्ध्या किस प्रकार की स्त्री होती है ॥ ८ ॥

इसलिए जिस प्रकार इनकी बुद्धि का विकास हो वैसा कोई उपाय आप लोग करें । यहाँ पर मेरे द्वारा दी हुई जीविका को भोगते हुए पाँच सौ विद्वान् रहते है । अत एव जिस प्रकार मेरे मनोरथ सिद्ध हो वैसा उद्योग करें ।' उनमे से एक मन्त्री ने कहा—'राजन् ! बारह वर्ष मे व्याकरणशास्त्र का अध्ययन होता है,

धर्मार्थकामशास्त्राणि ज्ञायन्ते। तत. प्रतिबोधन भवति।' अथ तन्मध्यतो सुमतिर्नाम सचिव' प्राह—'अशाश्वतोऽय जीवितव्यविषय। प्रभूत-कालज्ञेयानि शब्दशास्त्राणि। तत्सक्षेपमात्र शास्त्र किंचिदेतेपा प्रबोध-नार्थं चिन्त्यतामिति। उक्त च यत—

अनन्तपार किल शब्दशास्त्र स्वल्प तथाऽऽयुर्बहवश्च विघ्ना।
सार ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥ १ ॥

तदत्रास्ति विष्णुशर्मा नाम ब्राह्मण सकलशास्त्रपारङ्गमश्छात्रस-सदि लब्धकीर्ति। तस्मै समर्पयतु एतान्। स नून द्राक्प्रबुद्धान्करिष्यति' इति। स राजा तदाकर्ण्य विष्णुशर्माणमाहूय प्रोवाच-'भो भगवन्, मदनुग्रहार्थमेतानर्थशास्त्र प्रति द्रागयथानन्यसदृशान्विदधासि तथा कुरु। तदाह त्वा शासनशतेन योजयिष्यामि।' अथ विष्णुशर्मा त राजान-मूचे--'देव, श्रूयता मे तथ्यवचनम्। नाह विद्याविक्रय शासनशतेनापि

तत्पश्चात् मनु आदि के धर्मशास्त्र, चाणक्यादि के अर्थशास्त्र, वात्स्यायनादि के कामशास्त्र। तदन्तर धर्म, अर्थ तथा कामशास्त्र पढे जाते है। इन सबो के पढने के अनन्तर ही ज्ञान होता है।' इसके अनन्तर उनमे से सुमति नामक एक मन्त्री ने कहा—'यह मानवजीवन अनित्य है और शब्दशास्त्र (व्याकरण) का ज्ञान अधिक समय के अनन्तर होता है। इसलिए इनके बोध के लिए किसी सक्षिप्त-शास्त्र का विचार कीजिए। क्योकि कहा भी है-

शब्दशास्त्र (व्याकरण) का निश्चित कही पार नही, अवस्था थोडी और विघ्न अत्यधिक हैं। इसलिए सार (तत्त्व) को ग्रहण कर, असार (निस्तत्त्व) का वैसे ही परित्याग कर देना चाहिए जैसे हस जल से दूध निकाल लेते और जल त्याग देते हैं ॥ १ ॥

यहां अपने विद्वन्मण्डलियो मे समस्त शास्त्रो का पारगामी और छात्रो की मण्डली मे यशस्वी विष्णुशर्मा नाम का एक ब्राह्मण है, उसे इन पुत्रो को आप सौप दे। वह अवश्य इनको शीघ्र ही ज्ञानवान बना देगा।' राजा ने यह बात सुनकर विष्णुशर्मा को बुलाकर कहा—'भगवन्! मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आप मेरे इन पुत्रो को शीघ्र अर्थशास्त्र मे जिस प्रकार हो सके उस प्रकार असाधारण विद्वान् बना दीजिये। इसके बदले मैं आपको सौ गाँव का मालिक बना दूँगा'। इसके अनन्तर राजा से विष्णुशर्मा ने कहा---'राजन् मेरे सत्य

करोमि। पुनरेतास्तव पुत्रान्मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान्न करोमि, ततः स्वनामत्यागं करोमि। किं बहुना। श्रूयतां ममैष सिंहनादः। नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि। ममाशीतिवर्षस्य व्यावृत्तसर्वेन्द्रियार्थस्य न किंचिदर्थेन प्रयोजनम्। किंतु त्वत्प्रार्थनासिद्ध्यर्थं सरस्वतीविनोदं करिष्यामि। तल्लिख्यतामद्यतनो दिवसः। यद्यहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नयशास्त्रं प्रत्यनन्यसदृशान्न करिष्यामि, ततो नार्हति देवो देवमार्गं संदर्शयितुम्।'

अथासौ राजा तां ब्राह्मणस्यासंभाव्यां प्रतिज्ञां श्रुत्वा ससचिवः प्रहृष्टो विस्मयान्वितस्तस्मै सादरं तान्कुमारान्समर्प्य परां निर्वृतिमाजगाम। विष्णुशर्मणापि तानादाय तदर्थं मित्रभेद-मित्रप्राप्ति-काकोलूकीय-लब्धप्रणाश-अपरीक्षितकारकाणि चेति पञ्चतन्त्राणि रचयित्वा पाठितास्ते राजपुत्राः। तेऽपि तान्यधीत्य मासषट्केन यथोक्ताः संवृत्ताः। ततः प्रभृत्येतत्पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्। किं बहुना—

वचन सुनिये। मैं सौ गाँव लेकर भी विद्या-विक्रय नही करता। तथापि आपके इन पुत्रो को यदि छ महीने मे नीतिशास्त्र का ज्ञाता न बना दूँ तो मैं अपना नाम त्याग दूँगा। बहुत कहने से क्या लाभ? आप मेरा सिंहनाद सुनें। धन मिल जाने की अभिलाषा से मैं ऐसा नही कहता, क्योकि अस्सी वर्ष की अवस्था तक समस्त इन्द्रियो के भोग से नि स्पृह हो गया हूँ, अत. मुझे धन से कोई प्रयोजन नही है। किन्तु आपकी प्रार्थनासिद्धि के निमित्त मैं सरस्वती-विनोद करूँगा। अत आप आज के दिन का नाम लिख लीजिए। यदि मैं ६ महीने के अन्दर आपके पुत्रो को विद्या मे असाधारण ज्ञाता न बना दूँ तो भगवान् मुझे देवमार्ग (स्वर्ग) न दिखावें'।

इसके अनन्तर ब्राह्मण की इस असम्भव (असाधारण) प्रतिज्ञा को सुनकर राजा मन्त्रियो सहित अत्यधिक प्रसन्न हो आश्चर्ययुक्त हुआ और उन राजकुमारो को आदर के साथ उनको समर्पित कर राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। विष्णुशर्मा ने भी उन (कुमारो) को ले जाकर उनके निमित्त मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक इन पाँच तन्त्रो की रचना कर उन्हें पढाया। वे राजकुमार भी उन तन्त्रो को पढकर छ महीने मे जैसा कहा था, असाधारण ज्ञाता हो गये। उसी दिन से यह पञ्चतन्त्र नामक

अधीते य इद नित्य नीतिशास्त्र शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥ १० ॥

इति कथामुख समाप्तम् ।

अथ मित्रभेद प्रारम्भः

अथात प्रारभ्यते मित्रभेदो नाम प्रथम तन्त्रम् । यस्यायमादिम श्लोक —

वर्धमानो महान्स्नेह. सिहगोवृषयोर्वने ।
पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशित ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते--अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलरोप्य नाम नगरम् । तत्र धर्मोपार्जितभूरिविभवो वर्धमानको नाम वणिक्पुत्रो बभूव । तस्य कदाचिद्रात्रौ शय्यारूढस्य चिन्ता समुत्पन्ना--तत्प्रभूतेऽपि वित्तेऽर्थोपायाश्चिन्तनीया कर्तव्याश्चेति । यत उक्त च–

नीतिशास्त्र का ग्रन्थ बालको को ज्ञानप्राप्ति के लिए ससार मे प्रसिद्ध हुआ। अधिक क्या ?

जो इस नीतिशास्त्र का नित्य अध्ययन करता है अथवा सुनता है वह देवराज इन्द्र से भी कभी पराजित नही होता ॥ १० ॥

इस प्रकार पञ्चतन्त्र भाषाटीकान्तर्गत कथामुख समाप्त ।

अब यहाँ से मित्रभेद नाम का प्रथम तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है जिसका यह सर्वप्रथम श्लोक है–

वन मे एक सिह और बैल के बीच जो अधिक स्नेह बढा हुआ था, उसे चुगलखोर और अत्यधिक लालची गीदड ने नष्ट कर दिया ॥ १ ॥

इस प्रकार सुना जाता है कि दक्षिण देश मे महिलारोप्य नाम का एक नगर था वहाँ धर्मपूर्वक अत्यधिक धन उपार्जन करनेवाला वर्द्धमान नाम का एक बनिये का पुत्र था । एक समय रात्रि मे शय्या पर सोते हुए उसे चिन्ता उत्पन्न हुई— धन का आधिक्य हो जाने पर भी धनप्राप्ति का उपाय सोचना और करना ही चाहिये । क्योंकि कहा भी है—

न हि तद्विद्यते किंचिद्यदर्थेन न सिद्धयति ।
यत्नेन मतिमास्तस्मादर्थमेक प्रसाधयेत् ॥ २ ॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य वान्धवा ।
यस्यार्था स पुमाल्लोके यस्यार्था स च पण्डित ॥ ३ ॥
न सा विद्या न तद्दान न तच्छिल्प न सा कला ।
न तत्स्थैर्यं हि धनिना याचकैर्यन्न गीयते ॥ ४ ॥
इह लोके हि धनिना परोऽपि स्वजनायते ।
स्वजनोऽपि दरिद्राणा सर्वदा दुर्जनायते ॥ ५ ॥
अर्थेभ्योऽपि हि वृद्धेभ्य सवृत्तेभ्य इतस्तत ।
प्रवर्तन्ते क्रिया सर्वा पर्वतेभ्य इवापगा ॥ ६ ॥
पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते ।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि स प्रभावो धनस्य च ॥ ७ ॥

ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही है जो धन के द्वारा सिद्ध न होती हो, इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि केवल धन का यत्न के साथ उपार्जन करे ॥ २ ॥

जिसके पास धन है उसी के मित्र होते है। जिसके पास धन है उसी के बन्धु होते है। जिसके पास धन रहता है वही इस ससार मे पुरुष है और जिसके पास धन है वही पण्डित (सदसद्विवेकशील) समझा जाता है ॥ ३ ॥

न कोई ऐसी वह विद्या है, न वह दान है, न वह कारीगरी है, न वह कला है, न वह स्थिरता है, जिसे धनिको मे याचकगण न कहते हो (अर्थात् विद्या आदि समस्त गुण धनिको मे ही कहे जाते हैं) ॥ ४ ॥

इस ससार मे अनात्मीय लोग भी धनियो के आत्मीय (सम्बन्धी) हो जाते हैं, किन्तु दरिद्र पुरुष के अपने कुटुम्बी भी सर्वदा दुर्जन के समान व्यवहार करने लगते है ॥ ५ ॥

जिस प्रकार पर्वतो से ही सब नदियाँ निकल कर समस्त कार्य पूर्ण करती हैं, उसी प्रकार इधर-उधर से इकट्ठा कर बढाये हुए धन से ही समस्त लौकिक क्रियाओ की प्रवृत्ति होती है ॥ ६ ॥

यह धन का ही प्रभाव है जो कि—अपूज्य भी पूजित होता है, न जाने

अशनादिन्द्रियाणीव स्यु कार्याण्यखिलान्यपि ।
एतस्मात्कारणाद्वित्त सर्वसाधनमुच्यते ॥ ८ ॥
अर्थार्थी जीवलोकोऽय श्मशानमपि सेवते ।
त्यक्त्वा जनयितार स्व नि स्व गच्छति दूरत ॥ ९ ॥
गतवयसामपि पुसा येषामर्था भवन्ति ते तरुणा ।
अर्थेन तु ये हीना वृद्धास्ते यौवनेऽपि स्यु ॥ १० ॥

स चार्थ पुरुपाणा षडभिरुपायैर्भवति—भिक्षया, नृपसेवया, कृपिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा । सर्वेषामपि तेषा वाणिज्येनातिरस्कृतोऽर्थलाभ स्यात् । उक्त च यत —

कृता भिक्षाऽनेकैर्वितरति नृपो नोचितमहो
कृषि क्लिष्टा विद्या गुरुविनयवृत्त्याऽतिविषमा ।
कुसीदाद्दारिद्रच परकरगतग्रन्थिशमना-
न्न मन्ये वाणिज्यात्किमपि परम वर्तनमिह ॥ ११ ॥

योग्य के यहाँ भी जाया जाता है और प्रणाम न करने के योग्य भी व्यक्ति लोगो से प्रणम्य हो जाता है ॥ ७ ॥

जिस प्रकार भोजन करने से समस्त इन्द्रियाँ सबल होती हे, उसी प्रकार समस्त कार्य धन से ही सम्पन्न होते है, इसलिए धन सर्वसाधन कहलाता है ॥

धन की अभिलापा से प्राणी श्मशान (मुर्दा जलाने का स्थान) का भी सेवन करता है, और वही प्राणी अपने उत्पन्न करनेवाले निर्धन पिता को भी छोड कर दूर चला जाता है ॥ ९ ॥

वृद्ध पुरुषो मे भी जिनके पास धन है वे तरुण है । किन्तु जो धनहीन हैं वे युवावस्था मे भी वृद्ध हो जाते है ॥ १० ॥

वह धन मनुष्यो को छ उपायो से मिलता हे – (१) भिक्षा (२) राजकीय सेवा (नौकरी) (३) खेती के कार्य (४) विद्योपार्जन (५) व्यवहार (लेनदेन) और (६) वाणिज्य (बनियो के कर्म, व्यापार) द्वारा । इन सब मे वाणिज्य द्वारा अपमानरहित धनलाभ होता है । क्योकि कहा भी है—

अनेक पुरुपो के घरो से भिक्षा प्राप्त की जाती है । सेवा करने पर राजा भी उचित वृत्ति नही देता, औरो की तो बात ही क्या ? कृषिकर्म क्लेश से परिपूर्ण है, विद्या गुरु की विनयवृत्ति द्वारा बडी विपम है, ब्याज से भी दरिद्रता

उपायाना च सर्वेषामुपाय पण्यसग्रह ।
धनार्थं शस्यते ह्येकस्तदन्य सशयात्मक ॥ १२ ॥

तच्च वाणिज्य सप्तविधमर्थागमाय स्यात्। तद्यथा -गान्धिकव्यवहार, निक्षेपप्रवेश, गोष्ठिककर्म, परिचितग्राहकागम, मिथ्याक्रयकथनम्, कूटतुलामानम्, देशान्तराद्भाण्डानयन चेति। उक्त च—

पण्याना गान्धिक पण्य किमन्यै काञ्चनादिभि ।
यत्रैकेन च यत्क्रीत तच्छतेन प्रदीयते ॥ १३ ॥
निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम् ।
निक्षेपी म्रियते तुभ्य प्रदास्याम्युपयाचितम् ॥ १४ ॥

होती है, क्योकि अपना धन दूसरे के हाथो मे जाने से ग्रन्थिशमन (पूंजी गायब) का सन्देह बना रहता है। इसीलिये वाणिज्य कर्म से बढकर और किसी को म जीवनोपाय का साधन नही मानता ॥ ११ ॥

समस्त उपायो मे बेचने योग्य वस्तुओ का सग्रह (वाणिज्य) ही एक धनप्राप्ति का उत्तम उपाय है, इसके अतिरिक्त अन्य सब सशयात्मक है ॥ १२ ॥

धन की प्राप्ति के लिए सात प्रकार का वाणिज्य होता है। जैसे—(१) सुगन्धित द्रव्यो जडी बूटी आदि का व्यवसाय, (२) निक्षेपप्रवेश--अर्थात् दूसरे की वस्तु धरोहर रखना और उसे उसके बदले ब्याज पर रुपया देना, (३) गोष्ठिक (गाय के सम्बन्ध के) कर्म अथवा गोष्ठिक कर्म अर्थात् समाज सम्बन्धी कर्म (समाज मे मुखिया बनकर न्यायान्याय का विचार 'सामाजिक सेवा' करना) (४) परिचित ग्राहको को खीचना, (५) बिक्री करते समय थोडे मूल्य मे खरीदी चीज का अधिक मूल्य बताना, (६) तराजू तौलने मे चालबाजी करना और (७) दूसरे देश से बरतन आदि वस्तुओं को लाना। कहा भी है कि—

बेचने योग्य वस्तुओ मे, सुगन्धित द्रव्यो, जडी-बूटी आदि का व्यापार सर्वोत्तम होता है, क्योकि एक का खरीद कर सौ का बेचा जाता है, तब अन्य सुवर्ण आदि वस्तुओ के व्यापार से क्या लाभ ? ॥ १३ ॥

धरोहर घर मे आ जाने पर सेठ अपने कुलदेवता से प्रार्थना करता है कि यदि धरोहर रखने वाला मर जाय तो मैं आपकी अभिलषित वस्तु से पूजा करूंगा ॥ १४ ॥

गोष्ठिककर्मनियुक्त श्रेष्ठी चिन्तयति चेतसा हृष्ट ।
वसुधा वसुसपूर्णा मयाऽद्य लब्धा किमन्येन ॥ १५ ॥
परिचितमागच्छन्त ग्राहकमुत्कण्ठया विलोक्यासौ ।
हृष्यति तद्धनलुब्धो यद्वत्पुत्रेण जातेन ॥ १६ ॥

अन्यच्च-

पूर्णापूर्णे माने परिचितजनवञ्चन तथा नित्यम् ।
मिथ्याक्रयस्य कथन प्रकृतिरिय स्यात्किरातानाम् ॥ १७ ॥
द्विगुण त्रिगुण वित्त भाण्डक्रयविचक्षणा ।
प्राप्नुवन्त्युद्यमाल्लोका दूरदेशान्तर गता ॥ १८ ॥

इत्येव सप्रधार्य मथुरागामीनि भाण्डान्यादाय शुभाया तिथौ गुरुजनानुज्ञात सुरथाधिरूढ प्रस्थित । नस्य च मङ्गलवृषभौ सजीवकनन्दकनामानौ गृहोत्पनौ धूर्वोढारौ स्थितौ। तयोरेक सजीवकाभिधानो यमुनाकच्छमवतीर्ण सपङ्कपूरमासाद्य कलितचरणो युगभङ्ग

गोष्ठिक कर्म (गाय-बैल के व्यापार) मे लगा हुआ सेठ प्रफुल्लित मन से विचार करता है कि धन से परिपूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति मैने आज की हे । मुझे अब अन्य वस्तु से क्या प्रयोजन है ? ॥ १५ ॥

परिचित ग्राहको को आते हुए उत्कण्ठा से देखकर व्यापारी उसके धन पर आँख गडा कर इस प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार उसके यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ हो ॥ १६ ॥

और भी—कम और पूरा तौल कर प्रतिदिन परिचित लोगो को ठगना और असत्य भाव बतलाना—यह किराता (किराना के व्यापारियो या जङ्गलियो) का स्वभाव है ॥ १७ ॥

और भी—बरतनो के बेचने मे चतुर मनुष्य दूसरे दूर देश मे जाकर उद्योग द्वारा दूना तिगुना धन प्राप्त कर लेते है ॥ १८ ॥

ऐसा निश्चय कर उस बनिया ने मथुरा मे बिकने योग्य पात्रो (बरतनो) को लेकर शुभ तिथि मे गुरुजनो की आज्ञा से गाडी पर बैठकर प्रस्थान किया। घर मे उत्पन्न हुए शुभलक्षणसम्पन्न सञ्जीवक तथा नन्दक नामवाले दो बैल बोझ ढोनेवाले थे। उनमे एक सञ्जीवक नामवाला बैल यमुना के तीर पर उतर कर कीचड मे फँस जाने के कारण टाँग के टूट जाने से जुआ गिराकर

विधाय निषसाद । अथ तं तदवस्थमालोक्य वर्धमानः परं विषादमगमत् । तदर्थं च स्नेहार्द्रहृदयस्त्रिरात्रं प्रयाणभङ्गमकरोत् । अथ तं विषण्णमालोक्य सार्थिकैरभिहितम्—'भो श्रेष्ठिन्, किमेवं वृषभस्य कृते सिंहव्याघ्रसमाकुले बह्वपायेऽस्मिन्वने समस्तसार्थस्त्वया सन्देहे नियोजितः । उक्तं च—

'न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिरक्षणम् ॥ १९ ॥

अथासौ तदवधार्य सञ्जीवकस्य रक्षापुरुषान्निरूप्याशेषसार्थं नीत्वा प्रस्थितः । अथ रक्षापुरुषा अपि बह्वपायं तद्वनं विदित्वा सञ्जीवकं परित्यज्य पृष्ठतो गत्वाऽन्येद्युस्तं सार्थवाहं मिथ्याऽऽहुः—'स्वामिन् मृतोऽसौ सञ्जीवकः अस्माभिस्तु सार्थवाहस्याभीष्ट इति मत्वा वह्निना संस्कृतः' इति । तच्छ्रुत्वा सार्थवाहः कृतज्ञतया स्नेहार्द्रहृदयस्तस्यौर्ध्वदेहिकक्रियां वृषोत्सर्गादिकाः सर्वाश्चकार । सञ्जीवकोऽप्यायुःशेषतया यमुनासलिलमिश्रैः शिशिरतरवातैराप्यायितशरीरः कथञ्चिदप्युत्थाय यमुनातटमुपपेदे । तत्र

बैठ गया । इसके अनन्तर उसकी वैसी दशा देखकर वर्द्धमान अत्यधिक दुःखी हुआ तथा उसने उसके लिए प्रेम से आर्द्रहृदय होकर तीन रात तक आगे प्रस्थान नहीं किया । उसको इस प्रकार खिन्न देखकर साथियों ने कहा—'हे सेठजी ! क्यों एक बैल के लिए सिंह और बाघ से युक्त तथा अनेक विपत्तिवाले इस वन में सब साथियों को आप खतरे में डाल रखे हैं ? कहा भी है—

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि थोड़े के लिए अधिक का नाश न करे । इसी में पाण्डित्य (समझदारी) है कि थोड़े से अधिक की रक्षा करें ॥ १९ ॥

इसके बाद उस बात को अच्छी तरह से समझकर वह वैश्य सञ्जीवक की रक्षा करने के लिए रक्षक-पुरुषों को नियुक्त करके अवशिष्ट सब साथियों को लेकर आगे चला । नियुक्त रक्षकगण भी उस वन को संकटयुक्त देख सञ्जीवक को वहीं छोड़कर पीछे से जाकर दूसरे दिन उस सार्थवाह (बनिये) के पास जाकर झूठ बोलने लगे कि—'हे स्वामिन् ! वह सञ्जीवक तो मर गया और हम लोगों ने उसे आपका प्यारा जानकर उसका अग्निसंस्कार भी कर दिया ।' यह सुनकर सार्थवाह (वैश्य) ने कृतज्ञता और दया से आर्द्रहृदय होकर उस (बैल) की वृषोत्सर्गादि और्ध्वदेहिक सब क्रिया सम्पन्न की । इधर सञ्जीवक भी आयु शेष रहने के कारण, यमुना के जल से मिश्रित अत्यन्त शीतल वायु द्वारा स्वस्थ

मरकतसदृशानि बालतृणाग्राणि भक्षयन्कतिपयैरहोभिर्हरवृषभ इव पीन ककुद्मान्बलवांश्च संवृत्तः प्रत्यहं वल्मीकशिखराग्राणि शृङ्गाभ्यां विदारयन्गर्जमान आस्ते। साधु चेदमुच्यते—

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥२०॥

अथ कदाचित्पिङ्गलको नाम सिंहः सर्वमृगपरिवृतः पिपासाकुल उदकपानार्थं यमुनातटमवतीर्णः संजीवकस्य गम्भीरतररावं दूरादेवाशृणोत्। तच्छ्रुत्वाऽतीव व्याकुलहृदयः ससाध्वसमाकारं प्रच्छाद्य वटतले चतुर्मण्डलावस्थानेनावस्थितः। चतुर्मण्डलावस्थानं त्विदम्-सिंहः, सिंहानुयायिनः, काकरवाः, किंवृत्ता इति। अथ तस्य करटकदमनकनामानौ द्वौ शृगालौ मन्त्रिपुत्रौ भ्रष्टाधिकारौ सदानुयायिनावास्ताम्। तौ च परस्परं मन्त्रयतः।

शरीर से, किसी प्रकार उठकर यमुना के किनारे पहुँचा। वहाँ मरकत मणि के समान (हरे-हरे) छोटे तृण के अग्रभाग को खाता हुआ वह कुछ ही दिनों में शङ्करजी के वृषभ (नन्दी) के समान मोटा ककुद (पीठ पर का मोटा मांस का भाग) वाला और बलवान् भी हो गया। प्रतिदिन वल्मीक (दीमक के घरौंदे) के शिखर (टीले) के अगले भागों को सींगों से विदीर्ण करता हुआ गर्जन करने लगा। यह ठीक ही कहा जाता है कि—

अरक्षित वस्तु भी दैव से रक्षित होकर बची रहती है, और अच्छी तरह से रक्षित वस्तु भी दैव से अरक्षित होकर नष्ट हो जाती है। वन में परित्यक्त हुआ भी अनाथ जी जाता है, किन्तु घर में विशेष प्रयत्न करने पर भी नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

इसके अनन्तर किसी समय पिङ्गलक नाम का सिंह समस्त मृगों के साथ प्यास से व्याकुल होकर जल पीने के लिए यमुना के किनारे पहुँचा। उसने सहसा सञ्जीवक के अत्यन्त गम्भीर शब्द को दूर ही से सुना। उसे सुनकर अत्यधिक बेचैन होकर भय से आकार को छिपाकर वटवृक्ष के नीचे चतुर्मण्डलावस्थान के क्रम से बैठा। चतुर्मण्डलावस्थान उसे कहते हैं—जिसमें सिंह, सिंह के पीछे गमन करनेवाले, काकरव (कौए के समान शब्द करने वाले) और किंवृत (कौन-सा विषय उपस्थित है, उसे जानने वाले) होते हैं। करटक और दमनक नामक दो सियार मन्त्री के पुत्र अधिकार से भ्रष्ट होकर भी सदा उसका अनुगमन

तत्र दमनकोऽब्रवीत्—'भद्र करटक, अय तावदस्मत्स्वामी पिङ्गलक उदक-ग्रहणार्थं यमुनाकच्छमवतीर्य स्थित'। स किंनिमित्त पिपासाकुलोऽपि निवृत्त्य व्यूहरचना विधाय दौर्मनस्येनाभिभूतोऽत्र वटतले स्थित.।' करटक आह—'भद्र, किमावयोरनेन व्यापारेण उक्त च यत —

अव्यापारेषु व्यापार यो नर कर्तुमिच्छति।
स एव निधन याति कीलोत्पाटीव वानर ॥ २१ ॥

दमनक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा १

कस्मिश्चिन्नगराभ्याशे केनापि वणिक्पुत्रेण तरुखण्डमध्ये देवतायतन कर्तुमारब्धम्। तत्र च ये कर्मकरा स्थापत्यादय, ते मध्याह्नवेलायामाहारार्थं नगरमध्ये गच्छन्ति। अथ कदाचित्तत्रानुषङ्गिक वानरयूथमितश्चेतश्च परिभ्रमदागतम्। तत्रैकस्य कस्यचिच्छिल्पिनोऽर्धस्फाटितोऽञ्जनवृक्षदारुमय स्तम्भ खदिरकीलकेन मध्यनिहितेन तिष्ठति। एतस्मिन्नन्तरे ते

करने वाले थे। वे दोनो आपस मे मन्त्रणा करने लगे। उनमें से दमनक ने कहा—'भद्र करटक! हमारा स्वामी पिङ्गलक तो जल पीने के लिए यमुना की जल-युक्त भूमि पर बैठा हुआ था। फिर क्या कारण है कि प्यास से बेचैन होने पर भी लौटकर यह अपनी सेना का मण्डल बनाकर, दु खी मन से पराभव को प्राप्त होकर इस बरगद के नीचे आया? करटक बोला—'हे भद्र हम लोगो को इस व्यर्थ के विषय मे सोचने से क्या प्रयोजन? क्योकि कहा है—

जो मनुष्य व्यर्थ का काम करना चाहता है, वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कील को उखाड कर वह वानर नष्ट हो गया था ॥ २१ ॥

दमनक ने कहा—यह किस प्रकार की कथा है? उसने कहा—

किसी नगर के समीप किसी बनिये के पुत्र ने बगीचे के बीच मे देवमन्दिर का निर्माण प्रारम्भ किया। उसमे जो काम करने वाले कारीगर शिल्पी (बढई) आदि थे, वे दोपहर के समय भोजन करने के लिए नगर मे चले जाते थे। एक समय अपनी जाति के स्वभाव से वानरो का झुण्ड इधर-उधर से घूमता हुआ वहाँ आ पहुँचा। वहाँ किसी एक कारीगर द्वारा आधे चीरे हुए अञ्जनवृक्ष के काठ के खम्भे के बीच खैर की खूटी लगी हुई पडी थी। इसी बीच वे वानर

वानरास्तरुशिखरप्रसादशृङ्गदारुपर्यन्तेषु यदेच्छया क्रीडितुमारब्धा। एकश्च तेषा प्रत्यासन्नमृत्युश्चापल्यात्तस्मिन्नर्धस्फाटितस्तम्भ उपविश्य पाणिभ्या कीलक सगृह्य यावदुत्पाटयितुमारेभे, तावत्तस्य स्तम्भमध्यगत वृषणस्य स्वस्थानाच्चलितकीलकेन यद्वृत्त तत्प्रागेव निवेदितम्। अतोऽह ब्रवीमि-'अव्यापारेषु' इति। आवयोर्भक्षितशेष अहारोऽस्त्येव। तत्किमनेन व्यापारेण।' दमनक आह-'तत्कि भवानाहारार्थी केवलमेव। तन्न युक्तम्। उक्त च—

सुहृदामुपकारकारणाद् द्विषतामप्यपकारणात्।
नृपसश्रय इष्यते बुधैर्जठर को न बिभर्ति केवलम्॥ २२॥

किच—यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहव सोऽत्र जीवतु।
वयासि कि न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥ २३॥

तथा च—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथित मनुष्यै-
र्विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणै समेतम्।

वृक्षो तथा मन्दिर की चोटी और काठ के चारो ओर स्वेच्छापूर्वक क्रीडा करने लगे। उनमे से एक जिसकी मृत्यु निकट आ गई थी चपलता के कारण उस आधे चीरे हुए स्तम्भ पर बैठ गया और हाथ से उस खूँटी को पकडकर ज्यो ही उखाडने लगा त्यो ही अपनी जगह से निकली हुई खूँटी के कारण, स्तम्भ के छेद मे लटके हुए अण्डकोषो (पोतो) के दबने से उसकी जो दशा हुई उसे मैंने प्रारम्भ मे ही बतला दी है। इसलिए मै कहता हूँ कि 'अव्यापारेषु' इत्यादि। हम दोनो के खाने से बचा हुआ भोजन भी अभी रखा ही है तो इस व्यर्थ के व्यापार मे क्या प्रयोजन? दमनक ने कहा—उससे क्या? आप तो केवल भोजन की ही चेष्टा करते हैं। यह उचित नही। कहा है कि—

बुद्धिमान लोग मित्रो का उपकार करने और शत्रुओ का अपकार करने के लिए ही राजा का आश्रय पाने की अभिलाषा करते है। यो तो कौन ऐसा है जो अपना पेट नही भर लेता॥ २२॥

क्योकि—जिसके जीने मे बहुत से पुरुष जिएँ, वही इस लोक मे जीवित रहे—अर्थात् उसी का जीना ठीक है। वैसे तो क्या पक्षीगण चोच से अपने उदर की पूर्ति नही कर लेते?॥ २३॥

और भी—मनुष्यो से जिस जीवन मे विज्ञान, शूरता तथा ऐश्वर्य आदि

तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञा
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते ॥२८॥

यो नात्मना न च परेण च बन्धुवर्गे
दीने दया न कुरुते न च मर्त्यवर्गे ।
किं तस्य जीवितफल हि मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिराय बलि च भुङ्क्ते ॥२५॥

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलि ।
सुसतुष्ट कापुरुष स्वल्पकेनापि तुष्यति ॥ २६ ॥

किं च—किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा ।
आरोहति न य स्वस्य वशस्याग्रे ध्वजो यथा ॥ २७ ॥

परिवर्तिनि ससारे मृत को वा न जायते ।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र य स्फुरेच्च श्रियाधिक ॥ २८ ॥

सद्गुणो से युक्त होकर क्षण भर भी प्रतिष्ठा के साथ जीया जाता है उसे ही विद्वान् लोग वास्तविक जीवन कहते है। यो तो कौआ भी बहुत दिनो तक जीता है और बलि खाता है ॥ २४ ॥

जो अपने अथवा दूसरो के द्वारा, न तो सम्बन्धियो पर न दीनो पर और न मनुष्यो पर ही दया करता है, मनुष्यलोक मे उसके जीवित रहने का क्या फल है ? इस तरह तो कौआ भी चिर काल तक जीता है और बलि खाता है ॥ २५ ॥

क्योकि – छोटी नदी और चूहे की अञ्जलि शीघ्र ही परिपूर्ण हो जाती है। (इसी प्रकार) कायर पुरुष अतिशीघ्र स्वल्प वस्तु से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ २६ ॥

और भी—माता की युवावस्था हरण करनेवाले उस पुरुष के जन्म से क्या लाभ ? जो अपने वश (कुल) मे वश (बाँस) के अग्रिम भाग मे स्थित पताका के समान नही फहराता ॥ २७ ॥

परिवर्तनशील ससार में मर कर कौन नही उत्पन्न होता ? किन्तु वास्तविक वही जन्म लेने वाला परिगणित होता है, जो अधिकाधिक लक्ष्मी से देदीप्यमान हो ॥ २८ ॥

किच,—जातस्य नदीतीरे तस्यापि तृणस्य जन्मसाफल्यम् ।
यत् सलिलमज्जनाकुलजनहस्तालम्बन भवति ॥ २९ ॥

तथा च—स्तिमितोन्नतसचारा जनसतापहारिण ।
जायन्ते विरला लोके जलदा इव सज्जना ॥ ३० ॥

निरतिशय गरिमाण तेन जनन्या स्मरन्ति विद्वास ।
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ ३१ ॥

अप्रकटीकृतशक्ति शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रिया लभते ।
निवसन्नन्तर्दारुणि लघ्यो वह्निर्न तु ज्वलित ॥ ३२ ॥

करटक आह—'आवा तावदप्रधानौ तत्किमावयोरनेन व्यापारेण ।

उक्त च,—अपृष्टोऽत्राप्रधानो यो ब्रूते राज्ञ पुर॰ कुधी ।
न केवलमसम्मान लभते च विडम्बनम् ॥ ३३ ॥

तथा च—वचस्तत्र प्रयोक्तव्य यत्रोक्त लभते फलम् ।
स्थायी॰भवति चात्यन्त राग शुक्लपटे यथा' ॥ ३४ ॥

और भी—नदी के किनारे उत्पन्न हुए उस तृण का भी जन्म सफल है, जो जल मे डूबते समय व्याकुल हुए लोगो का सहारा बनता है ॥ २९ ॥

और भी—ऊँचे-नीचे सञ्चार करनेवाले, लोगो के सन्ताप को हरण करने वाले मेघ के समान उपकारी सज्जन तो कोई विरले ही होते है ॥ ३० ॥

विद्वान् पुरुष ऐसी माता को अत्यधिक महत्त्व देकर स्मरण करते है, जो अपने गर्भ मे विलक्षण पुरुष को धारण करती है, जो बालक बडे लोगो का भी गुरु होता है ॥ ३१ ॥

(जिस प्रकार) लकडी के अन्दर रहनेवाली आग का सभी उल्लघन करते है, प्रज्वलित का कोई नही (उसी प्रकार) अपनी शक्ति को प्रकट न करने वाला समर्थ पुरुष भी दूसरे के द्वारा अपमानित हो जाता है ॥ ३२ ॥

करटक ने कहा—'हमलोग तो यहाँ अप्रधान है, अत हमे इस व्यापार से क्या प्रयोजन ?

कहा भी है—जो अप्रधान कुबुद्धि प्राणी विना पूछे हुए इस लोक मे राजा के सम्मुख बोलता है, वह केवल असम्मान को ही नही प्राप्त होता, वल्कि उसकी विडम्बना भी होती है ॥ ३३ ॥

और भी—वात वहाँ कहनी चाहिये, जहाँ कहने से कुछ लाभ हो । जैसे कि स्वच्छ कपडे पर लाल रङ्ग अधिक स्थायी होता है ॥ ३४ ॥

दमनक आह—'मा मैव वद'।

अप्रधानः प्रधानः स्यात्सेवते यदि पार्थिवम्।
प्रधानोऽप्यप्रधानः स्याद्यदि सेवाविवर्जितः ॥ ३५ ॥

यत उक्तं च—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति ॥३६॥

तथा च—कोपप्रसादवस्तूनि ये विचिन्वन्ति सेवकाः।
आरोहन्ति शनैः पश्चाद् धुन्वन्तमपि पार्थिवम् ॥ ३७ ॥
विद्यावतां महेच्छानां शिल्पविक्रमशालिनाम्।
सेवावृत्तिविदां चैव नाश्रयः पार्थिवं विना ॥ ३८ ॥
ये जात्यादिमहोत्साहान्नरेन्द्रान्नोपयान्ति च।
तेषामामरणं भिक्षा प्रायश्चित्तं विनिर्मितम् ॥ ३९ ॥
ये च प्राहुर्दुरात्मानो दुराराध्या महीभुजः।
प्रमादालस्यजाड्यानि ख्यापितानि निजानि तैः ॥ ४० ॥

दमनकने कहा—'ऐसा मत कहो'।

यदि राजा की सेवा करे तो अप्रधान प्रधान हो जाता है और सेवा से पराङ्मुख हो तो प्रधान भी अप्रधान हो जाता है ॥ ३५ ॥

क्योंकि कहा भी है—राजा अपने समीप के ही मनुष्य को मानता है, चाहे वह विद्यारहित, अकुलीन अथवा संस्कार-रहित ही क्यों न हो? प्रायः राजा, स्त्री और लतायें जो समीप में रहता है, उन्हीं का परिवेष्टन करती हैं ॥ ३६ ॥

और भी—जो सेवक लोग स्वामी के क्रोध और प्रसन्नता के कारण पर मनन किया करते हैं, वे धीरे-धीरे प्रतिकूल राजा के यहाँ भी (उच्च पद पर) अपना स्थान बना लेते हैं ॥ ३७ ॥

विद्वान्, कारीगर एवं पराक्रम से युक्त और सेवावृत्ति के जानने वाले लोगों का राजा को छोड़ कर—अन्यत्र कहीं आश्रय नहीं रहता ॥ ३८ ॥

जो अपनी जाति आदि के गौरव के कारण राजा के समीप नहीं जाते, उनके लिए मरणपर्यंत भिक्षा मांगना ही प्रायश्चित्त कहा गया है ॥ ३९ ॥

जो दुरात्मा यह कहा करते हैं कि 'राजा बड़ी कठिनाई के द्वारा आराधना

सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्ट्वोपायैर्वशीकृतान् ।
राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४१ ॥
राजानमेव संश्रित्य विद्वान् याति परां गतिम् ।
विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति ॥ ४२ ॥
धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ' ॥ ४३ ॥

करटक आह—'अथ भवान् किं कर्तुमनाः ।' सोऽब्रवीत् -'अद्यास्मत्स्वामी पिङ्गलको भीतो भीतपरिवारश्च वर्तते । तदेनं गत्वा भयकारणं विज्ञाय संधि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय द्वैधीभावानामेकतमेन संविधास्ये ।'

करटक आह—'कथं वेत्ति भवान् यद्भयाविष्टोऽयं स्वामी ।' सोऽब्रवीत्—'ज्ञेयं किमत्र । यत उक्तं च—

करने योग्य होते है उन्होने अपनी असावधानी, आलस्य और मूर्खता ही प्रकट की है ॥ ४० ॥

जब साप, बाघ, हाथी और सिंहो को भी उपायो के द्वारा वशीभूत होते हुए देखा जाता हैं तो सावधान रहने वाले बुद्धिमान् लोगो के लिए राजा को वश मे करना कौन सी बडी बात हे ॥ ४१ ॥

राजा के ही आश्रय से विद्वान् अपनी परम उन्नति को प्राप्त करता है क्योकि मलय पर्वत के अतिरिक्त अन्यत्र चन्दन वृक्ष नही उगता ॥ ४२ ॥

श्वेत छत्र, सुन्दर घोडे और मत्त हाथी, ये सब सर्वदा राजा की प्रसन्नता से ही प्राप्त होते है ॥ ४३ ॥

करटक ने कहा-'तो अब आप क्या करना चाहते है उसने कहा-'आज हम लोगो का स्वामी पिङ्गलक परिवार सहित भयभीत है । इसीलिए इसके समीप जाकर भय के कारण को समझ सन्धि (मेल), विग्रह (लडाई), यान (शत्रु पर चढाई करने के लिए प्रस्थान करना), आसन (समय की प्रतीक्षा करना), संश्रय (वर्तमान प्रबल शत्रुओ या भविष्य मे होने वाले प्रबल शत्रुओ के विरुद्ध शक्तिशाली राजा का आश्रयण करना) और द्वैधीभाव (दो शक्तिशाली शत्रु हो तो दोनो से मिलकर अपने स्थान मे रहना) इन नीतियो मे से किसी एक का आश्रय लूंगा ।'

करटक ने कहा—'आप कैसे जानते है स्वामी भयभीत है उसने कहा—'इसे जानने मे रखा ही क्या है ? क्योकि कहा भी तो है–

उदीरितोऽर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥४४॥
तथा च मनुः—आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४५ ॥

तदद्यैनं भयाकुलं प्राप्य स्वबुद्धिप्रभावेण निर्भयं कृत्वा वशीकृत्य च निजां साचिव्यपदवीं समासादयिष्यामि।' करटक आह—'अनभिज्ञो भवान् सेवाधर्मस्य। तत्कथमेनं वशीकरिष्यसि। सोऽब्रवीत्—'कथमहं सेवानभिज्ञः। मया हि तातोत्सङ्गे क्रीडताभ्यागतसाधूनां नीतिशास्त्रं पठतां यच्छ्रुतं सेवाधर्मस्य सारं तद् हृदि स्थापितम्। श्रूयतां तच्चेदम्—

सुवर्णपुष्पितां पृथ्वीं विचिन्वन्ति नरास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ४६ ॥
सा सेवा या प्रभुहिता ग्राह्या वाक्यविशेषतः ।
आश्रयेत्पार्थिवं विद्वांस्तद्द्वारेणैव नान्यथा ॥ ४७ ॥

कही हुई बात का अर्थ तो पशु भी ग्रहण कर लेते हैं प्रेरणा करने पर घोड़े और हाथी भी भार-वहन करते हैं। किन्तु पण्डित लोग बिना कही हुई बात को भी समझ लेते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरों के भाव को जानने वाली होती है ॥ ४४ ॥

ऐसा मनु भगवान् ने भी कहा है—हर्ष और विषाद को प्राप्त हुए आकार, संकेत, गमन, चेष्टा, भाषण, नेत्र, और मुख की विकृतावस्था (चढ़ाव-उतार) से मन के भीतर की बात जानी जाती है ॥ ४५ ॥

इसलिए मैं भयभीत स्वामी के पास जाकर, अपनी बुद्धि के प्रभाव से निर्भय और वश में कर, पुनः अपनी मन्त्री-पदवी को प्राप्त करूँगा।' करटक ने कहा—'आप सेवाधर्म से अनभिज्ञ हैं। इसलिए उन्हें वश में किस प्रकार करेंगे। उसने कहा—'मैं सेवा से अनभिज्ञ किस तरह हूँ मैंने पिता की गोद में खेलते हुए अभ्यागत साधुओं के मुख से जो नीतिशास्त्र सुना है, उस सेवाधर्म के सारांश (निचोड़) को मैंने हृदय में धारण कर लिया है। उसे सुनिए, वह यह है—

पराक्रमी, विद्वान् और सेवावृत्ति के जानने वाले तीन प्रकार के लोग सुवर्ण-रूप फूल फूलने वाली अर्थात् सुवर्ण से परिपूर्ण पृथ्वी की खोज कर उसे प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४६ ॥

वही सेवा है, जो प्रभु का कल्याण करने वाली है और यह विशेषकर प्रभु

यो न वेत्ति गुणान् यस्य न त सेवेत पण्डित ।
न हि तस्मात् फल किंचित्सुकृष्टादूषरादिव ।। ४८ ।।
द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्य सेव्यगुणान्वित ।
भवत्याजीवन तस्मात् फल कालान्तरादपि ।। ४९ ।।
अपि स्थाणुवदासीन शुष्यन्परिगत क्षुधा ।
न त्वेवानात्मसपन्नाद् वृत्तिमीहेत पण्डित ।। ५० ।।
सेवक स्वामिन द्वेष्टि कृपण परुषाक्षरम् ।
आत्मान किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्य न वेत्ति य ।। ५१ ।।
यस्याश्रित्य विश्राम क्षुधार्ता यान्ति सेवका· ।
सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्य सदा पुष्पफलोऽपि सन् ।। ५२ ।।

के वाक्य से ग्रहण की जा सकती है । विद्वद्वर्ग को चाहिए कि उसी (वाक्य) के द्वारा राजा का आश्रय ले और दूसरा कोई उपाय नही है ।। ४७ ।।

जो जिसका गुण न जानता हो उस स्वामी की सेवा पण्डितो (राजनीतिज्ञो) को चाहिए कि न करे । क्योकि जिस प्रकार ऊषर भूमि को अच्छी तरह जोतने पर भी कोई लाभ नही होता है उसी प्रकार वैसे स्वामी से कुछ फल नही होता ।। ४८ ।।

द्रव्य और प्रकृति से हीन पुरुष भी यदि सेवन करने योग्य गुणो से युक्त हो तो उसकी सेवा करनी चाहिए । क्योकि उससे जीवनपर्यन्त कालान्तर मे फल की प्राप्ति हो सकती है ।। ४९ ।।

बल्कि ठूँठे पेड के समान खडा हुआ और भूख से सूखता हुआ रहना श्रेयस्कर है, किन्तु विद्वान् को चाहिए कि अज्ञानी प्रभु से जीविका-प्राप्ति की अभिलाषा कभी भी न करे ।। ५० ।।

जो सेवक अपने कृपण स्वामी की कठोर शब्दो मे निन्दा करता है, वह अपनी ही निन्दा क्यो नही करता, क्योकि वह सेव्य (सेवा करने योग्य) है या असेव्य (सेवा करने योग्य नही) है इसका ज्ञान स्वयं नही रखता ।। ५१ ।।

जिसकी सेवा करके भूख से व्याकुल सेवक को विश्राम नही प्राप्त होता, वह राजा-फला हुआ मदार (आक) के पेड के समान सर्वथा त्यागने के ही योग्य है ।। ५२ ।।

राजमातरि देव्या च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तेत राजवत् ॥ ५३ ॥
जीवेति प्रब्रुवन् प्रोक्त कृत्याकृत्यविचक्षण ।
करोति निर्विकल्प य स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५४ ॥
प्रभुप्रसादज वित्त सुप्राप्त यो निवेदयेत् ।
वस्त्राद्य च दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५५ ॥
अन्त पुरचरै सार्धं यो न मन्त्र समाचरेत् ।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५६ ॥
द्यूत यो यमदूताभ हाला हालाहलोपमाम् ।
पश्येद्दारान् वृथाकारान् स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५७ ॥
युद्धकालेऽग्रणीर्य स्यात् सदा पृष्ठानुग पुरे ।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५८ ॥
सम्मतोऽहं विभोर्नित्यमिति मत्वा व्यतिक्रमेत् ।
कृच्छ्रेष्वपि न मर्यादा स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५९ ॥

सेवक को चाहिए कि वह राजमाता, पटरानी, राजकुमारी, मुख्यमन्त्री, पुरोहित और द्वारपाल इनसे हर समय राजा के समान ही आचरण करे ॥५३॥

कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का जाननेवाला जो सेवक पुकारने से 'जी' कहता है और कोई विचार किये बिना ही जो राजा की आज्ञा का पालन करता है, वही राजा का प्रियपात्र होता है ॥ ५४ ॥

जो प्रभु की प्रसन्नता से प्राप्त हुए धन से सन्तोष करता है और उनके दिये वस्त्रादि को अपने अङ्गो पर धारण करता है, वही राजा प्रिय होता है ॥ ५५ ॥

जो सेवक अन्त पुर मे रहनेवालो के साथ समापण नही करता और न राजा की रानियो से ही बात करता है, वही राजा का प्रिय होता है ॥५६॥

जो सेवक जुए को यमदूत के समान, मद्य को विष के समान और स्त्रियो को कुत्सित स्वरूपवाली (कुरूपा के समान) देखता है वही राजा प्रिय होता है ॥५७॥

जो युद्धसमय मे आगे चलनेवाला हो, नगर मे पीछे पीछे चलने वाला हो और महल मे प्रभु की ड्योढी पर खडा रहनेवाला हो, वही सेवक राजा का प्रिय होता है ॥ ५८ ॥

मैं सर्वदा प्रभु का प्रेमपात्र हूँ (उनकी सम्मत्ति से ही बराबर कार्य करने-

योगा न वेत्ति गुणान् यस्य न त सेवेत पण्डित ।
न हि तस्मात् फल किंचित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ४८ ॥
द्रव्यप्रकृतिहीनोऽपि सेव्य सेव्यगुणान्वित ।
भवत्याजीवन तस्मात् फल कालान्तरादपि ॥ ४९ ॥
अपि स्थाणुवदासीन शुष्यन्परिगत क्षुधा ।
न त्वेवानात्मसपन्नाद् वृत्तिमीहेत पण्डित ॥ ५० ॥
सेवक स्वामिन द्वेष्टि कृपण परुषाक्षरम् ।
आत्मान किं स न द्वेष्टि सेव्यासेव्य न वेत्ति य ॥ ५१ ॥
यस्याश्रित्य विश्राम क्षुधार्ता यान्ति सेवका ।
सोऽर्कवन्नृपतिस्त्याज्य सदा पुष्पफलोऽपि सन् ॥ ५२ ॥

के वाक्य से ग्रहण की जा सकती है। विद्वद्वर्ग को चाहिए कि उसी (वाक्य) के द्वारा राजा का आश्रय ले और दूसरा कोई उपाय नही है ॥ ४७ ॥

जो जिसका गुण न जानता हो उस स्वामी की सेवा पण्डितो (राजनीतिज्ञो) को चाहिए कि न करे। क्योकि जिस प्रकार ऊषर भूमि को अच्छी तरह जोतने पर भी कोई लाभ नही होता है उसी प्रकार वैसे स्वामी से कुछ फल नही होता ॥ ४८ ॥

द्रव्य और प्रकृति से हीन पुरुष भी यदि सेवन करने योग्य गुणो से युक्त हो तो उसकी सेवा करनी चाहिए। क्योकि उससे जीवनपर्यन्त कालान्तर मे फल की प्राप्ति हो सकती है ॥ ४९ ॥

बल्कि ठूँठे पेड के समान खडा हुआ और भूख से सूखता हुआ रहना श्रेयस्कर है, किन्तु विद्वान् को चाहिए कि अज्ञानी प्रभु से जीविका-प्राप्ति की अभिलाषा कभी भी न करे ॥ ५० ॥

जो सेवक अपने कृपण स्वामी की कठोर शब्दो मे निन्दा करता है, वह अपनी ही निन्दा क्यो नही करता, क्योकि वह सेव्य (सेवा करने योग्य) है या असेव्य (सेवा करने योग्य नही) है इसका ज्ञान स्वय नही रखता ॥ ५१ ॥

जिसकी सेवा करके भूख मे व्याकुल सेवक को विश्राम नही प्राप्त होता, वह राजा–फला हुआ मदार (आक) के पेड के समान सर्वथा त्यागने के ही योग्य है ॥ ५२ ॥

राजमातरि देव्या च कुमारे मुख्यमन्त्रिणि ।
पुरोहिते प्रतीहारे सदा वर्तेत राजवत् ॥ ५३ ॥
जीवेति प्रब्रुवन् प्रोक्त कृत्याकृत्यविचक्षण ।
करोति निर्विकल्प य स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५४ ॥
प्रभुप्रसादज वित्त सुप्राप्त यो निवेदयेत् ।
वस्त्राद्य च दधात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५५ ॥
अन्त पुरचरै सार्धं यो न मन्त्र समाचरेत् ।
न कलत्रैर्नरेन्द्रस्य स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५६ ॥
द्यूत यो यमदूताभ हाला हालाहलोपमाम् ।
पश्येद्दारान् वृथाकारान् स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५७ ॥
युद्धकालेऽग्रणीर्यं स्यात् सदा पृष्ठानुगः पुरे ।
प्रभोर्द्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५८ ॥
समतोऽहं विभोर्नित्यमिति मत्वा व्यतिक्रमेत् ।
कृच्छ्रेष्वपि न मर्यादा स भवेद्राजवल्लभ ॥ ५९ ॥

सेवक को चाहिए कि वह राजमाता, पटरानी, राजकुमारी, मुख्यमन्त्री, पुरोहित और द्वारपाल इनसे हर समय राजा के समान ही आचरण करे ॥५३॥

कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का जाननेवाला जो सेवक पुकारने से 'जी' कहता है और कोई विचार किये बिना ही जो राजा की आज्ञा का पालन करता है, वही राजा का प्रियपात्र होता है ॥ ५४ ॥

जो प्रभु की प्रसन्नता से प्राप्त हुए धन से सन्तोष करता है और उनके दिये वस्त्रादि को अपने अङ्गो पर धारण करता है, वही राजा प्रिय होता है ॥ ५५ ॥

जो सेवक अन्त पुर मे रहनेवालो के साथ सभाषण नही करता और न राजा की रानियो से ही बात करता है, वही राजा का प्रिय होता है ॥५६॥

जो सेवक जुए को यमदूत के समान, मद्य को विष के समान और स्त्रियो को कुत्सित स्वरूपवाली (कुरूपा के समान) देखता है वही राजा प्रिय होता है ॥५७॥

जो युद्धसमय मे आगे चलनेवाला हो, नगर मे पीछे-पीछे चलने वाला हो और महल मे प्रभु की ड्योढी पर खडा रहनेवाला हो, वही सेवक राजा का प्रिय होता है ॥ ५८ ॥

मैं सर्वदा प्रभु का प्रेमपात्र हूँ (उनकी सम्मत्ति से ही बराबर कार्य करने-

द्वेषिद्वेषपरो नित्यमिष्टानामिष्टकर्मकृत् ।
यो नरो नरनाथस्य स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६० ॥
प्रोक्तः प्रत्युत्तरं नाह विरुद्धं प्रभुणा च यः ।
न समीपे हसत्युच्चैः स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६१ ॥
यो रणं शरणं तद्वन्मन्यते भयवर्जितः ।
प्रवासं स्वपुरावासं स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६२ ॥
न कुर्यान्नरनाथस्य योषिद्भिः सह संगतिम् ।
न निन्दां न विवादं च स भवेद्राजवल्लभः ॥ ६३ ॥

करटक आह—'अथ भवांस्तत्र गत्वा किं तावत्प्रथमं वक्ष्यति तत्तावदुच्यताम् ।' दमनक आह—

'उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां संप्रजायते ।
सुवृष्टिगुणसंपन्नाद्बीजाद्बीजमिवापरम् ॥ ६४ ॥
अपायसंदर्शनजां विपत्तिमुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम् ।
मेधाविनो नीतिगुणप्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव वर्णयन्ति ॥ ६५ ॥

वाला हूँ) इस प्रकार समझकर जो संकट के समय भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, वही राजा का प्रिय होता है ॥ ५९ ॥

जो राजा के विपक्षियो से सर्वदा द्वेष रखता है और उसके प्रियजनो का अभिलषित कार्य करता है, वही राजा का प्रिय होता है ॥ ६० ॥

जो प्रभु के वचन को सुनकर विपरीत उत्तर नही देता और उसके समीप अधिक जोर से नही हँसता, वही राजा का प्रिय होता है ॥ ६१ ॥

जो निर्भय होकर युद्धस्थल को गृहभूमि के समान मानता है और परदेश मे रहने को अपने नगर मे रहने के समान मानता है वही राजा का प्रिय होता है ।

जो राजा की स्त्रियो के साथ न सङ्गति, न (उनकी) निन्दा और न विवाद करे वही राजा का प्रिय होता है ॥ ६३ ॥

करटक ने कहा—'आप वहाँ जाकर सबसे पहले क्या कहेगे यह तो बतलाइये' दमनक ने कहा—

'जिस प्रकार अच्छी वर्षा होने के गुण से एक बीज से दूसरा बीज उत्पन्न होता रहता है, उसी प्रकार कहने-सुनने से वाक्य की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है ॥ ६४ ॥

असावधानी से प्राप्त होने वाली विपत्ति और उपाय करने से होनेवाली

एकेषा वाचि शुकवदन्येषा हृदि मूकवत्।
हृदि वाचि तथान्येषा वल्गु वल्गुन्ति सूक्तय ॥ ६६ ॥

न च अहमप्राप्तकाल वक्ष्ये। आकर्णित मया नीतिसार पितु पूर्व-मुत्सङ्ग हि निषेवता।

अप्राप्तकाल वचन बृहस्पतिरपि ब्रुवन्।
लभते बह्ववज्ञानमपमान च पुष्कलम् ॥ ६७ ॥

करटक आह—

'दुराराध्या हि राजान पर्वता इव सर्वदा।
व्यालाकीर्णा सुविषमा कठिना दुष्टसेविता ॥ ६८ ॥

तथा च—भोगिन कञ्चुकाविष्टा कुटिला क्रूरचेष्टिता।
सुदुष्टा मन्त्रसाध्याश्च राजान पन्नगा इव ॥ ६९ ॥

सिद्धि—इन दोनो को बुद्धिमान् लोग नीति के गुण से युक्त होने के कारण प्रत्यक्ष देखते हुए के समान वर्णन करते हैं ॥ ६५ ॥

कुछ लोगो के वचन तोते के समान (अर्थात् वे तोते की तरह मधुर शब्द कहते है, किन्तु उनके मन मे कपट भरा रहता है), दूसरे प्रकार के व्यक्ति के हृदय मे मूक के समान (अर्थात् उनका सम्भाषण तो अत्यन्त कठोर होता है, किन्तु हृदय कठोर रहित होता है) और तीसरे प्रकार के लोगो की सुन्दर उक्ति हृदय और वचन से सरसता को प्रकट करती है ॥ ६६ ॥

मै असमय की बात न कहूँगा, क्योकि पिता की गोद मे खेलते हुए पहले मैने नीतिसार सुना है।

असमय की बात को यदि, बृहस्पति भी कहते हो तो वे भी अत्यन्त निरादर तथा अपमान को प्राप्त होते हैं ॥ ६७ ॥

करटक ने कहा—'जिस प्रकार पर्वत सर्प आदि हिंसक जन्तुओ से युक्त तथा ऊँचे-नीचे मार्गों से विषम होने के कारण कठिन होते है उसी प्रकार राजा भी दुष्टो द्वारा सेवित होने के कारण सदा कठिनाई से आराधनीय होते हैं ॥ ६८ ॥

और भी—जिस प्रकार सर्प फण धारण करने वाला, केंचुली से युक्त, टेढा गमन करनेवाला, हिंसक चेष्टावाला होता है और मन्त्र द्वारा वशीभूत होता है उसी प्रकार राजा भोग-सुख मे लीन रहनेवाला, सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाला कपटी, क्रूर चेष्टावाला होता है और वह दुष्ट मन्त्र द्वारा अर्थात् चित्तानुवृत्ति के साध्य होता है ॥ ६९ ॥

द्विजिह्वा क्रूरकर्माणोऽनिष्टाश्छिद्रानुसारिण ।
दूरतोऽपि हि पश्यन्ति राजानो भुजगा इव ॥ ७० ॥
स्वल्पमप्यपकुर्वन्ति येऽभीष्टा हि महीपते ।
ते वह्नाविव दह्यन्ते पतङ्गा पापचेतस ॥ ७१ ॥
दुरारोह पद राज्ञा सर्वलोकनमस्कृतम् ।
स्वल्पेनाप्यपकारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति ॥ ७२ ॥
दुराराध्या श्रियो राज्ञा दुरापा दुष्परिग्रहा ।
तिष्ठन्त्याप इवाधारे चिरमात्मनि सस्थिता ॥ ७३ ॥

दमनक आह—'सत्यमेतत्परम् । किन्तु—

यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन समाचरेत् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवश नयेत् ॥ ७४ ॥
भर्त्तुश्चित्तानुवर्तित्व सुवृत्त चानुजीविनाम् ।
राक्षसाश्चापि गृह्यन्ते नित्य छन्दानुवर्तिभि ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार सर्प दो जिह्वावाला, क्रूरकर्म करनेवाला, बिल मे घुसनेवाला तीक्ष्ण एव प्रसारित दृष्टि के कारण अनभिलषित, दूर से भी देखनेवाला होता है, उसी प्रकार राजा भी दो जीभवाला (अनेक प्रकार की बात कहनेवाला), क्रूर-कर्मा, अनभिलषित, दोष को दूर से (गुप्तचरो द्वारा) देखनेवाला होता है ॥७०॥

जो राजा का प्रियपात्र होकर थोडा सा भी उसका अपकार करते हैं, वे पापी पतङ्ग के समान अग्नि मे भस्म हो जाते है ॥ ७१ ॥

सब लोगो से नमस्कार पाने योग्य, राजा का पद अत्यन्त कठिनता मे प्राप्त होता है, जो थोडे से अपकारके कारण ब्रह्मतेजके समान दूषित हो जाता है ॥७२॥

राजलक्ष्मी बडी कठिनता से आराधनीय (प्राप्त) होती है, इसीलिए उसे प्राप्त करने एव रक्षा करने मे बडी कठिनाई होती है । किन्तु वह पात्र मे भरे जल के समान बहुत दिन तक अपने पास अर्थात् स्वय देख भाल करने से ही रक्षित रह सकती है ॥ ७३ ॥

दमनक ने कहा—'यह बहुत ठीक है, परन्तु—जिसका-जिसका जो जो भाव है उसके-उसके साथ उसी प्रकार का आचरण करे । फिर बुद्धिमान् उसमे प्रवेश कर (अर्थात् अपने मालिक के अभिप्राय को ठीक ठीक समझ कर) उसे शीघ्र अपने वश मे कर ले ॥ ७४ ॥

मालिक की इच्छा के अनुकूल आचरण करना, उनके द्वारा प्राप्तजीविक

सरुषि नृपे स्तुतिवचन तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेष ।
तद्दानस्य च शसा अमन्त्रतन्त्र वशीकरणम्' ॥ ७६ ॥

करटक आह – 'यद्येवमभिमत तर्हि शिवास्ते पन्थान सन्तु । यथाभिलषितमनुष्ठीयताम् ।' सोऽपि प्रणम्य पिङ्गलकाभिमुख प्रतस्थे ।

अथागच्छन्त दमनकमालोक्य पिङ्गलको द्वास्थमब्रवीत्—'अपसार्यता वेत्रलता । अयमस्माक चिरतनो मन्त्रिपुत्रो दमनकोऽव्याहतप्रवेग. । तत्प्रवेश्यता द्वितीयमण्डलभागी' इति । स आह—'यथावादीद्भवान्' इति । अथोपसृत्य दमनको निर्दिष्ट आसने पिङ्गलक प्रणम्य प्राप्तानुज्ञ उपविष्ट । स तु तस्य नखकुलिशालकृत दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुर सरमुवाच—'अपि शिव भवत । कस्माच्चिराद् दृष्टोऽसि' । दमनक आह—'न किंचिद्देवपादानामस्माभिः प्रयोजनम् । पर भवता प्राप्तकाल वक्तव्यम्, यत उत्तममध्यमाधमै सर्वैरपि राज्ञा प्रयोजनम् ।

सेवको का सदाचार माना जाता है । निरन्तर उनके आशय के अनुसार कार्य करनेवाले मनुष्य राक्षसो को भी अपने वश मे कर लेते हैं ॥ ७५ ॥

राजा के क्रोध करने पर स्तुतिवाक्य, उनके मनोमिलषित पर प्रेम, उनके द्वेषियो से द्वेष और उनके दान की प्रशसा ये विना मन्त्र-तन्त्र के वश साधन (वशीकरण मन्त्र) है ॥ ७६ ॥

करटक ने कहा —'यदि ऐसा विचार है तो (प्रस्थान करें) आपका मार्ग कल्याणकारक हो । अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कीजिए ।' उसने भी प्रणाम कर पिङ्गलक की ओर प्रस्थान किया ।

इसके बाद दमनक को आते हुए देखकर पिङ्गलक ने द्वारपाल से कहा—वेत की छडी दूर करो, यह हमारे प्राचीन मन्त्री का पुत्र दमनक है, जिसके प्रवेश करने मे कोई रुकावट नही है । इस दूसरी श्रेणी के अधिकारी को प्रवेश करने दो ।' द्वारपाल ने कहा—'जैसी आप आज्ञा दें । तव दमनक समीप जाकर पिङ्गलक को प्रणाम कर दिये हुए आसन पर आज्ञा पाकर बैठा । वह (पिङ्गलक) वज्र-सदृश नख से सुशोभित दाहिने हाथ को उसके ऊपर रखकर सम्मान पूर्वक बोला—कहिए कुशलपूर्वक तो हैं, आप बहुत दिन के बाद कैसे दिखाई पडे । दमनक ने कहा—'यद्यपि श्रीमान् के चरणो को हम से कुछ प्रयोजन नही है, तथापि समयानुकूल आपसे कुछ कहना उचित ही है क्योकि उत्तम, मध्यम और अधम—सभी से राजाओं का प्रयोजन रहता है ।

उक्त च—दन्तस्य निष्कोपणकेन नित्य कर्णस्य कण्डूयनकेन वापि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणा किमङ्ग वाग्घस्तवता नरेण ॥ ७७ ॥

तथा वय देवपादानामन्वयागता भृत्या आपत्स्वपि पृष्ठगामिनो यद्यपि स्वमधिकार न लभामहे तथापि देवपादानामेतद्युक्त न भवति । उक्त च—

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्या आभरणानि च ।
न हि चूडामणि पादे प्रभवामीति बध्यते ॥ ७८ ॥

यत —अनभिज्ञो गुणाना यो न भृत्यैरनुगम्यते ।
धनाढ्योऽपि कुलीनोऽपि क्रमायातोऽपि भूपति ॥ ७९ ॥

उक्त च—असमै समीयमान समैश्च परिहीयमाणसत्कार ।
धुरि यो न युज्यमानस्त्रिभिरर्थपति त्यजति भृत्य ॥ ८० ॥

यच्चाविवेकितया राजा भृत्यानुत्तमपदयोग्यान्हीनाधमस्थाने नियोजयति, न ते तत्रैव तिष्ठन्ति, स भूपतेर्दोषो न तेषाम् । उक्त च—

कहा भी है— दांत के खोदने वाले अथवा नित्य कान खुजलाने वाले तिनके से भी राजाओ का काम पड़ता है फिर हे नाथ ! वाणी और हाथ-पैर वाले मनुष्य का काम पडे तो क्या आश्चर्य है ॥ ७७ ॥

हम महाराज के श्रीचरणो के वश-क्रमागत अनुचर है और आपत्तिकाल मे भी अनुसरण करने वाले है । यद्यपि इस समय हमने अपने अधिकार-पद को नही पाया है तो क्या श्रीमान् को यह उचित नही है । कहा भी है —

अनुचर और आभूषण—इनको (उचित) स्थान मे ही नियुक्त करना चाहिए । क्योकि मै समर्थ हूँ, ऐसा समझ कर मस्तक पर रहने वाले आभूषण को कोई चरण पर नही धारण करता है । ७८ ॥

क्योकि— जो गुणियो के गुणो से अनभिज्ञ होते हैं, अनुचर उनका साथ नही देते हैं—चाहे वह धनी, उच्चकुल मे उत्पन्न और क्रमागत पीढी दर पीढी राजा क्यो न होता आया हो ॥ ७९ ॥

कहा हैं कि—जिस अनुचर की समानता, समानता न रखने योग्य अनुचर के साथ की जाय, समानता करने योग्य अनुचर से उसे दूर रखा जाय (अर्थात् किसी के अनुकूल और किसी के प्रतिकूल आचरण किया जाय) और जो कार्य-भार मे आगे न लगाया जाय—इन तीनो कारणो से सेवक राजा का परित्याग कर देता है ॥ ८० ॥

जो राजा अपनी अज्ञानता से उत्तम पद के योग्य सेवको को अधम पद पर

कनकभूषणसग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिवध्यते ।
न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वंचनीयता ॥८१॥

यच्च स्वाम्येव वदति 'चिराद् दृश्यते', तदपि श्रूयताम्—

सव्यदक्षिणयोर्यत्र विशेपो नास्ति हस्तयां ।
कस्तत्र क्षणमप्यार्यो विद्यमानगतिर्भवेत् ॥ ८२ ॥
काचे मणिर्मणौ काचो येपा वुद्धिर्विकल्पते ।
न तेषा सनिधौ भृत्यो नाममात्रोऽपि तिष्ठति ॥ ८३ ॥
परीक्षका यत्र न सन्ति देशे नार्घन्ति रत्नानि समुद्रजानि ।
आभीरदेशे किल चन्द्रकान्त त्रिभिर्वराटैर्विपणन्ति गोपा ॥८४॥
लोहिताख्यस्य च मणे पद्मरागस्य चान्तरम् ।
यत्र नास्ति कथ तत्र क्रियते रत्नविक्रय ॥ ८५ ॥

रखता है तो वे सेवक उस पद पर स्थिर नही रहते है । इसमे राजा का ही दोप है, उनका नही । कहा भी है—

सोने के गहने में लगाने योग्य मणि यदि निकृष्ट धातु रागा मे लगायी जाय तो वह मणि होती है और शोभित होती है, किन्तु उस स्थान पर जडनेवाले की ही निन्दा होती है ॥ ८१ ॥

और स्वामी ने जो यह कहा है कि 'बहुत दिन के बाद कैसे दिखाई पडे' सो उसे भी सुनिये—

जहाँ दाहिने और बायें हाथ की विशेषता देखने मे नही आती है, वहाँ अनिरुद्ध गतिवाला (चतुर) कौन आर्य (नीतिज्ञ विद्वान्) क्षणमात्र भी रहने की अभिलाषा करेगा ॥ ८२ ॥

जिनकी वुद्धि काच मे मणि और मणि मे काँच की कल्पना करती हैं, उनके समीप नाममात्र के लिए भी सेवक गण नही रहते ॥ ८३ ॥

जिस देश मे परीक्षा करनेवाले पारखी लोग नही होते, वहाँ समुद्र से निकले हुए रत्नो का कोई मूल्य नही होता । यह कहा जाता है कि आभीर देश मे ग्वाले सब चन्द्रकान्तमणि को तीन-तीन कौडी में वेचते और खरीदते है ॥८४॥

जहाँ लोहित (लाल) मणि और पद्मराग मणि मे अन्तर जाननेवाला कोई नहीं है, वहाँ रत्नो का विक्रय कैसे हो सकता है ॥ ८५ ॥

निर्विशेष यदा स्वामी सम भृत्येषु वर्तते ।
तत्रोद्यमसमर्थानामुत्साह परिहीयते ॥ ८६ ॥
न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्या पार्थिव विना ।
तेषा च व्यवहारोऽय परस्परनिबन्धन ॥ ८७ ॥
भृत्यैर्विना स्वय राजा लोकानुग्रहकारिभि ।
मयूखैरिव दीप्ताशुस्तेजस्व्यपि न शोभते ॥ ८८ ॥
अरै सधार्यते नाभिर्नाभौ चारा प्रतिष्ठिता ।
स्वामिसेवकयोरेव वृत्तिचक्र प्रवर्तते ॥ ८९ ॥
शिरसा विधृता नित्य स्नेहेन परिपालिता ।
केशा अपि विरज्यन्ते नि स्नेहा किं न सेवका. ॥ ९० ॥
राजा तुष्टो हि भृत्यानामर्थमात्र प्रयच्छति ।
ते तु समानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ९१ ॥
एव ज्ञात्वा नरेन्द्रेण भृत्या कार्या विचक्षणा ।
कुलीनाः शौर्यसयुक्ता शक्ता भक्ता क्रमागता ॥ ९२ ॥

जब मालिक सब सेवको के प्रति समान (विशेषता रहित) व्यवहार करता है तब उद्यमी सेवको का उत्साह ही भग हो जाता है ॥ ८६ ॥

सेवको के विना न राजा रह सकते और न राजा के बिना सेवक ही रह सकते हैं । उनका व्यवहार आपस मे एक दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाला है ॥८७॥

सेवको के बिना स्वय राजा उस प्रकार शोभित नही होता जिस प्रकार लोक पर अनुकम्पा करनेवाली किरणो के बिना अशुमान् (सूर्य) शोभित नही होता ॥ ८८ ॥

जिस प्रकार पहिये की लकडी, बीच के छेद मे और बीच के छेद पहिए की लकडी मे स्थित रहते हैं उसी प्रकार मालिक और सेवको का यह वृत्ति-चक्र (आजीविका) चलता रहता है ॥ ८९ ॥

केशो को शिर नित्य धारण किए रहता है और स्नेह (तेल) से उसका परिपालन करता है, किन्तु स्नेह (तेल) के विना वे — केश भी जब रूखे हो जाते है तो क्या सेवक भी स्नेह हीन हो जायेंगे ॥ ९० ॥

राजा प्रसन्न होने पर सेवकों को केवल धन ही देता है किन्तु वे (सेवक) राजा से सम्मानमात्र पाकर ही अपने प्राण उसके लिए न्यौछावर कर देते है ।९१।

इन सब (विषयो) पर ध्यान-पूर्वक विचार कर राजा का कर्तव्य है कि

य कृत्वा सुकृत राज्ञो दुष्कर हितमुत्तमम्।
लज्जया वक्ति नो किंचित्तेन राजा सहायवान् ॥ ९३ ॥
यस्मिन्कृत्य समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा।
आस्यते सेवक स स्यात्कलत्रमिव चापरम् ॥ ९४ ॥
योऽनाहूत समभ्येति द्वारि तिष्ठति सर्वदा।
पृष्ट सत्य मित ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९५ ॥
अनादिष्टोऽपि भूपस्य दृष्ट्वा हानिकर च य।
यतते तस्य नाशाय स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९६ ॥
ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा।
यो न चिन्तयते पाप स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९७ ॥
न गर्व कुरुते माने नापमाने च तप्यते।
स्वाकार रक्षयेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ ९८ ॥

ऐसे सेवकों को रक्खे जो निपुण हों, कुलीन हो, शूरवीर हो, समर्थ हो, भक्त हो और कुल-परम्परा से चले आये हो ॥ ९२ ॥

जो मनुष्य राजा का मङ्गल और दुष्कर उत्तम हितकर कार्य करके भी लज्जा के कारण सङ्कोचवश कुछ नही कहता, ऐसे सेवक से राजा सहायक वाला होता है ॥ ९३ ॥

जिस (अनुचर) पर शङ्का-रहित मन से कार्यभार डालकर, राजा निश्चिन्त हो जाता है वही अनुचर दूसरी सहधर्मिणीके समान राजाके लिए कल्याणकारी है॥ ९४॥

जो बिना बुलाये हुए समीप आ जाय, हर समय दरवाजे पर ही खडा रहे और किसी बात के पूछने पर सत्य और थोडा बोले, वही राजा का सेवक होने योग्य है ॥ ९५ ॥

राजा द्वारा आज्ञा पाये बिना ही जो उनकी हानिकारक बात को देखकर उसके नाश के लिये प्रयत्न करता है ऐसा व्यक्ति राजा का सेवक होने योग्य है।

जो राजा द्वारा ताडित होता है एव कठोर वाक्य-पूर्वक दण्डित भी किया जाता है, किन्तु इतना होने पर भी जो राजा का अशुभ (बुरा) नहीं सोचता है, वह मनुष्य राजा का सेवक होने योग्य है ॥ ९७ ॥

जो सम्मान पा लेने पर अहङ्कार नही करता, अपमानित होने पर सन्तप्त नही होता और अपने मानापमान के भाव को राजा से छिपा लेता है ऐसा मनुष्य राजा का सेवक होने योग्य है ॥ ९८ ॥

न क्षुधा पीड्यते यस्तु निद्रया न कदाचन ।
न च शीतातपाद्यैश्च स भृत्योऽर्हो म्हीभुजाम् ॥ ९९ ॥
श्रुत्वा साग्रामिकी वार्ता भविष्या स्वामिन प्रति ।
प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १०० ॥
सीमा वृद्धि समायाति शुक्लपक्ष इवोडुराट् ।
नियोगसस्थिते यस्मिन् स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥ १०१ ॥
सीमा सकोचमायाति वह्नौ चर्म इवाहितम् ।
स्थिते यस्मिन् स तु त्याज्यो भृत्यो राज्य समीहता ॥१०२॥

तथा शृगालोऽयमिति मन्यमानेन ममोपरि स्वामिना यद्यवज्ञा क्रियते, तदप्ययुक्तम् । उक्त च यत —

कौशेय कृमिज सुवर्णमुपलाद् दूर्वापि गोरोमत
पङ्कात्तामरस शशाङ्क उदधेरिन्दीवर गोमयात् ।
काष्ठादग्निरहे फणादपि मणिर्गोपित्ततो रोचना
प्राकाश्य स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ॥१०३॥

जो कभी भूख, नीद, सर्दी और गरमी से घबडाता नही, वही राजाओ का सेवक होने योग्य है ॥ ९९ ॥

जो भविष्य मे होने वाली सग्रामवार्ता को सुनकर स्वामी की सहायता के लिये प्रसन्नमुख हो जाता है वही राजाओं का सेवक होने योग्य है ॥ १०० ॥

जिसके नियुक्त होने पर शुक्ल पक्ष के नक्षत्रराज (चन्द्रमा) के समान राजा की सीमा की वृद्धि होती है, वही राजाओ का सेवक होने योग्य है ।१०१।

जिसके नियुक्त होते ही राजा की सीमा अग्नि मे पडे चमडे के समान सकुचित होती जाय, तो राज्य के इच्छुक (साम्राज्यवादी) राजा को चाहिए कि इस प्रकार के सेवक को त्याग दे ॥ १०२ ॥

'यह सियार है' ऐसा समझ कर यदि स्वामी मेरी अवहेलना करें तो यह भी अनुचित है । क्योकि कहा भी है—

कीडो से रेशम, पाषाण से सुवर्ण, गोरोम से दूर्वा, कीचड से लाल कमल, समुद्र से चन्द्रमा, गोबर से नील कमल, गोपित्त से गोरोचन उत्पन्न होता है । अभिप्राय यह है कि गुणी लोग अपने गुणो के उदय होने के कारण ही प्रकाशित होते हैं, न कि केवल जन्म लेने से ॥ १०३ ॥

मूषिका गृहजातापि हन्तव्या स्वापकारिणी ।
भक्ष्यप्रदानैर्मार्जारो हितकृत् प्रार्थ्यते जनैः ॥ १०४ ॥
एरण्डभिण्डार्कनलैः प्रभूतैरपि सञ्चितैः ।
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाज्ञैः प्रयोजनम् ॥ १०५ ॥
किं भक्तेनासमर्थेन किं शक्तेनापकारिणा ।
भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि' ॥ १०६ ॥

पिङ्गलक आह—'भवत्वेवं तावत् । असमर्थः समर्थो वा चिरंतनस्त्वमस्माकं मन्त्रिपुत्रः । तद्विश्रब्धं ब्रूहि यत्किंचिद्वक्तुकामः ।' दमनक आह-'देव, विज्ञाप्यं किंचिदस्ति ।' पिङ्गलक आह—तन्निवेदयाभिप्रेतम् ।' सोऽब्रवीत्—

'अपि स्वल्पतरं कार्यं यद्भवेत् पृथिवीपतेः ।
तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेदं बृहस्पतिः ॥ १०७ ॥

तदैकान्तिके मद्विज्ञाप्यमाकर्णयन्तु देवपादाः । यतः—

घर मे उत्पन्न होकर भी अपना अपकार करने वाली चुहिया मारने योग्य होती है, और हितकारी बिलाव को लोग आहार देकर भी घर मे लाने की इच्छा करते हैं ॥ १०४ ॥

जिस प्रकार एरण्ड (रेंड) भिण्ड, आक (मदार) और नल – इत्यादि को अत्यधिक इकट्ठा करने पर भी काठ का काम नही निकलता, उसी प्रकार अनभिज्ञ सेवको से राजा का कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता ॥ १०५ ॥

शक्तिहीन भक्त से तथा समर्थ अपकार करने वाले से क्या प्रयोजन ? हे राजन ! मुझ भक्त (अनुरक्त) समर्थ सेवक का निरादर करने योग्य आप नही है ॥ १०६ ॥

पिङ्गलक ने कहा–'अच्छा, इसे रहने दो । असमर्थ हो या समर्थ, तुम मेरे प्राचीन मन्त्री के पुत्र हो, अतः जो कुछ तुम्हें कहना हो विश्वासपूर्वक (बेखटके) कहो ।' दमनक ने कहा-'महाराज कुछ कहना है ।' पिङ्गलक ने कहा- 'तो अपना अभिप्राय निवेदन करो ।' उसने कहा—

यदि राजा का अत्यन्त कार्य भी हो तो उसे सभा मे नही कहना चाहिए— ऐसा बृहस्पति ने कहा है ॥ १०७ ॥

इसलिये महाराज एकान्त मे मेरी विज्ञप्ति सुनिये । क्योंकि—

दर्शितभयेऽपि धातरि धैर्यध्वंसो भवेन्न धीराणाम् ।
शोषितसरसि निदाघे नितरामेवोद्धतः सिन्धुः ॥ ११३ ॥

तथा च—यस्य न विपदि विषादः सम्पदि हर्षो रणे न भीरुत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥

तथा च—शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः ।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः ॥ ११५ ॥

अपि च—अन्यप्रतापमासाद्य यो दृढत्वं न गच्छति ।
जतुजाभरणस्येव रूपेणापि हि तस्य किम् ॥ ११६ ॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वामिना धैर्यावष्टम्भः कार्यः । न शब्दमात्राद्-भेतव्यम्।

अपि च—पूर्वमेव मया ज्ञातं पूर्णमेतद्धि मेदसा ।
अनुप्रविश्य विज्ञातं यावच्चर्म च दारु च' ॥ ११७ ॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

विधाता के भय दिखाने पर भी धीर पुरुषों का धैर्य नष्ट नहीं होता । सरोवरों को सुखानेवाले गरमी के समय में भी समुद्र अत्यधिक उग्र रूप धारण करता है अर्थात् बढ़ता ही है ॥ ११३ ॥

और भी—जिसे विपत्ति में विषाद, सम्पत्ति में हर्ष और युद्ध में भय नहीं होता, ऐसे तीनों लोकों के तिलक तुल्य पुत्र को कोई विरली ही माता उत्पन्न करती है ॥ ११४ ॥

और भी—सामर्थ्य के न रहने पर नम्र होना, निःसार होने से अत्यन्त लघु तथा सम्मानरहित व्यक्ति का जन्मधारण करना तृण उत्पन्न होने के समान होता है । अर्थात् शक्तिहीन, तेजरहित तथा तिरस्कृत पुरुषों का जीवन तृण के समान अन्तस्तत्त्वरहित है ॥ ११५ ॥

और भी—जो दूसरे के प्रताप को पाकर भी दृढ़ता को नहीं प्राप्त होता, लाक्षा (लाह) के आभूषण के समान उसके (बाह्य) स्वरूप से क्या प्रयोजन ॥ ११६ ॥

इसलिये यह सब जानकर स्वामी को चाहिए कि धैर्य धारण करें, शब्दमात्र से ही भयभीत होना उचित नहीं है ।

कहा भी है—मैंने भी पहले इसे भली-भाँति जान लिया था कि यह मेद से भरा है, किन्तु प्रवेश कर अनुभव किया कि यह केवल चर्म और काष्ठ ही है' ॥ ११७ ॥

पिंगलक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

कथा २

कश्चिद् गोमायुर्नाम शृगाल क्षुत्क्षामकण्ठ इतस्तत परिभ्रमन् वने सैन्यद्वयसग्रामभूमिमपश्यत्। तस्या च दुन्दुभे पतितस्य वायुवशाद्वल्लीशाखाग्रैर्हन्यमानस्य शब्दमशृणोत्। अथ क्षुभितहृदयश्चिन्तयामास 'अहो' विनष्टोऽस्मि। तद्यावन्नास्य प्रोच्चारितशब्दस्य दृष्टिगोचरे गच्छामि, तावदन्यतो व्रजामि। अथवा नैतद्युज्यते सहसैव।

> भये वा यदि वा हर्षे सप्राप्ते यो विमर्शयेत्।
> कृत्य न कुरुते वेगान्न स सतापमाप्नुयात्॥ ११८॥

तत्तावज्जानामि कस्याय शब्दः।' धैर्यमालम्ब्य विमर्शयन् यावन्मन्द मन्द गच्छति तावद् दुन्दुभिमपश्यत्। स च त परिज्ञाय समीप गत्वा स्वयमेव कौतुकादताडयत्। भूयश्च हर्षादचिन्तयत्—'अहो, चिरादेतदस्माक महद्भोजनमापतितम्। तन्नून प्रभूतमासमेदोऽसृग्भि परिपूरित भविष्यति। तत परुषचर्मावगुण्ठित तत्कथमपि विदार्यैकदेशे छिद्र

किसी गोमायु नाम के गीदड ने भूख से शुष्क कण्ठ होकर इधर-उधर भ्रमण करते हुए वन मे दो सेनाओ की युद्धभूमि को देखा। वहाँ गिरी हुई दुन्दुभि (नौबत-नगाडे) के, हवा के कारण लता और शाखाओ के अग्रिम भाग की चोट लगने से उत्पन्न, शब्द को उसने सुना। तब खिन्न-हृदय होकर चिन्ता करने लगा—'अहो अब मै नष्ट हुआ, इसलिए इस शब्द करने वाले के दृष्टि-पथ मे जब तक न पहुँ तब तक मैं अन्यत्र चला जाऊँ। अथवा, एकाएक पिता और पितामहो का वन छोड देना भी तो उचित नही है, क्योंकि कहा भी है—

भय या हर्ष के प्राप्त होने पर भी जो मनुष्य अच्छी तरह विचार करता है और किसी कार्य को शीघ्रतावश नही करता, वह कभी भी सन्ताप को नही प्राप्त होता॥ ११८॥

इसलिए पहले मुझे जानना चाहिए कि 'यह किसका शब्द है ? जब धैर्य धारण कर विचार करता हुआ धीरे-धीरे गया तो उसने दुन्दुभि देखी। उसने उसे जानकर समीप जाकर कुतूहलवश स्वय ही उसे बजाया। फिर बाद मे हर्षपूर्वक सोचने लगा—'अहो बहुत दिन के बाद यह अत्यधिक भोजन मुझे मिला है। यह निश्चय ही प्रचुर मास, मेद (चरबी) और रक्त से परिपूर्ण होगा।' इसके अनन्तर कठिन चमडे से मढे हुए उस (दुन्दुभि) को

कृत्वा सहृष्टमना मध्ये प्रविष्ट । पर चर्मविदारणतो दष्ट्राभङ्ग समजनि । अथ निराशीभूतस्तद्दारुशेषमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्–'पूर्वमेव मया ज्ञातम्' इति । ततो न शब्दमात्राद्भेतव्यम् । पिंगलक आह– भो पश्याय मम सर्वोपि परिग्रहो भयव्याकुलितमना पलायितुमिच्छति । तत्कथमह धैर्यविष्टम्भ करोमि । सोऽब्रवीत्–स्वामिन् नैषामेष दोष । यत स्वामिसदृशा एव भवन्ति भृत्या उक्त च—

अश्व शस्त्र शास्त्र वीणा वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुषविशेष प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च ॥ ११९ ॥

तत्पौरुषावष्टम्भ कृत्वा त्व तावदत्रैव प्रतिपालय यावदमेहतच्छब्द-स्वरूप ज्ञात्वागच्छामि । ततः पश्चाद्यथोचित कार्यम्' इति । पिङ्गलक आह— 'किं तत्र भवान् गन्तुमुत्सहते ।' स आह—कि स्वाम्यादेशात् सद्भृत्यस्य कृत्याकृत्यमस्ति । उक्त च–

स्वाम्यादेशात् सुभृत्यस्य न भी सजायते क्वचित् ।
प्रविशेन्मुखमाहेय दुस्तर वा महार्णवम् ॥ १२० ॥

किसी प्रकार फाडकर एक स्थान पर छेद कर, प्रसन्न मन हो उसमे प्रवेश किया किन्तु चमडे के फाडने से उसकी दाढे टूट गयी । तब उसने निराश होकर केवल काष्ठ मात्र को देखकर इस श्लोक को पढा—'पूर्वमेव मया ज्ञातम्' इत्यादि । इसलिये केवल शब्द से ही भयभीत नही होना चाहिए । पिंगलक ने कहा—अरे देखो तो यह मेरे सब परिजन भय से व्याकुल चित्तवाले होकर, भागने की इच्छा कर रहे है । तब मैं किस प्रकार धैर्य धारण करूँ ? उसने कहा—'स्वामिन् इसमे इनका दोष नही है, क्योकि स्वामी के तुल्य ही अनुचर हुआ करता है' । कहा भी है—

घोडा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, नर और नारी—ये पुरुषविशेष को प्राप्त होकर योग्य अथवा अयोग्य हो जाया करते है ॥ ११९ ॥

इसलिए पुरुषार्थ का अवलम्बन कर तुम तब तक यहाँ रहो, जब तक मैं इस शब्द का स्वरूप (कारण) जानकर न आऊँ । उसके बाद जैसा उचित हो वैसा करना । पिङ्गलक ने कहा—'क्या वहाँ जाने के लिए आप उत्साह करते हैं । उसने कहा–स्वामी के आदेश से अच्छे अनुचर को कृत्य (करने योग्य) और अकृत्य (न करने योग्य) के विषय मे विचार ही क्या करना है । कहा है—

स्वामी की आज्ञा से अच्छे सेवक को कही भी भय का सञ्चार नही होता,

तथा च—स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्य सम विषममेव च।
मन्यते न स सधार्यो भूभुजा भूतिमिच्छता ॥ १२१ ॥

पिंगलक आह—'भद्र, यद्येव तद्गच्छ। शिवास्ते पन्थान' सन्तु' इति। दमनकोऽपि त प्रणम्य सजीवकशब्दानुसारी प्रतस्थे।

अथ दमनके गते भयव्याकुलमना पिंगलकश्चिन्तयामास–अहो, न शोभन कृत मया, यत्तस्य विश्वास गत्वात्माभिप्रायो निवेदितः। कदाचिद् दमनकोऽयमुभयवेतनो भूत्वा ममोपरि दुष्टबुद्धि स्याद् भ्रष्टाधिकारत्वात्। उक्त च—

ये भवन्ति महीपस्य समानितविमानिता।
यतन्ते तस्य नाशाय कुलीना अपि सर्वदा ॥ १२२ ॥

तत्तावदस्य चिकीर्षित वेत्तुमन्यत् स्थानान्तर गत्वा प्रतिपालयामि। कदाचिद् दमनकस्तमादाय मा व्यापादयितुमिच्छति। उक्त च—

चाहे सर्प के मुख मे प्रवेश कर जांय या दुस्तर महासमुद्र भी तैर जांय ॥१२०॥

वैसे ही—स्वामी से आदेश पाया हुआ जो सेवक उस (आदेश) को सम (सरल) या विषम (कठिन) नही मानते है, ऐसे सेवक को ऐश्वर्य की कामना करने वाले राजाओ को चाहिए कि उसे समीप रखे ॥ १२१ ॥

पिङ्गलक ने कहा—'भद्र यदि ऐसा है, तो जाओ। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो।' दमनक भी उसे प्रणाम कर सजीवक के शब्द का अनुसरण करता हुआ चला।

इसके बाद दमनक के चले जाने पर भय से व्याकुलचित्त होकर पिङ्गलक ने विचार किया—'अहो मैने अच्छा नही किया जो उसका विश्वास कर अपना अभिप्राय उससे निवेदन कर दिया। कदाचित् यह दमनक दोनो ओर से वेतन लेकर (भेदिया बन कर) मेरे ऊपर अधिकारच्युत होने के कारण दुष्ट-बुद्धिवाला न हो जाय'।' कहा भी है—

जो राजा मे पहले सम्मान पाकर पीछे अपमानित होते है, वे उसके नाश के लिये सर्वदा प्रयत्न किया करते हैं, चाहे वे कुलीन भी क्यो न हो ॥ १२२ ॥

इसलिए तब तक इसकी इच्छा देखने के लिए किसी दूसरे स्थान मे जाकर रहूँ? कदाचित् दमनक उसको साथ लेकर मुझे मरवा डालने की इच्छा करता हो। कहा भी है—

न वध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्त्वेव वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ १२३ ॥
बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासे व्रजेन्नरः ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ १२४ ॥
शपथैः संधितस्यापि न विश्वासे व्रजेद्रिपोः ।
राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥ १२५ ॥
न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्ध्यति ।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः' ॥ १२६ ॥

एवं संप्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी तस्थौ । दमनकोऽपि संजीवकसकाशं गत्वा वृषभोऽयमिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत् 'अहो, शोभनमापतितम् । अनेनैतस्य संधिविग्रहद्वारेण मम पिंगलको वश्यो भविष्यतीति । उक्तं च–

न कौलीन्यान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्तते ।
मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥ १२७ ॥

किसी का विश्वास न करनेवाले दुर्बल को भी सबल नही मार सकते, किन्तु सब पर विश्वास रखनेवाले बलवान् भी दुर्बलो से मारे जा सकते है ॥ १२३ ॥

जो अपनी आयु की वृद्धि और सुख की इच्छा करता हो वह बुद्धिमान् मनुष्य वृहस्पति पर भी विश्वास न करे ॥ १२४ ॥

शपथ से कृतसन्धि (सन्धि किए गये) शत्रु का भी विश्वास न करे क्योकि राज्य के लोभ से उद्यत वृत्रासुर को इन्द्र ने शपथो से ही तो विश्वास दिलाकर) मारा ॥ १२५ ॥

देवताओ का शत्रु भी विश्वास के विना वश मे नही होता, विश्वास ही से इन्द्र ने दिति (कश्यप की पत्नी के गर्भ को नष्ट कर दिया था' ॥ १२६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर, दूसरे स्थान पर जाकर दमनक के आने का मार्ग देखता हुआ अकेला बैठा रहा । दमनक भी सञ्जीवक के निकट गया और 'यह बैल है' ऐसा जानकर प्रसन्नचित्त हो विचार करने लगा—अहो बडा अच्छा हुआ । इसके साथ उसकी सन्धि (मित्रता) और विग्रह (सन्धिविच्छेद) होने से पिङ्गलक मेरा वशीभूत हो जायगा । कहा भी है—

कुलीनता और सौहार्द के कारण राजा मन्त्रियो के वाक्य मे तब तक प्रवृत्त होता है, जब तक स्वयं उसको व्यसन (विपत्ति) और शोक की प्राप्ति करता नही होती ॥ १२७ ॥

सदैवापद्‌गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिण सापद नृपम् ॥ १२८ ॥
यथा नेच्छति नीरोग कदाचित् सुचिकित्सकम् ।
तथापद्रहितो राजा सचिव नाभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥

एव विचिन्तयन्पिगलकाभिमुख. प्रतस्थे । पिगलकोऽपि तमायान्त प्रेक्ष्य स्वाकार रक्षन्यथापूर्वस्थितः दमनकोऽपि पिंगलकसकाश गत्वा प्रणम्योपविष्ट । पिंगलक आह—'कि दृष्ट भवता तत्सत्त्वम् ।' दमनक आह—'दृष्ट स्वामिप्रसादात् । पिंगलक आह—'अपि सत्यम् ।' दमनक आह—'कि स्वामिपादानामग्रेऽसत्य विज्ञाप्यते । उक्त च—

अपि स्वल्पमसत्य य पुरो वदति भूभुजाम् ।
देवाना च विनश्येत स द्रुत सुमहानपि ॥ १३० ॥

तथा च— सर्वदेवमयो राजा मनुना सम्प्रकीर्तित ।
तस्मात्त देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥

विपत्ति मे पडा हुआ राजा सदैव मन्त्रियो का भोग्य होता है । इसलिये मन्त्री लोग चाहते है कि राजा विपत्तियो मे फँसा रहे ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार रोग रहित मनुष्य कभी भी सद्वैद्य की इच्छा नही करता, उसी प्रकार आपत्ति-रहित राजा मन्त्री की अभिलाषा नही करता' ॥ १२९ ॥

इस प्रकार सोचता हुआ पिङ्गलक की ओर चला । पिङ्गलक भी उसको आता हुआ देख कर, अपने आकार की रक्षा कर (अर्थात् अपने मानसिक दुर्भावना को छिपाता हुआ) पहले की तरह बैठ गया । दमनक पिङ्गलक के पास जाकर प्रणाम करके बैठ गया । (तब) पिङ्गलक ने कहा--'क्या आपने उस जीव को देखा ?' दमनक ने कहा—'हाँ, स्वामी की कृपा से देखा ।' पिङ्गलक ने पूछा—'क्या सचमुच' ? दमनक ने कहा – क्या स्वामी के चरणो के सम्मुख मुझसे असत्य कहा जायेगा ? कहा भी है—

जो राजा और देवताओ से सम्मुख थोडा भी असत्य कहता है, वह बडा भी हो तो शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १३० ॥

और भी—भगवान् मनु का कहना है कि राजा मे सब देवता निवास करते हैं । इसलिए उसे देवताओ के समान ही देखे, अन्य किसी प्रकार से नही ॥१३१॥

न वध्यन्ते ह्यविश्वस्ता बलिभिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्त्वेव वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ १२३ ॥
बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासे व्रजेन्नरः ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ १२४ ॥
शपथैः सन्धितस्यापि न विश्वासे व्रजेद्रिपोः ।
राज्यलाभोद्यतो वृत्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥ १२५ ॥
न विश्वासं विना शत्रुर्देवानामपि सिद्ध्यति ।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारितः' ॥ १२६ ॥

एवं सम्प्रधार्य स्थानान्तरं गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी तस्थौ । दमनकोऽपि संजीवकसकाशं गत्वा वृषभोऽयमिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत् 'अहो, शोभनमापतितम् । अनेनैतस्य सन्धिविग्रहद्वारेण मम पिंगलको वश्यो भविष्यतीति । उक्तं च–

न कौलीन्यान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्तते ।
मन्त्रिणां यावदभ्येति व्यसनं शोकमेव च ॥ १२७ ॥

किसी का विश्वास न करनेवाले दुर्बल को भी सबल नहीं मार सकते, किन्तु सब पर विश्वास रखनेवाले बलवान् भी दुर्बलों से मारे जा सकते है ॥ १२३ ॥

जो अपनी आयु की वृद्धि और सुख की इच्छा करता हो वह बुद्धिमान् मनुष्य बृहस्पति पर भी विश्वास न करे ॥ १२४ ॥

शपथ से कृतसन्धि (सन्धि किए गये) शत्रु का भी विश्वास न करे क्योकि राज्य के लोभ से उद्यत वृत्रासुर को इन्द्र ने शपथो से ही तो विश्वास दिलाकर) मारा ॥ १२५ ॥

देवताओ का शत्रु भी विश्वास के विना वश मे नहीं होता, विश्वास ही से इन्द्र ने दिति (कश्यप की पत्नी के गर्भ को नष्ट कर दिया था' ॥ १२६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर, दूसरे स्थान पर जाकर दमनक के आने का मार्ग देखता हुआ अकेला बैठा रहा । दमनक भी सञ्जीवक के निकट गया और 'यह बैल हैं' ऐसा जानकर प्रसन्नचित्त हो विचार करने लगा—अहो बड़ा अच्छा हुआ । इसके साथ उसकी सन्धि (मित्रता) और विग्रह (सन्धिविच्छेद) होने से पिङ्गलक मेरा वशीभूत हो जायगा । कहा भी है—

कुलीनता और सौहार्द के कारण राजा मन्त्रियो के वाक्य मे तब तक प्रवृत्त होता है, जब तक स्वयं उसको व्यसन (विपत्ति) और शोक की प्राप्ति करता नहीं होती ॥ १२७ ॥

सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिण सापद नृपम् ॥ १२८ ॥
यथा नेच्छति नीरोग कदाचित् सुचिकित्सकम् ।
तथापद्रहितो राजा सचिव नाभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥

एव विचिन्तयन्पिगलकाभिमुख. प्रतस्थे । पिंगलकोऽपि तमायान्त प्रेक्ष्य स्वाकार रक्षन्यथापूर्वस्थितः दमनकोऽपि पिंगलकसकाश गत्वा प्रणम्योपविष्ट । पिंगलक आह—'किं दृष्ट भवता तत्सत्त्वम् ।' दमनक आह—'दृष्ट स्वामिप्रसादात् । पिंगलक आह—'अपि सत्यम् ।' दमनक आह—'कि स्वामिपादानामग्रेऽसत्य विज्ञाप्यते । उक्त च—

अपि स्वल्पमसत्य य पुरो वदति भूभुजाम् ।
देवाना च विनश्येत स द्रुत सुमहानपि ॥ १३० ॥

तथा च— सर्वदेवमयो राजा मनुना सप्रकीर्तित ।
तस्मात्त देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥

विपत्ति मे पडा हुआ राजा सदैव मन्त्रियो का भोग्य होता है । इसलिये मन्त्री लोग चाहते है कि राजा विपत्तियो मे फँसा रहे ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार रोग रहित मनुष्य कभी भी सद्वैद्य की इच्छा नही करता, उसी प्रकार आपत्ति-रहित राजा मन्त्री की अभिलाषा नही करता' ॥ १२९ ॥

इस प्रकार सोचता हुआ पिङ्गलक की ओर चला । पिङ्गलक भी उसको आता हुआ देख कर, अपने आकार की रक्षा कर (अर्थात् अपने मानसिक दुर्भावना को छिपाता हुआ) पहले की तरह बैठ गया । दमनक पिङ्गलक के पास जाकर प्रणाम करके बैठ गया । (तब) पिङ्गलक ने कहा--'क्या आपने उस जीव को देखा ?' दमनक ने कहा—'हाँ, स्वामी की कृपा से देखा ।' पिङ्गलक ने पूछा—'क्या सचमुच' ? दमनक ने कहा – क्या स्वामी के चरणो के सम्मुख मुझसे असत्य कहा जायेगा ? कहा भी है—

जो राजा और देवताओ से सम्मुख थोडा भी असत्य कहता है, वह बडा भी हो तो शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १३० ॥

और भी—भगवान् मनु का कहना है कि राजा मे सब देवता निवास करते हैं । इसलिए उमे देवताओ के समान ही देखे, अन्य किसी प्रकार से नही ॥१३१॥

न वध्यन्ते ह्यविश्वस्ता वलिभिर्दुर्वला अपि।
विश्वस्तास्त्वेव वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्वलै ॥ १२३ ॥
बृहस्पतेरपि प्राज्ञो न विश्वासे व्रजेन्नर ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्य च सुखानि च॥ १२४॥
शपथै सधितस्यापि न विश्वासे व्रजेद्रिपो ।
राज्यलाभोद्यतो वृत्र शक्रेण शपथैर्हत ॥ १२५ ॥
न विश्वास विना शत्रुर्देवानामपि सिद्धयति।
विश्वासात् त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारित '॥ १२६ ॥

एव सप्रधार्य स्थानान्तर गत्वा दमनकमार्गमवलोकयन्नेकाकी तस्थौ। दमनकोऽपि सजीवकसकाश गत्वा वृषभोऽयमिति परिज्ञाय हृष्टमना व्यचिन्तयत् 'अहो, शोभनमापतितम्। अनेनैतस्य सधिविग्रहद्वारेण मम पिंगलको वश्यो भविष्यतीति। उक्त च–

न कौलीन्यान्न सौहार्दान्नृपो वाक्ये प्रवर्तते।
मन्त्रिणा यावदभ्येति व्यसन शोकमेव च॥ १२७ ॥

किसी का विश्वास न करनेवाले दुर्वल को भी सबल नही मार सकते, किन्तु सब पर विश्वास रखनेवाले बलवान् भी दुर्वलो से मारे जा सकते हैं॥ १२३ ॥

जो अपनी आयु की वृद्धि और सुख की इच्छा करता हो वह बुद्धिमान् मनुष्य बृहस्पति पर भी विश्वास न करे॥ १२४॥

शपथ से कृतसन्धि (सन्धि किए गये) शत्रु का भी विश्वास न करे क्योकि राज्य के लोभ से उद्यत वृत्रासुर को इन्द्र ने शपथो से ही तो विश्वास दिलाकर) मारा ॥ १२५॥

देवताओ का शत्रु भी विश्वास के विना वश मे नही होता, विश्वास ही से इन्द्र ने दिति (कश्यप की पत्नी के गर्भ को नष्ट कर दिया था'॥ १२६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर, दूसरे स्थान पर जाकर दमनक के आने का मार्ग देखता हुआ अकेला बैठा रहा। दमनक भी सञ्जीवक के निकट गया और 'यह बैल है' ऐसा जानकर र करने लगा—अहो बडा अच्छा हुआ। इसके र विग्रह (सन्धिविच्छेद) होने ने

मैं तब तक

प्राप्ति

सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मन्त्रिणाम् ।
अत एव हि वाञ्छन्ति मन्त्रिण सापद नृपम् ॥ १२८ ॥
यथा नेच्छति नीरोग कदाचित् सुचिकित्सकम् ।
तथापद्रहितो राजा सचिव नाभिवाञ्छति ॥ १२९ ॥

एव विचिन्तयन्पिगलकाभिमुख. प्रतस्थे । पिगलकोऽपि तमायान्त प्रेक्ष्य स्वाकार रक्षन्यथापूर्वस्थितः दमनकोऽपि पिगलकसकाश गत्वा प्रणम्योपविष्ट । पिंगलक आह—'किं दृष्ट भवता तत्सत्त्वम् ।' दमनक आह—'दृष्ट स्वामिप्रसादात् । पिगलक आह—'अपि सत्यम् ।' दमनक आह—'किं स्वामिपादानामग्रेऽसत्य विज्ञाप्यते । उक्त च—

अपि स्वल्पमसत्य य पुरो वदति भूभुजाम् ।
देवाना च विनश्येत स द्रुत सुमहानपि ॥ १३० ॥

तथा च— सर्वदेवमयो राजा मनुना सप्रकीर्तित ।
तस्मात्त देववत्पश्येन्न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥ १३१ ॥

विपत्ति मे पडा हुआ राजा सदैव मन्त्रियो का भोग्य होता है । इसलिये मन्त्री लोग चाहते हैं कि राजा विपत्तियों मे फँसा रहे ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार रोग रहित मनुष्य कभी भी सद्वैद्य की इच्छा नही करता, उसी प्रकार आपत्ति-रहित राजा मन्त्री की अभिलाषा नही करता' ॥ १२९ ॥

इस प्रकार सोचता हुआ पिङ्गलक की ओर चला । पिङ्गलक भी उसको आता हुआ देख कर, अपने आकार की रक्षा कर (अर्थात् अपने मानसिक दुर्भावना को छिपाता हुआ) पहले की तरह बैठ गया । दमनक पिङ्गलक के पास जाकर प्रणाम करके बैठ गया । (तब) पिङ्गलक ने कहा- 'क्या आपने उस जीव को देखा ?' दमनक ने कहा—'हाँ, स्वामी की कृपा से देखा ।' पिङ्गलक ने पूछा—'क्या सचमुच' ? दमनक ने कहा – क्या स्वामी के चरणो के सम्मुख मुझसे असत्य कहा जायेगा ? कहा भी है—

जो राजा और देवताओ से सम्मुख थोडा भी असत्य कहता है, वह बडा भी हो तो शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ १३० ॥

और भी—भगवान् मनु का कहना है कि राजा मे सब देवता निवास करते हैं । इसलिए उसे देवताओ के समान ही देखे, अन्य किसी प्रकार से नही ॥१३१॥

सर्वदेवमयस्यापि विशेषो नृपतेरयम् ।
शुभाशुभफलं सद्यो नृपाद् देवाद्भवान्तरे ॥ १३२ ॥

पिंगलक आह—'सत्यं दृष्ट भविष्यति भवता । न दीनोपरि महान्तः कुप्यन्तीति न त्वं तेन निपातितः । यतः—

तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम् ॥ १३३ ॥

अपि च—गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग-
मत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि ।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-
स्तुल्ये बले तु बलवान् परिकोपमेति ॥ १३४ ॥

दमनक आह—'अस्त्वेव स महात्मा, वयं कृपणाः, तथापि स्वामी यदि कथयति ततो भृत्यत्वे नियोजयामि ।' पिंगलक आह—सोच्छ्वासम्—'किं भवाञ्शक्नोत्येवं कर्तुम् ।' दमनक आह—'किमसाध्यं बुद्धेरस्ति । उक्तं च—

राजा सब देवताओ का निवासस्थान होते हुए भी उसकी यह विशेषता है कि शुभ और अशुभ (कर्मों) का फल उससे शीघ्र मिल जाता है, किन्तु देवताओ से दूसरे जन्म मे फल मिलता है' ॥ १३२ ॥

पिङ्गलक ने पूछा—आपने तो उसे सचमुच देखा होगा । 'बडे लोग दुर्बलो पर अधिक क्रोध नही करते' इसलिए उसने आपको नही मारा । क्योंकि—

वायु कोमल, नीचे हुए और सब प्रकार से नम्र तृण को नही उखाडता । क्योकि उच्च विचार वालो का यह स्वभाव ही है । बडे लोग बडो पर ही अपना पराक्रम दिखाया करते है ॥ १३३ ॥

और भी—मद के जल से पूर्ण कपोलो से प्रेम रखनेवाले, मतवाले होकर मँडराते हुए भ्रमरो के चरणतलो से ताडित होकर भी, महाबली गजराज (उन पर) क्रोध नही करता । क्योकि बलवान् प्राणी अपने तुल्य बलवाले पर ही क्रोध करते हैं' ॥ १३४ ॥

दमनक ने कहा—यही सही कि यह महात्मा हैं और हम दीन है । तथापि यदि स्वामी कहे तो मै उसको आपकी सेवकाई मे नियुक्त कर दूँ ।' पिङ्गलक ने ऊर्ध्वं श्वास लेते हुए कहा—'क्या आप ऐसा कर सकते है ?' दमनक ने कहा—'बुद्धि के द्वारा क्या असाध्य है ? कहा भी है—

न तच्छस्त्रैर्न नागेन्द्रैर्न हयैर्न पदातिभिः।
कार्यं ससद्धिमभ्येति यथा वुद्धया प्रसाधितम् ॥ १३५ ॥

पिंगलक आह—'यद्येव तर्ह्यमात्यपदेऽध्यारोपितस्त्वम्। अद्यप्रभृति प्रसादनिग्रहादिक त्वयैव कार्यमिति निश्चय ।'

अथ दमनक' सत्वर गत्वा साक्षेप तमिदमाह—'एह्येहीतो दुष्टवृषभ ! स्वामी पिङ्गलकस्त्वामाकारयति। किं नि शङ्को भूत्वा मुहुर्मुहुर्नदसि वृथा' इति। तच्छ्रुत्वा सजीवकोऽब्रवीत्—'भद्र, कोऽय पिंगलक ' दमनक आह—'किं स्वामिन पिंगलकमपि न जानासि। तत्क्षणप्रतिपालय। फलेनैव ज्ञास्यसि। नन्वय सर्वमृगपरिवृतो वटतले स्वामी पिंगलकनामा सिंहस्तिष्ठति।' तच्छ्रुत्वा गतायुषमिवात्मान मन्यमान सजीवक पर विषादमगमत्। आह च—'भद्र, भवान् साधुसमाचारो वचनपटुश्च दृश्यते। तद्यदि मामवश्य तत्र नयसि तदभयप्रदानेन स्वामिन सकाशात प्रसाद कारयितव्य । दमनक आह—भो , सत्यमभिहित भवता। नीतिरेषा यत —

कोई भी कार्य शस्त्र, हाथी, घोडे और पैदल सेना से जितना सिद्ध नही होता उतना बुद्धि द्वारा हो जाता है' ॥ १३५ ॥

पिङ्गलक ने कहा—'यदि ऐसा है तो आज तुझको मैने मन्त्री पद पर नियुक्त कर दिया। आज से अनुग्रह (कृपा) और निग्रह (दण्ड) तुम ही करना—ऐसा मेरा निश्चय है।'

इसके अनन्तर दमनक ने शीघ्रता से जाकर, आक्षेप करते (फटकारते) हुए उससे कहा—'इधर आ, इधर आ। अरे दुष्ट वृषभ स्वामी पिङ्गलक तुझे बुलाते है। नि शङ्क होकर क्यों बार-बार व्यर्थ गर्जन करता है ? यह सुनकर सञ्जीवक ने कहा—हे भद्र यह पिङ्गलक कौन है ?' दमनक ने कहा—'क्या तू स्वामी पिङ्गलक को भी नही जानता है ? तो थोडी देर ठहर जा। फल से ही तू जान जायेगा। नि सन्देह सब मृगो से युक्त वटवृक्ष के नीचे हमारा स्वामी पिङ्गलक नाम का सिंह बैठा हुआ है।' उसे सुनकर अपने को आयुरहित मानता हुआ, सञ्जीवक अत्यधिक दु खी हुआ और बोला—हे भद्र आप मुझे सज्जनोचित व्यवहार और बात करने मे वडे दक्ष प्रतीत होवे है। यदि मुझे आप वहाँ अवश्य ले चलना चाहते हो तो स्वामी से अभय-दान दिलाकर मुझे बचाने की दया करेंगे।' दमनक ने कहा—अरे तूने सत्य कहा है। नीति इसी प्रकार की है। (अर्थात् राजाओ का विश्वास नही करना चाहिए) क्योकि—

पर्यन्तो लभ्यते भूमे समुद्रस्य गिरेरपि।
न कथचिन्महीपस्य चित्तान्त केनचित्कचित् ॥ १३६ ॥

तत्त्वमत्रैव तिष्ठ यावदह त समये दृष्ट्वा तत पश्चात्त्वामानयामि' इति। तथा अनुष्ठिते दमनक पिगलकसकाश गत्वेदमाह—स्वामिन्, न तत्प्राकृत सत्त्वम्। स हि भगवतो महेश्वरस्य वाहनभूतो वृषभ ' इति। मया पृष्ट इदमूचे–महेश्वरेण परितुष्टेन कालिन्दीपरिसरे शष्पाग्राणि भक्षयितु समादिष्टः। कि बहुना। मम प्रदत्त भगवता क्रीडार्थं वनमिदम्। पिगलक आह—'सत्य ज्ञात मयाऽधुना। न देवताप्रसाद बिना शष्पभोजिनो व्यालाकीर्ण एवविधे वने नि शङ्का नदन्तो भ्रमन्ति। ततस्त्वया किमभिहितम्।' दमनक आह—स्वामिन्, एतदभिहित मया यदेतद्वन चण्डिकावाहनभूतस्य मत्स्वामिन पिंगलकनाम्न सिहस्य विषयीभूतम्। तद्भवानभ्यागत प्रियोऽतिथि•। तत्तस्य सकाश गत्वा भ्रातृस्नेहेनैकत्र भक्षणपानविहरणक्रियाभिरेकस्थानाश्रयेण कालो नेय' इति। ततस्तेनापि सवमेतत्प्रतिपन्नम्।

मनुष्य द्वारा पृथ्वी, समुद्र और पर्वत का अन्त पाया जा सकता है किन्तु राजा के हृदय की बात का अन्त किसी प्रकार किसी ने आज तक कभी भी नही पाया है ॥ १३६ ॥

इसलिये (तब तक) तुम यही ठहरो जब तक मैं अनुकूल समय को देखकर न आऊँ, पीछे तुम्हे ले चलता हूँ।' ऐसा करके दमनक ने पिङ्गलक के समीप जाकर यह कहा—'स्वामिन् वह कोई साधारण जानवर नही है। वह तो भगवान् महेश्वर (शकर) जी का वाहनस्वरूप वृषभ है। मेरे पूछने पर उसने कहा—'शकर जी ने प्रसन्न होकर यमुना के तीरवर्ती प्रदेश मे बाल तृण (नवीन घास) खाने के लिए मुझे आज्ञा दी है। अधिक कहने से क्या प्रयोजन ? भगवान् शकर ने क्रीडा करने के लिए मुझे यह वन दिया है।'पिङ्गलक ने डरते हुए कहा—ठीक ठीक अब मैंने समझ लिया कि देवता की अनुकम्पा के बिना, सर्पो से भरे हुए इस प्रकार के घोर जगल मे घास खानेवाला जीव नि शङ्क हो, गर्जन करता हुआ, कैसे घूम सकता है ? तो फिर (उससे) तुमने क्या कहा ? दमनक ने कहा—'स्वामिन् ! मैंने यह कहा कि यह वन भगवती चण्डिका के वाहनस्वरूप मेरे स्वामी पिंगलक नामक सिह के अधिकार मे है। इसलिए आप हमारे अभ्यागत अथवा अतिथि के रूप मे आये हैं तो मेरे स्वामी के पास चल कर बन्धु-प्रेम मे बँधकर एक जगह ही खाना, पीना, घूमना, आदि क्रिया के द्वारा एक

उक्त च सहर्षम्—'स्वामिन सकाशादभयदक्षिणा दापयितव्या' इति तदत्र स्वामी प्रमाणम्। तच्छ्रुत्वा पिंगलक आह—'साधु सुमते, साधु। मन्त्रिश्रोत्रिय साधु। मम हृदयेन सह समन्त्र्य भवतेदमभिहितम्। तद्दत्ता मया तस्याभयदक्षिणा। पर सोऽपि मदर्थेऽभयदक्षिणा याचयित्वा द्रुततरमानीयताम्' इति। अथ साधु चेदमुच्यते—

अन्त सारैरकुटिलैरच्छिद्रै सुपरीक्षितै।
मन्त्रिभिर्धार्यते राज्य सुस्तम्भैरिव मन्दिरम्॥ १३७॥

तथा च—मन्त्रिणा भिन्नसधाने भिषजा सान्निपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डित'॥ १३८॥

दमनकोऽपि त प्रणम्य सजीवकसकाश प्रस्थित, सहर्षमचिन्तयत्'अहो प्रसादसमुखो न स्वामी वचनवशगश्च सवृत्त। तन्नास्ति धन्यतरो मम उक्त च—

अमृत शिशिरे वह्निरमृत प्रियदर्शनम्।
अमृत राजसम्मानममृत क्षीरभोजनम्॥ १३९॥

ही स्थान का आश्रय लेकर वही समय बिताइये।'तब उसने मेरी बातें स्वीकार कर आनन्दित होकर कहा—'स्वामी के समीप से मुझे अभय दक्षिणा दिलवाइये।' सो इसमे स्वामी ही प्रमाण है। उसे सुनकर पिङ्गलक ने कहा—'धन्य बुद्धिमान्! धन्य मन्त्रिश्रेष्ठ मानो मेरे हृदय से ही सम्मति लेकर तुमने ऐसा कहा। इसलिए मैंने उसे अभय दक्षिणा प्रदान की। किन्तु अब उससे भी मुझ अभय दान दिलाकर उसे शीघ्रातिशीघ्र लाओ। यह ठीक ही कहा है—

जिस प्रकार अच्छे, पुष्ट, सीधे खम्भो के सहारे मन्दिर खडे रहते हैं उसी प्रकार सावधान (बलवान्), निष्कपट, निर्दोष, अच्छी तरह से परीक्षा किए हुए मन्त्रियो द्वारा राज्य धारण किया जाता है॥ १३७॥

और भी—भेद और सन्धि के समय से मन्त्रियो की और सन्निपात (कफ, पित्त, वायुजन्य त्रिदोष) ज्वर मे वैद्यो की बुद्धि देखी जाती है, अन्यथा स्वस्थ रहने पर कौन नही पण्डित होता है'॥ १३८॥

दमनक भी उसे प्रणाम कर सञ्जीवक के पास चल दिया, और हर्षित हो सोचने लगा—अहो (इस समय) हमारे ऊपर स्वामी प्रसन्न हैं और मेरे वचन के वशीभूत हैं। इसलिए मुझसे बढ कर भाग्यवान् दूसरा कौन है? कहा भी है—

शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन) मे अग्नि अमृत (अमृत के समान सुखावह)

अथ सजीवकसकाशमासाद्य सप्रश्रयमुवाच–'भो मित्र, प्रार्थितोऽसौ मया भवदर्थे स्वाम्यभयप्रदानम्। तद्विश्रब्ध गम्यतामिति। पर त्वया राजप्रसादमासाद्य मया सह समयधर्मेण वर्तितव्यम्। न गर्वमासाद्य स्वप्रभुतया विचरणीयम्। अहमपि तव सकेतेन सर्वा राज्यधुरममात्यपदवीमाश्रित्योद्धरिष्यामि। एव कृते द्वयोरप्यावयो राज्यलक्ष्मीर्भोग्या भविष्यति।

आखेटकस्य धर्मेण विभवा स्युर्वशे नृणाम्।
नृप्रजा प्रेरयत्येको हन्त्यन्योऽत्र मृगानिव॥ १४०॥

तथा च—यो न पूजयते गर्वादुत्तमाधममध्यमान्।
भूपसमानमान्योऽपि भ्रश्यते दन्तिलो यथा॥ १४१॥

सजीवक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्–

कथा ३

अस्त्यत्र धरातले वर्धमान नाम नगरम्। तत्र दन्तिलो नाम नानाभाण्डपति सकलपुरनायक प्रतिवसित स्म। तेन पुरकार्यं नृपकार्यं च कुर्वता तुष्टि नीतास्तत्पुरवासिनो लोका नृपतिश्च। किं बहुना। न कोऽपि

है, प्रियजन का दर्शन अमृत है, राज-सम्मान अमृत है तथा दुग्ध-भोजन अमृत है॥ १३९॥

इसके बाद सञ्जीवक के पास पहुँच कर स्नेह पूर्वक उस (दमनक) ने कहा हे मित्र मैंने आपके लिए स्वामी से अभय प्रदान के लिए प्रार्थना की। अत आप निर्भय होकर चलिये। परन्तु राजा की कृपा प्राप्त कर, मेरे साथ आपको सामयिक धर्म के अनुरूप व्यवहार करना चाहिए। अभिमान मे आकर अपनी प्रभुता से स्वेच्छापूर्वक विचरण न करना। मैं भी आपके सकेत (सलाह) से समस्त राज्य के धुरी मन्त्रित्व के पद को प्राप्त कर, धारण करूँगा। ऐसा करने से हम दोनो से राज्यलक्ष्मी भोग्य होगी, क्योकि—

शिकार करनेवाले के समान आचरण करने से ऐश्वर्य मनुष्यो के वशीभूत हो जाते हैं। एक मनुष्य नररूपी प्रजा की प्रेरणा करता है और दूसरा इस लोक मे हरिणो के समान उसे कष्ट देकर अपना कार्य सिद्ध करता है॥ १४०॥

जो अलङ्कार के कारण उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणी के लोगो का सम्मान नही करता, वह राजा द्वारा सम्मानित होने पर भी दन्तिल के समान पतित हो जाता है॥ १४१॥

सजीवक ने कहा–'यह कैसे' उसने कहा–

इस भूतल पर वर्धमान नाम का एक नगर है। वहाँ दन्तिल नाम का एक बहुत बडा पूँजीपति (भण्डार और खजाने का अध्यक्ष), समस्त नगर का नायक

तादृक्केनापि चतुरो दृष्टो नापि श्रुतो वेति । अथवा साधु चेदमुच्यते—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महति विरोधे वर्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता ॥ १४२ ॥

अथैवं गच्छति काले दन्तिलस्य कदाचिद्विवाहः संप्रवृत्तः । तत्र तेन सर्वे पुरनिवासिनो राजसंनिधिलोकाश्च सम्मानपुरःसरमामन्त्र्य भोजिता वस्त्रादिभिः सत्कृताश्च। ततो विवाहानन्तरं राजा सान्तःपुरः स्वगृहमानीयाभ्यर्चितः । अथ तस्य नृपतेर्गृहसमार्जनकर्ता गोरम्भो नाम राजसेवको गृहायातोऽपि तेनानुचितस्थाने उपविष्टोऽवज्ञायाऽर्धचन्द्रं दत्वा निःसारितः । सोऽपि ततः प्रभृति निश्वसन्नपमानान्न रात्रावप्यधिशेते । 'कथं मया तस्य भाण्डपतेः राजप्रसादहानिः कर्तव्या' इति चिन्तयन्नास्ते । अथवा किमनेन

(मुखिया) रहता था । उसने नगर कार्य और राज-कार्य करते हुए उस नगर के निवासियों (नागरिकों) और राजा को प्रसन्न कर दिया । उसके समान चतुर कर्मचारी किसी ने कभी न कहीं देखा और न सुना ही था । अथवा यह सत्य ही कहा जाता है—

राजा का हित करनेवाले को जनता अपना द्वेषी समझती है और देश (जनता) का कल्याण करनेवाले को राजा पदच्युत कर देते हैं । इस प्रकार के बड़े विरोध के विद्यमान होने पर भी राजा और प्रजा (दोनों) का समान रूप से कार्यसाधक बड़ा दुर्लभ होता है ॥ १४२ ॥

इस प्रकार कुछ समय बीतने पर दन्तिल का एक समय विवाह होना निश्चित हुआ । तब उसने समस्त नागरिकों और राजा के निकट रहनेवाले (मन्त्री मुखिया, सामन्त) लोगों को सत्कारपूर्वक निमन्त्रण देकर, भोजन और वस्त्रों से सम्मानित किया । विवाह के बाद उसने अन्तःपुरवासियों के साथ राजा को अपने घर बुला कर अभ्यर्चना की किन्तु उस राजा के भवन की सफाई करनेवाले गोरम्भ नाम के एक राजसेवक को अपने घर आने पर अनुचित स्थल (ऊँचे आसन) पर बैठने के कारण अर्धचन्द्र (गरदनियाँ) देकर बाहर निकाल दिया । वह भी उसी दिन से अपमानित होने के कारण लम्बी श्वास लेता (आहे भरता) हुआ रात्रि में सोता भी न था । 'मैं इस पूँजीपति को किस प्रकार राजा की कृपा

वृथा शरीरशोषणेन। न किञ्चिन्मया तस्यापकर्तुं शक्यमिति। अथवा साध्विदमुच्यते—

यो ह्यपकर्तुमशक्त कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्ज।
उत्पतितोऽपि हि चणक शक्त कि भ्राष्ट्रक भङक्तुम्' ॥ १४३ ॥

अथ कदाचित्प्रत्यूषे योगनिद्रा गतस्य राज्ञ शय्यान्ते मार्जन कुर्वन्निदमाह—अहो, दन्तिलस्य महद् दृप्तत्व यद्राजमहिषीमालिंगति।' तच्छ्रुत्वा राजा ससभ्रममुत्थाय तमुवाच—'भो भो गोरम्भ, सत्यमेतत् यत्त्वया जल्पितम्। किं दन्तिलेन समालिंगिता' इति। गोरम्भ प्राह 'देव, रात्रिजागरणेन द्यूतासक्तस्य मे बलान्निद्रा समायाता। तन्न वेद्मि किं मयाभिहितम्।' राजा सेर्ष्यं स्वगतम्—एप तावदस्मद्गृहेऽप्रतिहतगतिस्तथा दन्तिलोऽपि। तत्कदाचिदनेन देवी समालिङ्ग्यमाना दृष्टा भविष्यति। तेनेदमभिहितम् उक्त च—

से वचित कराऊँ। यही सोचा करता था। अथवा इस शरीर को निरर्थक सुखाने से क्या लाम। मैं उसका कुछ भी अपकार नही कर सकता।' यह ठीक कहा है—

जो किसी का अपकार करने मे असमर्थ है, वह निर्लज्ज मनुष्य व्यर्थ क्यो किसी पर क्रोध करता है? क्या चना उछल कर भी भूजने के बर्तन फोड सकता है ॥ १४३ ॥

किसी समय प्रात काल मे जब राजा कुछ सो रहे थे, उस समय गोरम्भ ने शय्या के समीप झाड़ू देते हुए कहा—'अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि दन्तिल को इतना अहकार हो गया है कि वह पटरानी को आलिंगन करता है।' उसे सुनकर राजा शीघ्रता से उठकर बोले—'अरे गोरम्भ क्या यह सत्य है, जो तू कह रहा है? क्या महारानी को दन्तिल ने आलिंगन किया। गोरम्भ ने कहा—'महाराज मैं रात भर जूए मे आसक्त रहने के कारण जागरण करता रहा। इसलिये मुझे बडी जोर की नीद आ रही थी, मुझे पता नही कि मैंने क्या कहा है? राजा ने ईर्ष्यापूर्वक मनमे विचार किया—'यह तो हमारे महल मे बेरोक-टोक आने वाला है और दन्तिल भी उसी तरह आता जाता है। सम्भव है कि इसने कभी देवी को आलिंगन की जाती हुई देखा होगा, तभी तो ऐसा कहता है। कहा भी है—

यद्वाञ्छति दिवा मर्त्यो वीक्षते वा करोति वा ।
तत्स्वप्नेऽपि तदभ्यासाद् ब्रूते वाथ करोति वा ॥ १४४ ॥

तथा च—शुभ वा यदि पाप यन्नृणा हृदि सस्थितम् ।
सुगूढमपि तज्ज्ञेय स्वप्नवाक्यात्तथा मदात् ॥ १४५ ॥

अथवा स्त्रीणा विषये कोऽत्र सदेह ।

जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्य सविभ्रमा ।
हृद्गत चिन्तयत्यन्य प्रिय को नाम योषिताम् ॥ १४६ ॥

अन्यच्च—

एकेन स्मितपाटलाधररुचो जल्पन्त्यनल्पाक्षर
वीक्षन्तेऽन्यमित स्फुटत्कुमुदिनीफुल्लोल्लसल्लोचना ।
दूरोदारचरित्रचित्रविभव ध्यायन्ति चान्य धिया
केनेत्थ परमार्थतोऽर्थवदिव प्रेमास्ति वामभ्रुवाम् ॥ १४७ ॥

तथा च—नाग्निस्तृप्यति काष्ठाना नापगाना महोदधि ।
नान्तक सर्वभूताना न पुसा वामलोचना ॥ १४८ ॥

मनुष्य दिन मे जो अभिलाषा करता है, देखता है या करता है स्वप्न मे भी उसके अभ्यास के कारण वही बोलता और करता है ॥ १४४ ॥

और भी—अच्छा या बुरा जो भाव मनुष्यो के हृदय मे रहता है, वह अत्यन्त गूढ होने पर भी स्वप्नवाच्य अथवा मद (नशा) से विदित हो जाता है ॥ १४५ ॥

अथवा स्त्रियो के विषय मे सन्देह ही क्या करना ।

एक के साथ वार्तालाप करती हैं,दूसरे की ओर विलासपूर्वक देखती हैं और हृदय मे बैठे अन्य पुरुष के विषय मे विचार करती है । कहो तो सही स्त्रियो के लिए कौन प्यारा हो सकता है ॥ १४६ ॥

और भी—एक के साथ मुस्कुराते हुए लाल अधर की कान्तिवाली वनिता खूब बातें करती है, दूसरे की ओर खिली हुई कुमुदिनी के समान उल्लासयुक्त नेत्रो से देखती हैं, और विचित्र चरित्रवाले ऐश्वर्य से परिपूर्ण किसी तीसरे पुरुष का अपने चित्त मे ध्यान करती है। सत्य सत्य कहिये कि, टेढी भौ वाली स्त्रियो का वास्तविक प्रेम किसके साथ होता है। अर्थात् किसी के भी साथ नही ॥ १४७ ॥

वैसे ही—अग्नि काष्ठो (के भस्म करने) से, समुद्र अनेक नदियो (समा-

रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नर ।
तेन नारद नारीणा सतीत्वमुपजायते ॥१४९॥
यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेय मम कामिनी ।
स तस्या वशगो नित्य भवेत्क्रीडाशकुन्तवत् ॥१५०॥
तासा वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरूण्यपि ।
करोति स कृतैर्लोके लघुत्व याति सर्वत ॥१५१॥
स्त्रिय च य प्रार्थयते सनिकर्षं च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवा तमेवेच्छन्ति योषित ॥१५२॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणा भयात्परिजनस्य च ।
मर्यादायाममर्यादा स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥१५३॥
नासा कश्चिदगम्योऽस्ति नासा च वयसि स्थिति ।
विरूप रूपवन्त वा पुमानित्येव भुज्यते ॥१५४॥

गम) से यम समस्त प्राणियो (के सहार करने) से और कामिनी स्त्री अनेक पुरुषो (के ससर्ग) से भी तृप्त नही होती ॥ १४८ ॥

एकान्त नही मिलता, समय नही मिलता, अभिलषित मनुष्य (चाहने वाला मित्र) नही मिलता, इसलिए हे नारद स्त्रियो का सतीत्व बचा रहता है ॥ १४९ ॥

जो मूर्ख अज्ञान के कारण यह मानता है कि 'यह कामिनी मुझ पर अनुरक्त है, वह मनुष्य क्रीडा के पक्षी के समान नित्य उस (कामिनी) के वशीभूत हो जाता है ॥ १५० ॥

जो चतुर पुरुष स्त्रियो के वाक्यो एव कृत्यो को चाहे वे स्वल्प हो अथवा अधिक—करता है, वह सब प्रकार से लोक लघुता (निम्नता) को प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥

जो स्त्री की प्रार्थना करता है, उसके समीप जाता है और थोडी सेवा भी करता है उसी को वह चाहने लगती है ॥ १५२ ॥

मनुष्यो के न चाहने के कारण और परिजनो के भय से कुमार्ग मे जानेवाली स्त्रियाँ भी सदा मर्यादा मे रहती हैं ॥ १५३ ॥

इन स्त्रियो के लिए कोई अगम्य नही है । न अवस्था (वृद्ध, युवा) का ही इनको विचार रहता है और न कुरूप अथवा सौन्दर्य से ही प्रयोजन । ये तो केवल पुरुष मात्र के साथ भोग करना चाहती है ॥ १५४ ॥

रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणा शाटको यथा।
घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशित ॥ १५५ ॥
अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा।
अबलाभिर्बलाद्रक्त पादमूले निपात्यते ॥ १५६ ॥

एव स राजा बहुविध विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः सजात । किं बहुना। राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारित । दन्तिलोऽप्यकस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपतिमवलोक्य चिन्तयामास—'अहो, साधुचेदमुच्यते—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विषयिण कस्यापदोऽस्त गता
स्त्रीभि कस्य न खण्डित भुवि मन को नाम राज्ञा प्रिय ।
क कालस्य न गोचरान्तरगत कोऽर्थी गतो गौरव
को वा दुर्जनवागुरासु पतित क्षेमेण यात पुमान् ॥१५७॥

तथा च—काके शौच द्यूतकारे च सत्य
सर्पे क्षान्ति स्त्रीषु कामोपशान्ति ।

अनुरक्त मनुष्य साडी के समान स्त्रियो का भोग्य होता है जो दशा (१ कामावस्था, २ कपडे के अञ्चल भाग) को प्राप्त होकर लटकता हुआ, नितम्ब मे आवेष्टित होकर घर्षण को प्राप्त होता है ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार स्त्रियाँ लाख के रङ्ग (महावर) को जोर से दबाकर निचोड कर अपने चरणो मे लगाती हैं, उसी प्रकार वे अपने अनुरक्त को निष्पीडित (आलिंगन) कर अपने चरणो पर गिराती हैं ॥ १५६ ॥

इस प्रकार वह राजा अनेक प्रकार से विलापकर उसी दिन से दन्तिल के प्रति अप्रसन्न हो गया । अधिक कौन कहे ? राजद्वार मे उसके प्रवेश के लिए भी निषेध हो गया। दन्तिल भी एकाएक राजा को अनुरागरहित देखकर विचार करने लगा---अहो किसी ने सत्य कहा है—

धन पाकर कौन गर्वित नही हुआ ? किस विषयी पुरुष की विपत्तियाँ नष्ट हुई हैं। पृथ्वी मे किसका मन खण्डित (विलसित) नही हुआ है ? राजाओ का प्रिय कौन हुआ है ? काल के गाल में कौन नही गया ? किस याचना करने वाले को सम्मान मिला है ? दुर्जनो के कपट रूप जाल मे फँसे हुए किस पुरुष का कल्याण हुआ है ॥ १५७ ॥

और भी—कौए मे पवित्रता, जूआ खेलनेवालो मे सत्यता, सर्प में सहन-

रहो नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नर ।
तेन नारद नारीणा सतीत्वमुपजायते ॥१४९॥
यो मोहान्मन्यते मूढो रक्तेय मम कामिनी ।
स तस्या वशगो नित्य भवेत्क्रीडाशकुन्तवत् ॥१५०॥
तासा वाक्यानि कृत्यानि स्वल्पानि सुगुरूण्यपि ।
करोति स कृतैर्लोके लघुत्व याति सर्वत ॥१५१॥
स्त्रिय च य प्रार्थयते सनिकर्षं च गच्छति ।
ईषच्च कुरुते सेवा तमेवेच्छन्ति योषित ॥१५२॥
अनर्थित्वान्मनुष्याणा भयात्परिजनस्य च ।
मर्यादायाममर्यादा स्त्रियस्तिष्ठन्ति सर्वदा ॥१५३॥
नासा कश्चिदगम्योऽस्ति नासा च वयसि स्थिति ।
विरूप रूपवन्त वा पुमानित्येव भुज्यते ॥१५४॥

गम) से यम समस्त प्राणियो (के सहार करने) से और कामिनी स्त्री अनेक पुरुषो (के ससर्ग) से भी तृप्त नही होती ॥ १४८ ॥

एकान्त नही मिलता, समय नही मिलता, अभिलषित मनुष्य (चाहने वाला मित्र) नही मिलता, इसलिए हे नारद स्त्रियो का सतीत्व बचा रहता है ॥ १४९ ॥

जो मूर्ख अज्ञान के कारण यह मानता है कि 'यह कामिनी मुझ पर अनुरक्त है', वह मनुष्य क्रीडा के पक्षी के समान नित्य उस (कामिनी) के वशीभूत हो जाता है ॥ १५० ॥

जो चतुर पुरुष स्त्रियो के वाक्यो एव कृत्यो को चाहे वे स्वल्प हो अथवा अधिक—करता है, वह सब प्रकार से लोक लघुता (निम्नता) को प्राप्त होता है ॥ १५१ ॥

जो स्त्री की प्रार्थना करता है, उसके समीप जाता है और थोडी सेवा भी करता है उसी को वह चाहने लगती है ॥ १५२ ॥

मनुष्यो के न चाहने के कारण और परिजनो के भय से कुमार्ग मे जाने-वाली स्त्रियां भी सदा मर्यादा मे रहती है ॥ १५३ ।

इन स्त्रियो के लिए कोई अगम्य नही है । न अवस्था (वृद्ध, युवा) का ही इनको विचार रहता है और न कुरूप अथवा सौन्दर्य से ही प्रयोजन । ये तो केवल पुरुष मात्र के साथ भोग करना चाहती हैं ॥ १५४ ॥

रक्तो हि जायते भोग्यो नारीणा शाटको यथा ।
घृष्यते यो दशालम्बी नितम्बे विनिवेशित ॥ १५५ ॥
अलक्तको यथा रक्तो निष्पीड्य पुरुषस्तथा ।
अबलाभिर्बलाद्रक्त पादमूले निपात्यते ॥ १५६ ॥

एव स राजा बहुविध विलप्य तत्प्रभृति दन्तिलस्य प्रसादपराङ्मुखः सजात । किं बहुना । राजद्वारप्रवेशोऽपि तस्य निवारित । दन्तिलोऽप्यकस्मादेव प्रसादपराङ्मुखमवनिपतिमवलोक्य चिन्तयामास—'अहो, साधुचेदमुच्यते—

कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विषयिण कस्यापदोऽस्त गता
स्त्रीभि कस्य न खण्डित भुवि मन को नाम राज्ञा प्रिय ।
क कालस्य न गोचरान्तरगत कोऽर्थी गतो गौरव
को वा दुर्जनवागुरासु पतित क्षेमेण यात पुमान् ॥१५७॥

तथा च—काके शौच द्यूतकारे च सत्य
सर्पे क्षान्ति स्त्रीषु कामोपशान्ति ।

अनुरक्त मनुष्य साडी के समान स्त्रियो का भोग्य होता है जो दशा (१ कामावस्था, २ कपडे के अञ्चल भाग) को प्राप्त होकर लटकता हुआ, नितम्ब मे आवेष्टित होकर घर्षण को प्राप्त होता है ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार स्त्रियाँ लाख के रङ्ग (महावर) को जोर से दबाकर निचोड कर अपने चरणो मे लगाती हैं, उसी प्रकार वे अपने अनुरक्त को निष्पीडित (आलिंगन) कर अपने चरणो पर गिराती हैं ॥ १५६ ॥

इस प्रकार वह राजा अनेक प्रकार से विलापकर उसी दिन से दन्तिल के प्रति अप्रसन्न हो गया । अधिक कौन कहे ? राजद्वार मे उसके प्रवेश के लिए भी निषेध हो गया । दन्तिल भी एकाएक राजा को अनुरागरहित देखकर विचार करने लगा—अहो किसी ने सत्य कहा है—

धन पाकर कौन गर्वित नही हुआ ? किस विषयी पुरुष की विपत्तियाँ नष्ट हुई हैं । पृथ्वी मे किसका मन खण्डित (विलसित) नही हुआ है ? राजाओ का प्रिय कौन हुआ है ? काल के गाल मे कौन नही गया ? किस याचना करने वाले को सम्मान मिला है ? दुर्जनो के कपट रूप जाल मे फँसे हुए किस पुरुष का कल्याण हुआ है ॥ १५७ ॥

और भी—कौए मे पवित्रता, जूआ खेलनेवालो मे सत्यता, सर्प में सहन-

क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥ १५८ ॥

अपरं मयास्य भूपतेरथवान्यस्यापि कस्यचिद्राजसंबन्धिनः स्वप्नेऽपि नानिष्टं कृतम्। तत्किमेतत्पराङ्मुखो मां प्रति भूपतिः' इति। एवं तं दन्तिलं कदाचिद्राजद्वारे विष्कम्भितं विलोक्य समार्जनकर्ता गोरम्भो विहस्य द्वारपालानिदमूचे—भो भो द्वारपालाः, राजप्रसादाधिष्ठितोऽयं दन्तिलः स्वयं निग्रहानुग्रहकर्ता च। तदनेन निवारितेन यथाहं तथा यूयमप्यर्धचन्द्रभाजिनो भविष्यथ। तच्छ्रुत्वा दन्तिलश्चिन्तयामास—'नूनमिदमस्य गोरम्भस्य चेष्टितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

अकुलीनोऽपि मूर्खोऽपि भूपालं योऽत्र सेवते।
अपि संमानहीनोऽपि स सर्वत्र प्रपूज्यते ॥ १५९ ॥
अपि कापुरुषो भीरुः स्याच्चेन्नृपतिसेवकः।
तथापि न पराभूतिं जनादाप्नोति मानवः ॥ १६० ॥

एवं स बहुविधं विलप्य विलक्षमना सोद्वेगो गतप्रभावः स्वगृहं

शीलता, स्त्रियों में कामशान्ति, नपुंसक में धैर्य, मद्य पीनेवालों में तत्त्वविचार और राजा का मित्र होते किसने देखा अथवा सुना है ? ॥ १५८ ॥

और मैंने इस राजा की या राजा की किसी दूसरे सम्बन्धी की स्वप्न में भी बुराई नहीं की। तब क्या कारण है कि राजा ने मुझसे मुँह मोड लिया है ? इस प्रकार उस दन्तिल को किसी समय राजद्वार पर द्वारपाल से रोका हुआ देखकर, सम्मार्जन (झाडू) देनेवाले गोरम्भ ने हँसकर द्वारपाल से कहा—'ऐ दरवान ! राजमहल में आया हुआ यह दन्तिल स्वयं निग्रह (दण्ड) और अनुग्रह (कृपा) करनेवाला है। इसलिये इससे रोकने के कारण जिस प्रकार मैं (अर्धचन्द्र का भागी) हुआ था उसी प्रकार तुम भी अर्धचन्द्र (गरदनियाँ) के भागी होओगे।' यह सुनकर दन्तिल विचारने लगा—'निःसन्देह यह गोरम्भ की ही करतूत है। अथवा उचित ही कहा गया है -

अकुलीन या मूर्ख जो कोई भी राजा की सेवा करता है, वह सम्मानरहित होता हुआ भी सर्वत्र आदृत होता है ॥ १५९ ॥

कायर या डरपोक मनुष्य भी यदि राजा का सेवक हो तो वह किसी मनुष्य से पराभव प्राप्त नहीं करता ॥ १६० ॥

इस प्रकार उसने अनेक प्रकार से विचारकर, लज्जित एवं व्याकुल मन होने

निशामुखे गोरम्भमाहूय वस्त्रयुगलेन समान्येदमुवाच - 'भद्र, मया न तदा त्व रागवशन्नि सारित । यतस्त्व ब्राह्मणानामग्रतोऽनुचितस्थाने समुपविष्टो दृष्ट इत्यपमानित । तत्क्षम्यताम् ।' सोऽपि स्वर्गराज्योपम तद्वस्त्र-युगलमासाद्य पर परितोष गत्वा तमुवाच—'भो श्रेष्ठिन्, क्षान्त मया ते तत् । तदस्य समानस्य कृते पश्य मे बुद्धिप्रभाव राजप्रसाद च । एवमुक्त्वा सपिरतोष निष्क्रान्तः । साधु चेदमुच्यते—

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी चेष्टा तुलायष्टे खलस्य च ॥ १६१ ॥

ततश्चान्येद्यु स गोरम्भो राजकुले गत्वा योगनिद्रा गतस्य भूपते समार्जनक्रिया कुर्वन्निदमाह—'अहो अविवेकोऽस्मद्भूपते , यत्पुरीषोत्सर्गमाचर श्चिर्भटीभक्षण करोति ।' तच्छ्रुत्वा राजा सविस्मय तमुवाच—'रे रे गोरम्भ, किमप्रस्तुत लपसि । गृहकर्मकर मत्वा त्वा न व्यापादयामि । किं त्वया कदाचिदहमेवविध कर्म समाचरन्दृष्टः ।' सोऽब्रवीत्—

से हतप्रभ होकर, अपने घर जाकर, सायकाल गोरम्भ को बुलाकर, एक जोडे कपडे से उसे सत्कृत कर यह कहा—'हे भद्र ! मैंने उस समय तुम्हे क्रोधवश नही निकाला था, किन्तु जो तुम ब्राह्मणो के आगे अनुचित स्थान पर बैठे हुए देखे गये इससे तुम्हारा तिरस्कार (अपमान) हुआ । अत उसे क्षमा करो ।' उसने स्वर्गराज्य के समान दोनों कपडो को पाकर अत्यधिक सन्तुष्ट होकर उससे कहा—'ऐ सेठ जी ! मैंने वह सब क्षमा कर दिया । इस सम्मान के बदले मेरे बुद्धिप्रभाव और राजप्रसाद को देखो ।' ऐसा कहकर सन्तोष के साथ वह चला गया । यह ठीक ही कहा गया है—

जिस प्रकार तराजू की डण्डी थोडे मे ऊपर चली जाती है और थोडे ही मे नीचे चली आती है, उसी प्रकार दुष्ट की चेष्टा भी है । जो थोडे ही मे ऊपर हो जाता है और थोडे ही मे नीचे चला आता है । अर्थात् जिसको कुपित होने और प्रसन्न होने मे बहुत देर नही लगती ॥ १६१ ॥

तब दूसरे दिन उस गोरम्भ ने, राजकुल मे जाकर कुछ-कुछ निद्रावस्था मे प्राप्त हुए राजा के यहाँ झाडू देते हुए यह कहा—'अत्यधिक आश्चर्य की बात है कि हमारे राजा की कैसी अज्ञानता है कि वह मलत्याग (पैखाना) करते समय ककडी खाता है । यह सुनकर आश्चर्य से चकित होकर राजा ने उससे कहा—'अरे गोरम्भ' क्यो अयुक्त बात करता है ? घर का काम करनेवाला

'देव, द्यूतासक्तस्य रात्रिजागरणेन समार्जन कुर्वाणस्य मम बलान्निद्रा समायाता। तयाधिष्ठितेन मया किंचिज्जल्पितम्, तन्न वेद्मि। तत्प्रसाद करोतु स्वामी निद्रापरवशस्य' इति। एव श्रुत्वा राजा चिन्तितवान् 'यन्मया जन्मान्तरे पुरीषोत्सर्गं कुर्वता कदापि चिर्भटिका न भक्षिता, तद्यथाय व्यतिकरोऽसभाव्यो ममानेन मूढेन व्याहृत, तथा दन्तिल-स्यापीति निश्चय। तन्मया न युक्त कृत यत्स वराक समानेन वियोजित। न तादृक्पुरुषाणामेवविध चेष्टित सभाव्यते। तदभावेन राजकृत्यानि पौरकृत्यानि च सर्वाणि शिथिलता व्रजन्ति।' एवमनेकधा विमृश्य दन्तिल समाहूय निजाङ्गवस्त्राभरणादिभि सयोज्य स्वाधिकारे नियोजयामास। अतोऽह ब्रवीमि—'यो न पूजयते गर्वात्' इति।' सजीवक आह—'भद्र, एवमेवैतत्। यद्भवताभिहित तदेव मया कर्तव्यम्' इति। एवम-भिहिते दमनकस्तमादाय पिङ्गलकसकाशमगमत्। आह च—'देव एष मयानीत स सजीवक। अधुना देव प्रमाणम्। सजीवकोऽपि त सादर

समझकर तुझे नही मारता हूँ। क्या तूने किसी समय मुझे इस प्रकार के कर्म करते हुए देखा है?' उसने कहा—'देव! जूआ खेलने मे तल्लीन रहने के कारण रात्रिभर जागते रहने से, झाड देते-देते मुझे नीद आ गई। अत उस प्रकार की दशा होने से क्या शब्द मेरे मुख से निकल गये, इसका मुझे पता नही है। सो मुझ, नीद के वशीभूत—पर स्वामी कृपा करे।' इस प्रकार सुनकर राजा ने सोचा कि मैंने जन्मान्तर में भी मलत्याग करते समय कभी ककडी नही खाई। अत. जिस प्रकार मेरे विषय मे इस मूढ की कही हुई बात असम्भव है, उसी प्रकार दन्तिल के विषय मे भी इसने की होगी—ऐसा मेरा निश्चय है। इसलिये मैंने अच्छा नही किया कि व्यर्थ ही उस बेचारे को सत्काररहित कर दिया। उस प्रकार के मनुष्यो का इस प्रकार का बुरा व्यवहार असम्भव है। उसके न रहने के कारण राजकार्य और नगरकार्य सभी ढीले पड गये हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार से विचार कर, दन्तिल को बुलवाकर, अपने शरीर के वस्त्रालङ्कार से सुशोभित कर, उसे फिर उसके अधिकार-पद पर नियुक्त कर दिया। इसीसे मैं कहता हूँ कि 'यो न पूजयते गर्वात्' इत्यादि। सञ्जीवक ने कहा—'भद्र! यह ऐसा ही है। आपने जैसा कहा है उसी प्रकार मैं करूँगा।' ऐसा कहने पर दमनक उसको लेकर पिङ्गलक के समीप गया और बोला—'स्वामिन्! इस सञ्जीवक को मैं लाया हूँ। अब आप जैसा उचित समझें,

प्रणम्याग्रत सविनय स्थित । पिङ्गलकोऽपि तस्य पीनायतककुद्मतो नखकुलिशालकृत दक्षिणपाणिमुपरि दत्त्वा मानपुर मरमुवाच—अपि शिव भवत । कुतस्त्वमस्मिन्वने विजने समायातोऽसि ।' तेनाप्यात्मकवृत्तान्त. कथित । यथा वर्धमानेन सह वियोग सञ्जातस्तथा मर्वं निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा पिङ्गलक सादरतर तमुवाच–'वयस्य, न भेतव्यम् । मद्भुजपञ्जर-परिरक्षितेन यथेच्छ त्वयाधुना वर्तितव्यम् । अन्यच्च नित्य मत्समीपवर्तिना भाव्यम् । यत कारणाद् बह्वपाय रौद्रसत्त्वनिषेवित वन गुरूणामपि सत्त्वानामसेव्यम्, कुत शष्पभोजिनाम् ।' एवमुक्त्वा सकलमृगपरिवृतो यमुनाकच्छमवतीर्योदकग्रहण कृत्वा स्वेच्छया तदेव वन प्रविष्ट । ततश्च करटकदमनकनिक्षिप्तराज्यभार सजीवकेन सह सुभापितगोष्ठीमनुभवन्नास्ते । अथवा साध्विदमुच्यते ।

यदृच्छयाप्युपनत सकृत्सज्जनसगतम् ।
भवत्यजरमत्यन्त नाभ्यासक्रममीक्षते ॥ १६२ ॥

सजीवकेनाप्यनेकशास्त्रावगाहनादुत्पन्नबुद्धिप्रागल्भ्येन स्तोकैरेवा-

---

करें । सञ्जीवक भी उसे आदर के साथ प्रणाम कर विनयपूर्वक उसके आगे बैठ गया । पिङ्गलक भी पुष्ट एव विशाल ककुभवाले उस बैल पर वज्र के समान नख से सुशोभित दाहिने हाथ को रखकर सम्मानपूर्वक बोला —'कहिए आप कुशल तो हैं ? इस निर्जन वन मे आप कहाँ से आये ?' उसने भी अपना वृत्तान्त कहा और जिस प्रकार वर्धमान के साथ वियोग हुआ वे सब बातें भी कह दी । उसे सुनकर पिङ्गलक ने अत्यधिक आदर के साथ उससे कहा—

हे मित्र ! तुम मत डरो । मेरे भुजपञ्जर से सुरक्षित होकर अब स्वच्छन्दतया विचरण करो, और नित्य मेरे समीप रहा करो । क्योकि बहुत आपत्ति पूर्ण भयङ्कर जानवरों से सेवित इस जगल मे बडे-बडे जीव नही रह सकते, फिर घास खानेवालों की तो बात ही क्या है ।' यह कह कर समस्त मृगो के साथ यमुना तट पर जाकर, जलपान कर स्वेच्छापूर्वक उसी जगल मे प्रविष्ट हुआ । उसके बाद करटक और दमनक पर राज्यभार डालकर, सञ्जीवक के साथ सुभाषित गोष्ठी का सुख अनुभव करता हुआ रहने लगा । अथवा यह ठीक ही कहा है—

यदि अकस्मात् एक बार भी सज्जनो को सगति हो जाय तो वह अक्षय होती है । वह बार-बार अभ्यास के क्रम की अपेक्षा नही करती ॥१६२॥

सञ्जीवक ने भी अनेक शास्त्रो के श्रवण करने से उत्पन्न बुद्धि की प्रगल्भता

होभिर्मूढमति पिङ्गलको धीमास्तथा कृतो यथारण्यधर्माद्वियोज्य ग्राम्यधर्मेषु नियोजित । किं बहुना प्रत्यह पिङ्गलकसजीवकावेव केवल रहसि मन्त्रयतः। शेष. सर्वोऽपि मृगजनो दूरीभूतस्तिष्ठति। करटकदमनकावपि प्रवेश न लभेते। अन्यच्च सिंहपराक्रमाभावात्सर्वोऽपि मृगजनस्तौ च शृगालौ क्षुधाव्याधिबाधिता एका दिशमाश्रित्य स्थिना ।

उक्त च—फलहीन नृप भृत्या कुलीनमपि चोन्नतम्।
सत्यज्यान्यत्र गच्छन्ति शुष्क वृक्षमिवाण्डजा ॥ १६३ ॥

तथा च-अपि समानसयुक्ता कुलीना भक्तितत्परा ।
वृत्तिभङ्गान्महीपाल त्यजन्त्येव हि सेवका ॥ १६४ ॥

अन्यच्च—कालातिक्रमण वृत्तेर्यो न कुर्वीत भूपति ।
कदाचित्त न मुञ्चन्ति भर्त्सिता अपि सेवका ॥ १६५ ॥

(अर्थात् प्रत्युत्पन्नमतित्व, अवसर पर तत्काल उत्तर देना) के द्वारा थोडे ही दिनो मे उस मूर्खबुद्धि पिङ्गलक को ऐसा बुद्धिमान् बना दिया कि वन धर्म (स्वाभाविक हिंसा) से पृथक् कर उसे ग्राम्य धर्म (ग्राम्य वासियो के स्वाभाविक दया-धर्म) मे लगा दिया। अधिक कहने से क्या, प्रतिदिन पिङ्गलक और सञ्जीवक ही केवल एकान्त मे मन्त्रणा करते और अवशिष्ट सब मृगगण दूर रहते थे [यहाँ तक कि] करटक और दमनक को भी प्रवेश नही था। इसके अतिरिक्त सिंह के पराक्रम न रहने के कारण, सब मृगगण और वे दोनो सियार क्षुधा रोग से पीडित होकर एक किनारे बैठे रहते थे।

कहा भी है——उच्च कुलोत्पन्न तथा उन्नत राजा को भी फलहीन समझकर उसके अनुचर लोग उसे उस प्रकार छोड कर दूसरे स्थान मे चले जाते है जिस प्रकार सूखे, अच्छे और उन्नत वृक्ष को फलहीन समझ, उसे छोडकर पक्षीगण चले जाते हैं ॥ १६३ ॥

सम्मान-युक्त, कुलीन और भावित्त मे तत्पर सेवक भी वृत्तिभङ्ग (वेतन न मिलने के कारण राजा को छोड देते हैं ॥ १६४ ॥

और भी——जो राजा वृत्ति (मासिक वेतन) देने मे समय का अतिक्रमण नही करता (अर्थात् वेतन उचित समय पर दे देता है) उसके भर्त्सना करने (घुडकने, झिडकने और फटकारने) पर भी सेवक लोग उसे कभी-भी नही छोडते ॥ १६५ ॥

तथा न केवल सेवका इत्थभूता यावत्ससमस्तमप्येतज्जगत्परस्पर भक्षणार्थं सामादिभिरुपायैस्तिष्ठति । तद्यथा—

देशानामुपरि क्ष्माभृदातुराणा चिकित्सका ।
वणिजो ग्राहकाणा च मूर्खाणामपि पण्डिता ॥ १६६ ॥
प्रमादिना तथा चौरा भिक्षुका गृहमेधिनाम् ।
गणिका कामिना चैव सर्वलोकस्य शिल्पिन ॥ १६७ ॥
सामादिसज्जितै पाशैः प्रतीक्षन्ते दिवानिशम् ।
उपजीवन्ति शक्त्या हि जलजा जलदानिव ॥ १६८ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

सर्पाणा च खलाना च परद्रव्यापहारिणाम् ।
अभिप्राया न सिद्ध्यन्ति तेनेद वर्तते जगत् ॥ १६९ ॥

अत्तु वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखु क्षुधार्त फणी
त च क्रौञ्चरिपो शिखी गिरिसुतासिहोऽपि नागाशनम् ।
इत्थ यत्र परिग्रहस्य घटना शभोरपि स्यात् गृहे
तत्राप्यस्य कथ न भावि जगतो यस्मात्स्वरूप हि तत् ॥१७०॥

इस प्रकार केवल सेवक लोग ही नहीं होते, किन्तु यह समस्त ससार परस्पर भक्षण के लिए ही साम आदि (दाम, दण्ड, भेद) उपायो मे लगा रहता है । वह इस प्रकार से—

देशवासियो के ऊपर राजा, आतुर (रोगग्रस्त) लोगो पर वैद्य, ग्राहको पर धनियो, मूर्खों पर पण्डितो का प्रमुत्व रहता है ॥ १६६ ॥

असावधानो पर चोरो, गृहस्थो पर भिक्षुको, कामियो पर गणिकाओ और सर्वसाधारण जनता पर शिल्पियो (कारीगरो) का प्रभाव रहता है ॥ १६७ ॥

(लोग) साम आदि (दाम, दण्ड भेद का) जाल फैलाये दिन-रात उसी प्रकार प्रतीक्षा किया करते हैं जिस प्रकार जलजात (धान्यादि) मेघो की प्रतीक्षा करते हैं, क्योकि ये सब उनकी शक्ति से जीवन धारण करते हैं ॥ १६८ ॥

अथवा यह ठीक कहा जाता है कि—सर्पों और पराया द्रव्य हरण करनेवाले दुष्ट पुरुषो के अभिप्राय सिद्ध नही होते इसलिए यह ससार अब तक टिका हुआ है ॥ १६९ ॥

शिवजी का सर्प भूख से पीडित होकर गणेशजी के चूहे को खाने की इच्छा करता है । उस सर्प को कार्तिकेय का मोर खाना चाहता है । और उस नाग-

ततः स्वामिप्रसादरहितौ क्षुत्क्षामकण्ठौ परस्परं करटकदमनकौ मन्त्रयेते। तत्र दमनको ब्रूते—'आर्य करटक, आवां तावदप्रधानतां गतौ। एष पिङ्गलकः संजीवकानुरक्तः स्वव्यापारपराङ्मुखः संजातः। सर्वोऽपि परिजनो गतः। तत्किं क्रियते।' करटक आह—'यद्यपि त्वदीयवचनं न करोति तथापि स्वामी स्वदोषनाशाय वाच्यः उक्तं च—

अशृण्वन्नपि बोद्धव्यो मन्त्रिभिः पृथिवीपतिः।
यथा स्वदोषनाशाय विदुरेणाम्बिकासुतः॥ १७१॥

तथा च— मदोन्मत्तस्य भूपस्य कुञ्जरस्य च गच्छतः।
उन्मार्गं वाच्यतां यान्ति महामात्राः समीपगाः॥ १७२॥

तत्त्वयैष शष्पभोजी स्वामिनः सकाशमानीतः। तत्स्वहस्तेनाङ्गाराः कर्षिताः।' दमनक आह—'सत्यमेतत्। ममायं दोषः, न स्वामिनः।

भक्षण करनेवाले मोर को पार्वती का वाहन सिंह भी खाने की अभिलाषा करता है। इस प्रकार जब शंकरजी के घरमें भी आपस की घटना इस प्रकार की है तब दूसरों के घर में क्यों नहीं होगी? क्योंकि संसार का स्वरूप ही ऐसा है॥१७०॥

उसके अनन्तर स्वामी की कृपा से रहित तथा भूख से सूखे कण्ठ वाले करटक और दमनक आपस में मन्त्रणा (सलाह) करने लगे। उनमें दमनक ने कहा—'आर्य करटक! हम दोनों जब अप्रधान हो गये। यह पिङ्गलक सञ्जीवक के प्रति अनुरक्त होकर अपने कार्य (जीवहिंसा) से विमुख हो गया। हमारे सब परिजन भी चले गए। अब क्या किया जाय!' करटक ने कहा—'यद्यपि वह आपके कथनानुसार नहीं करता, तथापि अपने दोष (सेवकों का पालन न करने) से बचने के लिए स्वामी से कुछ कहना उचित ही है। कहा है –

राजा यदि न सुने तो भी मन्त्री का कर्तव्य है कि राजा को समझावे। जिस प्रकार अपना दोष दूर करने के लिए विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाया था॥१७१॥

और भी—मदोन्मत्त राजा और हाथी—इन दोनों के उन्मार्ग (कुमार्ग)-गामी हो जाने पर उनके समीपवर्ती महामात्र (प्रधान मन्त्री और महावत) ही वाच्यता को प्राप्त होते हैं (अर्थात् वे ही निन्दनीय समझे जाते हैं)॥१७२॥

इसलिए तुमने ही इस घास खानेवाले को स्वामी के समीप लाया, सो अपने हाथ से ही तुमने आग उठायी है (अर्थात् अपने पैर में कुल्हाड़ी मारी है) दमनक ने कहा—'यह सत्य है, इसमें मेरा ही दोष है, न कि स्वामी का।

उक्त च—जम्बुको हुडुयुद्धेन वय चापाढभूतिना।
दूतिका परकार्येण त्रयो दोपा स्वयकृता ' ॥ १७३ ॥

कथा ४

करटक आह—कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

अस्ति कस्मिंश्चिद्विविक्तप्रदेशे मठायतनम्। तत्र देवशर्मा नाम परिव्राजकः प्रतिवसतिस्म। तस्यानेकसाधुजनदत्तसूक्ष्मवस्त्रविक्रयवशात्कालेन महती वित्तमात्रा सजाता। तत स न कस्यचिद्विश्वसिति। नक्तदिन कक्षान्तरात्ता मात्रा न मुञ्चति। अथवा साधु चेदमुच्यते—

अर्थानामर्जने दु खमर्जितानां च रक्षणे।
आये दु ख व्यये दु ख धिगर्था कष्टसश्रया ॥ १७४ ॥

अथाषाढभूतिर्नाम परवित्तापहारी धूर्तस्तामर्थमात्रा तस्य कक्षान्तरगता लक्षयित्वा व्यचिन्तयत्—'कथ मयास्येयमर्थमात्रा हर्तव्या' इति। तदत्र-मठे तावद्दृढशिलासचयवशाद्भित्तिभेदो न भवति। उच्चैस्तरत्वाच्च द्वारे प्रवेशो न स्यात्। तदेन मायावचनैर्विश्वास्याह छात्रता व्रजामि येन स विश्वस्तः कदाचिद्विश्वासमेति। उक्त च—

कहा भी है—हुड्ड (मेढो) के युद्ध से गीदड, आषाढभूति से हम और दूसरे के कार्य करने से दूती, ये तीनो अपने ही दोष से दूषित हुए ॥१७३॥

करटक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी निर्जन स्थान मे एक मठ-मन्दिर था। वही देवशर्मा नाम का एक सन्यासी रहता था। उसके पास अनेक महात्मा पुरुषो द्वारा दिए हुए सूक्ष्म (महीन) वस्त्रो के वेचने से, कुछ समय के बाद बहुत धन इकट्ठा हो गया। तब से वह किसी का विश्वास नही करता था। रात-दिन कांख के भीतर से उस धन को पृथक् नही करता था। अथवा किसी ने ठीक कहा है—

धन के कमाने मे दु ख, कमाये हुए धन की रक्षा करने मे दु ख, आमदनी में दु ख और खर्चकरने मे दु ख, अत ऐसे कष्टकारक धन को धिक्कार है ॥१७४॥

कुछ समय के बाद आषाढभूति नामक पराये धन को अपहरण करनेवाला धूर्त (ठग) उस धन को उसकी काख में देखकर विचार करने लगा—'किस तरह मैं इसके इस धन को हरण करूँ। मजबूत पत्थर से बने हुए इस मठ मे सेंध भी नही दी जा सकती। अधिक ऊँचा होने के कारण द्वार में प्रवेश भी

निस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रिय ।
नाविदग्ध· प्रिय ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चक ॥ १७५ ॥

एव निश्चित्य तस्यान्तिकमुपगम्य 'ओ नम शिवाय' इति प्रोच्चार्य साष्टाङ्ग प्रणम्य च सप्रश्रयमुवाच—'भगवन्, असार· ससारोऽयम्, गिरिनदीवेगोपम यौवनम्, तृणाग्निसम जीवितम्, शरदभ्रच्छाया-सदृशा भोगाः स्वप्नसदृशो मित्रपुत्रकलत्रभृत्यवर्गसम्बन्ध, एव मया सम्यक्परिज्ञातम्। तत्किं कुर्वतो मे ससारसमुद्रोत्तरण भविष्यति।' तच्छ्रुत्वा देवशर्मा सादरमाह—'वत्स' धन्योऽसि यत्प्रथमे वयस्येव विरक्तिभाव ।

उक्त च —

पूर्वे वयसि य शान्त स शान्त इति मे मति ।,
धातुषु क्षीयमाणेषु शम कस्य न जायते ॥ १७६ ॥

नही हो सकता। अत इनको अपने कपट वाक्यो (चिकनी-चुपडी बातो) द्वारा विश्वास दिला कर मैं छात्र बन जाऊँ, जिससे यह विश्वस्त होकर कदाचित् मेरे विश्वास मे आ जाय। कहा है—

जो अभिलाषारहित है वह (धन का) अधिकारी नही हो सकता, सभोग की अभिलाषा से रहित मनुष्य शृङ्गारप्रिय नही हो सकता, मूर्ख कभी प्रिय नही बोल सकता और साफ-साफ कहनेवाला धूर्त (ठग) नही हो सकता ॥१७५॥

ऐसा निश्चय कर उसके समोप जा 'ओ नम शिवाय' ऐसा बोल कर, साष्टाङ्ग प्रणाम कर नम्रता से बोला—'भगवन् ! यह ससार सारहीन है, पहाडी नदी के समान यौवन है, तृण (फूस) की अग्नि के समान जीवन है, शरद् ऋतु के मेघ की छाया के समान (क्षण भर मे विलीन होने वाला) भोग—विलास है, स्वप्न के समान मित्र-पुत्र भार्या-भृत्य वर्ग का सम्बन्ध है। यह सब मैंने भली-भाति समझ लिया है। अत क्या करने से मैं ससाररूपी समुद्र को पार कर सकूँगा ?' यह सुनकर देवशर्मा ने आदरपूर्वक कहा—'वत्स धन्य हो, प्रथमावस्था मे ही तुम्हारे अन्दर इस प्रकार के वैराग्यभाव का उदय हुआ है। कहा है—

जो पहली अवस्था मे शान्त है, वही शान्त है—ऐसी मेरी सम्मति है। क्योकि धातुओ के क्षीण हो जाने पर किसमे शान्ति नही आ जाती ॥ १७६ ॥

आदौ चित्ते तत काये सता सपद्यते जरा।
असता तु पुन काये नैव चित्ते कदाचन ॥ १७७ ॥

यच्च मा ससारसागरोत्तरणोपाय पृच्छसि, तच्छ्रूयताम्--

शूद्रो वा यदि वान्योऽपि चण्डालोऽपि जटाधर ।
दीक्षित शिवमन्त्रेण स भस्माङ्गी शिवो भवेत् ॥ १७८ ॥

षडक्षरेण मन्त्रेण पुष्पमेकमपि स्वयम् ।
लिङ्गस्य मूर्ध्नि यो दद्यान्न स भूयोऽभिजायते' ॥ १७९ ॥

तच्छ्रुत्वाषाढभूतिस्तत्पादौ गृहीत्वा सप्रश्रयमिदमाह—'भगवन्, तर्हि दीक्षया मेऽनुग्रह कुरु।' देवशर्मा आह—'वत्स अनुग्रह ते करिष्यामि। परतु रात्रौ त्वया मठमध्ये न प्रवेष्टव्यम्। यत्कारण नि सङ्गता यतीना प्रशस्यते तव च ममापि च। उक्त च--

दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यति सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुल कुतनयाच्छील खलोपासनात्।

सत्पुरुषो के पहले चित्त मे, उसके बाद शरीर मे वृद्धावस्था आती है, किन्तु दुष्टों के शरीर मे वृद्धावस्था आने पर भी वह चित्त मे नही प्रविष्ट हो पाती ॥१७७॥

जो मुझ से ससार समुद्र से पार हो जाने का उपाय पूछते हो तो सुनो—

शूद्र हो अथवा अन्य कोई, यहाँ तक कि चाण्डाल भी जटाधारण करने वाला हो तो शिवमन्त्र से दीक्षित होकर केवल शरीर मे भस्म लगाने पर शिव स्वरूप हो जाता है ॥ १७८ ॥

जो स्वय षडक्षर (नम शिवाय) मन्त्र से एक भी फूल शिवलिङ्ग पर चढाता है, उसका पुनर्जन्म नही होता ॥१७९॥

उसे सुनकर आषाढभूति उसके दोनो पैरो को पकड कर नम्रतापूर्वक यह कहने लगा—'भगवन्! तब दीक्षा (शिवमन्त्र का उपदेश) देकर मेरे ऊपर अनुग्रह कीजिए।' देवशर्मा ने कहा—'वत्स! तुम्हारे ऊपर अनुग्रह तो करूँगा, किन्तु रात्रि मे तुम मठ मे प्रवेश न करना। इसका कारण यह है कि सन्यासियों का सग रहित होना प्रशसनीय है। यही बात तुम्हारे लिये और मेरे लिये भी अच्छी है। कहा भी है—

दुर्मन्त्रणा (बुरी सलाह) के कारण राजा, विषयादि मे राग रखने के कारण यति, लालन (वात्सल्य से प्यार) करने से पुत्र, अध्ययन न करने से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुष्टो की उपासना करने से सदाचार, स्नेहशून्यता से मित्रता,

मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्स्नेह प्रवासाश्रयात्-
स्त्री गर्वादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात्प्रमादाद्धनम् ॥ १८० ॥

तत्त्वया व्रतग्रहणानन्तर मठद्वारे तृणकुटीरके शयितव्यम्' इति । स आह—'भगवन्, भवदादेश॰ प्रमाणम् । परत्र हि तेन मे प्रयोजनम् ।' अथ कृतशयनसमय देवशर्मानुग्रह कृत्वा शास्त्रोक्तविधिना शिष्यतामनयत् । सोऽपि हस्तपादावमर्दनादिपरिचर्यया त परितोषमनयत् । पुनस्तथापि मुनि कक्षान्तरान्मात्रा न मुञ्चति । अथैव गच्छति काले आषाढभूतिश्चिन्तयामास—'अहो, न कथचिदेष मे विश्वासमागच्छति । तत्किं दिवापि शस्त्रेण मारयामि, किं वा विष प्रयच्छामि, किं वा पशुधर्मेण व्यापादयामि' इति । एव चिन्तयतस्तस्य देवशर्मणोऽपि शिष्यपुत्र कश्चिद्ग्रामादामन्त्रणार्थं समायात । प्राह च—'भगवन्, पवित्रारोपणकृते मम गृहमागम्यताम्' इति । तच्छ्रुत्वा देवशर्माषाढभूतिना सह प्रहृष्टमना प्रस्थित । अथैव तस्य गच्छतोऽग्रे काचिन्नदी समायता । ता दृष्ट्वा मात्रा कक्षान्तरादवतार्य कन्यामध्ये सुगुप्ता निधाय

अनीति से समृद्धि, परदेश मे रहने के कारण स्नेह, अहङ्कार के कारण स्त्री, देखभाल न करने से खेती तथा त्याग और प्रमाद (लापरवाही) से धन का नाश होता है ॥ १८० ॥

इसलिये तुम्हे व्रत ग्रहण करने पर मठ के द्वार पर फूस की कुटी मे शयन करना चाहिए । उसने कहा— भगवन् आपकी आज्ञा ही प्रमाण है । परलोक मे कल्याण हो, यही मेरा प्रयोजन है ।' इसके बाद शयन का समय बिताकर देवशर्मा ने शास्त्रोक्त विधि से, उसे शिष्य बनाया । वह भी हाथ-पैर दबाने आदि सेवा से उसे प्रसन्न करने लगा । इतना होने पर भी वह मुनि अपने बगल से धन की गठरी को नही छोडता था । इस प्रकार कुछ समय बीत जाने पर आषाढभूति ने विचार किया—आश्चय है कि यह किसी प्रकार मेरे विश्वास मे नही आना है, तो क्या दिन मे शस्त्र से मार डालू अथवा विष दे दू, अथवा पशुओ के समान इसका गला घोट दूँ ? ऐसा विचार करने पर देवशर्मा के शिष्य का पुत्र किसी गाँव से निमन्त्रण के देने के लिए आया । उसने कहा—'भगवन् ! पवित्रारोहण के लिए (यज्ञोपवीत सस्कार कराने के लिए) मेरे घर पर आइयेगा ।' यह सुनकर देवशर्मा ने आषाढभूति के साथ आनन्दित हो प्रस्थान किया । चलते चलते उनको रास्ते मे कोई नदी मिली । उसे देखकर

स्नात्वा देवार्चनं विधाय तदनन्तरमाषाढभूतिमिदमाह—'भो आषाढ-भूते, यावदहं पुरीषोत्सर्गं कृत्वा समागच्छामि तावदेषा कन्था योगे-श्वरस्य सावधानतया रक्षणीया।' इत्युक्त्वा गतः। आषाढभूतिरपि तस्मिन्नदर्शनीभूते मात्रामादाय सत्वरं प्रस्थितः। देवशर्मापि छात्र-गुणानुरञ्जितमनाः सुविश्वस्तो यावदुपविष्टस्तिष्ठति तावत्सुवर्णरोमदेह-यूथमध्ये हुडुयुद्धमपश्यत्। अथ रोषवशाद्धुडुयुगलस्य दूरमपसरणं कृत्वा भूयोऽपि समुपेत्य ललाटपट्टाभ्यां प्रहरतो भूरि रुधिरं पतति। तच्च जम्बूको जिह्वालौल्येन रङ्गभूमिं प्रविश्यास्वादयति। देवशर्मापि तदालोक्य व्यचिन्तयत्—'अहो, मन्दमतिरयं जम्बूकः। यदि कथ-मप्यनयोः संघट्टे पतिष्यति तन्नूनं मृत्युमवाप्स्यतीति वितर्कयामि।' क्षणान्तरे च तथैव रक्तास्वादनलौल्यान्मध्ये प्रविशंस्तयोः शिरःसंपाते पतितो मृतश्च शृगालः। देवशर्मापि तं शोचमानो मात्रामुद्दिश्य शनैः शनैः प्रस्थितो यावदाषाढभूतिं न पश्यति ततश्चौत्सुक्येन शौचं विधाय यावत्कन्थामालोकयति तावन्मात्रां न पश्यति। ततश्च 'हा हा मुषि-

---

पोटरी को बगल से निकाल कर, गुदडी (कथरी) मे छिपा रखा। स्नान करके देवपूजा करने के बाद आषाढभूति से उसने कहा—'आषाढभूति! जब तक मैं मल त्याग करके न आऊँ तबतक इस योगेश्वर (शंकर) की गुदडी की सावधानता से रक्षा करना।' ऐसा कहकर चला गया। आषाढभूति भी उसके आँखो के ओझल होने पर झटपट उस धन को लेकर चलता बना। देवशर्मा भी छात्र के गुणो पर प्रसन्न होकर विश्वास करके जब लौट कर बैठा तभी सोने के समान रोमवाले मेढो के झुण्ड के बीच दो मेढो की लडाई देखने लगा। वहाँ क्रोध मे भरे दोनो मेढे पहले कुछ दूर जाते तब बडे वेग से आकर एक दूसरे के मस्तक पर प्रहार करते थे, जिससे अत्यधिक रक्त निकलता था। एक गीदड जिह्वा के लालच से युद्धस्थल मे प्रवेश कर रक्त को चखता था। देवशर्मा ने भी उसे देखकर विचार किया—'अहो! यह गीदड मूर्ख है। यदि किसी प्रकार इन दोनो की चपेट में पड जायगा तो निश्चय ही मर जायगा, ऐसा मैं सोचता हूँ।' थोडो ही देर बाद वह गीदड रक्त चखने के लिए घुसा और उन दोनों के मस्तक की टक्कर मे पडकर मर गया। देवशर्मा भी उसी को सोचते हुए अपने धन की गठरी लेने के लिए धीरे-धीरे चला। जब आषाढभूति नही दिखाई दिया तब उत्कण्ठा के कारण शौचक्रिया मे निवृत्त हो गुदडी को देखने

तोऽस्मि' इति जल्पन्पृथिवीतले मूर्च्छया निपपात। ततः क्षणाच्चेतना लब्ध्वा भूयोऽपि समुत्थाय फूत्कर्तुमारब्ध —'भो आषाढभूते, क्व मा वञ्चयित्वा गतोऽसि। तद् देहि मे प्रतिवचनम्।' एव बहु विलप्य तस्य पदपद्धतिमन्वेषयञ्शनै शनै प्रस्थित। अथैव गच्छन्सायतनसमये कञ्चिद्ग्राममाससाद। अथ तस्माद्ग्रामात्कश्चित्कौलिक सभार्यो मद्यपानकृते समीपवर्तिनि नगरे प्रस्थित। देवशर्मापि तमालोक्य प्रोवाच— 'भो भद्र, वय सूर्योढा अतिथयस्तवान्तिक प्राप्ता। न कमप्यत्र ग्रामे जानीम। तद्गृह्यतामतिथिधर्म उक्त च—

'सप्राप्तो योऽतिथि साय सूर्योढे गृहमेधिनाम्।
पूजया तस्य देवत्व प्रयान्ति गृहमेधिन ॥ १८१ ॥

तथा च— तृणानि भूमिरुदक वाक्चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि हर्म्येषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १८२ ॥
स्वागतेनाग्नयस्तृप्ता आसनेन शतक्रतु।
पादशौचेन पितर अर्घाच्छभुस्तथाऽतिथे' ॥ १८३ ॥

लगा। जब धन देखने में नही आया तो 'हाय! हाय! मैं लुट गया' यह कहते हुए गिर पडा। क्षण भर बाद होश आने पर, पुन उठकर, जोर से आहें भरने लगा—'अरे आषाढभूति! मुझे धोखा देकर कहाँ चले गये हो, इसका मुझे उत्तर दो। इस तरह बहुत विलाप करके उसके पैरो के चिह्न खोजता हुआ धीरे-धीरे चल पडा। चलते चलते सन्ध्या समय किसी गाँव मे पहुँचा। उस गाँव से कोई जुलाहा अपनी स्त्री के साथ मद्य पीने के लिये समीप के नगर की ओर जा रहा था। देवशर्मा ने उसे देखकर कहा—'भद्र! हम सूर्यास्त के समय पहुँचे हुए अतिथि है, तुम्हारे निकट आये हैं। इस गाँव मे और किसी को नही जानते इसलिए तुम्ही अतिथि-धर्म स्वीकार करो। कहा भी है—

जो अतिथि सन्ध्या को सूर्यास्त के समय गृहस्थो के यहाँ आ पहुँचे उसकी पूजा करने से गृहस्थलोग देवता के तुल्य हो जाते हैं ॥ १८१ ॥

उसी प्रकार—तृण (कुशासन की चटाई), भूमि, जल एव चौथी सत्य और प्रियवाणी ये सज्जनो के घर से कदापि नष्ट नही होती ॥ १८२ ॥

अतिथि से 'अच्छा हुआ आप आये, आपका स्वागत है' इस प्रकार पूछने से अग्नि, आसन प्रदान करने से इन्द्र, चरण धोने से पितर और अर्घ्य देने से महादेव जी प्रसन्न होते हैं ॥ १८३ ॥

कौलिकोऽपि तच्छ्रुत्वा भार्यामाह—'प्रिये गच्छ त्वमतिथिमादाय गृह प्रति पादशौचभोजनशयनादिभि सत्कृत्य त्व तत्रैव तिष्ठ। अह तव कृते प्रभूत मद्यमानेष्यामि। एवमुक्त्वा प्रस्थित । सापि भार्या पुंश्चली तमादाय प्रहसितवदना देवदत्त मनसि ध्यायन्ती गृह प्रतस्थे। अथवा साधु चेदमुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दु सचारासु नगरवीथीषु।
पत्युर्विदेशगमने परमसुख जघनचपलाया ॥ १८४ ॥

तथा च—पर्यङ्केष्वास्तरण पतिमनुकूल मनोहर शयनम्।
तृणमिव लघु मन्यन्ते कामिन्यश्चौर्यरतलुब्धा ॥ १८५ ॥

तथा च—केलि प्रदहति लज्जा शृङ्गारोऽस्थीनि चाटव कटव ।
बन्धक्या परितोषो न किंचिदिष्ट भवेत्पत्यौ ॥१८६॥

कुलपतन जनगर्हा बन्धनमपि जीवितव्यसदेहम्।
अङ्गीकरोति कुलटा सतत परपुरुषससक्ता ॥ १८७ ॥

कौलिक ने उसे सुनकर अपनी स्त्री से कहा—'हे प्यारी तू अतिथि को लेकर घर जा। पदप्रक्षालन, भोजन और शयन आदि से सत्कार करके तू घर ही रहना। मै तेरे लिए बहुत मद्य ले आऊँगा।' ऐसा कहकर चल दिया। वह व्यभिचारिणी स्त्री भी उसे लेकर हँसती हुई मन मे देवदत्त का ध्यान करती हुई घर की ओर चली। अथवा ठीक ही कहा है—

मेघ से आच्छादित (ढँके हुए) दिन मे, घने अन्धकार मे, अत्यन्त सकीर्ण गलियो मे और पति के विदेश जाने पर, चपल जड्घा (कुलटा) स्त्रियो को अत्यधिक आनन्द होता है ॥ १८४ ॥

और भी पलङ्ग पर उत्तम आच्छादन वस्त्र, अपने अनुकूल पति एव मनोहर शयन को भी—चोरी से सम्भोग की लालची कामिनियाँ तृण के समान तुच्छ मानती हैं ॥ १८५ ॥

और भी—पति के साथ व्यभिचारिणी स्त्री को काम-क्रीडा को लज्जा तथा हड्डियो को शृङ्गार जला देता है। प्रियवचन (स्वामी के हास्य-विनोद) को वे कडुआ समझती हैं— व्यभिचारिणी स्त्रियो को न तो पति से सन्तोष होता है और न उनकी अभिलाषा पूर्ण होती है ॥ १८६ ॥

अपने कुल का पतन, मनुष्यो की निन्दा, बन्धन (पकड कर घर मे बन्द किया जाना) और जीवन मे सशय—ये सब बातें हर समय परपुरुष मे मन लगाने वाली कुलटा स्त्री स्वीकार कर लेती है ॥ १८७ ॥

अथ कौलिकभार्या गृहं गत्वा देवशर्मणे गतास्तरणं भग्ना च खट्वा समर्प्येदमाह—भो भगवन्, यावदहं स्वसखीं ग्रामादभ्यागतां संभाव्य द्रुतमागच्छामि तावत्त्वया मद्गृहेऽप्रमत्तेन भाव्यम्।' एवमभिधाय शृङ्गारविधिं विधाय यावद्देवदत्तमुद्दिश्य व्रजति तावत्तद्भर्ता संमुखो मदविह्वलाङ्गो मुक्तकेशः पदे पदे प्रस्खलन्गृहीतमध्यभाण्डः समभ्येति। तं च दृष्ट्वा सा द्रुततरं व्याघुट्य स्वगृहं प्रविश्य मुक्तशृङ्गारवेशा यथापूर्वमभवत्। कौलिकोऽपि तां पलायमानां कृताद्भुतशृङ्गारां विलोक्य प्रागेव कर्णपरंपरया तस्याः श्रुतापवादक्षुभितहृदयः स्वाकारं निगूहमानः सदैवास्ते। ततश्च तथाविधं चेष्टितमवलोक्य दृष्टप्रत्ययः क्रोधवशगो गृहं प्रविश्य तामुवाच—'आः पापे पुंश्चलि, क्व प्रस्थितासि।' सा प्रोवाच—'अहं त्वत्सकाशादागता न कुत्रचिदपि निर्गता। तत्कथं मद्यपानवशादप्रस्तुतं वदसि। अथवा साधु चेदमुच्यते—

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम्।
संनिपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत्॥ १८८॥

कौलिक की स्त्री अपने घर पहुँचकर देवशर्मा को बिना बिछौने की एक टूटी खाट समर्पण कर बोली—'भगवन्! जब तक मै अपनी सखी से वार्त्तालाप न कर आऊँ तब तक आप मेरे घर मे सावधानता से रहिएगा।' इस प्रकार कहकर विधिपूर्वक शृङ्गार कर ज्यो ही देवदत्त से मिलने चली की त्यो ही उसका स्वामी कौलिक नशे मे चूर शरीरवाला, बाल खोले हुए, एक एक पद पर गिरता हुआ मद्य का बर्तन लिए हुए समक्ष उपस्थित हुआ। उसे देखकर वह बहुत शीघ्रता से तत्काल लौट पडी और अपने घर मे प्रविष्ट हो शृङ्गार-भूषा को उतार कर, जिस प्रकार पहले थी उसी प्रकार हो गयी। कौलिक ने भागती हुई और अद्भुत शृङ्गार की हुई उसको देख लिया। पहले ही से अपने कानो उसकी निन्दा सुन चुकने के कारण क्षुभित हृदय होकर वह अपने आकार (मानसिक भाव) को सदा छिपाये रखता था। उस समय उसकी चेष्टा को देखकर, देखी हुई बात का विश्वास कर क्रोध के वशीभूत हो, घर मे जाकर उससे कहा-'अरी पापिनी! दुराचारिणी! कहाँ जा रही थी?' उसने उत्तर दिया कि—"मै आपके पास से आने पर कही नही गयी। तब मद्य पीने के कारण क्यो व्यर्थ ऊटपटाग बकते हो? अथवा ठीक है—

विकलता, भूमि पर गिरना और जो मन मे आवे सो (अन्ट सन्ट) बकना ये सब सन्निपात के चिह्न मद्य प्रकट कर देता है॥ १८८॥

करस्पन्दोऽम्बरत्यागस्तेजोहानि' सरागता ।
वारुणीसङ्गजावस्था भानुनाऽप्यनुभूयते' ॥ १८९ ॥

सोऽपि तच्छ्रुत्वा प्रतिकूलवचन वेशविपर्यय चावलोक्य तमाह्—'पुश्चलि, चिरकाल श्रुतो मया तवापवाद । तदद्य स्वय सजातप्रत्ययस्तव यथोचित निग्रह् करोमि ।' इत्यभिधाय लगुडप्रहारैस्ता जर्जरितदेहा विधाय स्थूणया सह् दृढबन्धनेन बद्ध्वा सोऽपि मदविह्वलो निद्रावशमगमत् । अत्रान्तरे तस्या सखी नापिती कौलिक निद्रावशगत विज्ञाय ता गत्वेदमाह्—'सखि, स देवदत्तस्तस्मिन्स्थाने त्वा प्रतीक्षते । तच्छीघ्रमागम्यताम्' इति । सा चाह्—'पश्य ममावस्थाम । तत्कथ गच्छामि । तद्गत्वा ब्रूहि त कामिन यदस्या रात्रौ न त्वया सह् समागम ।' नापिती प्राह्—'सखि, मा मैव वद । नाय कुलटाधर्म उक्त च—

विषमस्थस्वादुफलग्रहणव्यवसायनिश्चयो येषाम् ।
उष्ट्राणामिव तेषा मन्येऽह् शसित जन्म ॥ १९० ॥

करस्पन्दन (हाथ मे कँपकपी), कपडा खोलकर फेंक देना, शरीरकान्तिरहित, क्रोध से लाल इस प्रकार मद्यपान से उत्पन्न हुई दशा की समता पश्चिम दिशा के सूर्य से की जाती है । (अस्त होते हुए) सूर्य भी पश्चिम दिशा के सग से झिलमिल आकाशहीन, तेजहीन और लाल वर्ण का होता है ॥१८९॥

उसने उसे सुनकर उलटी-पुलटी बात तथा बदले हुए वेश को देखकर कहा—'अरी कुलटे ! बहुत दिनो से मैंने तेरा अयश सुन रखा था । सो आज स्वय देखकर दृढ विश्वास हो गया है । अब तेरा यथोचित अङ्गपूजन करता हूँ । ऐसा कहकर दण्डो की मार से उसके शरीर को जर्जर कर, खम्भे के साथ उसे बाँध दिया । वह भी नशे से अभिभूत होकर निद्रा के वश हो गया (अर्थात् उसे नीद आ गयी) इस बीच उसकी सखी नाइन, कौलिक को निद्रा के वशीभूत (सोता) जानकर, उसके निकट जाकर यह कहने लगी —'हे सखी । वह देवदत्त, उस स्थान मे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है, अत शीघ्र आओ ।' उसने कहा—'मेरी दशा तो देखो भला मैं किस प्रकार जा सकती हूँ । इसलिए जाकर उस कामी पुरुष से तू ही कह दे कि आज की रात्रि मे तुम्हारे साथ समागम न हो सकेगा ।' नाइन ने कहा —'सखी । इस प्रकार न कह, व्यभिचारिणी का धर्म नही है । कहा है—

जिस प्रकार कठिन स्थान मे लगे हुए स्वादिष्ट फलो को ग्रहण करने का

तथा च—संदिग्धे परलोके जनापवादे च जगति बहुचित्रे।
स्वाधीने पररमणे धन्यास्तारुण्यफलभाजः ॥ १९१ ॥
अन्यच्च—यदि भवति दैवयोगात्पुमान्विरूपोऽपि बन्धकी रहसि।
न तु कृच्छ्रादपि भद्रं निजकान्तं सा भजत्येव' ॥ १९२ ॥

साब्रवीत्—'यद्येवं तर्हि कथय कथं दृढबन्धनबद्धा सती तत्र गच्छामि। संनिहितश्चायं पापात्मा मत्पतिः।' नापित्याह—'सखि, मदविह्वलोऽयं सूर्यकरस्पृष्टः प्रबोधं यास्यति। तदहं त्वामुन्मोचयामि। मामात्मस्थाने बद्ध्वा द्रुततरं देवदत्तं संभाव्यागच्छ।' साब्रवीत्—'एवमस्तु' इति। तदनु सा नापिती तां स्वसखीं बन्धनाद्विमोच्य तस्याः स्थाने यथापूर्वमात्मानं बद्ध्वा तां देवदत्तसकाशे संकेतस्थानं प्रेषितवती। तथानुष्ठिते कौलिकः कस्मिंश्चित्क्षणे समुत्थाय किंचिद्गतकोपो विमदस्तामाह—

ऊँटों का स्वभाव होता है उसी प्रकार दुर्लभ पर-पुरुष-समागम का आनन्द उठाने का जिनका निश्चय दृढ होता है, उन्हीं का जन्म मैं ऊँटों के समान प्रशंसा के योग्य समझती हूँ ॥ १९० ॥

और—परलोक में क्या होगा इसमें सन्देह है, इस लोक में अनेक प्रकार की झूठ, सच, अद्भुत लोक निन्दा होती रहती है, पर दूसरे के साथ भोग करना अपने वश की बात है। इसलिए वे ही धन्य हैं जो अपने युवावस्था का आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ १९१ ॥

और भी—यदि भाग्यवश कुरूप पुरुष भी एकान्त में व्यभिचारिणी को प्राप्त हो जाय तो कष्ट से प्राप्य ऐसे पुरुष के साथ भी सम्भोग करती है, किन्तु अच्छे (स्वरूपवाले) सुन्दर अपने पति के साथ रमण नहीं करती ॥ १९२ ॥

वह बोली—'यदि ऐसी बात है, तो कह, किस प्रकार मैं दृढ बंधन में बँधी हुई वहाँ जा सकती हूँ। क्योंकि यह पापी मेरा स्वामी समीप ही है।' नाइन ने कहा—'हे सखी! नशे में चूर यह मनुष्य सूर्य की किरणों का स्पर्श (प्रातः) होने पर जागेगा। इसलिये मैं तुम्हें छुड़ा देती हूँ। मुझे अपने स्थान पर बाँधकर देवदत्त का मनोरथ पूर्णकर, अतिशीघ्र आ जा।' उसने कहा—'मैं ऐसा स्वीकार करती हूँ?' इसके पश्चात् उस नाइन ने उस अपनी सखी को बन्धनरहित कर, उसके स्थान पर पहले के समान अपने को बँधवाकर, उसे देवदत्त के समीप संकेत स्थल पर भेज दिया। ऐसा होने पर कुछ देर के बाद कौलिक ने उठकर कुछ क्रोध-रहित हो और नशा दूर होने के बाद कहा—

'हे परुषवादिनि, यदद्य प्रभृति गृहान्निष्क्रमणं न करोषि, न च परुषं वदसि, ततस्त्वामुन्मोचयामि ।' नापित्यपि स्वरभेदभयाद्यावन्न किंचिद्रूचे, तावत्सोऽपि भूयो भूयस्तां तदेवाह । अथ सा यावत्प्रत्युत्तरं किमपि न ददौ, तावत्स प्रकुपितस्तीक्ष्णशस्त्रमादाय नासिकामच्छिनत् । आह च—'रे पुंश्चलि, तिष्ठेदानीम् । त्वां भूयस्तोषयिष्यामि' इति जल्पन्पुनरपि निद्रावशमगमत् । देवशर्मापि वित्तनाशात्क्षुत्क्षामकण्ठो नष्टनिद्रस्तत्सर्वं स्त्रीचरित्रमपश्यत् । सापि कौलिकभार्या यथेच्छया देवदत्तेन सह सुरतसुखमनुभूय कस्मिंश्चित्क्षणे स्वगृहमागत्य तां नापितीमिदमाह—'अयि, शिवं भवत्याः । नायं पापात्मा मम गताया उत्थितः ।' नापित्याह—'शिवं नासिकया विना शेषस्य शरीरस्य । तद् द्रुतं मां मोचय बन्धनाद्यावन्नायं मां पश्यति, येन स्वगृहं गच्छामि ।' तथानुष्ठिते भूयोऽपि कौलिक उत्थाय तामाह—'पुंश्चलि, किमद्यापि न वदसि । किं भूयोऽप्यतो दुष्टतरं निग्रहं कर्णच्छेदेन करोमि ।' अथ सा सकोपं साधिक्षेपमिदमाह—'धिङ्महामूढ, को मां महासतीं धर्षयितुं व्यङ्गयितुं वा समर्थः । तच्छृण्वन्तु सर्वेऽपि लोकपालाः ।

'अरी कटुभाषिणी ! यदि आज से अब कभी घर से बाहर न निकलेगी और न कठोर बात कहेगी तो मैं तुझे खोल दूँ ।' नाइन ने स्वरभेद के सन्देह से जब कुछ उत्तर नहीं दिया तब वह बारम्बार उससे वही कहने लगा । जब उसने कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं दिया तब क्रुद्ध हो, तीक्ष्ण शस्त्र को लेकर उसने उसकी नाक काट ली और उससे कहा—'अरी व्यभिचारिणी ! इस प्रकार ही बँधी रह, अब मैं तेरा अनुनय (खुशामद) न करूँगा ।' यह कहकर फिर निद्रा के वशीभूत हो गया । देवशर्मा भी धननाश के कारण, भूख से सूखा हुआ कंठवाला और निद्रारहित होने के कारण यह सब स्त्रीचरित्र देखता रहा । वह कौलिक की स्त्री भी देवदत्त के साथ जी भर सम्भोग कर कुछ समय के पश्चात् अपने घर आकर उस नाइन से बोली—'अरी ! तुम्हारा कुशल तो है ? यह पापी मेरे जाने पर उठा तो नहीं था ?' नाइन ने कहा—'नासिका के अतिरिक्त और शेष शरीर के अवयवों का तो कुशल है । सो तू शीघ्रता से मुझे बन्धन से खोल दे, जिससे यह मुझे न देख ले और मैं अपने घर चली जाऊँ ।' वैसा करने के बाद फिर कौलिक ने उठकर उससे कहा—'कुलटे ! अब भी क्यों नहीं बोलती ? क्या अब इससे कठिन दण्ड कान काटने का दूँ ।'

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदय यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥१९३॥

तद्यदि मम सतीत्वमस्ति, मनसापि परपुरुषो नाभिलषित, ततो देवा भूयोऽपि मे नासिका तादृग्रूपामक्षता कुर्वन्तु। अथवा यदि मम चित्ते परपुरुषस्य भ्रान्तिरपि भवति, मा भस्मसान्नयन्तु।' एवमुक्त्वा भूयोऽपि तमाह—'भो दुरात्मन्, पश्य मे सतीत्वप्रभावेण तादृश्येव नासिका सवृत्ता।' अथासावुल्मुकमादाय यावत्पश्यति तावत्तद्रूपा नासिका च भूतले रक्तप्रवाह च महान्तमपश्यत्। अथ स विस्मितमनास्ता बन्धनाद्विमुच्य शय्यायामारोप्य च चाटुशतै. पर्यतोषयत्। देवशर्मापि त सर्ववृत्तान्तमालोक्य विस्मितमना इदमाह—

'शम्बरस्य च या माया या माया नमुचेरपि ।
बले कुम्भीनसेश्चैव सर्वास्ता योषितो विदु ॥ १९४ ॥

तब उसने क्रोध और फटकार के साथ उत्तर दिया—'धिक्कार है, धिक्कार है ! अरे मूर्खराज ! मुझ महासती को डाँटने और विकलाङ्ग करने मे कौन समर्थ है, अत अब सब लोकपाल सुन ले—

'सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन रात्रि, दोनो सन्ध्याएँ (प्रात एव सायकाल की) और धर्म-ये सब मनुष्यो के चरित्र जानते है ॥ १९३ ॥

इसलिए यदि मेरा सतीत्व है, और मन से भी यदि मैंने दूसरे पुरुष की अभिलाषा नही की है तो देवता मेरी नासिका फिर से उसी प्रकार अखण्डित कर दे। और यदि मेरे मन मे परपुरुष की भ्रान्ति हो तो मुझे भस्म कर देवें।' इस प्रकार कहकर फिर उससे कहा—'अरे दुष्टात्मा ! देख, मेरे सतीत्व के प्रभाव से मेरी नाक उसी प्रकार (पहले की तरह) हो गयी है।' इसके बाद कौलिक ने ज्यो ही मशाल लेकर देखा तो उसी रूप की नासिका और भूतल पर अत्यधिक रक्तप्रवाह उसे दिखलाई पडा। तब आश्चर्यचकित होकर उसने उसे बन्धन से मुक्त कर, शय्या पर बैठाकर, सैकडो चाटूक्तियो (मनोहर वचनो) से उसको सन्तुष्ट किया। देवशर्मा ने भी, उस सारी घटना को देखकर आश्चर्यान्वित होकर यह कहा—

जो शम्बर दैत्य की माया है, जो माया नमुचि राक्षस (शुम्भ-निशुम्भ के छोटे भाई) की है, जो बलि (विरोचन के पुत्र) और कुम्भीनसी (लवणासुर

हसन्त प्रहसन्त्येता रुदन्त प्ररुदन्त्यपि ।
अप्रिय प्रियवाक्यैश्च गृह्णन्ति कालयोगत ॥ १९५ ॥

उशना वेद यच्छास्त्र यच्च वेद बृहस्पतिः ।
स्त्रीबुद्ध्या न विशेष्येत तस्माद्रक्ष्याः कथ हि ता ॥ १९६ ॥

अनृत सत्यमित्याहु. सत्य चापि तथानृतम् ।
इति यास्ता कथ धीरै सरक्ष्या पुरुषैरिह ॥ १९७ ॥

अन्यत्राप्युक्तम्—

नातिप्रसङ्ग प्रमदासु कार्यो नेच्छेद् वल स्त्रीषु विवर्धमानम् ।
अतिप्रसक्ते पुरुषैर्यतस्ता. क्रीडन्ति काकैरिव लूनपक्षै ॥ १९८ ॥

सुमुखेन वदन्ति वल्गुना प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा ।
मधु तिष्ठति वाचि योषिता हृदये हालहल महद्विषम् ॥१९९॥

की माता या लकेश्वर रावण की मौसी) की माया है—उन सबको स्त्रियाँ जानती हैं ॥ १९४ ॥

ये हँसते हुए के साथ हँसती हैं, रोते हुए के साथ रोती है और जैसा अव होता है उसके अनुसार कटु बोलनेवालो को मधुर वाणी से अपने अधीन करती हैं ॥ १९५ ॥

जिस शास्त्र को शुक्राचार्य और बृहस्पति जानते है वह शास्त्र स्त्री की बुद्धि से कुछ बाहर की बात नही है, अत उन स्त्रियो की किस प्रकार रक्षा हो सकती है ॥ १९६ ॥

जो स्त्रियाँ झूठ को सच और सच को झूठ बनाती रहती हैं, उनकी इस लोक मे धैर्यवान् पुरुष किस प्रकार रक्षा कर सकते हैं ॥ १९७ ॥

किसी दूसरे स्थान पर भी कहा गया है—स्त्रियो मे अधिक आसक्ति न करे, उनमे बढे हुए बल की इच्छा न करे क्योंकि अत्यधिक आसक्त पुरुषो के साथ, वे इस प्रकार खेल करती हैं जिस प्रकार पख कटे हुए कौवे के साथ लोग खेलते हैं ॥ १९८ ॥

वे सुन्दर मुख से मनोहर वचन बोलती हैं एव तीक्ष्ण चित्त से प्रहार करती हैं। स्त्रियो की वाणी में तो मधुरता और हृदय मे घोर विष भरा रहता है ॥ १९९ ॥

अत एव निपीयतेऽधरो हृदय मुष्टिभिरेव ताड्यते ।
पुरुषै सुखलेशवञ्चितैर्मधुलुब्धै कमल यथालिभि ॥ २०० ॥

अपि च—

आवर्त सशयानामविनयभवन पत्तन साहसाना
दोषाणा सनिधान कपटशतगृह क्षेत्रमप्रत्ययानाम् ।
दुर्ग्राह्य यन्महद्भिर्नरवरवृषभै सर्वमायाकरण्ड
स्त्रीयन्त्र केन लोके विषममृतयुत धर्मनाशाय सृष्टम् ॥२०१॥

कार्कश्य स्तनयोर्दृशोस्तरलताऽलीक मुखे दृश्यते
कौटिल्य कचसञ्चये प्रवचने मान्द्यन्त्रिके स्थूलता ।
भीरुत्व हृदये सदैव कथित मायाप्रयोग प्रिये
यासा दोषगणो गुणा मृगदृशा ता कि नराणा प्रिया ॥ २०२ ॥

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-
र्विश्वासयन्ति च पर न च विश्वसन्ति ।

इसीलिए तो—जिस प्रकार मधु का लोभी भ्रमर कमल का अधर पान करता है और उसके बिचले भाग का मर्दन करता है उसी प्रकार सुखलेश से वञ्चित हुए पुरुषो द्वारा उनके अधर का पान किया जाता है और हृदय पर मुष्टिका से ताडना दी जाती है ॥ २०० ॥

और भी—सन्देहो का भँवर, अविनय का गृह, साहस का नगर, दोषों का खजाना, कपट शत का स्थान, अविश्वासो का क्षेत्र, जो बडे-बडे मनुष्य रूपी बैलो से भी ढोया न जा सके (अर्थात् बडे-बडे पुरुषो द्वारा सँभालने मे अशक्य), सब प्रकार के माया की पिटारी के तुल्य स्त्रीरूपी यन्त्र—जिसमे अमृत और विष दोनो हैं—उसको जगत् मे धर्मनाश के लिए किसने निर्माण किया ? ॥२०१॥

स्तनो मे कठोरता, नेत्रो मे चञ्चलता, मुख मे असत्यता, केशो मे कुटिलता, वाणी मे मन्दता, नितम्बो मे स्थूलता, हृदय मे भीरुता, स्वामी के साथ सदैव माया का प्रयोग (जादू-टोना आदि) करना, ऐसे जिन मृगलोचनाओ के दोष-समूह भी गुण के समान माने जाते है, वे क्या कही मनुष्यो को प्रिया हो सकती हैं ? अर्थात् कदापि नही ॥ २०२ ॥

ये अपने कार्यसाधने के लिए हँसती है, रोती है, औरो को विश्वास दिलाती है, किन्तु स्वय किसी का विश्वास नही करती । इसलिए कुलवान् और शीलवान्

तस्मान्नरेण कुलशीलवता सदैव
नार्यः श्मशानवटिका इव वर्जनीया ॥ २०३ ॥

व्याकीर्णकेसरकरालमुखा मृगेन्द्रा
नागाश्च भूरिमदराजविराजमाना ।
मेधाविनश्च पुरुषा समरेषु शूरा
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥ २०४ ॥

कुर्वन्ति तावत्प्रथम प्रियाणि यावन्न जानन्ति नर प्रसक्तम् ।
ज्ञात्वा च त मन्मथपाशबद्ध ग्रस्तामिप मीनमिवोद्धरन्ति ॥२०५॥

समुद्रवीचीव चलस्वभावा. सध्याभ्ररेखेव मुहूर्तरागा. ।
स्त्रिय कृतार्था पुरुष निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत्त्यजन्ति ॥ २०६ ॥

अनृत साहस माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौच निर्दयत्व च स्त्रीणा दोषा स्वभावजा ॥ २०७ ॥

पुरुष को चाहिए कि वे इस प्रकार की स्त्रियो को श्मशानस्थ हाँडी के समान छोड दें ॥ २०३ ॥

बिखरे हुए गरदन के बालो द्वारा विकराल मुंहवाले सिंह, अत्यन्त मद समूह से मस्त हाथी एव प्रतिभाशाली और सग्राम मे शूर पुरुष भी स्त्री के निकट परम कायर हो जाते है ॥ २०४ ।

जब तक स्त्रियाँ यह नही जान लेती कि यह पुरुष मुझ पर आसक्त हो गया है, तब तक उनके मन का करती है । बाद मे जब यह समझ जाती हैं कि वह काम-पाश मे बद्ध हो गया है अर्थात् (मेरे वशीभूत हो गया है) तब जिस प्रकार मास के लोभ मे मछली वशी में फँसाकर ऊपर खीच ली जाती है उसी प्रकार सम्भोग के लोभ मे फँसाकर उसे अपने अधीन कर लेती है ॥ २०५ ॥

समुद्र की तरङ्गो के समान चञ्चल स्वभाववाली और सन्ध्याकालीन मेघ-रेखा के समान मुहूर्त (क्षण) भर के लिए राग (प्रेम, लाल रूप) दिखाने वाली स्त्रियाँ कृतार्थ होकर (अपना मनोरथ पूरा कर लेने के बाद) धनहीन पुरुष को निष्पीडित महावर (आलता रगविशेष-जिसे सुन्दरियाँ अपने पैरो मे लगाती है) के समान छोड देती हैं ॥ २०६ ॥

असत्य, साहस, माया, मूर्खता अतिलोभ, अपवित्रता और निर्दयता—ये स्त्रियो के स्वाभाविक दोष माने गये हैं ॥ २०७ ॥

समोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विपादयन्ति ।
एता प्रविश्य मरल हृदय नराणा
किं वा न वामनयना न समाचरन्ति ॥ २०८ ॥
अन्तर्विषमया ह्येता वहिश्चैव मनोरमा ।
गुञ्जाफलसमाकारा योषित• केन निर्मिता ॥ २०९ ॥

एव चिन्तयतस्तस्य परिव्राजकस्य सा निशा महता कृच्छ्रेणातिचक्राम । सा च दूतिका छिन्ननासिका स्वगृह गत्वा चिन्तयामास—किमिदानी कर्तव्यम् । कथमेतन्महच्छिद्र स्थगयितव्यम् ।' अथ तस्या एव विचिन्तयन्त्या भर्ता कार्यवशाद्राजकुले पर्युषित• प्रत्यूषे च स्वगृहमभ्युपेत्य द्वारदेशस्थो विविधपौरकृत्योत्सुकतया तामाह—'भद्रे, शीघ्रमानीयता क्षुरभाण्ड येन क्षौरकर्मकरणाय गच्छामि ।' सापि छिन्ननासिका गृहमध्यस्थितैव कार्यकरणापेक्षया क्षुरभाण्डात्क्षुरमेक समाकृष्य तस्याभिमुख प्रेषयामास । नापितोऽप्युत्सुकतया तमेक क्षुरमवलोक्य कोपाविष्ट सन्

पहले मोहित करती है, वाद प्रेम मे मस्त बनाती है, कभी ठगती है तो कभी घुडकती हैं, कभी रमण करती है तो कभी दिल तोडती है, मनुष्यो के सरल (कपटरहित) हृदयो मे प्रवेश कर, ये कुटिल आँखोवाली ललनाएँ क्या-क्या अनर्थ नही करती ॥ २०८ ॥

गुञ्जाफल (घुघची) के समान भीतर से विषैली और बाहर से देखने मे मनोहर स्वरूपवाली ललनाओ का किसने निर्माण किया ? ॥ २०९ ॥

इस प्रकार चिन्ता करते-करते उस सन्यासी की वह रात्रि अत्यधिक क्लेश के साथ बीती । उधर वह नकवटी दूती अपने घर जाकर सोचने लगी कि 'अब इस समय मुझे क्या करना चाहिए ? किस प्रकार इस बडे दोष को गुप्त रखना चाहिए ?' वह इस प्रकार विचार कर ही रही थी कि उसका पति, जो किसी कार्यवश राजकुल मे गया हुआ था, उसी समय सबेरे अपने घर आ पहुँचा । द्वार पर खडा होकर बहुतेरे नागरिको के क्षौरकर्म की उत्कण्ठा के कारण कहने लगा– हे, भद्रे ! शीघ्र छुरे की पेटी ला, जिससे बाल बनाने के लिए मै जाऊँ ।' उस नककटी ने घर के भीतर से ही कार्याधिकता की व्याकुलता प्रकट करती हुई अस्तुरे की पेटी से, एक अस्तूरा निकाल कर वही से उसके सामने फेक दिया । नाई ने केवल एक छुरे को देखते ही क्रुद्ध हो, उसकी ओर फॅक दिया । फिर

तदभिमुखमेव त क्षुर प्राहिणोत् । एतस्मिन्नन्तरे सा दुष्टोर्ध्ववाहू विधाय फूत्कर्तुमना गृहान्निश्चक्राम । 'अहो पश्यत पापेनानेन मम सदाचारवर्तिन्या नासिकाच्छेदो विहित । तत्परित्रायताम् परित्रायताम् ।' अत्रान्तरे राजपुरुषा समभ्येत्य त नापित लगुडप्रहारैर्जर्जरीकृत्य दृढबन्धनैर्बद्ध्वा तया छिन्ननासिकया सह धर्माधिकरणस्थान नीत्वा सभ्यानूचु —'शृण्वन्तु भवन्त सभासद, अनेन नापितेनापराध विना स्त्रीरत्नमेतद्व्यङ्गितम् । तदस्य यद्युज्यते तत्क्रियताम् ।' इत्यभिहिते सभ्या ऊचु —'रे नापित, किमर्थं त्वया भार्या व्यङ्गिता । किमनया परपुरुषोऽभिलषित', उतस्वित्प्राणद्रोह' कृत, किंवा चौर्यकर्माचरितम् । तत्कथ्यतामस्या अपराध ।' नापितोऽपि प्रहारपीडिततनुर्वक्तु न शशाक । अथ त तूष्णीभूत दृष्ट्वा पुनः ऊचु —'अहो, सत्यमेतद्राजपुरुषाणा वच', पापात्माऽयम् । अनेनेय निर्दोषा वराकी दूषिता । उक्त च—

भिन्नस्वरमुखवर्णं शङ्कितदृष्टि समुत्पतिततेजा ।
भवति हि पाप कृत्वा स्वकर्मसत्रासित पुरुष ॥ २१० ॥

क्या था ? उस दुष्टा ने अपने हाथो को ऊपर उठाकर, साँस लेती हुई घर के बाहर निकल पडी और कहने लगी—'अरे लोगो ! देखो इस पापी ने (छूरा फेंककर) मुझ जैसी सदाचारिणी की नाक काट डाली है । बचाओ ! बचाओ !! उसके बाद सिपाहियो ने आकर उस नाई को दण्डो के प्रहार से पीटकर, मजबूत बन्धन मे बाँधकर, उस नककटी के साथ न्यायाधीश के पास ले जाकर वहाँ सभ्यो से कहा— हे सभासदो ! आप लोग सुनिये । इस नापित ने बिना अपराध के इस स्त्री को विकलाङ्ग कर दिया है । अत जो उचित न्याय हो वह कीजिए ।' इतना कहने पर सभ्यो ने कहा—'अरे नाई ! तूने किसलिए अपनी स्त्री को विकलांग कर दिया है ? क्या इसने दूसरे पुरुष की अभिलाषा की ? या प्राणनाश की चेष्टा की ? अथवा चोरी की ? इसका अपराध बता ।' नाई के शरीर मे मार के कारण अत्यधिक कष्ट था इसलिए वह कुछ न कह सका । तब उसको मौन ग्रहण किये देखकर पुन सभ्यो ने कहा—'अरे सिपाहियों की बात ठीक है । यह पापी है । इसने इस दोषरहित विचारी को नाहक दूषित किया है ? कहा भी है—

कण्ठ स्वर का बदल जाना, मुखाकृति बिगड जाना, आँखो मे शकाभाव

तथा च—

आयाति स्खलितै पादैर्मुखवैवर्ण्यसयुत ।
ललाटस्वेदभाग् भूरि गद्गद भाषते वच ॥ २११ ॥
अधोदृष्टिर्वदेत्कृत्वा पाप प्राप्त सभा नर ।
तस्माद्यत्नात्परिज्ञेयाश्चिह्नैरेतैर्विचक्षणै ॥ २१२ ॥

अन्यच्च—प्रसन्नवदनो हृष्ट स्पष्टवाक्य सरोषदृक् ।
सभाया वक्ति सामर्ष सावष्टम्भो नर शुचि ॥ २१३ ॥

'तदेष दुष्टचरित्रलक्षणो दृश्यते । स्त्रीधर्षणाद्वध्य इति । तच्छूलायामारोप्यताम्' इति । अथ वध्यस्थाने नीयमान तमवलोक्य देवशर्मा तान्धर्माधिकृतान्गत्वा प्रोवाच—'भो भो, अन्यायेनैष वराको वध्यते नापित । साधुसमाचार एष । तच्छ्रूयता मे वाक्यम्—'जम्बूको हुडुयुद्धेन' इति । अथ ते सभ्या ऊचु —'भो भगवन्, कथमेतत् ?' ततो देवशर्मा तेषा त्रयाणामपि वृत्तान्त विस्तरेणाकथयत् । तदाकर्ण्य सुविस्मितमनसस्ते नापित विमोच्य मिथ प्रोचु —'अहो !

दीखना और तेज नष्ट हो जाना—ये सब बाते पाप (चोरी, हत्या आदि) करने के बाद अपने कुकृत्यो से डरे हुए पुरुषो में पायी जाती हैं ॥ २१० ॥

और भी—इस प्रकार का अपराधी लडखडाते पावो से चलता है, उसके चेहरे पर रङ्ग फीका पड जाता है, ललाट पर पसीना आ जाता है और बोलने मे ऊटपटाग बाते निकलती है ॥ २११ ॥

यदि कोई पुरुष पाप करके पचायत मे जाता है, तो उसकी दृष्टि नीची हो जाती है, अत इन चिह्नो से अधिकारी पुरुषो को चाहिये कि यत्नपूर्वक इन्हें समझें ॥ २१२ ॥

और भी जो— निरपराधी मनुष्य होता है वह कचहरी मे प्रसन्नमुख, हर्षयुक्त, स्पष्ट वचन बोलने वाला, क्रोधयुक्त दृष्टिवाला और धैर्य के साथ सभा के बीच मे क्रोध से बोलता है ॥ २१३ ॥

अत स्वरूप से यह दुराचारी प्रतीत होता है । स्त्री के अपमानित करने के कारण यह मार डालने योग्य है । इसलिये इसे शूली पर चढा दो ।' इसके बाद वध्यभूमि को ले जाये जाते हुए उसे देखकर देवशर्मा ने उन धर्माधिकारियो के पास जाकर कहा—'अरे भाई ! अन्याय से यह गरीब मारा जा रहा है । यह नाई सज्जन के समान व्यवहार करनेवाला है । अत मेरी बात सुनिये । 'जम्बूक

अवध्या ब्राह्मणो बाल स्त्री तपस्वी च रोगभाक्।
विहिता व्यङ्गता तेषामपराधे महत्यपि ॥ २१४ ॥

तदस्या नासिकाच्छेद स्वकर्मणा हि प्रवृत्त। ततो राजनिग्रहस्तु कर्णच्छेद कार्यं। तथानुष्ठिते देवशर्मापि वित्तनाशसमुद्भूतशोकरहित पुनरपि स्वकीय मठायतन जगाम। अतोऽह ब्रवीमि—'जम्बूको हुडुयुद्धेन' इति। 'करटक आह—'एवविधे व्यतिकरे कि कर्तव्यमावयो। दमनकोऽब्रवीत्—'एव विधेऽपि समये मम बुद्धिस्फुरण भविष्यति, येन सजीवक प्रभोर्विश्लेषयिष्यामि। उक्त च यत —

एक हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमत सृष्टा हन्ति राष्ट्र सनायकम् ॥ २१५ ॥

तदह मायाप्रपञ्चेन गुप्तमाश्रित्य त स्फोटयिष्यामि।' करटक-आह 'भद्र, यदि कथमपि तव मायाप्रवेश पिङ्गलको ज्ञास्यति, सजीवको वा

हुडुयुद्ध से' इत्यादि। इसके पश्चात् उन सभासदो ने कहा—'भगवन्! यह कौन सी बात है?' तब देवशर्मा ने उन तीनो की कथा विस्तारपूर्वक कही। उसे सुनकर आश्चर्यचकित हो उन लोगो ने नाई को छुडवाकर परस्पर कहना प्रारम्भ किया कि 'अहो!

ब्राह्मण, बालक, स्त्री, तपस्वी और रोगी—ये वध करने योग्य नही है। इनका कोई कडा अपराध हो तब भी अङ्ग-भङ्ग करना ही धर्मशास्त्रियो ने बताया है ॥ २१४ ॥

तो इसका नासिका-छेदन तो अपनी करनी मे ही हो गया है। अब राजदण्डस्वरूप इसके कान काट दिये जायँ। ऐसा हो जाने पर देवशर्मा भी धन के नाश से उत्पन्न हुए शोक से रहित होकर पुन अपने स्थान को चला गया। इसलिए मैं कहता हूँ कि—'जम्बूक हुडुयुद्ध द्वारा' इत्यादि। करटक ने कहा—'इस प्रकार की अवस्था प्राप्त होने पर हम दोनो को क्या करना चाहिए? दमनक ने कहा—'ऐसे समय मे भी मेरी बुद्धि स्फुरित होगी जिसमे सञ्जीवक को स्वामी से पृथक् कर दूँगा। क्योकि कहा भी है—

धनुर्धारी के धनुष से छूटा हुआ बाण चाहे किसी एक को मारे या न मारे, किन्तु नीतिज्ञ बुद्धिमानो की बुद्धि से किया हुआ कार्य राजा सहित समस्त राज्य को नष्ट कर देता है ॥ २१५ ॥

अत मैं माया-प्रपञ्च द्वारा, गुप्तरूप से षड्यन्त्र रचकर फूट डाल दूँगा।'

तदा नून विघात एव।' सोऽब्रवीत्—'तात, नैव वद। गूढबुद्धिभिरापत्काले विधुरेऽपि दैवे बुद्धि प्रयोक्तव्या। नोद्यमस्त्याज्य। कदाचिद् घुणाक्षरन्यायेन बुद्धे साम्राज्य भवति। उक्त च—

त्याज्य न धैर्य विधुरेऽपि दैवे धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्स।
याते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे सायात्रिको वाञ्छति कर्म एव ॥२१६॥

तथा च—उद्योगिन सततमत्र समेति लक्ष्मी-
दैव हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोष ॥ २१७ ॥

तदेव ज्ञात्वा सुगूढबुद्धिप्रभावेण यथा तौ द्वावपि न ज्ञास्यत, तथा मिथो वियोजयिष्यामि। उक्त च—

करटक ने कहा—'भद्र! यदि किसी प्रकार तुम्हारी माया (कपटाचरण) को पिङ्गलक या सञ्जीवक ही जान जाय तो अवश्य ही व्याघात (विनाश) होगा।' उसने कहा—'तात! इस तरह न कहिए। कूटवुद्धि द्वारा आपत्ति-समय मे विधाता के प्रतिकूल होने पर भी बुद्धिमान को चाहिए कि अपनी बुद्धि का प्रयोग करे। उद्योग को छोड देना समुचित नही है। कभी-कभी घुणाक्षरन्याय (घुन के काटने से बने अक्षर) से बुद्धि द्वारा साम्राज्य तक प्राप्त हो जाता है। कहा भी है—

भाग्य के प्रतिकूल होने पर धैर्य नही छोडना चाहिए क्योकि धैर्य से कदाचित् किसी स्थिति की प्राप्ति हो जाय। जिस प्रकार समुद्र मे जहाज डूबने पर (इतना खतरा उठाने पर) भी व्यवसायी गण अपने व्यापार करने की अभिलाषा करते ही है (अपने समुद्री व्यापार को कभी नही छोडते) ॥२१६॥

और भी—उद्योग मे तत्पर मनुष्य को इस लोक मे सदा लक्ष्मी प्राप्त होती रहती है। 'भाग्य भाग्य' (सब कुछ है) ऐसा कायर पुरुष कहा करते है। भाग्य को ठुकरा कर अपनी शक्ति भर पुरुषार्थ करो। प्रयत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो इसमे कौन सी त्रुटि रह गई है इसका अनुसन्धान करना चाहिए॥ २१७॥

अत इस प्रकार जानकर अपनी निगूढ बुद्धि के प्रभाव से, जिस प्रकार वे दोनो न जानने पावें, उस प्रकार उनको परस्पर पृथक् करा दूँगा। कहा भी है—

सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति ।
'कौलिको विष्णुरूपेण राजकन्यां निषेवते' ॥ २१८ ॥

करटक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

कथा ५

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कौलिकरथकारौ मित्रे प्रतिवसतः स्म । तत्र च तौ बाल्यात्प्रभृति सहचारिणौ परस्परमतीव स्नेहपरौ सदैकस्थानविहारिणौ कालं नयतः । अथ कदाचित्तत्राधिष्ठाने कस्मिंश्चिद्देवायतने यात्रामहोत्सवः संवृत्तः । तत्र च नटनर्तकचारणसंकुले नानादेशागतजनावृते तौ सहचरौ भ्रमन्तौ काञ्चिद्राजकन्यां करेणुकारूढां सर्वलक्षणसनाथां कञ्चुकिवर्षधर-परिवारितां देवतादर्शनार्थं समायातां दृष्टवन्तौ । अथासौ कौलिकस्तां दृष्ट्वा विषार्दित इव दुष्टग्रहगृहीत इव कामशरैर्हन्यमानः सहसा भूतले निपपात । अथ तं तदवस्थमवलोक्य रथकारस्तद्दुःखदुःखित आप्तपुरुषैस्तं

भली भाँति छिपाकर किए पाखण्ड के अन्त को ब्रह्मा भी नहीं जान सकते । 'जिस प्रकार एक कौलिक (जुलाहा) विष्णु का रूप धारण करके राजकन्या से रमण करता था' ॥ २१८ ॥

करटक ने कहा 'यह कैसी कथा है ?' उसने कहा—

किसी नगर में कौलिक (जुलाहा) और गाडी बनानेवाला (बढई) ये दोनो मित्र रहा करते थे । वहीं वे बचपन से ही एक संग रहते, परस्पर अत्यधिक स्नेह करते और बराबर एक स्थान में आनन्द-प्रमोद करते हुए समय बिताते थे । किसी समय उसी जगह किसी देवमन्दिर मे यात्रा का महोत्सव (भीड़) हुआ । वहां नट, नर्त्तक (नाचनेवाले) और चारणो (स्तुतिपाठक-भाटों) से युक्त, विविध देशो से आए हुए मनुष्यों से भरे उस महोत्सव मे उन दोनो मित्रो ने भ्रमण करते हुए किसी राजकन्या को देखा—जो हथिनी पर चढ़ी हुई, सब सामुद्रिक लक्षणो से संयुत, कञ्चुकी (अन्त पुर के वृद्ध ब्राह्मण), वर्षधर (अन्त पुर की रक्षा करनेवाले नपुंसक – हिजडे) आदि सेवको के सहित देवता दर्शन के लिए आई हुई थी । इसके अनन्तर वह जुलाहा उस राजपुत्री को देखकर, विष से व्यथित हुए के समान अथवा दुष्टग्रह (पूतना आदि) से पकडे हुए के समान, कामदेव के बाणो से घायल होकर एकाएक पृथ्वी पर गिर पडा ।

समुत्क्षिप्य स्वगृहमानाययत्। तत्र च विविधैः शीतोपचारैश्चिकित्सकोपदिष्टैर्मन्त्रवादिभिरुपचर्यमाणश्चिरात्कथंचित्सचेतनो बभूव। ततो रथकारेण पृष्टः—'भो मित्र, किमेवं त्वमकस्माद्विचेतनः संजातः। तत्कथ्यतामात्मस्वरूपम्।' स आह—'वयस्य, यद्येवं तच्छृणु मे रहस्यं येन सर्वामात्मवेदनां ते वदामि। यदि त्वं मां सुहृदं मन्यसे ततः काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियताम्। क्षम्यतां यद्वा किंचित्प्रणयातिरेकादयुक्तं तव मयानुष्ठितम्।' सोऽपि तदाकर्ण्य बाष्पपिहितनयनः सगद्गदमुवाच—'वयस्य, यत्किंचिद् दुःखकारणं तद्वद येन प्रतीकारः क्रियते यदि शक्यते कर्तुम्। उक्तं च—

औषधार्थसुमन्त्राणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम्।
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र यद् ब्रह्माण्डस्य मध्यगम्॥ २१९॥

'तदेषां चतुर्णां यदि साध्यं भविष्यति तदाहं साधयिष्यामि।' कौलिक आह—'वयस्य' एतेषामन्येषामपि सहस्राणामुपायानामसाध्यं तन्मे दुःखम्।

तदनन्तर उसकी उस दशा को देखकर रथकार (बढ़ई) उसके दुःख से दुःखित हो, आप्त (अपने सच्चे हितैषी) व्यक्तियों द्वारा उसे उठवा कर अपने घर ले आया। वहाँ सद्वैद्यों द्वारा आज्ञा दी हुई अनेक तरह की शीत (श्रीखण्ड चन्दन, खश, कपूर आदि ठंढे उपचार) चिकित्सा, और मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग करने वाले गुणियों की सेवा से कुछ समय के बाद उसे कुछ चेतना हुई। तब रथकार ने पूछा—'हे मित्र! क्या कारण है कि तुम एकाएक बेहोश हो गए? सो अपनी हालत कहो।' उसने कहा—'हे मित्र! यदि ऐसी बात है तो मेरा रहस्य (गोपनीय) विषय सुनिए जिससे मैं अपनी समस्त मानसी पीड़ा को आप से कहता हूँ। यदि आप मुझे अपना मित्र मानते हैं तो मेरे लिए चिता बनाकर मेरे ऊपर कृपा कीजिए, तथा स्नेह के कारण जो कुछ मैंने आप से अनुचित व्यवहार किया हो उसे क्षमा कर दीजिए।' उसने भी उसे सुनकर नेत्रों में आँसू भर कर गद्गद कण्ठ से कहा—'मित्र! जो कुछ दुःख का कारण हो, उसे बताओ, जिससे यदि हो सके तो उसका प्रतीकार (समुचित उपचार) कर दिया जाय। कहा भी है—

कहा है—इस लोक में अथवा ब्रह्माण्ड भर में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो औषधि, धन, सुन्दर मन्त्रणा (अच्छे मन्त्र-तन्त्र या सलाह) और महात्मा पुरुषों की बुद्धि के आगे असाध्य हो॥ २१९॥

इसलिए इन चार उपायों में से किसी उपाय से यदि तुम्हारा कार्य साध्य

तस्मान्मम मरणे मा कालक्षेप कुरु।' रथकार आह—'भो मित्र, यद्यप्य-साध्य तथापि निवेदय येनाहमपि तदसाध्य मत्वा त्वया मम वह्नौ प्रविशामि। न क्षणमपि त्वद्वियोग सहिष्ये। एष मे निश्चय।' कौलिक आह -'वयस्य' यासौ राजकन्या करेणुकारूढा तत्रोत्सवे दृष्टा, तस्या दर्शनानन्तर मकरध्वजेन मयेयमवस्था विहिता। तन्न शक्नोमि तद्वेदना सोढुम् तथा चोक्तम्—

मत्तभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमार्द्रे
तस्या पयोधरयुगे रतिखेदखिन्न।
वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती
स्वप्स्ये कदा क्षणमवाप्य तदीयसङ्गम् ॥ २२० ॥

तथा च—

रागी बिम्बाधरोऽसौ स्तनकलशयुग यौवनारूढगर्वं
चीना नाभि प्रकृत्या कुटिलकमलक स्वल्पक चापि मध्यम्।
कुर्वन्त्वेतानि नाम प्रसभमिह मनश्चिन्तितान्याशु खेद
यन्मा तस्या कपोलौ दहत इति मुहु स्वच्छकौ तन्न युक्तम्' ॥२२१॥

होगा तो मैं उसे सिद्ध करूँगा।' कौलिक ने कहा—'मित्र ? इन (उपर्युक्त चारो) तथा अन्य हजारो उपायो से भी मेरा दु ख असाध्य (मिटाने योग्य नही) है। अत मेरे मरने मे व्यर्थं समय मत बिताओ।' रथकार ने कहा—'यद्यपि असाध्य है, तो भी बताओ, जिससे मैं भी उसे असाध्य मानकर तुम्हारे साथ अग्नि मे प्रवेश करूँ, क्योंकि क्षणमात्र भी तुम्हारा वियोग मैं न सह सकूँगा, यह मेरा निश्चय है।' कौलिक ने कहा—'मित्र! उस महोत्सव मे हथिनी पर चढी हुई जो वह राजपुत्री मैंने देखी थी, उसे देखते ही मकरध्वज (कामदेव) ने मेरी यह दशा कर दी। सो उस काम-पीडा को मैं सहन करने मे समर्थ नही! ऐसा कहा भी है—

मतवाले हाथी के कुम्भ (हाथी के मस्तक के दो मास के गोले) के समान विस्तृत, कुकुम से आर्द्र, उसके दोनो स्तनो पर, सम्भोग के परिश्रम के कारण परिश्रान्त हुआ मैं, उसकी दोनो भुजाओ के बीच अपने वक्ष स्थल (छाती) को रखकर, क्षणमात्र के लिए भी उसके सग को प्राप्त कर कब सोऊँगा ? ॥२२०॥

और भी—बिम्ब के फल के समान स्वय रागयुक्त उसके लाल लाल अधर, कलश के समान दोनो स्तन, युवावस्था प्राप्त होने का अभिमान (मस्ती), अति-

रथकारोऽप्येव सकाम तद्वचनमाकर्ण्य सस्मितमिदमाह—'वयस्य, यद्येव तर्हि दिष्टया सिद्ध न प्रयोजनम् । तदद्येव तया सह समागम क्रियताम्' इति । कौलिक आह—'वयस्य' यत्र कन्यान्त पुरे वायु मुक्त्वा नान्यस्य प्रवेशोऽस्ति तत्र रक्षापुरुषाधिष्ठिते कथ मम तया सह समागम । तत्कि मामसत्यवचनेन विडम्बयसि ।' रथकार आह—'मित्र, पश्य मे बुद्धिबलम् ।' एवमभिधाय तत्क्षणात्कीलसचारिण वैनतेय बाहुयुगल वायुजवृक्षदारुणा शङ्खचक्रगदापद्मान्वित सकिरीटकौस्तुभमघटयत् । तस्ततस्मिन्कौलिक समारोप्य विष्णुचिह्नित कृत्वा कीलसचरणविज्ञान च दर्शयित्वा प्रोवाच—'वयस्य, अनेन विष्णुरूपेण गत्वा कन्यान्त.पुरे निशीथे ता राजकन्यामेकाकिनी सप्तभूमिकप्रासादप्रान्तगता मुग्धस्वभावा त्वा वासुदेव मन्यमाना स्वकीयमिथ्यावक्रोक्तिभी रञ्जयित्वा वात्स्यायनोक्त-

---

गम्भीर नाभि, स्वाभाविक कुटिल केश और अत्यधिक पतली कटि आदि ये स्मरण करने से ही मन मे खेद उत्पन्न करते है, यह उचित ही है किन्तु उसके दोनो विमल कपोल जो मुझे बारम्बार दग्ध कर रहे हैं, यह उचित नहीं है ॥ २२१ ॥

रथकार ने भी इस तरह उसके कामपूर्ण वचनो को सुनकर मुस्कुराते हुए यह कहा—'सखे ! यदि ऐसी बात है तो सौभाग्य से हमारा मनोरथ सिद्ध हुआ समझ लो । आज ही उस (राजकन्या) के साथ समागम (सम्भोग) करो ।' कौलिक ने कहा—'मित्र ! जिस कन्या के अन्त पुर मे वायु को छोडकर किसी दूसरे का प्रवेश नही है वहाँ पर पहरा देनेवालो के रहते हुए किस प्रकार मेरा उसके साथ समागम हो सकता है । सो मुझे झूठी बात से क्यो धोखा दे रहे हो ?' रथकार ने कहा—'वयस्य ! मेरे बुद्धिबल को देखो ।' इस प्रकार कह कर तत्काल ही वायुज (साल्हे) वृक्ष की लकडी का बना हुआ, कील चलाने से उडनेवाला गरुड, दो भुजाएँ, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म के साथ किरीट और कौस्तुभ मणि को उसने बनाया । उसके बाद कौलिक को उस पर चढाकर, विष्णु के चिह्नों से अङ्कित कर, कील चलाने की युक्ति सिखाकर उसने कहा—'सखे ! इस विष्णुरूप द्वारा कन्या के अन्त पुर मे जाकर आधीरात के समय सप्त-भूमिक (सात चौकवाले) प्रासाद के अन्तिम भाग मे अकेली रहनेवाली मुग्ध स्वभाववाली (भोली भाली), तथा तुम्हे वासुदेव (भगवान्) मानने वाली उस राजकुमारी को तुम अपने झूठे प्रिय वचनो से प्रसन्न कर वात्स्यायन मुनि-

विधिना भज।' कौलिकोऽपि तदाकर्ण्य तथारूपस्तत्र गत्वा तामाह—'राजपुत्रि, सुप्ता किं वा जागर्षि। अहं तव कृते समुद्रात्सानुरागो लक्ष्मीं विहायैवागतः। तत्क्रियतां मया सह समागमः' इति। सापि गरुडारूढं चतुर्भुजं सायुधं कौस्तुभोपेतमवलोक्य सविस्मया शयनादुत्थाय प्रोवाच-भगवन्, अहं मानुषी कीटिकाशुचिः। भगवांस्त्रैलोक्यपावनो वन्दनीयश्च। तत्कथमेतद्युज्यते।' कौलिक आह—'सुभगे, सत्यमभिहितं भवत्या। परं किंतु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथममासीत्, सा त्वमत्रावतीर्णा। तेनाहमत्रायातः।' इत्युक्ता सा प्राह-'भगवन्, यद्येवं तन्मे तातं प्रार्थय। सोऽप्यविकल्पं मां तुभ्यं प्रयच्छति। कौलिक आह—सुभगे, नाहं दर्शनपथं मानुषाणां गच्छामि। किं पुनरालापकरणम्। त्वं गान्धर्वेण विवाहेनात्मानं प्रयच्छ। नो चेच्छापं दत्त्वा सान्वयं ते पितरं भस्मसात्करिष्यामि' इति। एवमभिधाय गरुडादवतीर्य सव्ये पाणौ गृहीत्वा तां सभयां सलज्जां

निर्मित कामसूत्र के विधान से उससे सम्भोग करो।' कौलिक ने उसे सुनकर उस रूप मे वहाँ जाकर, उस (राजकन्या) से कहा—'राजपुत्रि ! तुम सोती हो या जागती ? मै तुम्हारे लिए क्षीरसमुद्र से लक्ष्मी को छोडकर, स्नेहपूर्वक यहाँ आया हूं। अत मेरे साथ समागम (सम्भोग) करो।' उस (राजकन्या) ने चतुर्भुज, आयुधसहित और कौस्तुभमणि सयुक्त उसे गरुड पर चढ़े हुए देखकर आश्चर्यान्वित हो, सोती हुई अवस्था से उठ कर कहा—'मै कीडे के समान अपवित्र एक मनुष्य जाति की कन्या हूं, और भगवान् (आप) तीनो लोक को पवित्र करनेवाले तथा तीनो लोको के मनुष्यो द्वारा नमस्कार करने योग्य है। सो यह सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है।' कौलिक ने कहा—'सुन्दरी ! तुमने सत्य कहा किन्तु राधा नाम की मेरी स्त्री पहले गोपकुल मे उत्पन्न हुई थी, वही तुम इस समय यहाँ पर इस रूप मे अवतीर्ण हुई हो। इसलिए मैं यहा आया हूं।' इस प्रकार कही जाने पर उसने कहा—'भगवन् ! यदि यह बात है तो मेरे पिता से प्रार्थना कीजिए। वे मुझे आपको निःसन्देह दे देंगे।' कौलिक ने कहा—'सुलक्षणे ! मैं मनुष्यो को दृष्टिगोचर (आँखो के सामने) नही होता, फिर वार्तालाप करने की तो बात ही और है ! तुम गान्धर्व विवाह की रीति से मुझे अपने को सौंप दो, नही तो शाप देकर तुम्हारे पिता को कुलसहित भस्म कर दूगा।' इस प्रकार कह कर गरुड से उतर कर उस भयभीत, लज्जावती, काँपती

वेपमाना शय्यायामानयत्। ततश्च रात्रिशेष यावद्वात्स्यायनोक्तविधिना निषेव्य प्रत्यूषे स्वगृहमलक्षितो जगाम। एव तस्य ता नित्य सेवमानस्य कालो याति।—अथ कदाचित्कञ्चुकिनस्तस्या अधरोष्ठप्रवालखण्डन दृष्ट्वा मिथ प्रोचु —अहो, पश्यतास्या राजकन्याया पुरुषोपभुक्ताया इव शरीरावयवा विभाव्यन्ते। तत्कथमय सुरक्षितेऽप्यस्मिन्गृह एवविधो व्यवहार। तद्राज्ञे निवेदयाम।' एव निश्चित्य सर्वे समेत्य राजान प्रोचु.—देव, वय न विद्म। पर सुरक्षितेऽपि कन्यान्त पुरे कश्चित्प्रविशति। तद् देव प्रमाणम्' इति। तच्छ्रुत्वा राजातीव व्याकुलितचित्तो व्यचिन्तयत्—

पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्क।
दत्त्वा सुख प्राप्स्यति वा न वेत्ति कन्या पितृत्व खलु नाम कष्टम् ॥२२२॥

हुई राजकुमारी का बाया हाथ पकड कर उसे शय्या पर ले आया। उसके बाद रात भर वात्स्यायन मुनि के द्वारा बताई हुई विधि से सम्भोग कर, उष काल (बहुत तडके) मे अलक्षित होकर अपने घर चला गया। इस तरह उसके साथ प्रतिदिन रमण करते हुए उस कौलिक (जुलाहे) का समय व्यतीत होने लगा। उसके बाद किसी दिन कञ्चुकी लोग उसके अधरोष्ठप्रवाल (मूँगे के समान रक्त अधर) को खण्डित देखकर एकान्त मे परस्पर कहने लगे—'अहो! देखो तो राजकन्या के शरीर के प्रत्येक भाग मनुष्य से उपभोग किए हुए के समान प्रतीत हो रहे हैं। सो किस तरह इस भवन मे भलीभाँति पहरा होने पर भी इस प्रकार काय हुआ। इसलिए हम लोग राजा से निवेदन कर दें।' इस प्रकार निश्चय कर वे सब एकत्रित होकर राजा से बोले—स्वामिन्! हम लोग नही जानते, किन्तु कन्या के अन्तःपुर के पूर्णरूप से सुरक्षित होने पर भी कोई उसमे प्रवेश करता है, सो इसमे महाराज ही प्रमाण हैं (अर्थात् श्रीमान् ही मालिक हैं, जैसा चाहे, वैसा करें।') उसे सुन कर राजा अत्यन्त व्याकुल होकर सोचने लगा—

इस ससार मे 'कन्या उत्पन्न हुई' बस इतने ही से बडी भारी चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। इसे 'किसे देना चाहिए' इस प्रकार की समस्या मन मे बहुत जोर शोर से उत्पन्न होती है। 'कन्यादान कर देने पर भी (पति से) सुख पावेगी या नही' ऐसा मन मे सन्देह उत्पन्न होता है। इसलिए सचमुच कन्या का पिता होना ही कष्टदायक है ॥ २२२ ॥

नद्यश्च नार्यश्च सदृक्प्रभावास्तुल्यानि कूलानि कुलानि तासाम् ।
तोयैश्च दोषैश्च निपातयन्ति नद्यो हि कूलानि कुलानि नार्यः ॥२२३॥
'जननीमनो हरति जातवती परिवर्धते सह शुचा सुहृदाम् ।
परसात्कृतापि कुरुते मलिन दुरितक्रमा दुहितरो विपद' ॥२२४॥

एव बहुविध विचिन्त्य देवी रह स्था प्रोवाच—'देवि, ज्ञायता किमेते कञ्चुकिनो वदन्ति । तस्य कृतान्त कुपितो येनैतदेव क्रियते ।' देव्यपि तदाकर्ण्य व्याकुलीभूता सत्वर कन्यान्त पुरे गत्वा ता खण्डिताधरा नखविलिखितशरीरावयवा दुहितरमपश्यत् । आह च—'आः पापे कुलकलङ्ककारिणि, किमेव शीलखण्डन कृतम् । कोऽय कृतान्तावलोकितस्त्वत्सकाशमभ्येति । तत्कथ्यता ममाग्रे सत्यम् ।' इति कोपाटोपविसङ्कट वदत्या मातरि राजपुत्री भयलज्जानतानन प्रोवाच—'अम्ब,' साक्षान्नारायण

नदियो और नारियो का प्रभाव समान होता है । नदियो के दोनो कूल (किनारे) स्त्रियो के दोनो कुल (मातृ-पितृकुल) के समान हैं । क्योकि नदियाँ जल से अपने दोनों किनारो को, और नारियाँ दोषो से अपने दोनों कुलो को पतित करती हैं ॥ २२३ ॥

और भी—कन्या उत्पन्न होते ही माता के मन को हरती (चिन्तित करती) है, और कुटुम्बियो के शोक के साथ बढती है तथा पति द्वारा पराधीन रहकर भो निन्दित कर्म कर डालती है, अतएव कन्यारूपो विपत्ति के पार जाना बहुत कठिन है ॥ २२४ ॥

इस तरह अनेक प्रकार से विचार कर राजा ने एकान्त मे बैठी हुई रानी से कहा—'महारानी ! पता तो लगाओ कि कञ्चुकी लोग जो कहते हैं वह सत्य है । जो इस तरह का कार्य करता है उसके ऊपर काल नाच रहा है ।' महारानी ने भी इस बात को सुन व्याकुल होकर, शीघ्र ही कन्या के अन्त पुर मे जाकर उस खण्डित अधरवाली, नखों के चिह्न से अङ्कित शरीर के प्रत्येक अवयवो वाली, अपनी कन्या को देखा और कहने लगी—'अरी पापिनी ! कुल मे कलङ्क लगानेवाली ! तूने इस प्रकार अपना चरित्र क्यों नष्ट कर लिया ? यमराज द्वारा देखा गया कौन व्यक्ति तेरे (अर्थात् जिसके ऊपर काल नाच रहा है, तुम्हारे) समीप आता है ? सो मुझसे ठीक-ठीक कह ।' इस तरह क्रोध से आक्रान्त, निष्ठुर वाक्य कहने वाली अपनी माता के भय और लज्जा के कारण, मस्तक झुकाए हुई राजकन्या ने कहा—'माता जी ! साक्षात् नारायण प्रतिदिन, गरुड

प्रत्यह गरुडारूढो निशि समायाति। चेदसत्य मम वाक्यम्, तत्स्व-चक्षुषा विलोकयतु निगूढतरा निशीथे भगवन्त रमाकान्तम्। तच्छ्रुत्वा सापि प्रहसितवदना पुलकाङ्कितसर्वाङ्गी सत्वर राजानमूचे—'देव, दिष्ट्या वर्धसे। नित्यमेव निशीथे भगवान्नारायण कन्यकापार्श्वेऽभ्येति। तेन गान्धर्वविवाहेन सा विवाहिता। तदद्य त्वया मया च रात्रौ वाता-यनगताभ्या निशीथे द्रष्टव्य, यतो न स मानुषै सहालाप करोति।' तच्छ्रुत्वा हर्षितस्य राज्ञस्तद्दिन वर्षशतप्रायमिव कथञ्चिज्जगाम। ततस्तु रात्रौ निभृतो भूत्वा राज्ञीसहितो राजा वातायनस्थो गगनासक्तदृष्टिर्या-वत्तिष्ठति, तावत्तस्मिन्समये गरुढारूढम् त शङ्खचक्रगदापद्महस्त यथोक्त-चिह्नाङ्कित व्योम्नोऽवतरन्त नारायणमपश्यत्। तत सुधापूरप्लावित-मिवात्मान मन्यमानस्तामुवाच—'प्रिये, नास्त्यन्यो धन्यतरो लोके मत्तस्त्वत्तश्च, तत्प्रसूतिं नारायणो भजते। तत्सिद्धा सर्वेऽस्माक मनो-रथा। अधुना जामातृप्रभावेण सकलामपि वसुमती वश्या करिष्यामि।' एव निश्चित्य सर्वै सीमाधिपै सह मर्यादाव्यतिक्रममकरोत्। ते च त

पर चढकर, रात्रि मे मेरे निकट आते हैं। यदि मेरी बात झूठ समझती हो तो छिपे छिपे आधी रात आकर अपनी आँखो से भगवान् रमाकान्त को देख लीजिए।' उसे सुनकर वह हँसते हुए मुख से, समस्त अवयव मे रोमाञ्चवाली, शीघ्रता से पहुँचकर राजा से बोली—'देव! आप बडे भाग्यवान् हैं, क्योंकि नित्य रात्रि मे भगवान् नारायण कन्या के निकट आते हैं। उन्होने गान्धर्व विवाह की रीति से उसके साथ विवाह भी कर लिया है। सो आप और मैं रात्रि के समय वातायन (खिडकी के झरोखो मे) से छिपकर देख लें, क्योंकि मनुष्यो के साथ वे प्रत्यक्षरूप से बात-चीत नही करते।' यह सुनकर प्रसन्न हुए उस राजा का वह दिन किसी प्रकार सौ वर्ष बीते हुए के समान बीता। उसके बाद रात्रि मे छिपकर, रानी के साथ राजा ज्यो ही आकाश की तरफ दृष्टि लगाकर झरोखे पर बैठे कि त्यो ही उसी समय गरुड पर चढे हुए उन शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण करनेवाले, उपर्युक्त चिह्नो से युक्त नारायण को उन्होने आकाश से उतरते हुए देखा। उसके बाद अमृत के प्रवाहो से अपने को प्लावित मानते हुए राजा ने अपनी रानी से कहा—'प्रिये! इस ससार मे मुझसे और तुझसे बढकर धन्य दूसरा कोई नही है, जिसकी पुत्री के साथ नारायण भोग करते हैं। सो हमारे सब मनोरथ सिद्ध हो गए। अब तो जमाता के प्रभाव से समस्त पृथ्वी को अपने

मर्यादाव्यतिक्रमेण वर्तमानमालोक्य सर्वे समेत्य तेन सह विग्रहं चक्रुः। अत्रान्तरे स राजा देवीमुखेन तां दुहितरमुवाच—'पुत्रि, त्वयि दुहितरि वर्तमानायां नारायणे भगवति जामातरि स्थिते तत्किमेवं युज्यते यत्सर्वे पार्थिवा मया सह विग्रहं कुर्वन्ति। तत्सबोध्योऽद्य त्वया निजभर्ता, यथा मम शत्रून् व्यापादयति।' ततस्तया स कौलिको रात्रौ सविनयमभिहितः—'भगवन्, त्वयि जामातरि स्थिते मम तातो यच्छत्रुभिः परिभूयते तन्न युक्तम्। तत्प्रसादं कृत्वा सर्वास्तान् शत्रून् व्यापादय।' कौलिक आह—'सुभगे, कियन्मात्रास्त्वेते तव पितुः शत्रवः। तद्विश्वस्ता भव। क्षणेनापि सुदर्शनचक्रेण सर्वांस्तिलशः खण्डयिष्यामि।' अथ गच्छता कालेन सर्वदेशं शत्रुभिरुद्वास्य स राजा प्राकारशेषः कृतः। तथापि वासुदेवरूपधरं कौलिकमजानन् राजा नित्यमेव विशेषतः कर्पूरागुरुकस्तूरिकादिपरिमलविशेषान्नानाप्रकारवस्त्रपुष्पभक्ष्यपेयांश्च प्रेषयन्दुहितृमुखेन

वश में कर लूँगा।' इस प्रकार निश्चय कर सीमा प्रान्त के समस्त राजाओं के साथ मर्यादा की सीमा उल्लङ्घन करने (वैर ठानने)। उन लोगों ने, उसकी मर्यादा के उल्लङ्घन की स्थिति को (सन्धि-भङ्ग कर आक्रमण करते) देखकर, एक साथ मिलकर उसके साथ लड़ाई आरम्भ कर दी। इसी बीच उस राजा ने रानी द्वारा उस कन्या के प्रति यह कहलवाया—'हे पुत्री! तुम्हारी जैसी लड़की के और भगवान् नारायण जैसे जमाता के होते हुए भी क्या यह समुचित है कि सब राजा मिलकर मेरे साथ लड़ाई करें? सो तुम आज अपने स्वामी को सूचित करो, जिससे वे मेरे शत्रुओं को मार डालें।' तदनन्तर राजपुत्री ने कौलिक से रात्रि में विनयपूर्वक कहा—'भगवन्! आप जैसे जमाता के रहते हुए भी मेरे पिता को शत्रुओं द्वारा पराभव प्राप्त हो, यह उचित नहीं है। सो अनुग्रह कर आप उन समस्त शत्रुओं को मार डालिए।' कौलिक ने कहा—'सुलक्षणे! ये सब तुम्हारे पिता के शत्रु हैं ही कितने (अर्थात् अत्यन्त स्वल्प हैं)? इसलिये विश्वास रखो, एक क्षण में सुदर्शन चक्र द्वारा उन समस्त शत्रुओं को तिल के समान टुकड़े २ कर दूँगा।' इसके बाद कुछ समय बीतने पर उस राजा के समस्त देश को शत्रुओं ने ध्वंस कर केवल किला मात्र ही अवशेष रहने दिया। तो भी नारायण भगवान् का रूप धारण करने वाले कौलिक को न जान कर राजा प्रतिदिन विशेष प्रकार से कपूर, अगर, चन्दन, कस्तूरी आदि सुवासित द्रव्यों को और विविध प्रकार के वस्त्र, पुष्प, खाद्य पदार्थ (चर्व्य, चोष्य,

तमूचे—'भगवन्, प्रभाते नून स्थानभङ्गो भविष्यति। यतो यवसेन्धनक्षय सजातस्तथा सर्वोऽपि जनः प्रहारैर्जर्जरितदेहः सवृत्तो योद्धुमक्षम प्रचुरो मृतश्च। तदेव ज्ञात्वाऽत्र काले यदुचित भवति तद्विधेयम्' इति। तच्छ्रुत्वा कौलिकोऽप्यचिन्तयत् 'स्थानभङ्गे जाते ममानया सह वियोगो भविष्यति। तस्माद् गरुडमारुह्य सायुधमात्मानमाकाशे दर्शयामि। कदाचिन्मा वासुदेव मन्यमानास्ते साशङ्का राज्ञो योद्धृभिर्हन्यते। उक्त च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।
विष भवतु वा माभूत्फणाटोपो भयकर ॥२२५॥

अथ यदि मम स्थानार्थमुद्यतस्य मृत्युर्भविष्यति तदपि सुन्दरतरम् उक्तं च—

लेह्य) और पीने वाले दुग्ध आदि पदार्थों को भेजकर कन्या द्वारा उसे सन्देश भेजा—'भगवन्! कल प्रात काल अवश्य ही स्थानभङ्ग (शत्रुओ द्वारा किले पर अधिकार) होगा, क्योकि यवस (अश्वादिको के आहार आदि) और लकडी आदि की कमी हो गई है। इसके अतिरिक्त समस्त सैनिको के शरीर भी प्रहार (चोट) के कारण जर्जरित हो गए हैं (अर्थात् घायल हो गए हैं) इसलिए वे लडाई करने मे असमर्थ हैं और अधिक सख्या मे मर भी गए हैं। इन सब बातो को समझकर इस समय जैसा उचित हो वैसा कीजिए।' इसे सुन-कर कौलिक भी अपने मन मे विचारने लगा—'किले पर कब्जा होने पर मेरा इसके साथ वियोग हो जायगा। अत गरुड पर चढकर आयुध (शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म) सहित अपने स्वरूप को आकाश मे दिखलाऊँ। कदाचित् मुझे नारायण भगवान् समझकर वे सभी भयभीत हो जायँ। और राजा के लडाई करने वाले सैनिको द्वारा मार डाले जायँ।

कहा भी है—विष रहित सर्प को भी बडा फन बढाकर फुफुकार करना चाहिए। क्योकि विष हो या न हो, किन्तु फणाटोप (फन का फैलाव) ही भयङ्कर होना चाहिए॥ २२५॥

अथवा यदि इस किले की रक्षा के लिए उद्यत होने पर मेरी मृत्यु भी हो जाय तो भी बहुत अच्छा ही है। कहा भी है—

गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्वीकृतेऽथवा ।
स्थानार्थे यस्त्यजेत्प्राणास्तस्य लोका सनातना ॥ २२६ ॥
चन्द्रे मण्डलसस्थे विगृह्यते राहुणा दिनाधीश ।
शरणागतेन सार्धं विपदपि तेजस्विना श्लाघ्या' ॥ २२७ ॥

एव निश्चित्य प्रत्यूषे दन्तधावन कृत्वा ता प्रोवाच–'सुभगे, समस्तै शत्रुभिर्हतैरन्न पान चास्वादयिष्यामि । किं बहुना त्वयापि सह सगम तत करिष्यामि । पर वाच्यस्त्वयात्मपिता यत्प्रभाते प्रभूतेन सैन्येन सह नगरान्निष्क्रम्य योद्धव्यम् । अह चाकाशस्थित एव सर्वास्तान्निस्तेजस करिष्यामि । पश्चात्सुखेन भवता हन्तव्या यदि पुनरह तान्स्वयमेव सूदयामि तत्तेषा पापात्मना वैकुण्ठीया गति स्यात् । तस्मात्ते तथा कर्तव्या यथा पलायन्तो हन्यमाना स्वर्गं न गच्छन्ति ।' सापि तदाकर्ण्य पितु समीप गत्वा सर्वं वृत्तान्त न्यवेदयत् । राजापि तस्या वाक्य श्रद्दधान प्रत्यूषे समुत्थाय सुसनद्धसैन्यो युद्धार्थं निश्चक्राम । कौलिकोऽपि मरणे कृत-

---

गौ के लिए, ब्राह्मण के लिए, प्रभु के लिए अथवा स्त्री के लिए, या स्थान (देश-रक्षा) के लिए, जो लडकर अपने प्राणो को छोडता है उसे सत्यलोक की प्राप्ति होती है ॥ २२६ ॥

अमावस्या के दिन चन्द्रमण्डल मे आते ही सूर्य राहु द्वारा ग्रसित हो जाता है । यह युक्तिसगत ही है । शरणागत की रक्षा के लिए उसके साथ विपत्ति की प्राप्ति भी तेजस्वियो के लिए प्रशसनीय है ॥ २२७ ॥

इस प्रकार निर्णय कर उषाकाल मे दँतुवन करके उसने राजकन्या से कहा–'सुलक्षणे ! (आज) समस्त शत्रुओ को मार कर ही अन्न जल ग्रहण करूँगा । अधिक क्या कहूँ, तुम्हारे साथ रमण भी करूँगा । परन्तु तुम भी अपने पिता से कह देना कि प्रात काल मे अधिक सख्या मे सेना लेकर वे नगर से निकल कर लडाई करे, और मैं आकाश मे स्थित हो उन शत्रुओं को तेजहीन कर दूँगा, पुन सुलभता से आप मार डालिएगा । यदि मैं उनको स्वय मारूँ तो उन दुराचारियो को वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाएगी । अत ऐसा करना चाहिए कि वे भागते हुए मारे जायँ जिससे उन्हें स्वर्ग न मिल सके ।' राजकन्या ने भी उसे सुन कर, पिता के समीप जाकर सब निवेदन कर दिया । राजा भी उसके वचन पर श्रद्धा रख कर उषाकाल मे उठकर सेना सजा कर लडाई के लिए निकल पडा । कौलिक ने, भी अपने मरने का निर्णय कर हाथ मे धनुष लेकर, आकाश

निश्चयश्चापपाणिर्गगनगतिर्गरुडारूढो युद्धाय प्रस्थित । अत्रान्तरे भगवता नारायणेनातीतानागतवर्तमानवेदिना,स्मृतमात्रो वैनतेय सप्राप्तो विहस्य प्रोक्त–'भो गरुत्मन्, जानासि त्व यन्मम रूपेण कौलिको दारुमयगरुडे समारूढो राजकन्या कामयते ।' सोऽब्रवीत्—'देव, सर्व ज्ञायते तच्चेष्टितम् । तत्किं कुर्मः साप्रतम् । श्रीभगवानाह—'अद्य कौलिको मरणे कृतनिश्चयो विहितनियमो युद्धार्थे विनिर्गत स नून प्रधानक्षत्रियैर्मिलित्वा वासुदेवो गरुडश्च निपातित । तत पर लोकोऽयमावयोः पूजा न करिष्यति । ततस्त्व द्रुततर तत्र दारुमयगरुडे सक्रमण कुरु । अहमपि कौलिकशरीरे प्रवेश करिष्यामि ।' येन स शत्रून् व्यापादयति । ततश्च शत्रुवधादावयोर्माहात्म्यवृद्धि स्यात् ।' अथ गरुडे तथेति प्रतिपन्ने श्रीभगवन्नारायणस्तच्छरीरे सक्रमणमकरोत् । ततो भगवन्माहात्म्येन गगनस्थ स कौलिक शङ्खचक्रगदाचापचिह्नित क्षणादेव लीलयैव समस्तानपि प्रधानक्षत्रियान्निस्तेजसश्चकार । ततस्तेन राज्ञा स्वसैन्यपरिवृतेन सग्रामे जिता निहताश्च ते सर्वेऽपि

मे गरुड पर चढकर सग्राम के लिए प्रस्थान किया । इसी बीच भूत भविष्य एव वर्त्तमान के जानने वाले भगवान् नारायण (विष्णु) ने गरुड का स्मरण किया और उपस्थित हुए गरुड से हँस कर कहा— हे पक्षिराज गरुड ! क्या तुम जानते हो कि मेरा स्वरूप धारण कर, कौलिक लकडी के गरुड पर चढ कर राजकुमारी का उपभोग करता है ।' उसने कहा—'देव उसका सब कार्य विदित है । इस समय हम क्या करें ? (हमारे लिए क्या आज्ञा होती है) ।' भगवान् ने कहा—'आज कौलिक अपनी मृत्यु का निश्चय कर, प्रतिज्ञा करके निकल पडा है । वह अवश्य ही मुख्य-मुख्य क्षत्रियो के बाण से घायल होकर मृत्यु को प्राप्त करेगा । उसके मारे जाने पर सभी जनता कहेगी कि बहुत से क्षत्रियो ने मिलकर विष्णु और गरुड को मार डाला है । तब यह जगत् हम दोनो की पूजा न करेगा । अत तुम बहुत शीघ्र जाकर उस काष्ठमय गरुड मे प्रवेश कर जाओ और मैं भी कौलिक के शरीर मे प्रवेश करूँगा । जिससे वह शत्रुओ को मार डालेगा । तब शत्रु के वध से हम दोनो के महात्म्य बढ जायँगे ।' गरुड के 'ऐसा ही हो' इस प्रकार कहने पर, भगवान् नारायण कौलिक के शरीर मे प्रवेश कर गये । तब भगवान् की महिमा के कारण, आकाश मे स्थित शख, चक्र, गदा, धनुष से चिह्नित उस कौलिक ने क्षण भर मे अनायास ही सब मुख्य क्षत्रियो को तेजहीन कर दिया । तदनन्तर वह राजा अपनी सेना के साथ युद्ध मे जीत गया,

शत्रव । जातश्च लोकमध्ये प्रवादो यथा—'अनेन विष्णुजामातृप्रभावेण सर्वे शत्रवो निहता' इति। कौलिकोऽपि तान्हतान्दृष्ट्वा प्रमुदितमना गगनादवतीर्णं सन्, यावद्राजामात्यपौरलोकास्त नगरवास्तव्य कौलिक पश्यन्ति तत पृष्ट 'किमेतत्' इति। तत सोऽपि मूलादारभ्य सर्वं प्राग्वृत्तान्त न्यवेदयत्। ततश्च कौलिकसाहसानुरञ्जितमनसा शत्रुवधादवाप्ततेजसा राज्ञा सा राजकन्या सकलजनप्रत्यक्ष विवाहविधिना तस्मै समर्पिता देशश्च प्रदत्त । कौलिकोऽपि तया सार्ध पञ्चप्रकार जीवलोकसार विषयसुखमनुभवन्काल निनाय। अतस्तूच्यते-'सुप्रयुक्तस्य दम्भस्य' इति। तच्छ्रुत्वा करटक आह—'भद्र, अस्त्येवम्। पर तथापि महन्मे भयम्। यतो बुद्धिमान्सजीवको रौद्रश्च सिंह । यद्यपि ते बुद्धिप्रागल्भ्य तथापि त्व पिङ्गलकात्त वियोजयितुमसमर्थ एव।' दमनक आह—'भ्रात, असमर्थोऽपि समर्थ एव। उक्त च—

'उपायेन हि यत्कुर्यात्तन्न शक्य पराक्रमे।
काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातित'॥ २२८॥

और वे सब शत्रु वध कर दिए गए। तथा लोक मे इस प्रकार की किंवदन्ती फैल गई कि इस—'विष्णुरूप जामाता के प्रभाव से इसने समस्त शत्रुओ का वध कर दिया।' कौलिक भी उन शत्रुओ को मरे हुये देखकर, अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो आकाश से उतरा। तब राजा मन्त्री, नागरिको ने एक साधारण नागरिक रूप मे उस कौलिक को देखकर,उससे पूछा—'यह क्या बात है?' तब उसने आरम्भ से लेकर सब समाचार कह दिया। उसके पश्चात् कौलिक के साहस से हर्षित मनवाले और शत्रु के मारे जाने से प्राप्त तेज वाले राजा ने उस राजपुत्री को समस्त नागरिको के समक्ष ही विवाहविधि से उसे समर्पण कर, राज्य भी दे दिया। कौलिक भी उसके साथ पञ्चेन्द्रिय के भोगने योग्य, मनुष्य लोक के सार विषय के सुख का अनुभव करता हुआ समय बिताने लगा। इसी से कहा जाता है कि—'भली भाँति छिपाये हुए पाखण्ड के अन्त को इत्यादि'। उसे सुनकर करटक ने कहा—भद्र! यह तो ठीक है किन्तु मुझे बडा भारी भय है, क्योंकि सञ्जीवक बुद्धिमान् है और सिंह भी भयङ्कर (प्राणी) है। यद्यपि तुम्हारी बुद्धि प्रगल्भ है, तथापि तुम पिङ्गलक से उसे पृथक कराने मे असमर्थ ही हो। दमनक ने कहा—'भाई! असमर्थ होने पर भी समर्थ हूँ।

कहा भी है—जो कार्य उपाय द्वारा हो सकता है वह पराक्रम से नही हो

करटक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत् —

कथा ६

अस्ति कस्मिश्चित्प्रदेशे महान्न्यग्रोधपादप । तत्र वायसदम्पती प्रतिवसत. स्म । अथ तयो प्रसवकाले वृक्षविवरान्निष्क्रम्य कृष्णसर्प सदैव तदपत्यानि भक्षयति । ततस्तौ निर्वेदादन्यवृक्षमूलनिवासिन प्रियसुहृद श्रृगाल गत्वोचतु—'भद्र, किमेवविधे सजात आवयो. कर्तव्य भवति । एव तावद् दुष्टात्मा कृष्णसर्पो वृक्षविवरान्निर्गत्यावयोर्बालिकान्भक्षयति । तत्कथ्यता तद्रक्षार्थं कश्चिदुपाय ।

यस्य क्षेत्र नदीतीरे भार्या च परसगता ।
ससर्पे च गृहे वास कथ स्यात्तस्य निर्वृति ॥ २२९ ॥

अन्यच्च—सर्पयुक्ते गृहे वासो मृत्युरेव न सशय. ।
यद्ग्रामान्ते वसेत्सर्पस्तस्य स्यात्प्राणसशय ॥ २३० ॥

सकता है । जैसे कौए की मादा ने सोने की लडी से काले सर्प को मार डाला था ॥ २२८ ॥

करटक ने कहा—सो कैसे ? वह बोला—

किसी स्थान पर एक बडा वटवृक्ष था । उसमे एक कौए का जोडा रहता था । उसके प्रसव के समय वृक्ष के खोखले से निकल कर एक काला साँप बराबर उनके बच्चो को खा जाता था । तब वे दोनो परम दुखी हो, दूसरे वृक्ष की जड मे रहने वाले अपने प्रिय मित्र सियार के पास जाकर बोले—भद्र ! इस प्रकार होने पर हम दोनो का क्या कर्त्तव्य है ? वह दुरात्मा काला साँप इसी प्रकार वृक्ष के खोखले से निकल कर हमारे बच्चो को खा जाता है । इसलिए उनकी रक्षा के लिए कोई उपाय बताओ । क्योकि—

जिसका खेत नदी के किनारे हो, जिसकी स्त्री परपुरुषगामिनी हो और सर्पयुक्त घर मे जिसका रहना हो उसे भला किस प्रकार सुख की प्राप्ति हो सकती है ॥ २२९ ॥

और भी—सर्प युक्त घर मे निवास हो तो मृत्यु होने मे कोई सन्देह नही है तथा जिस ग्राम की सीमा मे सर्प रहता हो वहाँ भी प्राणो का भय है ॥२३०॥

अस्माकमपि तत्रस्थिताना प्रतिदिन प्राणसशय '। स आह—'नात्र विपये स्वल्पोऽपि विषाद कार्यं । नून स लुब्धो नोपायमन्तरेण वध्य· स्यात् ।

उपायेन जयो यादृग् रिपोस्तादृड् न हेतिभि ।
उपायज्ञोऽल्पकायोऽपि न शूरे परिभूयते ॥ २३१ ॥

तथा च—भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।
अतिलौल्याद्बक कश्चिन्मृत कर्कटकग्रहात्' ॥ २३२ ॥

तावूचतु —'कथमेतत् ।'सोऽब्रवीत्—

कथा ७

अस्ति कस्मिश्चिद्वनप्रदेशे नानाजलचरसनाथ महत्सर । तत्र च कृताश्रयो वक एको वृद्धभावमुपागतो मत्स्यान्व्यापादयितुमसमर्थ । ततश्च क्षुत्क्षामकण्ठ सरस्तीर उपविष्टो मुक्ताफलप्रकरसदृशैरश्रुप्रवाहै-र्धरातलमभिषिञ्चन्रुरोद । एक कुलीरको नानाजलचरसमेत समेत्य तस्य दु खेन दु खित सादरमिदमूचे–'माम, किमद्य त्वया नाहारवृत्तिर-

---

वहाँ रहने से हम लोगो को भी प्रतिदिन प्राणो का सशय बना रहता है ।' उसने कहा–'इस विषय मे थोडा भी दु ख मत करो । निश्चय ही वह लोभी साँप उपाय के बिना नही मारा जा सकता है । क्योकि—

उपाय से शत्रु पर जैसी विजय होती है वैसी अस्त्रो से नही हो सकती । क्योकि उपाय को जाननेवाला छोटे शरीरवाला होने पर भी वीरो द्वारा जीता नही जा सकता ॥ २३१ ॥

और भी– अनेक प्रकार की उत्तम, मध्यम और अधम मछलियो को खाकर अति लोभ के कारण कोई बगुला, केकडे से पकडे जाने पर मारा गया ॥२३२॥

उन दोनो ने कहा—यह किस प्रकार ? उसने कहा—

किसी वन मे अनेक प्रकार के जल जन्तुओ से सयुक्त एक बडा सरोवर था । वहाँ एक बगुला रहता था जो बुढापे के कारण मछलियो को मारकर खाने मे असमर्थ हो गया था । अत भूख से सूखे हुए कण्ठवाला वह सरोवर के किनारे बैठा हुआ, मोतियो के समान आँसुओ की धारा से भूतल को सीचता हुआ रो रहा था । (तभी) एक केकडे ने अनेक प्रकार के जलचरो के साथ वहाँ आकर

नुष्ठीयते। केवलमश्रुपूर्णनेत्राभ्या सनि श्वासेन स्थीयते।' स आह-'वत्स, सत्यमुपलक्षित्त भवता। मया हि मत्स्यादन प्रति परमवैराग्यतया साप्रत प्रायोपवेशन कृतम्, तेनाह समीपगतानपि मत्स्यान्न भक्षयामि।' कुलीरकस्तच्छ्रुत्वा प्राह 'माम, किं तद्वैराग्यकारणम्।' स प्राह-'वत्स, अहमस्मिन्सरसि जातो वृद्धि गतश्च। तन्मयैतच्छ्रुत यद्द्वादशवार्षिक्यनावृष्टि सपद्यते लग्ना।' कुलीरक आह—'कस्मात्तच्छ्रुतम्।' वक आह-दैवज्ञमुखात् एष शनैश्चरो हि रोहिणीशकट भित्त्वा भौम शुक्र च प्रयास्यति। उक्त च वराहमिहिरेण—

यदि भिन्ते सूर्यसुतो रोहिण्या शकटमिह लोके।
द्वादश वर्षाणि तदा नहि वषति वासवो भूमौ॥ २३३॥

तथा च—प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वैव पातक वसुधा।
भस्मास्थिशकलकीर्णा कापालिकमिव व्रत धत्ते॥ २३४॥

उसके दु ख से दु खित होकर, आदरपूर्वक इस प्रकार कहा—'मामा! आज आप अपने आहार की खोज क्यो नही कर रहे हे? आप तो केवल अश्रु नेत्र लिए लम्बी साँसे खीचते हुए बैठे हैं?' उसने कहा—'वत्स! तुमने ठीक समझा है। मछलियाँ खाने से अत्यधिक वैराग्य हो जाने के कारण अब मैंने मरने का व्रत ले लिया हे। अत पास आई हुई मछलियो को भी मैं नही खा रहा हूँ। यह सुनकर कुलीरक ने कहा—'मामा! आपके इस वैराग्य का क्या कारण है?' उसने उत्तर दिया—'वत्स! मै इसी सरोवर मे उत्पन्न हुआ और यही वढा भी। मैंने ऐसा सुना है कि लगातार बारह वर्षों तक अनावृष्टि होगी!' कुलीरक ने कहा—'यह किससे सुना है?' बगुले ने उत्तर दिया—'ज्योतिषियो के मुख से! यह शनि रोहिणी के मण्डल को भेद कर भौम और शुक्र के समीप पहुँच जायगा! वराहमिहिर ने भी कहा है—

यदि सूर्यपुत्र (शनि) रोहिणी के शकट को भेदन करे तो इस लोक मे बारह वर्ष तक इन्द्र भूमि पर वर्षा नही करता॥ २३३॥

और भी—रोहिणी का शकट शनि से भेदित होने पर मानो पाप करके (उसका प्रायश्चित करने के लिए) भस्म और हड्डी के टुकडे से व्याप्त हुई पृथ्वी कापालिक (वाममार्गी) की भाँति व्रत को धारण करती है। (हड्डी के टुकडे और राख ऐसी दिखलाई पडती है मानो पृथ्वी अपने पातको का प्रायश्चित्त करती है)॥ २३४॥

तथा च—रोहिणीशकटमर्कनन्दनश्चेद्भिनत्ति रुधिरोऽथवा शशी।
किं वदामि तदनिष्टसागरे सर्वलोकमुपयाति सक्षय. ॥२३५॥
रोहिणीशकटमध्यसस्थिते चन्द्रमस्यशरणीकृता जना ।
क्वापि यान्ति शिशुपाचिताशना सूर्यतप्तभिदुराम्बुपायिन ॥२३६॥

तदेतत्सर स्वल्पतोय वर्तते। शीघ्र शोष यास्यति। अस्मिन् शुष्के यै सहाह वृद्धि गत सदैव क्रीडितश्च ते सर्वे तोयाभावान्नाश यास्यन्ति। तत्तेषा वियोग द्रष्टुमहमसमर्थ । तेनैतत्प्रायोपवेशन कृतम्। साम्प्रत सर्वेषा स्वल्पजलाशयाना जलचरा गुरुजलाशयेषु स्वस्वजनैर्नीयन्ते। केचिच्च मकरगोधाशिशुमारजलहस्तिप्रभृतय स्वयमेव गच्छन्ति। अत्र पुन सरसि ये जलचरास्ते निश्चिन्ताः सन्ति तेनाह विशेषाद्रोदिमि यद्बीजशेषमात्रमप्यत्र नोद्धरिष्यति।' तत स तदाकर्ण्यान्येषामपि जलचराणा तत्तस्य वचन निवेदयामास। अथ ते सर्वभयत्रस्तमनसो मत्स्यकच्छपप्रभृतयस्तमभ्युपेत्य पप्रच्छु—'माम, अस्ति कश्चि-

---

और भी—रोहिणी के शकट को यदि शनि, मङ्गल अथवा चन्द्रमा भेदन करे तो उससे होने वाले अनिष्ट-समुद्र का मैं क्या वर्णन करूँ? उसमे तो समस्त लोको का विनाश हो जाता हैं ॥ २३१ ॥

रोहिणी के शकट मे चन्द्रमा के सस्थित होने पर, रक्षकहीन होकर मनुष्य अपनी सन्तान को बेचकर या मारकर खाते हैं और सूर्य के ताप से सन्तप्त गरम पानी पीते हुए कही भी जाकर अपने प्राण बचाते हैं ॥ २३६ ॥

इस सरोवर मे जल थोडा-सा है, शीघ्र ही सूख जायगा। इसके सूख जाने पर, जिन प्राणियो के साथ मैं इतना बडा हुआ और खेला-कूदा, वे सभी पानी के विना मर जायेंगे। उनका वियोग देखने मे मैं असमर्थ हूँ। अत मैंने यह प्रायोपवेशन (सङ्कल्पपूर्वक सब कार्यों को छोडकर बिना खाए-पिए मरने के लिए बैठे रहना) किया है। इस समय छोटे-छोटे जलाशय के प्राणी अपने-अपने सम्बन्धियो द्वारा बडे-बडे जलाशयो मे ले जाये जा रहे हैं। कोई कोई मगर, गोह, घडियाल और जलहाथी आदि तो अपने आप ही चले जा रहे हैं। किन्तु इस जलाशय के जितने जलजन्तु हैं वे चिन्ता-रहित हैं। इसी से मैं विशेष कर रोता हूँ, कि यहाँ एक भी न बचेगा।' यह बात सुनकर उसने अन्य जलचरो से भी उसकी बात कह दी। तब भय से व्याकुल मनवाले मछली, कछुआ आदि उसके पास पहुँचकर पूछने लगे—मामा!

दुपायो येनास्माक रक्षा भवति।' वक आह—'अस्त्यस्य जलाशयस्य नातिदूरे प्रभूतजलसनाथ सर पद्मिनीखण्डमण्डित यच्चतुर्विंशत्यापि वर्षाणामवृष्ट्या न शोषमेष्यति। तद्यपि मम पृष्ठ कश्चिदारोहति तदह त तत्र नयामि।' अथ ते तत्र विश्वासमापन्ना 'तात, मातुल, भ्रात' इति ब्रुवाणा 'अह पूर्वमह पूर्वम्' इति समन्तात्परितस्थु। सोऽपि दुष्टाशय क्रमेण तान्पृष्ठ आरोप्य जलाशयस्य नातिदूरे शिला समासाद्य तस्यामाक्षिप्य स्वेच्छया भक्षयित्वा भूयोऽपि जलाशय समासाद्य जलचराणा मिथ्यावार्तासंदेशकैर्मनासि रञ्जयन्नित्यमेवाहारवृत्तिमकरोत्। अन्यस्मिन्दिने च कुलीरकेणोक्त 'माम, मया सह ते प्रथमः स्नेहसभाष सजात। तत्कि मा परित्यज्यान्यान्नयसि। तस्मादद्य मे प्राणत्राण कुरु।' तदाकर्ण्य सोऽपि दुष्टाशयश्चिन्तितवान्-'निर्विण्णोऽह मत्स्यमासादनेन तदद्यैन कुलीरक व्यञ्जनस्थाने करोमि।' इति विचिन्त्य त पृष्ठे समारोप्य ता वध्यशिलामुद्दिश्य प्रस्थित। कुलीरकोऽपि दूरादेवास्थिपर्वत शिलाश्रयमवलोक्य मत्स्यास्थीनि परिज्ञाय तमपृच्छत्—

क्या ऐसा कोई उपाय है जिससे हम लोगो की रक्षा हो सके ?' बगुले ने कहा - 'इस जलाशय से थोडी दूर पर कमलिनी के समूह से शोभित, अत्यधिक जल से परिपूर्ण एक तालाब है जो चौबीस वर्ष तक की अनावृष्टि मे भी नही सूखेगा। इसलिए यदि मेरी पीठ पर कोई चढे तो मैं उसे वहाँ ले जा सकता हू।' इसके बाद वे (जलचर) उसके विश्वास मे आकर, 'तात! मामा! भाई! पहले मैं' पहले मैं इस प्रकार कहते हुए उसके चारो ओर एकत्रित हो गये। वह दुष्टात्मा बगुला भी क्रम से उनको अपनी पीठ पर चढाकर, सरोवर से थोडी दूर एक चट्टान पर ले जाकर पटक देता और अपने इच्छानुसार खाकर पुन उसी जलाशय मे आकर असत्य बातो के सन्देश से जल जन्तुओ को प्रसन्न करता हुआ प्रतिदिन भोजन वृत्ति करने लगा। किसी दिन कुलीरक (केकडे) ने कहा —'मामा ? मुझ से आपका पहले पहल स्नेह-समाषण हुआ था अत मुझे छोडकर आप दूसरे जलचरो को क्यो ले जाते हैं ? इसलिए आज मरे प्राणो की रक्षा कीजिए।' यह सुनकर उस दुष्टात्मा ने विचार किया कि मछलियो का मास खाते खाते मैं ऊब गया हूँ इसलिए आज व्यञ्जन (चटनी) के स्थान पर इस केकडे को खाऊँगा। इस प्रकार विचार कर उसे पीठ पर चढा कर उस वध्य शिला की ओर ले चला। केंकडे ने दूर ही से शिला के आस-पास

'माम, कियद्दूरे स जलाशय मदीयभारेणातिश्रान्तस्त्वम्। तत्कथय।' सोऽपि मन्दधीर्जलचरोऽयमिति मत्वा स्थले न प्रभवतीति सस्मितमिदमाह—'कुलीरक, कुतोऽन्यो जलाशय। मम प्राणयात्रेयम्। तस्मात्स्मर्यतामात्मनोऽभीष्टदेवता। त्वामप्यस्या शिलाया निक्षिप्य भक्षयिष्यामि।' इत्युक्तवति तस्मिन्स्ववदनदशद्वयेन मृणालनालधवलाया मृदुग्रीवाया गृहीतो मृतश्च। अथ स ता वकग्रीवा समादाय शनै शनैस्तज्जलाशयमाससाद। तत सर्वैरेव जलचरै पृष्ट—'भो कुलीरक किं निवृत्तस्त्वम्। स मातुलोऽपि नायात। तत्किं चिरयति। वय सर्वे सोत्सुका कृतक्षणास्तिष्ठाम। एव तैरभिहिते कुलीरकोऽपि विहस्योवाच—'मूर्खा सर्वे जलचरास्तेन मिथ्यावादिना वञ्चयित्वा नातिदूरे शिलातले प्रक्षिप्य भक्षिता.। तन्ममायु शेषतया तस्य विश्वासघातकस्याभिप्राय ज्ञात्वा ग्रीवेयमानीता। तदल 'सम्भ्रमेण। अधुना सर्वजलचराणा क्षेम भविष्यति।' अतोऽह ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इति॥ वायस

हड्डियो का पहाड (ढेर) देख कर, मछलियो की हड्डी पहचान कर उससे पूछा—'मामा! वह सरोवर कितनी दूर है? आप मेरे बोझ से बहुत थक गये हैं, अत बतलाइए।' उसने भी उसे मन्दबुद्धि समझ कर और यह जानकर कि स्थल पर इसका कोई वश न चलेगा, मुस्कराते हुए कहा—कुलीरक! दूसरा जलाशय कहाँ है? यह तो मेरी जीविका का साधन है। इसलिए अपने इष्ट देवता का स्मरण करो। तुम्हें भी इस चट्टान पर पटक कर खा जाऊँगा। उसके यह कहते ही कुलीरक ने अपने मुख के दोनो दाँतो से उसकी कमलनाल के समान उजली तथा कोमल गरदन को दबोच लिया और वह मर गया। इसके अनन्तर उस बगुले की गरदन को लेकर वह धीरे-धीरे अपने जलाशय पर पहुँचा। तब सब जलचरो ने पूछा—'अरे कुलीरक! तुम लौट क्यो आये? वह मामा भी नही आया? वह देर क्यो कर रहा है? हम लोग बडे उत्कण्ठित होकर प्रतिक्षण उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार उनके कहने पर कुलीरक ने भी हँस कर कहा—'अरे मूर्खो! वह मिथ्यावादी समस्त जलचरो को ठग कर थोडी ही दूर शिलातल पर पटक कर खा गया है। आयु शेष होने के कारण मैं उस विश्वासघाती का अभिप्राय जान कर, उसकी गरदन ले आया हूँ। अब घबडाने की कोई आवश्यकता नही। अब सब जलचरो का कल्याण ही होगा। इसीलिये मैं कहता हूँ कि 'बहुत-सी मछलियो को खाकर' इत्यादि। कौए ने कहा

आह—'भद्र तत्कथय कथं स दुष्टसर्पो वधमुपैष्यति।' शृगाल आह—'गच्छतु भवान्किंचिन्नगरं राजाधिष्ठानम्। तत्र कस्यापि धनिनो राजामात्यादेः प्रमादिनः कनकसूत्रं हारं वा गृहीत्वा तत्कोटरे प्रक्षिप, येन सर्पस्तद्ग्रहणेन बध्यते।'

अथ तत्क्षणात्काकः काकी च तदाकर्ण्यात्मेच्छयोत्पतितौ। ततश्च काकी किञ्चित्सरः प्राप्य यावत्पश्यति, तावत्तन्मध्ये कस्यचिद्राज्ञोऽन्तःपुरं जलासन्नं न्यस्तकनकसूत्रं मुक्तमुक्ताहारवस्त्राभरणं जलक्रीडां कुरुते। अथ सा वायसी कनकसूत्रमेकमादाय स्वगृहाभिमुखं प्रतस्थे। ततश्च कञ्चुकिनो वर्षवराश्च तन्नीयमानमुपलक्ष्य गृहीतलगुडाः सत्वरमनुययुः। काक्यपि सर्पकोटरे तत्कनकसूत्रं प्रक्षिप्य सुदूरमवस्थिता। अथ यावद्राजपुरुषास्तं वृक्षमारुह्य तत्कोटरमवलोकयन्ति, तावत्कृष्णसर्पः प्रसारितभोगस्तिष्ठति। ततस्तं लगुडप्रहारेण हत्वा कनकसूत्रमादाय यथाभिलषितं स्थानं गताः। वायसदम्पती अपि ततः परं सुखेन वसतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यत्कुर्यात्' इति। तन्न किंचिदिह बुद्धिमतामसाध्यमस्ति।

भद्र! कहो, वह दुष्ट सर्प किस प्रकार मारा जायगा? सियार ने कहा—'आप किसी राजा की राजधानी में चले जाइये। वहाँ किसी असावधान धनी, राजा अथवा मन्त्री की सोने की लड़ या हार लेकर उसके खोखले में डाल दीजिये, जिससे उस आभूषण के ग्रहण करने के कारण सर्प मारा जायगा।'

उसी क्षण कौआ और उसकी स्त्री दोनों उसे सुनकर इसके अनन्तर उसी क्षण अपनी इच्छा से उड़ चले। इसके बाद कौए की स्त्री किसी जलाशय में पहुँच कर ज्योंही देखती है त्योंही उसके बीच में किसी राजा के अन्तःपुर की स्त्रियों को जल के निकट सोने की माला रख कर और सुनहले धागे में गुँथे मोतियों के हार, वस्त्र और आभूषण उतार कर जलक्रीडा करते देखा। तब उस कौए की स्त्री ने केवल सोने की माला लेकर अपने घर की ओर प्रस्थान किया। तदनन्तर कञ्चुकी और नपुंसक (हिजड़े) उस माला को ले जाई जाती हुई देख कर, डण्डे लेकर झटपट उसके पीछे पीछे दौड़े। कौए की स्त्री भी सर्प के खोखले में उस सोने की माला को रखकर स्वयं दूर बैठ गयी। राजपुरुष उस वृक्ष पर चढ़ कर ज्यों ही उस खोखले की ओर दृष्टि डालते हैं त्यों ही देखते हैं कि एक काला साँप फन फैलाए बैठा है। तब उसे डण्डे से म[illegible]

उक्त च—यस्य बुद्धिबल तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो वलम् ।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातित' ॥ २३७ ॥

करटक आह—'कथमेतत् ।' स आह—

कथा ८

कस्मिश्चिद्वने भासुरको नाम सिंह प्रतिवसति स्म । अथासौ वीर्यातिरेकान्नित्यमेवानेकान्मृगशशकादीन्व्यापादयन्नोपरराम । अथान्येद्युस्तद्वनजा सर्वे सारङ्गवराहमहिषशशकादयो मिलित्वा तमभ्युपेत्य प्रोचु —'स्वामिन्, किमनेन सकलमृगवधेन नित्यमेव, यतस्तवैकेनापि मृगेण तृप्तिर्भवति तत्क्रियतामस्माभि सह समयधर्म । अद्य प्रभृति तवात्रोपविष्टस्य जाति क्रमेण प्रतिदिनमेको मृगो भक्षणार्थं समेष्यति एव कृते तव तावत्प्राणयात्रा क्लेश विनापि भविष्यति, अस्माक च पुन सर्वोच्छेदन न स्यात् । तदेष राजधर्मोऽनुष्ठीयताम्' । उक्त च—

माला लेकर अभीष्ट स्थान को चले गये । कौआ और उसकी स्त्री भी तब से अत्यधिक आनन्दपूर्वक रहने लगे । इसीलिए मैं कहता हूँ—'जो कार्य उपाय द्वारा हो सकता है ' इत्यादि । अत इस लोक मे बुद्धिमानो के लिए कुछ भी असाध्य नही है ।

कहा भी है—जिसके पास बुद्धि है, उसी के पास बल भी है, बुद्धिहीन के पास बल कहाँ ? तभी तो वन मे एक मतवाला सिंह खरहे द्वारा मार डाला गया' ॥ २३७ ॥

करटक ने कहा—यह किस प्रकार की कथा है ?' उसने कहा—

किसी वन मे भासुरक नाम का एक सिंह रहता था । वह बल की अधिकता के कारण प्रतिदिन अनेक मृग और शशक (खरहे) आदि को मारकर भी शान्ति नही पाता था । किसी दिन उस वन मे रहने वाले हरिण, शूकर, भैंसे और शशक आदि सब पशुगण मिलकर उसके पास जाकर कहने लगे—'स्वामिन् ! इस प्रकार सब प्राणियो को मारने से क्या लाभ ? क्योंकि आपकी तृप्ति तो एक ही प्राणी से हो जाती है । अत हम लोगो से वचन ले लीजिए । आज से लेकर घर बैठे ही आपके भोजनार्थ जाति के क्रम से प्रतिदिन एक पशु आया करेगा । ऐसा करने से विना कष्ट उठाये आपकी जीविका भी चलेगी और हमलोगो का सर्वनाश भी न होगा ? सो आप इस राजधर्म का पालन कीजिए ।' कहा भी है—

'शनै शनैश्च यो राज्यमुपभुङ्क्ते यथाबलम् ।
रसायनमिव प्राज्ञः स पुष्टिं परमा व्रजेत् ॥ २३८ ॥
विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथितापि च ।
प्रयच्छति फल भूमिररणीव हुताशनम् ॥ २३९ ॥
प्रजाना पालन शस्य स्वर्गकोशस्य वर्धनम् ।
पीडन धर्मनाशाय पापायायशसे स्थितम् ॥ २४० ॥
गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्ध शनैः शनै ।
पालनात्पोषणाद् ग्राह्य न्याय्या वृत्ति समाचरेत् ॥ २४१ ॥
अजामिव प्रजा मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपति ।
तस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथचन ॥ २४२ ॥
फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थित ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ २४३ ॥

जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति के अनुसार रसायन (रोग और बुढापानाशक औषध) सेवन की भांति धीरे-धीरे राज्य का उपभोग करता है, वह अत्यधिक पुष्ट (धनी) हो जाता है ॥ २३८ ॥

जिस प्रकार विधिपूर्वक (शास्त्रोक्त) मन्त्र जप कर अरणि (यज्ञ मे अग्नि निकालने का साधन) मथन करने पर अग्नि उत्पन्न करती है उसी प्रकार उपाय पूर्वक खेती करने से ऊसर भूमि फल देती है ॥ २३९ ॥

प्रजा-पालन करना राजाओ के लिए प्रशसनीय और स्वर्गरूपी खजाने को बढाने वाला कहा गया है । किन्तु प्रजा को पीडा पहुँचाना धम के नाश, पाप और अयश के लिए होता हैं ॥ २४० ॥

राजा रूपी गोपाल को चाहिए कि वह अपनी प्रजारूपी गाय का पालन-पोषण करते हुए धीरे-धीरे उससे धनरूपी दूध ले और उसके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे ॥ २४१ ॥

जो राजा मोहवश प्रजा को बकरी के समान मार डालता है, उसे उससे केवल एक बार ही तृप्ति होती है, दूसरी बार नही । (उसे हत्या ही हाथ लगती है, धन नही) ॥ २४२ ॥

फल चाहने वाले राजा को चाहिए कि जसे माली अकुरो को सीचता है वैसे ही वह दान-सम्मान आदि रूपी जल से उद्योगपूर्वक प्रजा का पालन करे ॥ २४३ ॥

नृपदीपो धनस्नेह प्रजाभ्य॰ सहरन्नपि ।
आन्तरस्थैर्गुणै शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥
यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजा ।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥
यथा बीजाङ्कुर॰ सूक्ष्म प्रयत्नेनाभिरक्षित ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोक सुरक्षित॰ ॥ २४६ ॥
हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्य स्यान्महीपते ॥ २४७ ॥
लोकानुग्रहकर्तार प्रवर्धन्ते नरेश्वरा॰ ।
लोकाना सक्षयाच्चैव क्षय यान्ति न सशय' ॥ २४८ ॥

अथ तेषा तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह–'अहो सत्यमभिहित भवद्भि ।
पर यदि ममोपविष्टस्यात्र नित्यमेव नैक॰ श्वापद समागमिष्यति, तन्नून सर्वानपि भक्षयिष्यामि ।' अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजस्तत्रैव वने

राजा रूपी दीपक प्रजा से धनरूपी तेल खींचते हुए भी अन्त करण के उत्तम गुणो (बत्ती के उजले तन्तुओ) के कारण किसी की दृष्टि मे नही आता ॥ २४४ ॥

जैसे गौ समय पर (साय-प्रात) दुही और पालन की जाती है, तथा जिस प्रकार फूल और फल देने वाली लता समय पर सीची और चुनी जाती है, उसी प्रकार प्रजा से भी समय पर 'कर' आदि लेना चाहिए और समय पर उसका पालन-पोषण करना चाहिए ॥ २४५ ॥

जैसे प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित छोटा-सा बीज का अकुर समय आने पर फल-देता है, वैसे ही सुरक्षित प्रजा भी गाढे समय पर काम आती है ॥ २४६ ॥

सुवर्ण, धान्य, रत्न, विविध प्रकार की सवारियाँ तथा और भी जो कुछ राजा के पास है वह सब उसे प्रजा से ही प्राप्त होता है ॥ २४७ ॥

प्रजा पर कृपा करने वाले राजाओ की वृद्धि होती है और प्रजा को कष्ट देने वाले राजा निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ २४८ ॥

इसके बाद उन लोगो की बात सुनकर भासुरक ने कहा—'हाँ हाँ ! तुम लोगो ने सत्य कहा । किन्तु यदि मेरे यहाँ बैठे हुए ही प्रतिदिन एक पशु न आवेगा तो पुन मैं सबो को अवश्य भक्षण कर लूँगा' । तदनन्तर वे वैसी ही प्रतिज्ञा कर, निश्चिन्त हो, उसी वन मे नि शक होकर भ्रमण करने लगे । और

'शनैः शनैश्च यो राज्यमुपभुङ्क्ते यथाबलम् ।
रसायनमिव प्राज्ञः स पुष्टिं परमां व्रजेत् ॥ २३८ ॥
विधिना मन्त्रयुक्तेन रूक्षापि मथितापि च ।
प्रयच्छति फलं भूमिररणीव हुताशनम् ॥ २३९ ॥
प्रजानां पालनं शस्यं स्वर्गकोशस्य वर्धनम् ।
पीडनं धर्मनाशाय पापायायशसे स्थितम् ॥ २४० ॥
गोपालेन प्रजाधेनोर्वित्तदुग्धं शनैः शनैः ।
पालनात्पोषणाद् ग्राह्यं न्याय्यां वृत्तिं समाचरेत् ॥ २४१ ॥
अजामिव प्रजां मोहाद्यो हन्यात्पृथिवीपतिः ।
तस्यैका जायते तृप्तिर्न द्वितीया कथंचन ॥ २४२ ॥
फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ २४३ ॥

जो बुद्धिमान् अपनी शक्ति के अनुसार रसायन (रोग और बुढापानाशक औषध) सेवन की भांति धीरे-धीरे राज्य का उपभोग करता है, वह अत्यधिक पुष्ट (धनी) हो जाता है ॥ २३८ ॥

जिस प्रकार विधिपूर्वक (शास्त्रोक्त) मन्त्र जप कर अरणि (यज्ञ मे अग्नि निकालने का साधन) मथन करने पर अग्नि उत्पन्न करती है उसी प्रकार उपाय पूर्वक खेती करने से ऊसर भूमि फल देती है ॥ २३९ ॥

प्रजा-पालन करना राजाओ के लिए प्रशसनीय और स्वर्गरूपी खजाने को बढाने वाला कहा गया है । किन्तु प्रजा को पीडा पहुँचाना धर्म के नाश, पाप और अयश के लिए होता है ॥ २४० ॥

राजा रूपी गोपाल को चाहिए कि वह अपनी प्रजारूपी गाय का पालन-पोषण करते हुए धीरे-धीरे उससे धनरूपी दूध ले और उसके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे ॥ २४१ ॥

जो राजा मोहवश प्रजा को बकरी के समान मार डालता है, उसे उससे केवल एक बार ही तृप्ति होती है, दूसरी बार नही । (उसे हत्या ही हाथ लगती है, धन नही) ॥ २४२ ॥

फल चाहने वाले राजा को चाहिए कि जैसे माली अकुरो को सींचता है वैसे ही वह दान-सम्मान आदि रूपी जल से उद्योगपूर्वक प्रजा का पालन करे ॥ २४३ ॥

नृपदीपो धनस्नेह प्रजाभ्य· सहरन्नपि ।
आन्तरस्थैर्गुणै शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ २४४ ॥
यथा गौर्दुह्यते काले पाल्यते च तथा प्रजा ।
सिच्यते चीयते चैव लता पुष्पफलप्रदा ॥ २४५ ॥
यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्म प्रयत्नेनाभिरक्षित ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोक· सुरक्षित· ॥ २४६ ॥
हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्य स्यान्महीपते ॥ २४७ ॥
लोकानुग्रहकर्तार प्रवर्धन्ते नरेश्वराः ।
लोकाना सक्षयाच्चैव क्षय यान्ति न सशय ' ॥ २४८ ॥

अथ तेषा तद्वचनमाकर्ण्य भासुरक आह–'अहो सत्यमभिहित भवद्भि । पर यदि ममोपविष्टस्यात्र नित्यमेव नैकः श्वापद समागमिष्यति, तन्नून सर्वानपि भक्षयिष्यामि ।' अथ ते तथैव प्रतिज्ञाय निर्वृतिभाजस्तत्रैव वने

राजा रूपी दीपक प्रजा से धनरूपी तेल खींचते हुए भी अन्त करण के उत्तम गुणो (बत्ती के उजले तन्तुओ) के कारण किसी की दृष्टि मे नही आता ॥ २४४ ॥

जैसे गौ समय पर (साय-प्रात) दुही और पालन की जाती है, तथा जिस प्रकार फूल और फल देने वाली लता समय पर सीची और चुनी जाती है, उसी प्रकार प्रजा से भी समय पर 'कर' आदि लेना चाहिए और समय पर उसका पालन-पोषण करना चाहिए ॥ २४५ ॥

जैसे प्रयत्नपूवक सुरक्षित छोटा-सा बीज का अकुर समय आने पर फल-देता है, वैसे ही सुरक्षित प्रजा भी गाढे समय पर काम आती है ॥ २४६ ॥

सुवर्ण, धान्य, रत्न, विविध प्रकार की सवारियाँ तथा और भी जो कुछ राजा के पास है वह सब उसे प्रजा से ही प्राप्त होता है ॥ २४७ ॥

प्रजा पर कृपा करने वाले राजाओ की वृद्धि होती है और प्रजा को कष्ट देने वाले राजा निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ २४८ ॥

इसके बाद उन लोगो की बात सुनकर भासुरक ने कहा—'हाँ हाँ ! तुम लोगों ने सत्य कहा । किन्तु यदि मेरे यहाँ बैठे हुए ही प्रतिदिन एक पशु न आवेगा तो पुन मैं सबो को अवश्य भक्षण कर लूँगा' । तदनन्तर वे वैसी ही प्रतिज्ञा कर, निश्चिन्त हो, उसी वन मे नि शक होकर भ्रमण करने लगे । और

निर्भया. पर्यटन्ति । एकश्च प्रतिदिन क्रमेण याति । वृद्धो वा, वैराग्ययुक्तो वा, शोकग्रस्तो वा, पुत्रकलत्रनाशभीतो वा, तेषा मध्यात्तस्य भोजनार्थं मध्याह्नसमय उपतिष्ठते ।

अथ कदाचिज्जातिक्रमाच्छशकस्यावसर समायात । स समस्तमृगै प्रेरितोऽनिच्छन्नपि मन्द मन्द गत्वा तस्य वधोपाय चिन्तयन्वेलातिक्रम कृत्वा व्याकुलितहृदयो यावद्गच्छति तावन्मार्गे गच्छता कूप सदृष्ट । यावत्कूपोपरि याति तावत्कूपमध्य आत्मनः प्रतिबिम्ब ददर्श । दृष्ट्वा च तेन हृदये चिन्तितम्—यद् भव्य उपायोऽस्ति । अह भासुरक प्रकोप्य स्वबुद्ध्यास्मिन्कूपे पातयिष्यामि ।' अथासौ दिनशेषे भासुरकसमीप प्राप्त । सिहोऽपि वेलातिक्रमेण क्षुत्क्षामकण्ठ कोपाविष्ट सृक्कणी परिलेलिहद व्यचिन्तयत्—'अहो, प्रातराहाराय नि सत्त्व वन मया कर्तव्यम् । एव चिन्तयतस्तस्य शशको मन्द मन्द गत्वा प्रणम्य तस्याग्रे स्थित । अथ त प्रज्वलितात्मा भासुरको भर्त्सयन्नाह—'रे शशकाधम एकस्तावत्त्व लघु प्राप्तोऽपरतो वेलातिक्रमेण । तदस्मादपराधात्त्वा निपात्य प्रात सकला-

---

एक जानवर प्रतिदिन क्रम से जाने लगा । चाहे वृद्ध हो, वैरागी हो या दुखी हो, अथवा पुत्र और स्त्री के नाश से भयातुर हो परन्तु उनमे से एक उसके भोजन के लिए मध्याह्न के समय पहुँच जाता था ।

इसके वाद किसी समय जाति के क्रम से शशक (खरहे) का अवसर आया वह समस्त पशुओ द्वारा प्रेरित होकर इच्छा न रहने पर भी धीरे-धीरे जाता हुआ, उसके मारने का उपाय सोचता, समय को बिताकर व्यग्र मन हो जा ही रहा था कि मार्ग मे जाते हुए उसने एक कुएँ को देखा । जब कुएँ के ऊपर गया तब कुएँ मे अपनी परछाँही उसे दिखाई पडी । देखकर उसने मन मे विचार किया 'यह बहुत सुन्दर उपाय है, मैं भासुरक को क्रुद्ध कर, अपनी बुद्धि से इसी कुएँ मे गिराऊँगा । तब यह सायकाल भासुरक के समीप पहुँचा । सिंह भी समय बीत जाने के कारण, भूख के मारे कण्ठ शुष्क हो जाने से, क्रुद्ध हो ओठो को चाटता हुआ विचार कर रहा था—'अहो ! कल प्रात'काल ही भोजन के लिए समस्त वन को मैं जन्तुहीन कर दूँगा ।' इस प्रकार यह सोच ही रहा था कि खरहा धीरे-धीरे जा कर, प्रणाम कर उसके आगे खडा हो गया । इसके बाद क्रोध के कारण लाल हो भासुरक ने घुडकते हुए कहा—'क्यो रे नीच शशक ! एक तो तू इतना छोटा सा आया है और दूसरे उसमे समय

न्यपि मृगकुलान्युच्छेदयिष्यामि। अथ शशकः सविनयं प्रोवाच—'स्वामिन्, नापराधो मम, न च सत्त्वानाम्—तच्छ्रूयतां कारणम्। सिंह आह—सत्वरं निवेदय यावन्मम दंष्ट्रान्तर्गतो न भवान्भविष्यति' इति। शशक आह 'स्वामिन्, समस्तमृगैरद्य जातिक्रमेण मम लघुतरस्य प्रस्तावं विज्ञाय ततोऽहं पञ्चशशकैः समं प्रेषितः। ततश्चाहमागच्छन्नन्तराले महता केनचिदपरेण सिंहेन विवरान्निर्गत्याभिहितः—'रे क्व प्रस्थिता यूयम्। अभीष्टदेवतां स्मरत'। ततो मयाभिहितम्—'वयं स्वामिनो भासुरकसिंहस्य सकाशमाहारार्थं समयधर्मेण गच्छामः'। ततस्तेनाभिहितम्—यद्येवं तर्हि मदीयमेतद्वनम्। मया सह समयधर्मेण समस्तैरपि श्वापदैर्वर्तितव्यम्। चोररूपी स भासुरकः। अथ यदि सोऽत्र राजा, ततो विश्वासस्थाने चतुरः शशकानत्र धृत्वा तमाहूय द्रुततरमागच्छ। येन यः कश्चिदावयोर्मध्यात्पराक्रमेण राजा भविष्यति स सर्वानेतान्भक्षयिष्यति' इति। ततोऽहं तेनादिष्टः स्वामिसकाशमभ्यागतः। एतद्वेला व्यतिक्रमकारणम्। तदत्र स्वामी प्रमाणम्।' तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—भद्र, यद्येवं तत्सत्वरं दर्शय मे तं चौरसिंहं येनाहं मृगकोपं तस्योपरि क्षिप्त्वा स्वस्थो भवामि। उक्तं च—

व्यतीत कर। इस अपराध से तुझे मार कर प्रातःकाल समस्त जानवरों का नाश कर दूँगा।'' तदनन्तर खरहे ने विनयपूर्वक कहा—'स्वामिन्! इसमें न तो मेरा अपराध है और न दूसरे जानवरों का। इसलिए इसका कारण सुनिये।' सिंह ने कहा—'शीघ्र कहो, जब तक तू मेरी दाढ़ों के अन्दर नहीं आ जाता।' खरहे ने कहा—'स्वामिन्! समस्त जानवरों ने आज जाति के क्रम से मुझे अत्यन्त अल्पकाय जान कर, पाँच खरहों के साथ भेजा। हम लोग आ रहे थे कि—'रास्ते में, एक किसी दूसरे बड़े सिंह, ने अपने माँद से निकल कर कहा—'अरे तुम लोग कहाँ जा रहे हो? अपने इष्टदेव का स्मरण करो? तब उत्तर दिया—'हमलोग स्वामी भासुरक नाम सिंह के निकट, भोजन के लिए प्रतिज्ञानुसार जा रहे हैं।' तदनन्तर उसने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो यह वन मेरा है। मेरे साथ प्रतिज्ञानुसार समस्त जन्तुओं को आचरण करना चाहिए। वह भासुरक तो चोर है। यदि वह इस वन का राजा है तो विश्वास के लिए चार खरहों को यहाँ छोड़कर जाओ और उसे बुलाकर शीघ्र आ जाओ। हम दोनों में जो कोई अपने पराक्रम से राजा होगा, वही इन सब पशुओं को खायगा।' सो मैं उसकी आज्ञा पाने पर आपके पास आया हूँ। समय बीतने

भूमिर्मित्र हिरण्य च विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषा न त कुर्यात्कथचन ॥ २४९ ॥
यत्र न स्यात्फल भूरि यत्र च स्यात्पराभव ।
न तत्र मतिमान्युद्ध समुत्पाद्य समाचरेत् ॥ २५० ॥

शशक आह—'स्वामिन्, सत्यमिदम् । स्वभूमिहेतो परिभवाच्च युध्यन्ते क्षत्रिया । पर स दुर्गाश्रय दुर्गान्निष्क्रम्य वय तेन विष्कम्भिता । ततो दुर्गस्थो दु साध्यो भवति रिपु । उक्त च—

न गजाना सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ।
यत्कृत्य साध्यते राज्ञा दुर्गेणैकेन सिद्धयति ॥ २५१ ॥
शतमेकोऽपि सधत्ते प्राकारस्थो धनुर्धर ।
तस्माद् दुर्ग प्रशसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणा ॥ २५२ ॥

का यही कारण है । इस लिए इसमे स्वामी ही प्रमाण हैं । अर्थात् श्रीमान् जैसा उचित समझे वैसा करें । ऐसा सुन कर भासुरक ने कहा—'भद्र ! यदि ऐसा है तो जल्दी उस चोर सिंह को दिखलाओ जिससे जन्तुओ का क्रोध उस पर निकाल कर शान्त हो जाऊँ । कहा भी है—

भूमि, मित्र और सुवर्ण ये तीन विग्रह—लडाई के फल है । यदि इनमे से एक के भी मिलने की सम्भावना न हो तो वहाँ युद्ध कदापि न करे ।।२४९।।

जहाँ विशेष फल की प्राप्ति न हो और पराजय की आशका हो वहाँ बुद्धिमान् को चाहिए कि सग्राम का बीजारोपण न करे' ॥ २५० ॥

खरहे ने कहा—स्वामिन् यह सत्य बात है अपनी गई हुई भूमि के पाने के लिए अपमानित होने पर ही क्षत्रियगण सग्राम करते हैं, किन्तु उसने दुर्ग का आश्रय लिया है दुर्ग मे से बाहर आकर उसने हम लोगो को रोक लिया है । दुर्ग मे रहनेवाला शत्रु दु साध्य होता है ।

कहा भी है—

जो कार्य हजारो हाथियो और लाखो घोडो से भी सिद्ध नही होता, राजाओ का वह कार्य केवल एक दुर्ग से सिद्ध हो जाता है । २५१ ॥

किले मे रहनेवाला एक धनुर्धारी भी सैकडो पर (अपने बाणो का) निशाना लगा सकता है । इसलिए नीतिशास्त्र के ज्ञाता लोग दुर्ग की प्रशसा करते हैं ॥ २५२ ॥

पुरा गुरो समादेशाद्धिरण्यकशिपोर्भयात् ।
शक्रेण विहित दुर्गं प्रभावाद्विश्वकर्मण । २५३ ॥
तेनापि च वरो दत्तो यस्य दुर्गं स भूपति ।
विजयी स्यात्ततो भूमौ दुर्गाणि स्यु सहस्रग ॥ २५४ ॥
दष्ट्राविरहितो नागो मदहीनो यथा गजः ।
सर्वेषा जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृप ' ॥ २५५ ॥

तच्छ्रुत्वा भासुरक आह—'भद्र, दुर्गस्थमपि दर्शय त चौरसिंह येन व्यापादयामि । उक्त च—

जातमात्र न यः शत्रु रोग च प्रशम नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धि प्राप्य स हन्यते ॥ २५६ ॥

तथा च—उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्य पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामय स च ॥ २५७ ॥

अपि च—उपेक्षित क्षीणबलोऽपि शत्रु प्रमाददोषात्पुरुषैर्मदान्धै ।
साध्योऽपि भूत्वा प्रथम ततोऽसावसाध्यता व्याधिरिव प्रयाति ॥२५८॥

प्राचीन समय मे गुरु (बृहस्पति) के आदेश से इन्द्र ने विश्वकर्मा की सहायता से दुर्ग का निर्माण कराया था ॥ २५३ ॥

और उस विश्वकर्मा ने वर भी दे दिया कि जिसके पास दुर्ग रहेगा वह राजा निश्चय ही विजयी होगा । उसी समय से भूतल पर हजारो दुर्ग बनाये गए ॥२५४॥

जिस प्रकार दाढो के बिना साँप और मद से रहित हाथी—ये दोनो सबके वश मे हो जाते है, उसी प्रकार दुर्गहीन राजा सबके वश मे हो जाता है ॥ २५५ ॥

उसे सुन कर भासुरक ने कहा—'भद्र ! दुर्ग मे भी रहने वाले उस चोर सिंह को दिखलाओ, जिससे (मै) मार डालूँ । कहा है—

जो उत्पन्न होते ही शत्रु और रोग को अपने अधीन मे नही करता, वह महाबली होने पर भी उसके वृद्धि होने से उससे मारा जाता है ॥ २५६ ॥

और भी—अपनी भलाई चाहनेवाले मनुष्य को चाहिए कि अपने उठते हुए शत्रु की उपेक्षा न करे । क्योकि महापुरुषो ने कहा है कि बढते हुए शत्रु और रोग दोनो बराबर रूप से दु खदायी होते है ॥ २५७ ॥

और भी—मदान्ध पुरुषो के लापरवाही रूप दोष से, उपेक्षित भी दुर्बल शत्रु पहले साध्य होकर भी बाद मे रोग के समान असाध्य हो जाता है ॥२५८॥

तथा च—आत्मनः शक्तिमुद्वीक्ष्य मानोत्साहं च यो व्रजेत् ।
बहून्हन्ति स एकोऽपि क्षत्रियान्भार्गवो यथा' ॥ २५९ ॥

शशक आह—'अस्त्येतत् । तथापि बलवान्स मया दृष्टः । तन्न युज्यते स्वामिनस्तस्य सामर्थ्यमविदित्वा गन्तुम् । उक्तं च—

अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ २६० ॥

यो बलात्प्रोन्नतं याति निहन्तुं सबलोऽप्यरिम् ।
विमदः स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ २६१ ॥

भासुरक आह—'भोः, किं तवानेन व्यापारेण । दर्शय मे तं दुर्गस्थमपि ।' अथ शशक आह—'यद्येवं तर्ह्यागच्छतु स्वामी ।' एवमुक्त्वाग्रे व्यवस्थितः । ततश्च तेनागच्छता यः कूपो दृष्टोऽभूत्तमेव कूपमासाद्य भासुरकमाह-'स्वामिन्, कस्ते प्रतापं सोढुं समर्थः । त्वां दृष्ट्वा दूरतोऽपि चौरसिंहः प्रविष्टः स्वं दुर्गम् । तदागच्छ येन दर्शयामि' इति । भासुरक

और भी—जो अपनी शक्ति को देखकर मान तथा उत्साह को प्राप्त करता है, वह अकेला होता हुआ भी बहुतों को मारता है, जैसे अकेले परशुराम ने बहुत से क्षत्रियों का संहार किया था ।। २५९ ।।

शशक ने कहा—'यद्यपि यह ठीक है, तथापि मुझे वह बलवान् दिखाई पड़ता है, अतः उसके सामर्थ्य को जाने बिना स्वामी का वहाँ जाना उचित नहीं है । कहा भी है—

अपनी शक्ति और शत्रु की शक्ति का पता लगाए बिना जो बहुत शीघ्रता में आकर सामने जाता है वह अग्नि के ऊपर गए हुए पतंग के समान नष्ट हो जाता है ॥२६०॥

जो सबल प्राणी भी (शत्रु का बल समझे बिना) अपने से प्रबल शत्रु को मारने के लिए जाता है, वह दाँत टूटे हुए हाथी के समान मदहीन (विफल) होकर लौट आता है' ।।२६१।

भासुरक ने कहा—अरे ! इस बात के कहने से क्या मतलब ? मुझे किले में स्थित भी उसको दिखाओ ।' तब खरगोश ने कहा—'स्वामी ! यदि ऐसी बात है तो आइए ।' ऐसा कह कर आगे चला । तब उसने आते समय जो कूप देखा था उसी कूप पर पहुँच कर भासुरक से कहा—'स्वामिन् ! आपका तेज सह सकने में कौन समर्थ है ? आपको दूर से ही देख कर वह चोर सिंह अपने

आह—'दर्शय मे दुर्गम् ।' तदनु दर्शितस्तेन कूप । तत सोऽपि मूर्ख सिंह कूपमध्य आत्मप्रतिबिम्ब जलमध्यगत दृष्ट्वा सिंहनाद मुमोच। तत प्रतिशब्देन कूपमध्याद् द्विगुणतरो नाद समुत्थित । अथ तेन त शत्रु मत्वात्मान तस्योपरि प्रक्षिप्य प्राणा परित्यक्ता । शशकोऽपि हृष्टमना सर्वमृगानानन्द्य तै सह प्रशस्यमानो यथासुख तत्र वने निवसति स्म। अतोऽह ब्रवीमि—यस्य बुद्धिर्बल तस्य इति। तद्यदि भवान्कथयति, तत्तत्रैव गत्वा तयो स्वबुद्धिप्रभावेण मैत्रीभेद करोमि।' करटक आह—'भद्र, यद्येव तर्हि गच्छ। शिवास्ते पन्थान सन्तु। यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्।'

अथ दमनक सजीवकवियुक्त पिङ्गलकमवलोक्य तत्रान्तरे प्रणम्याग्रे समुपविष्ट । पिंगलकोऽपि तमाह—'भद्र, किं चिराद्दृष्ट ।' दमनक आह—'न कश्चिद्देवपादानामस्माभि प्रयोजनम्, तेनाह नागच्छामि। तथापि राजप्रयोजनविनाशमवलोक्य सदह्यमानहृदयो व्याकुलतया स्वयमेवाभ्यागतो वक्तुम्। उक्त च—

किले मे घुस गया, आइए मैं दिखाऊँ।' भासुरक ने कहा—'दिखाओ मुझे दुर्ग।' इसके अनन्तर उस खरगोश ने कुआ दिखला दिया। तब उस मूर्ख सिंह ने भी कुएँ के जल के मध्य अपनी परछाई देखकर बडो जोर से दहाड मारी। तब उसकी प्रतिध्वनि से कुएँ मे से द्विगुणित शब्द उत्पन्न हुआ। तब उसने उसे शत्रु समझ कर उसके ऊपर अपने को फेंककर अपने प्राण त्याग दिये। खरगोश भी प्रसन्न होकर, समस्त जानवरो को आनन्दित कर उनके द्वारा प्रशसित हो, सुखपूर्वक उस वन मे रहने लगा। इसी से मैं कहता हूँ—जिसके पास बुद्धि है उसके पास बल है, इत्यादि। अत यदि आप कहें तो वहा जाकर मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से उनमे फूट डाल दूँ। करटक ने कहा—'भद्र! ऐसी बात है तो जाओ, तुम्हारे मार्ग मङ्गलकारी हो। तुम अपना अभिलषित कार्य पूर्ण करो।'

तदनन्तर सञ्जीवक से अलग हुए पिङ्गलक को देखकर दमनक उसी समय प्रणाम कर, उसके आगे बैठ गया। पिङ्गलक ने भी उससे कहा—'भद्र! आप बहुत दिन के बाद दिखाई क्यो पडे?' दमनक ने कहा—'श्रीमान् के चरणो को मुझसे कुछ प्रयोजन नही था, इसलिए मैं नही आता था, किन्तु राज-कार्य का नाश देखकर व्यथित होकर व्यग्रता के कारण स्वय ही कहने के लिए आया हूँ। कहा भी है—

प्रिय वा यदि वा द्वेष्य शुभ वा यदि वाशुभम् ।
अपृष्टोऽपि हित वक्ष्येद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्' । २६२ ॥

अथ तस्य साभिप्राय वचनमाकर्ण्य पिंगलक आह-'किं वक्तुमना भवान् । तत्कथ्यता यत्कथनीयमस्ति ।' स प्राह—'देव सजीवको युष्मत्पादानामुपरि द्रोहबुद्धिरिति । विश्वासगतस्य मम विजने इद-माह—'भो दमनक, दृष्टा मयास्य पिंगलकस्य सारासारता । तदह-मेन हत्वा सकलमृगाधिपत्य त्वत्साचिव्यपदवीसमन्वित करिष्यामि । पिंगलकोऽपि तद्वज्रसारप्रहारसदृश दारुण वचः समाकर्ण्य मोहमुपगतो न किंचिदप्युक्तवान् । दमनकाऽपि तस्य तमाकारमालोक्य चिन्तितवान्—'अय तावत्सजीवकनिबद्धराग । तन्नूनमनेन मन्त्रिणा राजा विनाश-मवाप्स्यति' इति उक्त च —

एक भूमिपति करोति सचिव राज्ये प्रमाण यदा
त मोहाच्छ्रयते मद स च मदाद्दास्येन निर्विद्यते ।
निर्विण्णस्य पद करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया तत स नृपते प्राणेष्वभिद्रुह्यते ॥ २६३ ॥

जो जिसकी पराजय नही चाहता हो उसे चाहिए कि प्रिय अथवा द्वेष सयुक्त अच्छी या बुरी हितकारी बात बिना पूछे ही उससे कह दें ॥ २६२ ॥

इसके बाद गूढ अभिप्रायपूर्ण वचनो को सुनकर पिङ्गलक ने कहा – आप क्या कहना चाहते है ? जो कहने योग्य बात हो उसे स्पष्ट कह डालिए ।' उसने कहा—'महाराज ! सञ्जीवक आपके चरणो मे द्रोहबुद्धि रखता है । उसने मुझ विश्वासपात्र के प्रति एकान्त मे ऐसी बात कही है कि -'हे दमनक ! मैंने इस पिङ्गलक राजा का बलाबल देख लिया, अत मै इसे मार कर समस्त प्राणियो का आधिपत्य ग्रहण करूँगा और और तुम्हे मन्त्री के पद से अलङ्कृत करूँगा ।' पिङ्गलक उसके वज्र के समान कठोर प्रहारयुक्त दारुण वचन सुनकर, मोह (चेतना रहित) हो जाने के कारण कुछ कह न सका । दमनक भी उसकी मुखाकृति देखकर विचार करने लगा–'यह तो सञ्जीवक के प्रेम मे बद्ध है, अत इस मन्त्री से राजा अवश्य ही विनाश को प्राप्त होगा ' कहा भी है—

राजा जब एक ही मन्त्री को राजकार्यो मे प्रामाणिक अधिकारी मानता है तब उस मन्त्री को मोह के कारण अहकार होता है और वह अहकार से दासता (राजसेवा) के कारण दुखी होता है । दुखी होने पर उसके हृदय मे अपनी

तत्किमत्र युक्तम्' इति। पिङ्गलकोऽपि चेतना समासाद्य कथमपि तमाह—'सजीवकस्तावत्प्राणसमो भृत्य । स कथ ममोपरि द्रोहबुद्धि करोति।' दमनक आह—'देव, भृत्योऽभृत्य इत्यनैकान्तिकमेतत् । उक्त च—

न सोऽस्ति पुरुषो राज्ञा यो न कामयते श्रियम् ।
अशक्ता एव सर्वत्र नरेन्द्र पर्युपासते' ॥ २६४ ॥

पिङ्गलक आह—'भद्र, तथापि मम तस्योपरि चित्तवृत्तिर्न विकृति याति। अथवा साध्विदमुच्यते—

अनेकदोषदुष्टोऽपि काय कस्य न वल्लभ ।
कुर्वन्नपि व्यलीकानि य प्रिय प्रिय एव स.' ॥ २६५ ॥

दमनक आह —'अत एवाय दोप । उक्त च—

यस्मिन्नेवाधिक चक्षुरारोपयति पार्थिव ।
अकुलीन कुलीनो वा स श्रिया भाजन नर ॥ २६६ ॥

स्वाधीनता के प्रति अभिलाषा जागती है, और उस स्वाधोनेच्छा के कारण वह राजा के प्राणो से द्रोह करता है (अर्थात् राजा को भी मारने की अभिलापा करता है ॥ २६३ ॥

तो इस अवसर पर क्या करना चाहिए।' पिंगलक ने किसी प्रकार चैतन्य (होश) मे आकर उससे कहा 'दमनक! सञ्जीवक तो मेरा प्राणो के समान प्रिय सेवक है। वह मुझ पर द्रोहबुद्धि कैसे करेगा ?' दमनक ने कहा—'महाराज! सेवक सर्वदा सेवक ही रहे यह निश्चित नही है। कहा भी है

राजा का कोई ऐसा सेवक नही मिलेगा जो राज्यश्री की अभिलापा न करता हो किन्तु एक मात्र असमर्थ मनुष्य ही सब प्रकार से राजा की सेवा करते हैं' ॥ २६ ॥

पिगलक ने कहा—भद्र! तथापि उसके ऊपर मेरी चित्तवृत्ति विकृत नही होती। अथवा यह उचित ही कहा गया है —

अनेक दोषो से दूषित होने पर भी अपना शरीर किसे प्रिय नही है। किन्तु अनेक विरुद्ध आचरण करने पर भी जो प्रिय बना रहता है, वही वास्तव मे प्रिय है' ॥ २६५ ॥

दमनक ने कहा—'इसलिए तो यह दोष है। कहा भी है—

राजा जिस व्यक्ति पर अधिकार कृपादृष्टि रखता है, वह चाहे अकुलीन अथवा कुलीन हो, किन्तु लक्ष्मी का पात्र अवश्य हो जाता है ॥ २६६ ॥

अपर केन गणविशेषेण स्वामी सञ्जीवक निर्गुणकमपि निकटे धारयति। अथ देव, यद्येव चिन्तयसि महाकायोऽयम्। अनेन रिपून् व्यापादयिष्यामि। तदस्मान्न सिध्यति, यतोऽय शष्पभोजो। देवपादाना पुन शत्रवो मासाशिन। तद्रिपुसाधनमस्य साहाय्येन न भवति। तस्मादेन दूषयित्वा हन्यताम्' इति। पिगलक आह—

उक्तो भवति य पूर्व गुणवानिति ससदि।
तस्य दोषो न वक्तव्य प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा॥ २६७॥

अन्यच्च। मयास्य तव वचनेनाभयप्रदान दत्तम्। तत्कथ स्वयमेव व्यापादयामि। सर्वथा सञ्जीवकोऽय सुहृदस्माकम्। न त प्रति कश्चिन्मन्युरिति। उक्त च—

इत स दैत्य प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि सवर्ध्य स्वय छेत्तुमसाप्रतम्॥ २६८॥

आदौ न वा प्रणयिना प्रणयो विधेयो
दत्तोऽथवा प्रतिदिन परिपोषणीय।

फिर स्वामी किस विशेष गुण के कारण गुणहीन सञ्जीवक को अपने निकट रखे हुए है? महाराज! यदि आप सोचते हो कि यह महाकाय और बलवान् है, इसके द्वारा मैं शत्रुओं को मार डालूँगा, तो यह भी इससे सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यह घास खाने वाला है और श्री चरणो (आप) के शत्रु मासाहारी हैं, अत इसकी सहायता से शत्रु से बदला नहीं लिया जा सकता। इसलिए इस पर दोष लगाकर आप मार डालिए।' पिंगलक ने कहा—

यदि कोई किसी के लिए सभा मे पहले यह कह दे कि 'यह गुणवान् है' तो फिर अपनी प्रतिज्ञा भग हो जाने की आशङ्का से बाद मे उसके दोष को न कहे॥ २६७॥

और भी — मैंने तुम्हारे कहने से ही इसको अभयदान दिया है। फिर स्वय कैसे इसे मार सकता हू। यह सञ्जीवक सब तरह से हमारा मित्र है। अत उसके प्रति हमे थोडा भी क्रोध नहीं है। कहा भी है—

वह तारकासुर मुझसे विभूति प्राप्त कर चुका है, अत मेरे हाथो वध के योग्य नहीं है, क्योंकि अपने हाथो विषवृक्ष को भी बढाकर फिर उसे स्वय काटना उचित नहीं है॥ २६८॥

उत्क्षिप्य यत्क्षिपति तत्प्रकरोति लज्जा
भूमौ स्थितस्य पतनाद्भयमेव नास्ति ॥ २६९ ॥
उपकारिषु य साधु साधुत्वे तस्य को गुण ।
अपकारिषु य साधु स साधु सद्भिरुच्यते ॥ २७० ॥

तद्द्रोहबुद्धेरपि मयास्य न विरुद्धमाचरणीयम् ।' दमनक आह—स्वामिन्, नैष राजधर्मो यद्द्रोहबुद्धिरपि क्षम्यते । उक्त च—

तुल्यार्थं तुल्यसामर्थ्यं मर्मज्ञ व्यवसायिनम् ।
अर्धराज्यहर भृत्य यो न हन्यात्स हन्यते ॥ २७१ ॥

अपर त्वयास्य सखित्वात्सर्वोऽपि राजधर्मं परित्यक्त राजधर्माभावात्सर्वोऽपि परिजनो विरक्ति गत । य सञ्जीवक शष्पभोजी, भवान्मासाद , तव प्रकृतयश्च । यत्तवावध्यव्यवसायवाह्य कुतस्तासा

पहले तो प्रेमियो को प्रेम करना ही नही चाहिए। यदि प्रेम कर ले तो उसका बराबर पालन करता ही रहे। किसी की बाँह पकडकर (अर्थात् स्नेह करके) जो छोड देता है तो उससे लज्जा होती है, क्योकि जिस प्रकार पृथ्वी पर बैठने वाले को गिरने की आशङ्का ही नही रहती, उसी प्रकार प्रेम-बन्धन मे बँधे न रहने से उसके पतन की आशङ्का ही नही होती ॥ २६९ ॥

जो उपकार करनेवालो के प्रति उपकार करता है तो उसके उपकारीपन मे कौन सा गुण हुआ ? जो उपकार करनेवालो के प्रति सरल व्यवहार करता है वही यथार्थत सज्जनो द्वारा साधु कहा गया है ॥ २७० ॥

अत इसके द्रोह बुद्धि रखने पर भी मै इसके विरुद्ध आचरण नही कर सकता ।' दमनक ने कहा—'स्वामिन् ! यह राजधर्म नही है कि द्रोह रखनेवाले को भी क्षमा कर दिया जाय । कहा है—

तुल्य धन (राज्य की अभिलाषा) वाले, तुल्य सामर्थ्य वाले रहस्य की बात जाननेवाले, उद्योगी और आधा राज्य हरण कर लेनेवाले सेवक को जो नही मारता वह स्वय उसके हाथों मारा जाता है ॥ २७१ ॥

इसके अतिरिक्त इसकी मैत्री के कारण आपने राज्यधर्म छोड दिया है। राज्यधर्म के अभाव से सब सेवक भी आपसे विरक्त हो गये हैं। वह सजीवक घास भक्षण करनेवाला है और आप मास खानेवाले है, और आपके अनुचर भी (मासाहारी है) । जो आपने जीवो को मारना छोड दिया है तो उनको मास

मासाशनम् । यद्रहितास्तास्त्वा त्यक्त्वा यास्यन्ति । ततोऽपि त्व विनष्ट एव । अस्य सगत्या पुनस्ते न कदाचिदाखेटके मतिर्भविष्यति ।

उक्त च—यादृशै सेव्यते भृत्यैर्यादृशाश्चोपसेवते ।
कदाचिन्नात्र सन्देहस्तादृग्भवति पूरुष ॥ २७२ ॥

तथा च—सतप्तायसि सस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थित राजते ।
स्वातौ सागरशुक्तिकुक्षिपतित तज्जायते मौक्तिक
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुण सवासतो जायते ॥ २७३ ॥

तथा च—असता सङ्गदोषेण साधवा यान्ति विक्रियाम् ।
दुर्योधनप्रसङ्गेन भीष्मो गोहरणे गत ॥ २७४ ॥

अत एव सन्तो नीचसङ्ग वर्जयन्ति । उक्त च—
न ह्यविज्ञातशीलस्य प्रदातव्य प्रतिश्रय ।
मत्कुणस्य च दोषेण हता मन्दविसर्पिणी' ॥ २७५ ॥

भोजन कहाँ से प्राप्त हो सकेगा ? जिसके न मिलने के कारण वे आपको छोड-कर चले जायेंगे । इससे भी आपका नाश हो जायगा । इसकी सगति से फिर कभी भी आपकी बुद्धि शिकार मे प्रवृत्त नही होगी ।

कहा भी है—जो मनुष्य जिस प्रकार के सेवको द्वारा सेवन किया जाता है अथवा जिस प्रकार के सेवको के सग मे रहता है वह मनुष्य वैसा ही हो जाता है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है ॥ २७२ ॥

और भी—अत्यधिक तपे हुए लोहे पर पडे हुए जल का नाम तक नही मालूम पडता और वही जल कमलिनी के पत्ते पर पडा हुआ मोती के समान शोभित होता है, स्वाती नक्षत्र मे वही जल समुद्र की सीपी के अन्दर पडकर मुक्ता (मोती) बन जाता है। अतएव यह ठीक है कि प्राय सगति से पुरुष मे अधम, मध्यम और उत्तम गुण आ जाते हैं ॥ २७३ ॥

और भी—असत् पुरुषो की सगति के दोष से सज्जन लोग भी बिगड जाते है, जिस प्रकार दुर्योधन के सग मे रहने से भीष्मपितामह भी (राजा विराट् की) गौओ को चुराने के लिए गये थे ॥ २७४ ॥

इसीलिये सज्जनगण (अच्छे लोग) नीचो की सगति नही करते । कहा भी है—

जिसका स्वभाव ज्ञात नही हो तो उसे कदापि आश्रय नही देना चाहिये क्योकि एक खटमल के दोष से मन्दविसर्पिणी जूँ मारी गयी' ॥ २७५ ॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा ९

अस्ति कस्यचिन्महीपते कस्मिंश्चित्स्थाने मनोरमं शयनस्थानम्। तत्र शुक्लतरपटयुगलमध्यसंस्थिता मन्दविसर्पिणी नाम श्वेता यूका प्रतिवसति स्म। सा च तस्य महीपते रक्तमास्वादयन्ती सुखेन कालं नयमाना तिष्ठति। अन्येद्युश्च तत्र शयने क्वचिद् भ्राम्यन्नग्निमुखो नाम मत्कुणः समायातः। अथ तं दृष्ट्वा सा विषण्णवदना प्रोवाच—'भो अग्निमुख, कुतस्त्वमत्रानुचितस्थाने समायातः। तद्यावन्न कश्चिद्वेत्ति, तावच्छीघ्रं गम्यताम्' इति। स आह—'भगवति, गृहागतस्यासाधोरपि नैतद्युज्यते वक्तुम्। उक्तं च—

एह्यागच्छ समाश्वासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यसे
का वार्ता न्वतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात्।
एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्तैर्लघु स्वर्गदः ॥२७६॥

पिंगलक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी राजा के किसी स्थान पर मनोहर शयनागार था। वहाँ अत्यन्त सफेद दुपट्टे के बीच मन्दविसर्पिणी नाम की सफेद जूँ रहती थी। वह उस राजा के रक्त का पान करती हुई आनन्दपूर्वक समय बिताती थी। किसी दूसरे दिन उसी शयनागार मे कही से घूमता फिरता 'अग्निमुख' नाम का खटमल आया। उसे देख उदास मुँह हो उस दुःखित (जूँ) ने कहा—'अरे अग्निमुख! तुम कहाँ से अपने रहने के अयोग्य स्थान मे आ गये ? इसलिए जब तक किसी को पता न चले तब तक शीघ्रता से चले जाओ।' उसने कहा कि 'हे देवी! अपने घर पर आये हुए दुर्जन पुरुषों के प्रति भी इस प्रकार कहना उचित नही है, क्योकि कहा है—

आइये आइये! यह आसन है, विश्राम कीजिए! आप बहुत दिनो मे दिखलाई दिये! क्या समाचार है! आप शरीर से अत्यधिक दुर्बल हो गये हैं! कुशलपूर्वक तो हैं न ? आपके दर्शन से हम प्रसन्न हुए।' इस प्रकार की बात सज्जन पुरुष नीच पुरुषो के भी घर आने के समय बराबर कहा करते हैं। क्योकि यह गृहस्थो का धर्म है, जो अत्यधिक स्वल्प है और स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला है—ऐसा धर्मशास्त्र के बनानेवालो ने कहा है॥ २७६॥

अपर मयानेकमानुषाणामनेकविधानि रुधिराण्यास्वादितान्याहारदोषात्कटुतिक्तकषायाम्लरसास्वादानि, न च मया कदाचिन्मधुररक्त समास्वादितम् । तद्यदि त्व प्रसाद करोषि, तदस्य नृपतेर्विविधव्यञ्जनान्नपानचोष्यलेह्यस्वाद्वाहारवशादस्य शरीरे यन्मिष्ट रक्त सजातम्, तदास्वादनेन सौख्य सपादयामि जिह्वाया इति । उक्त च—

रङ्कस्य नृपतेर्वापि जिह्वासौख्य मम स्मृतम् ।
तन्मात्र च स्मृत सार यदर्थं यतते जन ॥ २७७ ॥

यद्येव न भवेल्लोके कर्म जिह्वाप्रतुष्टिदम् ।
तन्नभृत्यो भवेत्कश्चित्कस्यचिद्वशगोऽथवा ॥ २७८ ॥

यदसत्य वदेन्मर्त्यो यद्वासेव्य च सेवते ।
यद्गच्छति विदेश च तत्सर्वमुदरार्थत ॥ २७९ ॥

इसके अतिरिक्त मैंने अनेक प्रकार मनुष्यो के विविध प्रकार के रुधिरो का आस्वादन किया है । उनमे आहार के दोष से कटु (कडुवा), तिक्त (तीता), कषाय (कसैला) और अम्ल (खट्टा) रसो का आस्वादन किया है, परन्तु मैंने कभी भी मधुर रक्त का आस्वादन नही किया है । इसलिए यदि तुम कृपा करो इस राजा के विविध प्रकार के व्यञ्जन (भोजनसामग्री) अन्न-पान, चोष्य (चूस कर खानेवाली चीज), लेह्य (चाटकर खानेवाली चीज) स्वादिष्ट आहार के करने के कारण जो इसके शरीर मे मीठा रक्त उत्पन्न हो गया है, उसके आस्वादन से अपनी जिह्वा का सौख्य-सम्पादन (तृप्ति) करूँ । क्योकि कहा है—

गरीब और राजा दोनो के लिए जिह्वा का सौख्य बराबर कहा गया है । यहाँ जिह्वा के सुख के लिए मनुष्य जितना प्रयत्न करता है, बस इस ससार मे उतना ही सार है ॥२७७॥

यदि इस ससार मे इस प्रकार जिह्वा को सन्तुष्ट करने वाला कोई कर्म न हो तो कोई न किसी का नौकर होता और न वशीभूत ही होता ॥२७८॥

मनुष्य जो असत्य बोलता है अथवा असेवनीय (अधम) पुरुष का सेवन करता है और जो विदेश जाता है—ये सब कर्म केवल पेट के लिए ही किये जाते हैं ॥२७९॥

तन्मया गृहागतेन बुभुक्षया पीड्यमानेन त्वत्सकाशाद् भोजनमर्थनीयम्, तन्न त्वयैकाकिन्यास्य भूपते रक्तभोजन कर्तुं युज्यते।' तच्छ्रुत्वा मन्दविसर्पिण्याह—'भो मत्कुण, अहमस्य नृपतेर्निद्रावश गतस्य रक्तमास्वादयामि। पुनस्त्वमग्निमुखश्चपलश्च। तद्यदि मया सह रक्तपान करोषि तत्तिष्ठ। अभीष्टतर रक्तमास्वादय।' सोऽब्रवीत्—'भगवति, एव करिष्यामि। यावत्त्व नास्वादयसि प्रथम नृपरक्तम्, तावन्मम देवगुरुकृत: शपथ: स्यात्, यदि तदास्वादयामि।' एव तयो परस्पर वदतोः स राजा तच्छयनमासाद्य प्रसुप्तः। अथासौ मत्कुणो जिह्वालौल्यप्रकृष्टौत्सुक्यात्जाग्रतमपि त महीपतिमदशत्। अथवा साध्विदमुच्यते—

स्वभावो नोपदेशेन शक्यते कर्तुमन्यथा।
सुतप्तमपि पानीय पुनर्गच्छति शीतताम्॥ २८०॥
यदि स्याच्छीतलो वह्नि शीतांशुर्दहनात्मकः।
न स्वभावेऽत्र मर्त्यानां शक्यते कर्तुमन्यथा॥ २८१॥

तो घर मे आये और भूख से व्याकुल प्राणी को (मेरी) तुमसे भोजन की अभिलाषा है। इसलिए इस राजा का तुम्हे अकेले रक्तपान करना उचित नही है। इसे सुनकर मन्दविसर्पिणी ने कहा—'अरे खटमल! मैं इस राजा के निद्रा के वशीभूत हो जाने पर रक्त आस्वादन (पान) करती हूँ। फिर तू तो अग्निमुख और चञ्चल है। यदि मेरे साथ रक्तपान करना चाहता है, तो ठहर जा (मेरे पीने के बाद) तू इच्छा भर रक्त का आस्वादन करना।' उसने कहा—'भगवति! ऐसा ही करूँगा। जब तक तू राजा का रक्तपान न कर लेगी तब तक मुझे देव-गुरु की शपथ है यदि मैं रक्तपान करूँगा। इस प्रकार उन दोनो के परस्पर मन्त्रणा करते हुए राजा उस शय्या पर आकर लेट गया। इसके बाद उस खटमल ने जिह्वा की चञ्चलता और अत्यधिक उत्कण्ठा के कारण उस जगते हुए राजा को काट लिया। अथवा सत्य ही कहा है—

उपदेश के किसी के स्वभाव का परिवर्तन नही किया जा सकता, क्योकि अत्यधिक गरम किया हुआ भी पानी फिर ठडा हो ही जाता है॥२८०॥

चाहे अग्नि शीतल हो जाय और चन्द्रमा आग उगलने लगे (ये दोनो बातें सम्भव हो सकती हैं) किन्तु मनुष्यो का स्वभाव परिवर्तन कर देना सम्भव नही है॥ २८१॥

अथासौ महीपतिः सूच्यग्रविद्ध इव तच्छयन त्यक्त्वा तत्क्षणादेवोत्थित —अहो, ज्ञायतामत्र प्रच्छादनपटे मत्कुणो यूका वा नून तिष्ठति, येनाह दष्ट ' इति। अथ ये कञ्चुकिनस्तत्र स्थितास्ते सत्वर प्रच्छादनपट गृहीत्वा सूक्ष्मदृष्ट्या वीक्षाचक्रु । अत्रान्तरे स मत्कुणश्चापल्यात्खट्वान्त प्रविष्टः। सा मन्दविर्सापिण्यपि वस्त्रसध्यन्तर्गता तैर्दृष्टा, व्यापादिता च। अतोऽह ब्रवीमि—'न ह्यविज्ञातशीलस्य' इति ॥ एव ज्ञात्वा त्वयैष वध्य । नो चेत्त्वा व्यापादयिष्यति। उक्त च—

'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः।
स एव मृत्युमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुम'॥ २८२॥

पिङ्गलक आह—'कथमेतत्'। सोऽब्रवीत्—

कथा १०

कस्मिंश्चिद्वनप्रदेशे चण्डरवो नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्क्षुधाविष्टो जिह्वालौल्यान्नगरान्तरे प्रविष्टः। अथ त नगर-

---

तब वह राजा सूई की नोक से चुभा हुआ सा अपनी शय्या को छोड कर उसी समय उठ कर बैठ गया और बोला—'अरे ? देखो तो इस चादर मे खटमल या जूँ अवश्य है, जिसने मुझे काट लिया है'। इसके अनन्तर जो कञ्चुकिगण वहाँ उपस्थित थे, वे लोग शीघ्रता से चादर को लेकर सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगे। तब वह खटमल चञ्चलता के कारण चारपाई के अन्दर घुस गया। वह मन्दविर्सापिणी कपडे के जोड के बीच देखी गई और उन लोगो ने उसे मार डाला। इसी से मैं कहता हूँ—'जिसका स्वभाव न ज्ञात हो' आदि। ऐसा समझ कर तुम्हें मार डालना ही उचित है, नही तो यह तुम्हे हीं मार डालेगा। कहा भी है—

जिसने अपने अन्तरग पुरुषो को छोड दिया है और बाहरी पुरुषो को उन्नत पद देकर आत्मीय बना लिया है, वह मृत्यु प्राप्त करता है, जैसे राजाककुद्द्रुम मारा गया॥ २८२॥

पिंगलक ने कहा—'यह कैसे!' उसने कहा—

किसी वनप्रदेश में 'चण्डरव' नाम का सियार रहता था। वह एक समय भूख से व्याकुल हो जिह्वा के लालच से नगर के अन्दर घुस गया। तब

वासिन सारमेया अवलोक्य सर्वतः शब्दायमाना परिधाव्य तीक्ष्ण-दष्ट्राग्रैर्भक्षितुमारब्धाः। सोऽपि तैर्भक्ष्यमाण प्राणभयात्प्रत्यासन्नरजकगृह प्रविष्ट । तत्र च नीलीरसपरिपूर्णमहाभाण्ड सज्जीकृतमासीत्। तत्र सार-मेयैराक्रान्तो भाण्डमध्ये पतित । अथ यावन्निष्क्रान्तस्तावन्नीलीवर्ण सजात । तत्रापरे सारमेयास्त शृगालमजानन्तो यथाभीष्टदिश जग्मुः। चण्डरवोऽपि दूरतर प्रदेशमासाद्य काननाभिमुख प्रतस्थे। न च नील-वर्णेन कदाचिन्निजरङ्गस्त्यज्यते। उक्तं च—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणा कर्कटस्य च।
एको ग्रहस्तु मीनाना नीलीमद्यपयोर्यथा ॥ २८३ ॥

अथ त हरगलगरलतमालसमप्रभमपूर्व सत्त्वमवलोक्य सर्वे सिंह-व्याघ्रद्वीपिवृकप्रभृतयोऽरण्यनिवासिनो भयव्याकुलचित्ता समन्तात्पलायन-क्रिया कुर्वन्ति। कथयन्ति च—'न ज्ञायतेऽस्य कीदृग्विचेष्टित पौरुष च। तद्दूरतर गच्छाम उक्त च—

नगर के रहनेवाले कुत्ते उसे देखकर सब तरफ से भोकते हुए दौडे और उन्होने अपने चोखे दाढों से उसे काटना प्रारम्भ किया। वह भी उनसे काटे जाने पर प्राण के भय से पासवाले एक धोबी के घर मे प्रवेश कर गया। वहाँ नीले रङ्ग से भरी हुई नाद रक्खी थी। वह कुत्तों द्वारा अभिभूत होने के कारण उसी पात्र मे गिर पडा। जब उसमे से निकला तो नीले रङ्ग का हो गया, तब वे कुत्ते उसे सियार न जानकर अपने अपने स्थानो पर चले गये। चण्डरव भी बहुत दूर जाकर जङ्गल की ओर चला। किन्तु नीलवर्ण कभी अपना रङ्ग नहीं छोडता। कहा भी है —

वज्रलेप, मूर्ख, स्त्री, कर्कट (केंकडे) और मछली इनकी एव नील वर्ण और मद्यपान करनेवालो की एक ही अवस्था होती है ॥ २८३ ॥

तब शकर जी के गले के गरल (विष) और तमाल के समान (गाढे नील रङ्गवाले) अपूर्व प्रभावाले जीव को देखकर सब सिंह, बाघ, चीता, भेडिया आदि वनवासी भय से व्याकुल चित्त हो चारो ओर भागने लगे और कहने लगे— हमलोग नहीं जानते कि इसकी कैसी चेष्टा (आचरण) और बल है, इसलिए दूर चलें। कहा भी है—

न यस्य चेष्टित विद्यान्न कुल न पराक्रमम् ।
न तस्य विश्वसेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मन ' ॥ २८४ ॥

चण्डरवोऽपि तान्भयव्याकुलितान्विज्ञायेदमाह—'भो भो श्वापदा किं यूय मा दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता व्रजथ । तत्र भेतव्यम् । अह ब्रह्मणाद्य स्वयमे सृष्ट्वाभिहित —'यच्छ्वापदाना मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति । तत्त्व मया सर्वश्वापदप्रभुत्वेऽभिषिक्तः ककुद्द्रुमाभिध । ततो गत्वा क्षितितले तान्स र्वान्परिपालय' इति । ततोऽहमत्रागत । तन्मम छत्रच्छायाया सर्वै श्वापदैर्वर्तितव्यम् । अह ककुद्द्रुमो नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सजात तच्छ्रुत्वा सिंहव्याघ्रपुर सरा श्वापदा 'स्वामिन्' प्रभो, समादिश' इति वदन्तस्त परिवव्रु । अथ तेन सिंहस्यामात्यपदवी प्रदत्ता । व्याघ्रस्य शय्यापालत्वम् । द्वीपिनस्ताम्बूलाधिकार' । वृकस्य द्वारपालकत्वम् । य चात्मीया शृगालास्तै सहालापमात्रमपि न करोति । शृगाला सर्वेऽप्यर्ध चन्द्र दत्त्वा नि सारिता । एव तस्य राज्यक्रियाया वर्तमानस्य ते सिंहा दयो मृगान्व्यापाद्य तत्पुरत प्रक्षिपन्ति । सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषा तान्

जिसके आचरण, वश और पराक्रम का पता न हो, उसका अपने मङ्गल की अभिलाषा रहनेवाला विद्वान् विश्वास न करे ॥ २८४ ॥

चण्डरव ने उन सबको भय से व्याकुल हुए जान कर यह कहा—अरे जानवरो ! तुम सब मुझे देखकर ही क्यो डर से भागे जा रहे हो । मत डरो, ब्रह्मा ने आज स्वय ही मेरा निर्माण कर मुझे कहा है कि—जानवरो मे कोई राजा नही है । इसलिए मैं सब जानवरो के आधिपत्य पद पर तुम्हारा अभिषेक करता हूँ (तुम्हे वन का राजा बनाता हूँ) तुम्हारा ककुद्द्रुम नाम है, इसलिए पृथ्वी तल मे जाकर उन सबका परिपालन करो । इस कारण मैं आया हूँ । अत मेरी छत्रच्छाया मे रह कर समस्त जानवरो को जीवन व्यतीत करना चाहिए । मैं ककुद्द्रुम नाम वाला समस्त त्रैलोक्य का स्वामी हो गया हूँ ।' उसे सुनकर सिंह, बाघ आदि जानवर 'हे स्वामिन् ! हे प्रभो ! आदेश दीजिए' इस प्रकार कहते हुए उसे चारो ओर से घेर कर खडे हो गये । तब उसने सिंह को मन्त्री पद दिया, बाघ को शय्यापालक का अधिकार दिया, चीते को पान लगाने वाला बनाया, भेडिये को द्वारपाल बनाया और जो अपने वर्ग के सियार थे उनके साथ तो बात भी नही करता था । समस्त सियारो को अर्धचन्द्र (गरदनियाँ) देकर बाहर निकलवा दिया । इस प्रकार उसके राजकार्य करने पर वे सिंह आदि

प्रविभज्य प्रयच्छति। एवं गच्छति काले कदाचित्तेन समागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य शृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि। तं शब्दं श्रुत्वा पुलकिततनुरानन्दाश्रुपरिपूर्णनयन उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्धवान्। अथ ते सिंहादयस्तं तारस्वरमाकर्ण्य शृगालोऽयमिति मत्वा सलज्जमधोमुखाः क्षणमेकं स्थित्वा मिथः प्रोचुः—'भो! वाहिता वयमनेन क्षुद्रशृगालेन। तद्वध्यताम्' इति। सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छंस्तत्र स्थान एव सिंहादिभिः खण्डशः कृतो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन' इति॥ तदाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'भो दमनक, कः प्रत्ययोऽत्र विषये यत्स ममोपरि दुष्टबुद्धिः।' स आह—'यदद्य ममाग्रे तेन निश्चयः कृतो यत् प्रभाते पिङ्गलकं वधिष्यामि, तदत्रैव प्रत्ययः। प्रभातेऽवसरवेलायामारक्तमुखनयनः स्फुरिताधरो दिशोऽवलोकयन्ननुचितस्थानोपविष्टस्त्वां क्रूरदृष्ट्या विलोकयिष्यति। एवं ज्ञात्वा यदुचितं तत्कर्तव्यम्।' इति कथयित्वा संजीवकसकाशं गतस्तं प्रणम्योपविष्टः संजीवकोऽपि सोद्वेगाकारं

जानवर जीवों को मार कर उसके समक्ष रख देते थे। वह भी राजधर्म के अनुसार उन सबों को बाँट कर देता था। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर एक दिन सभा में बैठे हुए उसने दूर देश में चिल्लाते हुए सियारों के झुण्ड का कोलाहल सुना। उस शब्द को सुनकर पुलकितशरीर आनन्द के कारण अश्रुपरिपूर्ण नेत्र हो उठकर उच्चस्वर से चिल्लाना आरम्भ किया। तब वे सिंह आदि उसके उच्च स्वर को सुन कर यह सियार है ऐसा जानकर लज्जा के कारण नीचे मुँह कर एक क्षण ठहर कर बाद में परस्पर कहने लगे – 'अरे! इस अधम सियार ने तो हम लोगों से सेवक का काम कराया, सो इसे मार डालो। उसने भी यह सुनकर ज्यों ही भागने की इच्छा की, त्यों ही उसी स्थान पर सिंहादिकों ने उसके टुकड़े टुकड़े कर डाले और वह मर गया। अतः मैं कहता हूँ—'जिसने अपने आत्मीयों को छोड़ दिया है' इत्यादि। उसे सुन कर पिङ्गलक ने कहा—'हे दमनक! इस विषय में क्या विश्वास करने की बात है कि वह मेरे ऊपर दुष्टबुद्धि रखता है? उसने उत्तर दिया 'जो आज मेरे समक्ष उसने निश्चय किया है कि कल सुबह पिङ्गलक को मारूँगा, यही इसमें प्रमाण है। प्रातःकाल आपके पास आने के समय उसके मुख और नेत्र लाल लाल रहेंगे, ओठ फरकते रहेंगे दिशाओं की ओर देखता हुआ अनुचित स्थान पर बैठ कर आपकी ओर क्रूर दृष्टि से देखेगा इस प्रकार के लक्षणों को जानकर जो उचित समझियेगा उसे

न यस्य चेष्टित विद्यान्न कुल न पराक्रमम्।
न तस्य विश्वसेत्प्राज्ञो यदीच्छेच्छ्रियमात्मन ' ॥ २८४ ॥

चण्डरवोऽपि तान्भयव्याकुलितान्विज्ञायेदमाह—'भो भो श्वापदा ! किं यूय मा दृष्ट्वैव सन्त्रस्ता व्रजथ। तत्र भेतव्यम्। अह ब्रह्मणाद्य स्वयमेव सृष्ट्वाभिहित —'यच्छ्वापदाना मध्ये कश्चिद्राजा नास्ति। तत्त्व मयाद्य सर्वश्वापदप्रभुत्वेऽभिषिक्तः ककुद्द्रुमाभिध । ततो गत्वा क्षितितले तान्सर्वान्परिपालय' इति। ततोऽहमत्रागत । तन्मम छत्रच्छायाया सर्वैरेव श्वापदैर्वर्तितव्यम्। अह ककुद्द्रुमो नाम राजा त्रैलोक्येऽपि सजात'। तच्छ्रुत्वा सिहव्याघ्रपुर सरा श्वापदा 'स्वामिन्' प्रभो, समादिश' इति वदन्तस्त परिवव्रु । अथ तेन सिहस्यामात्यपदवी प्रदत्ता। व्याघ्रस्य शय्यापालत्वम्। द्वीपिनस्ताम्बूलाधिकार। वृकस्य द्वारपालकत्वम्। ये चात्मीया शृगालास्तै सहालापमात्रमपि न करोति। शृगाला सर्वेऽप्यर्धचन्द्र दत्त्वा नि सारिता । एव तस्य राज्यक्रियाया वर्तमानस्य ते सिहादयो मृगान्व्यापाद्य तत्पुरत प्रक्षिपन्ति। सोऽपि प्रभुधर्मेण सर्वेषा तान्-

---

जिसके आचरण, वश और पराक्रम का पता न हो, उसका अपने मङ्गल की अभिलाषा रहनेवाला विद्वान् विश्वास न करे ॥ २८४ ॥

चण्डरव ने उन सबको भय से व्याकुल हुए जान कर यह कहा—-अरे जानवरो ! तुम सब मुझे देखकर ही क्यो डर से भागे जा रहे हो। मत डरो, ब्रह्मा ने आज स्वय ही मेरा निर्माण कर मुझे कहा है कि—जानवरो मे कोई राजा नही है। इसलिए मैं सब जानवरो के आधिपत्य पद पर तुम्हारा अभिषेक करता हूँ (तुम्हे वन का राजा बनाता हूँ) तुम्हारा ककुद्द्रुम नाम है, इसलिए पृथ्वी तल मे जाकर उन सबका परिपालन करो। इस कारण मैं आया हूँ ! अत मेरी छत्रच्छाया मे रह कर समस्त जानवरो को जीवन व्यतीत करना चाहिए ! मैं ककुद्द्रुम नाम वाला समस्त त्रैलोक्य का स्वामी हो गया हूँ।' उसे सुनकर सिह, वाघ आदि जानवर 'हे स्वामिन् ! हे प्रभो ! आदेश दीजिए' इस प्रकार कहते हुए उसे चारो ओर से घेर कर खडे हो गये। तव उसने सिह को मन्त्री पद दिया, वाघ को शय्यापालक का अधिकार दिया, चीते को पान लगाने वाला वनाया, भेडिये को द्वारपाल वनाया और जो अपने वर्ग के सियार थे उनके साथ तो वात भी नहीं करता था। समस्त सियारो को अर्धचन्द्र (गरदनियाँ) देकर वाहर निकलवा दिया। इस प्रकार उसके राजकार्य करने पर वे सिह आदि

प्रविभज्य प्रयच्छति। एव गच्छति काले कदाचित्तेन समागतेन दूरदेशे शब्दायमानस्य शृगालवृन्दस्य कोलाहलोऽश्रावि। त शब्द श्रुत्वा पुलकित-तनुरानन्दाश्रुपरिपूर्णनयन उत्थाय तारस्वरेण विरोतुमारब्धवान्। अथ ते सिंहादयस्त तारस्वरमाकर्ण्य शृगालोऽयमिति मत्वा सलज्जमधोमुखा क्षणमेक स्थित्वा मिथ प्रोचु —'भो! वाहिता वयमनेन क्षुद्रशृगालेन। तद्वध्यताम्' इति। सोऽपि तदाकर्ण्य पलायितुमिच्छस्तत्र स्थान एव सिंहा-दिभि खण्डश कृतो मृतश्च। अतोऽह ब्रवीमि—'त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन' इति॥ तदाकर्ण्य पिङ्गलक आह—'भो दमनक, क प्रत्ययोऽत्र विषये यत्स ममोपरि दुष्टबुद्धि।' स आह—'यदद्य ममाग्रे तेन निश्चय कृतो यत्-प्रभाते पिङ्गलक वधिष्यामि, तदत्रैव प्रत्यय। प्रभातेऽवसरवेलायामारक्त-मुखनयन स्फुरिताधरो दिशोऽवलोकयन्ननुचितस्थानोपविष्टस्त्वा क्रूर-दृष्ट्या विलोकयिष्यति। एव ज्ञात्वा यदुचित तत्कर्तव्यम्।' इति कथ-यित्वा सजीवकसकाश गतस्त प्रणम्योपविष्ट सजीवकोऽपि सोद्वेगाकार

जानवर जीवो को मार कर उसके समक्ष रख देते थे। वह भी राजधर्म के अनु-सार उन सबो को बाँट कर देता था। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर एक दिन सभा मे बैठे हुए उसने दूर देश मे चिल्लाते हुए सियारों के झुण्ड का कोलाहल सुना। उस शब्द को सुनकर पुलकितशरीर आनन्द के कारण अश्रुपरिपूर्ण नेत्र हो उठकर उच्चस्वर से चिल्लाना आरम्भ किया। तब वे सिंह आदि उसके उच्च स्वर को सुन कर यह सियार है ऐसा जानकर लज्जा के कारण नीचे मुँह कर एक क्षण ठहर कर बाद मे परस्पर कहने लगे – 'अरे! इस अधम सियार ने तो हम लोगो से सेवक का काम कराया, सो इसे मार डालो। उसने भी यह सुन-कर ज्यो ही भागने की इच्छा की, त्यो ही उसी स्थान पर सिंहादिको ने उसके टुकडे टुकडे कर डाले और वह मर गया। अत मैं कहता हूँ—'जिसने अपने आत्मीयो को छोड दिया है' इत्यादि। उसे सुन कर पिङ्गलक ने कहा—'हे दमनक! इस विषय मे क्या विश्वास करने की बात है कि वह मेरे ऊपर दुष्ट बुद्धि रखता है? उसने उत्तर दिया 'जो आज मेरे समक्ष उसने निश्चय किया है कि कल सुबह पिङ्गलक को मारूंगा, यही इसमे प्रमाण है। प्रातःकाल आपके पास आने के समय उसके मुख और नेत्र लाल लाल रहेगे, ओठ फरकते रहेंगे दिशाओ की ओर देखता हुआ अनुचित स्थान पर बैठ कर आपकी ओर क्रूर दृष्टि से देखेगा इस प्रकार के लक्षणो को जानकर जो उचित समझियेगा उसे

मन्दगत्या समायान्त तमुद्वीक्ष्य सादरतरमुवाच—'भो मित्र, स्वागतम्। चिराद्दृष्टोऽसि। अपि शिव भवत। तत्कथय येनादेयमपि तुभ्य गृहागताय प्रयच्छामि। उक्त च—

ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते सभ्या इह भूतले।
आगच्छन्ति गृहे येषा कार्यार्थं सुहृदो जना' ॥ २८५ ॥

दमनक आह—'भो कथं शिव सेवकजनस्य।

सम्पत्तय परायत्ता सदा चित्तमनिर्वृतम्।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषा ये राजसेवका ॥ २८६ ॥

तथा च—सेवया धनमिच्छद्भि सेवकै पश्य यत्कृतम्।
स्वातन्त्र्य यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ २८७ ॥
तावज्जन्मातिदु खाय ततो दुर्गतता सदा।
तत्रापि सेवया वृत्तिरहो दु खपरम्परा ॥ २८८ ॥
जीवन्तोऽपि मृता पञ्च श्रूयन्ते किल भारते।
दरिद्रो व्याधितो मूर्ख प्रवासी नित्यसेवक ॥ २८९ ॥

कीजिएगा।' ऐसा कह कर सञ्जीवक के निकट गया और उसे प्रणाम कर बैठ गया। सञ्जीवक ने उसके घबराये हुए चेहरे को और धीरे-धीरे आते हुए देखकर आदरपूर्वक कहा—'हे मित्र! आइये आपका स्वागत करता हूँ। बहुत दिन के बाद दिखलाई पडे। आप कुशलपूर्वक तो है न! अत कहिये, जिससे अदेय वस्तु भी तुम्हे घर पर आये हुए को दूँ। कहा भी है—

इस जगत मे वे ही पुरुष धन्य, विचारशील और सभ्य कहे जाते हैं, जिनके घर पर कार्यार्थी मित्रगण आया करते हैं' ॥ २८५ ॥

दमनक ने कहा—'अरे भाई! सेवको का कुशल कहाँ?

जो राज-सेवक होते हैं उनकी सम्पत्ति पराधीन, चित्त सर्वदा अशान्त और अपने जीवन के सम्बन्ध मे भी उनको अविश्वास बना रहता है ॥ २८६ ॥

और भी—सेवा द्वारा धन की अभिलाषा करने वाले सेवको ने जो किया है, उसे भी देख लो। उसे जो अपने शरीर की स्वतन्त्रता थी उसे भी मूर्खों ने अपने हाथो नष्ट कर दी ॥ २८७ ॥

पहले जन्म लेना ही अत्यन्त दु ख के लिए होता है, उस पर भी सर्वदा दरिद्रता और फिर उसमे भी सेवा की वृत्ति। अहह! कैसी दु ख की परम्परा है ॥२८८॥

महाभारत मे पाच प्रकार के जीव जीते हुए भी मरे कहे गये है—(एक) दरिद्र, (दूसरा) रोग पीडित, (तीसरा) मूर्ख, (चौथा) प्रवासी (विदेश मे रहने वाला) और पाँचवा) नित्य सेवा करने वाला ॥ २८९ ॥

नाश्नाति स्वच्छयोत्सुक्याद्विनिद्रो न प्रबुध्यते।
न निःशङ्कं वचो ब्रूते सेवकोऽप्यत्र जीवति ॥ २९० ॥
सेवा श्ववृत्तिराख्याता यैस्तैर्मिथ्या प्रजल्पितम्।
स्वच्छन्दं चरति श्वाऽत्र सेवकः परशासनात् ॥ २९१ ॥
भूशय्या ब्रह्मचर्यं च कृशत्वं लघुभोजनम्।
सेवकस्य यतेर्यद्वद्विशेषः पापधर्मजः ॥ २९२ ॥
शीतातपादिकष्टानि सहते यानि सेवकः।
धनाय तानि चाल्पानि यदि धर्मान्न मुच्यते ॥ २९३ ॥
मृदुनापि सुवृत्तेन सुश्लिष्टेनापि हारिणा।
मोदकेनापि किं तेन निष्पत्तिर्यस्य सेवया ॥ २९४ ॥

इच्छा होने पर भी अपनी अभिलाषा से सेवक नहीं खाता, पूरी निद्रा न होने पर भी जाग जाता है और निर्भय होकर कोई बात नहीं कहता—क्या इतने पर भी सेवक जीवित रहता है ? ॥ २९० ॥

सेवा की वृत्ति (नौकरी) कुत्ते की वृत्ति के समान (जगह-जगह ठोकर खाना, दुर-दुराया जाना) है, इस प्रकार जिन्होंने कहा है, उन्होंने व्यर्थ कल्पना की है, क्योंकि कुत्ता तो स्वच्छन्द होकर भ्रमण करता रहता है और सेवक अपने प्रभु का आदेश पाने पर ही कहीं जा सकता है ॥ २९१ ॥

सेवक और यति (सन्यासी) मे सब स्थिति बराबर ही होती है, क्योंकि दोनो पृथ्वी तल पर सोते हैं, दोनो ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हैं, दोनो का शरीर दुर्बल रहता है और दोनो थोडा भोजन करते है। केवल दोनो मे अन्तर इतना ही है कि यह सब आचरण सेवक पाप के लिए और सन्यासी धर्म के लिए करता है ॥ २९२ ॥

यदि सेवक धर्म से मुख नहीं मोडता तो धन के लिए जो सर्दी और गर्मी के कष्टों को सहन करता है, वह कष्ट अत्यन्त स्वल्प होता है ॥२९३॥

कोमल, गोल, अत्यन्त मधुर और मनोहर उस मोदक (लड्डू) से भी क्या लाभ ? जिसकी निष्पत्ति (प्राप्ति) सेवा करने से होती है ॥ २९४ ॥

सजीवक आह—'अथ भवान् किं वक्तुमना।' सोऽब्रवीत्—'मित्र, सचिवाना मन्त्रभेद कर्तु न युज्यते। उक्त च—

यो मन्त्र स्वामिनो भिद्यात्साचिव्ये सनियोजित।
स हत्वा नृपकार्यं तत्स्वय च नरक व्रजेत्॥ २९५॥
येन यस्य कृतो भेद सचिवेन महीपते।
तेनाशस्त्रवधस्तस्य कृत इत्याह नारद.॥ २९६॥

तथापि मया तव स्नेहपाशबद्धेन मन्त्रभेद कृत। यतस्त्व मम वचनेनात्र राजकुले विश्वस्त प्रविष्टश्च। उक्त च—

विश्रम्भाद्यस्य यो मृत्युमवाप्नोति कथञ्चन।
तस्य हत्या तदुत्था सा प्राहेद वचन मनु॥ २९७॥

तत्तवोपरि पिङ्गलकोऽय दुष्टबुद्धि कथित चाद्यानेन मत्पुरतश्चतुष्कर्णतया—'यत्प्रभाते सजीवक हत्वा समस्तमृगपरिवार चिरात् तृप्तिं नेष्यामि।' तत स मयोक्त.—'स्वामिन्, न युक्तमिद यन्मित्रद्रोहेण जीवनं क्रियते। उक्त च—

सञ्जीवक ने कहा—'आप क्या कहना चाहते हैं। उसने कहा—मित्र! मन्त्रियो को मन्त्रभेद करना उचित नही है। कहा भी है—

जो मन्त्री के पदपर बैठ कर मन्त्रभेद करता है वह राजा के कार्य को नष्ट कर के स्वय नरकगामी होता है॥ २९५॥

जिस मन्त्री ने जिस राजा का मन्त्रभेद कर दिया है। उसने बिना किसी शस्त्र के ही उसका वध कर दिया—ऐसा नारद जी ने कहा है॥ २९६॥

तथापि मैंने तुम्हारे स्नेहपाश मे बद्ध होने के कारण मन्त्रभेद कर दिया है। क्योकि तुम मेरे कहने से इस राजकुल मे प्रविष्ट हुए हो। कहा भी है—

जिसका विश्वास करने से जो कोई किसी प्रकार मृत्यु प्राप्त करे तो उसकी हत्या उस मनुष्य को लगती है—ऐसा वचन भगवान् मनु ने कहा है॥२९७॥

सो तुम्हारे ऊपर यह पिङ्गलक बुरी निगाह रखता है। आज जब मैं और वह दोनो ही एकान्त मे थे तब उसने मुझसे कहा कि प्रातःकाल होते ही सञ्जीवक को मारकर समस्त मृग-परिवार को चिरकाल तक के लिए तृप्त करूंगा। तब उससे मैंने कहा—'स्वामिन्! यह ठीक नही है कि मित्र-द्रोह करके जीवन व्यतीत किया जाय।' कहा भी है—

अपि ब्रह्मवधं कृत्वा प्रायश्चित्तेन शुध्यति ।
तदर्हेण विचीर्णेन न कथंचित्सुहृद्द्रुह ॥ २९८ ॥

ततस्तेनाहं समर्षेणोक्त —'भो दुष्टबुद्धे, संजीवकस्तावच्छष्पभोजी, वयं मांसाशिनः, तदस्माकं स्वाभाविकं वैरम्, इति कथं रिपुरुपेक्ष्यते। तस्मात् सामादिभिरुपायैर्हन्यते। न च हते तस्मिन्दोषः स्यात्। उक्तं च—

दत्त्वापि कन्यकां वैरी निहन्तव्यो विपश्चिता ।
अन्योपायैरशक्यो यो हते दोषो न विद्यते ॥ २९९ ॥
कृत्याकृत्यं न मन्येत क्षत्रियो युधि संगतः ।
प्रसुप्तो द्रोणपुत्रेण धृष्टद्युम्नः पुरा हतः ॥ ३०० ॥

तदहं तस्य निश्चयं ज्ञात्वा त्वत्सकाशमिहागतः । साम्प्रतं मे नास्ति विश्वासघातकदोषः । मया सुगुप्तमन्त्रस्तव निवेदितः । अथ यत्ते प्रतिभाति तत्कुरुष्व' इति। अथ संजीवकस्तस्य तद्वज्रपातदारुणं वचनं

मनुष्य ब्राह्मण-वध करके प्रायश्चित द्वारा शुद्ध भी हो सकता है परन्तु मित्र द्रोही किसी प्रकार का भी अनुष्ठान करके शुद्ध नही हो सकता है ॥२९८॥

तदनन्तर उसने मुझसे क्रोधपूर्वक कहा —'अरे दुष्टबुद्धि ! सञ्जीवक तो घास खानेवाला जीव है और हम मास-भक्षण करनेवाले हैं इसलिए हमारा और उसका स्वाभाविक (प्राकृतिक) विरोध है, अत शत्रु की उपेक्षा क्यो की जाय ? इसीलिए साम, दाम, दण्ड और भेद इन उपायो का अवलम्बन करके उसे मारते हैं। और इस प्रकार उसके मारे जाने मे कोई दोष भी नही है। कहा भी है —

जब किसी अन्य उपायो द्वारा शत्रु न मारा जाय तब अपनी कन्या देकर भी नीतिज्ञ विद्वान् अपने शत्रु का हनन करे क्योकि उस शत्रु के मारने मे कोई दोष नही है ॥ २९९ ॥

युद्ध के लिए तैयार क्षत्रिय को चाहिये कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार न करे, क्योकि प्राचीन काल मे द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वस्थामा ने सोते हुए (अपने शत्रु) धृष्टद्युम्न को मार डाला था ॥ ३०० ॥

इसलिए मैं उसका निश्चय जानकर तुम्हारे पास आया हूँ। अब मुझे विश्वासघात करने का कोई दोष नही लग सकता। मैंने यह अत्यन्त गुप्त बात तुमसे निवेदन कर दी है, अब जैसा अच्छा लगे वैसा करो।' वज्रपात के समान

श्रुत्वा मोहमुपागत अथ चेतना लब्ध्वा सवैराग्यमिदमाह—' भो साध्विद-मुच्यते—

दुर्जनगम्या नार्य प्रायेणास्नेहवान् भवति राजा ।
कृपणानुसारि च धन मेघो गिरिदुर्गवर्षी च ॥ ३०१ ॥
अह हि समतो राज्ञो य एव मन्यते कुधी ।
बलीवर्द स विज्ञेयो विषाणपरिवर्जित ॥ ३०२ ॥
वर वन वर भैक्ष वर भारोपजीवनम् ।
वर व्याधिर्मनुष्याणा नाधिकारेण सपद ॥ ३०३ ॥

तदयुक्त मया कृत यदनेन सह मैत्री विहिता । उक्त च—

ययोरेव सम वित्त ययोरेव सम कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयो ॥ ३०४ ॥

तथा च—मृगा मृगै सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गै ।
मूर्खाश्च मूर्खै सुधिय सुधीभि समानशीलव्यसनेन सख्यम् ॥३०५॥

उसकी इस कठोर वाणी को सुनकर सञ्जीवक चेतनारहित (बेहोश) हो गया । इसके बाद चेतना मे आकर वासनारहित बातें करने लगा । हे मित्र । यह ठीक ही कहा गया है—

स्त्रियाँ प्राय दुर्जनो से प्रीति रखती है, राजा प्राय प्रेम रहित होता है, धन कृपण (कञ्जूस) के पास रहता, और मेघ पहाड और (किले) पर ही बरसते है ॥ ३०१ ॥

'राजा मेरा ही विचार मानता है' इस प्रकार जो मूर्ख (अपने को राजा का प्रियपात्र) मानता है, उसे सीगरहित बैल समझना चाहिए ॥ ३०२ ॥

मनुष्यो को वन मे रहना अच्छा है, भिक्षा माँगकर भोजन करना अच्छा है, बोझा ढोने की उपजीविका अच्छी है, और रोगयुक्त होना भी अच्छा है, किन्तु सेवावृत्ति से सम्पत्ति प्राप्त करना अच्छा नही है ॥ ३०३ ॥

इसलिए मैंने उचित नही किया, जो इसके साथ मित्रता की । कहा भी है—

जिन मनुष्यो के पास आपस मे तुल्य धन और तुल्य कुल हो उनको ही आपस मे मित्रता और विवाह करना ठीक है, क्योकि पुष्टियुक्तो एव पुष्टिरहित (सबल और निर्बल, धनी और निर्धन) के साथ पारस्परिक (आपसी) सम्बन्ध उचित नही होता ॥ ३०४ ॥

तद्यदि गत्वा त प्रसादयामि, तथापि न प्रसाद यास्यति । उक्त च—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति ध्रुव स तस्यापगमे प्रशाम्यति ।
अकारणद्वेषपरो हि यो भवेत् कथ नरस्त परितोपयिष्यति ॥३०६॥

अहो, साधु चेदमुच्यते—

भक्तानामुपकारिणा परहितव्यापारयुक्तात्मना
सेवासव्यवहारतत्त्वविदुषा द्रोहच्युतानामपि ।
व्यापत्ति स्खलितान्तरेषु नियता सिद्धिर्भवेद्वा न वा
तस्मादम्बुपतेरिवावनिपते सेवा सदा शङ्किनी ॥३०७॥

तथा च—भावस्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यता याति लोके
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतये चोपयाति ।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिमनसा नैकभावाश्रयाणा
सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य ॥ ३०८ ॥

मृग मृगो के साथ ही चलते हैं, गाये भी गायो के साथ और घोडे घोडो के साथ ही रहते हैं (उसी प्रकार) मूर्ख मूर्खों के साथ और विद्वान् विद्वानो के साथ (ही मित्रता करते हैं, क्योकि) मित्रता समान स्वभाव और आदत वालो के साथ होती हैं ॥ ३०५ ॥

इसलिए यदि मैं जानकर उसको सन्तुष्ट करने का उद्योग भी करूँ तथापि वह सन्तुष्ट न होगा। क्योंकि कहा है —जो मनुष्य जिस कारण क्रुद्ध होता है वह उस (कारण) के नाश होने पर निश्चय ही शान्त हो जाता है। किन्तु जो बिना निमित्त ही द्वेष करनेवाला है उसे कोई किस प्रकार सन्तोष प्रदान कर सकता है ॥ ३०६ ॥

अरे ! यह उचित ही कहा है—उपकारी भक्त, दूसरो के लिए (हितकारी) कार्य करनेवाले, सेवा तथा व्यवहार के तत्त्व को जाननेवाला और द्रोह रहित मनुष्यो को भी थोडो सी त्रुटि के कारण सङ्कट उठाना पडता है चाहे उन्हे सम्पत्ति का लाभ हो या न हो। अत जिस प्रकार अम्बुपति (समुद्र) को सेवा सर्वदा सन्देहयुक्त है उसी प्रकार अवनिपति (राजा) की सेवा भी सन्देहयुक्त है ॥ ३०७ ॥

और भी—इस ससार मे प्रेम-भाव से किया हुआ उपकार भी शत्रुता को प्राप्त होता है, और साक्षात् दूसरों द्वारा किया हुआ अपकार भी प्रसन्नता के लिए हो जाता है। हर समय एकरूप से बने रहनेवाले राजाओ का मन दुर्ग्राह्य

तत्परिज्ञात मया मत्प्रसादमसहमानै समीपवर्तिभिरेष पिङ्गलकः प्रकोपित । तेनाय ममादोषस्याप्येव वदति । उक्त च—

प्रभो प्रसादमन्यस्य न सहन्तीह सेवका। ।
सपत्न्य इव सङ्क्रुद्धा सपत्न्या सुकृतैरपि ॥ ३०९ ॥

भवति चैव यद्गुणवत्सु समीपवर्तिषु गुणहीनाना न प्रसादो भवति । उक्त च—

गुणवत्तरपात्रेण छाद्यन्ते गुणिना गुणा. ।
रात्रौ दीपशिखाकान्तिर्न भानावुदिते सति ॥ ३१० ॥

दमनक आह—'भो मित्र, यद्येव तन्नास्ति ते भयम् । प्रकोपितोऽपि स दुर्जनैस्तव वचनरचनया प्रसाद यास्यति ।' स आह—भो , न युक्त-मुक्त भवता, लघूनामपि दुर्जनाना मध्ये वस्तु न शक्यते । उपायान्तर विधाय ते नून घ्नन्ति । उक्तं च—

है । इसलिए सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है जो योगियों को भी अगम्य (अबोध्य) होता है ॥ ३०८ ॥

इसलिए मैंने जान लिया कि मेरे ऊपर स्वामी की दया को देख न सकने वाले और समीप मे रहनेवालो ने इस पिंगलक को क्रुद्ध करा दिया है । अतएव मुझ निर्दोषी को भी यह इस प्रकार कहता है । क्योंकि कहा भी है—

जैसे सौतें एक स्त्री पर अपने पति के प्यार को सहन नही कर सकती है वैसे ही इस ससार मे मालिक की कृपा को दूसरे सेवकगण सहन नही कर सकते ॥ ३०९ ॥

इस तरह होता ही है कि गुणवानो के रहते-रहते गुणरहितो के ऊपर (राजाओ की) अनुकम्पा नही होती । कहा है—

अधिक गुणी पुरुषो द्वारा साधारण गुणवालो के गुण आच्छादित (ढक) हो जाते हैं । जैसे रात्रि मे ही दीपक की शिखा मनोहर प्रतीत होती है न कि सूर्यनारायण के उदित होने पर ॥ ३१० ॥

दमनक ने कहा—'हे मित्र ! यदि ऐसी बात है (अर्थात् तुम दोषी नही हो) तो तुम्हे नही डरना चाहिए । दुष्टों द्वारा क्रोधित कराये जाने पर भी वह तुम्हारी वचनरचना (लच्छेदार बातो) से प्रसन्न हो जायगा ।' उसने कहा—यह तुमने उचित बात नही कही । छोटे दुर्जनो के बीच भी बस (रह) नही सकते क्योंकि वे दूसरे उपायो का आश्रयण कर अवश्य ही मार डालते हैं । कहा भी है—

बहवः पण्डिता क्षुद्राः सर्वे मायोपजीविन ।
कुर्युं कृत्यमकृत्य वा उष्ट्रे काकादयो यथा ॥ ३११ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

कथा ११

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंह प्रतिवसति स्म। तस्य चानुचरा अन्ये द्वीपिवायसगोमायव सन्ति। अथ कदाचिदितस्ततो भ्रमद्भि सार्थभ्रष्ट क्रथनको नामोष्ट्रो दृष्ट । अथ सिंह आह—'अहो' अपूर्वमिद सत्त्वम्। तज्ज्ञायता किमेतदारण्यक ग्राम्य वा' इति। तच्छ्रुत्वा वायस आह—'मा. स्वामिन्, ग्राम्योऽयमुष्ट्रनामा जीवविशेषस्तव भोज्य । तद्व्यापाद्यताम् ।' सिंह आह—'नाह गृहमागत हन्मि । उक्त च—

गृहे शत्रुमपि प्राप्त विश्वस्तमकुतोभयम् ।
यो हन्यात्तस्य पाप स्याच्छतब्राह्मणघातजम् ॥३१२॥

तदभयप्रदान दत्त्वा मत्सकाशमानीयता येनास्यागमनकारण पृच्छामि।' अथासौ सर्वैरपि विश्वास्याभयप्रदान दत्त्वा मदोत्कटसकाशमानो-

---

अधिकतर क्षुद्र विचारवाले विद्वान् करने योग्य और न करने योग्य के विचारो को माया (कपटनीति) से अपनी जीविका सम्पादन करते हैं। जैसे ऊँट के साथ कौए आदिको ने किया ॥ ३११ ॥

दमनक ने कहा—यह कथा किस प्रकार है ? उसने कहा—

किसी वन मे 'मदोत्कट' नाम का एक सिंह रहता था। उसके अनुचर चीते कौए और गीदड थे। एक समय उन्होने इधर-उधर घूमते-घूमते एक भटका हुआ 'क्रथनक' नाम का ऊँट देखा। तब सिंह ने कहा—'अहो यह बडा आश्चर्यकारी जन्तु है। देखो तो यह जङ्गली है या गाँव का रहनेवाला ? यह सुन कर कौए ने कहा—हे स्वामी ! यह गाँव का रहनेवाला 'ऊँट' नाम का जन्तु है और अपने भक्षण करने योग्य है, सो इसे मार डालिए।' सिंह ने कहा—मैं अपने घर आए हुए को नही मारता।' कहा भी है—

अपने घर पर विश्वास करके और भयरहित हो शत्रु भी आवे तो जो व्यक्ति उसे मारता है उसे सौ ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगता है ॥ ३१२ ॥

सो तुम लोग उसे अभय-दान देकर मेरे समीप ले आओ जिससे उसके आने

स. प्रणम्योपविष्टश्च। ततस्तस्य पृच्छतस्तेनात्मवृत्तान्त सार्थभ्रशसमुद्भवो निवेदित। तत सिहेनोक्तम्—'भो क्रथनक, मा त्व ग्राम गत्वा भूयोऽपि भारोद्वहनकष्टभागी भूया। तदत्रैवारण्ये निर्विशङ्को मरकतसदृशानि शष्पाग्राणि भक्षयन्मया सह सदैव वस। सोऽपि 'तथा' इत्युक्त्वा तेषा मध्ये विचरन्न कुतोऽपि भयमिति सुखेनास्ते। तथान्येद्युर्मदोत्कटस्य महागजेनारण्यचारिणा सह युद्धमभवत्। ततस्तस्य दन्तमुसलप्रहारैर्व्यथा सजाता। व्यथित कथमपि प्राणैर्न वियुक्त। अथ शरीरासामर्थ्यान्न कुत्रचित्पदमपि चलितु शक्नोति। तेऽपि सर्वे काकादयोऽप्रभुत्वेन क्षुधाविष्टा पर दुख भेजु। अथ तान्सिह प्राह—'भो, अन्विष्यता कुत्रचित्किंचित्सत्त्व येनाहमेतामपि दशा प्राप्तस्तद्धत्वा युष्मद्भोजन सपादयामि।' अथ ते चत्वारोऽपि भ्रमितुमारब्धा यावन्न किंचित्सत्त्व पश्यन्ति तावद्वायसश्रृगालौ परस्पर मन्त्रयत। श्रृगाल आह—'भो वायस, किं प्रभूतभ्रान्तेन। अयमस्माक प्रभो क्रथनको विश्वस्त-

---

का करण पूछूं। तब वे सब उसे विश्वास दिलाकर अभय-दान देकर मदोत्कट के पास ले आये और वह प्रणाम कर बैठ गया। उसके प्रश्न करने पर उसने अपने साथियो (सार्थवाह, धनियो) से छूटने का सभी वृत्तान्त कह सुनाया। सिंह ने कहा—हे क्रथनक! अब तुम गाँव मे जाकर पुन बोझ ढोने का क्लेश मत सहो, और इसी वन मे भयरहित होकर मरतकमणि के समान तृण (हरी हरी घास) के अग्र भागो का भक्षण करते हुए मेरे साथ ही सर्वदा निवास करो। ऊँट भी अच्छा कहकर निश्चिन्त हो भ्रमण करता हुआ उसके बीच मे आनन्दपूर्वक निवास करने लगा। तदनन्तर किसी दूसरे दिन 'मदोत्कट' का किसी जङ्गली बडे हाथी से लडाई छिड गई। तब उसके दन्त-रूपी मुसल के प्रहार से उसको बडी व्यथा हुई। व्यथित होने पर भी किसी प्रकार उसके प्राण बच गये। परन्तु शरीर की असमर्थता के कारण एक पग भी चलने मे समर्थ न हो सकता था। वे सब कौए आदि भी प्रभु के शक्तिहीन होने पर भूख से व्यथित होकर अत्यधिक कष्ट पाने लगे। तब उनसे सिंह ने कहा—'अरे! कही से किसी प्राणी को ढूँढो, जिससे मैं ऐसी दशा मे प्राप्त होने पर भी उसे मार कर तुम सबका भोजन-सम्पादन कर दूँ' तब वे चारो भी भ्रमण करने लगे, जब किसी भी जीव को न देखा तब कौआ और सियार दोनो आपस में मन्त्रणा करने लगे। सियार ने कहा—'अरे भाई कौआ! बहुत घूमने से क्या प्रयोजन?

स्तिष्ठति। तदेनं हत्वा प्राणयात्रां कुर्मः। वायस आह—'युक्तमुक्तं भवता। परं स्वामिना तस्याभयप्रदानं दत्तमास्ते न वध्योऽयमिति।' शृगाल आह-'भो वायस, अहं स्वामिनं विज्ञाप्य तथा करिष्ये यथा स्वामीवधं करिष्यति। तत्तिष्ठन्तु भवन्तोऽत्रैव, यावदहं गृहं गत्वा प्रभोराज्ञां गृहीत्वा चागच्छामि।' एवमभिधाय सत्वरं सिंहमुद्दिश्य प्रस्थितः। अथ सिंहमासाद्येदमाह-स्वामिन्, समस्तं वनं भ्रान्त्वा वयमागताः। न किंचित्सत्त्वमासादितम्। तत्किं कुर्मो वयम्। सम्प्रति वयं बुभुक्षया पदमेकमपि प्रचलितुं न शक्नुमः। देवोऽपि पथ्याशी वर्तते। तद्यदि देवादेशो भवति तत्क्रथनकपिशितेनाद्य पथ्यक्रिया क्रियते।' अथ सिंहस्तस्य तद्दारुणं वचनमाकर्ण्य सकोपमिदमाह-'धिक्पापाधम, यद्येवं भूयोऽपि वदसि, ततस्त्वां तत्क्षणमेव वधिष्यामि। ततो मया तस्याभयं प्रदत्तम्, तत्कथं व्यापादयामि। उक्तं च—

न गोप्रदानं न महीप्रदानं न चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ॥३१३॥

वह जो हमारे स्वामी का विश्वासपात्र क्रथनक (ऊँट) है, उसी को मार कर अपनी जीविका चलावें।' कौए ने कहा—'वाह! आप ने कहा तो बहुत ठीक किन्तु स्वामी ने तो उसे अभयदान दिया है, इसलिए अब वह मारने के योग्य नहीं है।' सियार ने कहा—'मैं स्वामी से निवेदन कर यही कहूँगा, जिससे स्वामी उसका वध कर दें। तब तक तुम यहीं ठहरो जब तक मैं घर जाकर और स्वामी का आदेश पाकर अभी लौट आता हूँ।' इस प्रकार कह कर शीघ्रता से सिंह की ओर प्रस्थान किया। तब उसने सिंह के पास पहुँच कर कहा—'हे स्वामी हम लोग! सारा बन घूम आये किन्तु कहीं भी कोई जन्तु न मिला। सो अब हम लोग क्या करें ? इस समय तो भूख के मारे हम सब एक पग भी नहीं चल सकते और आप को भी कुछ पथ्य लेना है। सो यदि महाराज आपका आदेश हो तो क्रथनक के मांस से आज आपके भोजन का प्रबन्ध किया जाय।' उसके कठोर वचन सुनकर सिंह ने क्रोधपूर्वक कहा—'अरे अधम पापी! धिक्कार है तुझे! यदि ऐसा फिर कहेगा तो मैं उसी क्षण तुझे मार डालूँगा। मैंने उसे अभयदान दिया है, तब मैं कैसे उसे स्वयं मारूँ। कहा भी है—

गोदान, भूमिदान और अन्नदान उतना प्रधान (महत्त्वपूर्ण) नहीं है

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'स्वामिन्, यद्यभयप्रदान दत्त्वा वध क्रियते तदैप दोषो भवति। पुनर्यदि देवपादाना भक्त्या स आत्मनो जीवितव्य प्रयच्छति तन्न दोष । ततो यदि स स्वयमेवात्मान वधाय नियोजयति तद्वध्य । अन्यथास्माक मध्यादेकतमो वध्य इति। यतो देवपादा पथ्याशिन क्षुन्निरोधादन्त्या दशा यास्यन्ति। तत्किमेतै प्राणैरस्माक ये स्वाम्यर्थे न यास्यन्ति। अपर पश्चादप्यस्माभिर्वह्निप्रवेश कार्य, यदि स्वामिपादाना किञ्चिदनिष्ट भविष्यति। उक्त च—

यस्मिन्कुले य पुरुष प्रधान स सर्वयत्नै परिरक्षणीय ।
तस्मिन्विनष्टे कुलसारभूते न नाभिभङ्गे ह्यरयो वहन्ति ॥३१४॥

तदाकर्ण्य मदोत्कट आह—'यद्येव तत्कुरुध्व यद्रोचते।' तच्छ्रुत्वा स सत्वर गत्वा तानाह 'भो, स्वामिनो महत्यवस्था वर्तते। तत्कि

जितना विद्वान् लोग कहा करते हैं कि इस ससार मे सब दानो मे अभयदान ही श्रेष्ठ दान है ॥ ३१३ ॥

यह सुनकर सियार ने कहा—'हे स्वामी ! यदि अभयदान देकर आप उसका वध करेंगे तब आप को दोष (पाप) लगेगा । किन्तु यदि महाराज के चरणो मे वह भक्तिवश स्वय (अपने आप ही) प्राणसमर्पण कर दे तो इसमे दोष (पाप) नही लगेगा । सो यदि वह स्वय ही अपने को वध के निमित्त प्रदान कर दे तो वह मारने के योग्य है, अन्यथा (नही तो) हम लोगो मे किसी एक को वध कर डालिएगा, क्योकि यदि महाराज (आप) को भूख से या भूख के रोकने से अन्तिम दशा (मरणावस्था) प्राप्त होगी, तो हम लोगो के इन प्राणो से क्या लाभ है, जो प्राणी स्वामी के काम न आवे। इसके अतिरिक्त यदि स्वामिचरणो को कुछ अनिष्ट (मृत्यु) आदि हो जाय तो पीछे हम लोगो को अग्नि मे प्रवेश करना ही होगा । कहा भी है –

जिस कुल मे जो पुरुष प्रधान हो, उनकी प्रत्येक उपाय से रक्षा करनी चाहिए। क्योकि कुल के प्रधान का नाश होने पर शत्रु लोग सब ओर से धावा बोलकर उसके कुल को पराजित कर देते हैं ॥ ३१४ ॥

यह सुनकर मदोत्कट ने कहा—'यदि ऐसा है तो तुम्हारी जो इच्छा हो, सो करो' यह सुनकर उसने झटपट जाकर उन सब अनुचरो से कहा—'अरे स्वामी की बडी विषम दशा हो गयी है (अर्थात् अन्तिम दशा आ गयी है)

पर्यटितेन, तेन विना कोऽत्रास्मान्रक्षयिष्यति। तद्गत्वा तस्य क्षुद्रोगात्परलोक प्रस्थितस्यात्मशरीरदान कुर्म, येन स्वामिप्रसादस्यानृणता गच्छाम। उक्त च—

आपद प्राप्नुयात्स्वामी यस्य भृत्यस्य पश्यत।
प्राणेषु विद्यमानेषु स भृत्यो नरकं व्रजेत्॥ ३१५॥

तदनन्तर ते सर्वे बाष्पपूरितदृशो मदोत्कट प्रणम्योपविष्टा। तान्दृष्ट्वा मदोत्कट आह—'भो, प्राप्त दृष्ट वा किंचित्सत्त्वम्।' अथ तेषा मध्यात्काक प्रोवाच—'स्वामिन्, वय तावत्सर्वत्र पर्यटिता। पर न किंचित्सत्त्वमासादित दृष्ट वा। तदद्य मा भक्षयित्वा प्राणान्धारयतु स्वामी, येन देवस्याश्वासन भवति मम पुन स्वर्गप्राप्तिरिति। उक्त च—

स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत्प्राणान्भृत्यो भक्तिसमन्वित।
पर स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम्॥ ३१६॥

तच्छ्रुत्वा शृगाल आह—'भो, स्वल्पकायो भवान्। तव भक्षणा-

सो अब ऐसे घूमने से क्या लाभ? उनके बिना अब हम लोगो की कौन रक्षा करेगा? इसलिए चलकर क्षुधा के रोग से पीडित होकर परलोक जानेवाले प्रभु को अपना शरीर दे दो जिससे प्रभु की प्रसन्नता से अपना-अपना ऋण उतर जाय। कहा भी है—

जिस सेवक के देखते हुए (अर्थात् उसकी आँखो के सामने ही) स्वामी सकट मे फँस जाता है और वह अपने प्राणो के रहते हुए भी यदि उसकी रक्षा नही करता तो वह सेवक नरक मे जाता है॥ ३१५॥

उसके बाद वे सब वहाँ जाकर आँखो मे आँसू भर कर मदोत्कट को प्रणाम कर बैठ गये। उन लोगो को देखकर मदोत्कट ने कहा—अरे! कहो कही कोई जीव मिला वा देखा कि नही? तब उनमे से कौए ने कहा—हे स्वामी! तब से हम लोग सब जगह घूमते रहे किन्तु कही कोई जीव न मिला और न देखा। सो आज मुझे खाकर स्वामी अपने प्राणो को बचावें जिससे स्वामी को आश्वासन (प्राणरक्षा) हो और मुझे भी स्वर्ग मिले। कहा भी है—

जो सेवक भक्ति से परिपूर्ण हो स्वामी के लिए अपने प्राणो को दे देता है वह जरा-मरण-रहित परमपद (मोक्ष) को पाता है॥ ३१६॥

यह सुनकर सियार ने कहा—कहो तुम्हारा शरीर बहुत छोटा है। एक तो

त्स्वामिनस्तावत्प्राणयात्रा न भवति। अपरो दोषश्च तावत्समुत्पद्यते। उक्त च—

काकमास शुनोच्छिष्ट स्वल्प तदपि दुर्लभम्।
भक्षितेनापि किं तेन तृप्तिर्येन जायते॥ ३१७॥

तद्दर्शिता स्वामिभक्तिर्भवता। गत चानृण्य भर्तृपिण्डस्य। प्राप्तश्चोभयलोके साधुवाद.। तदपसराग्रतः। अह स्वामिन विज्ञापयामि। तथानुष्ठिते शृगाल सादर प्रणम्योपविष्ट प्राह—'स्वामिन्, मा भक्षयित्वाद्य प्राणयात्रा विधाय ममोभयलोकप्राप्ति कुरु। उक्त च—

स्वाम्यायत्ता सदा प्राणा भृत्यानामर्जिता धनै।
यतस्ततो न दोषोऽस्ति तेषा ग्रहणसभव॥ ३१८॥

अथ तच्छ्रुत्वा द्वीप्याह—'भो, साधूक्त भवता। पुनर्भवानपि स्वल्पकाय स्वजातिश्च। नखायुधत्वादभक्ष्य एव। उक्त च—

तुम्हारे खाने से (हमारे) स्वामी का पेट न भरेगा और दूसरा दोष (कौए के मास खाने से धर्मशास्त्र ने पाप बताया है, अत पाप) भी होगा। कहा भी है—

एक तो कौए का मास और दूसरे कुत्ते की जूठ से बचा हुआ थोडा तथा दुष्प्राप्य मास को खाने से क्या लाभ जिससे अपनी तृप्ति भी न हो॥ ३१७॥

सो आपने स्वामी के प्रति अपनी भक्ति दिखला दी और स्वामी के ऋण से उऋण भी हो गये। आपने दोनो लोको मे साधुवाद प्राप्त कर लिया। अब आगे से हटिये (जिससे) मैं भी प्रभु से कुछ कहूँ। उसके वैसा करने पर सियार आदर के साथ प्रणाम करके बैठ गया और उसने कहा—'हे स्वामी! मुझे खाकर आज आप अपनी प्राणयात्रा करें (उदरपूर्ति करे) और मुझे दोनो लोक प्राप्त करायें। कहा भी है—

क्योंकि धन देकर स्वामी अपने भृत्यो के प्राण खरीद लेते हैं। अतः वे स्वामी के अधीन रहते हैं। इसलिए इन प्राणो के लेने मे किसी प्रकार के दोष की उत्पत्ति नही हो सकती॥ ३१८॥

यह सुनकर चीते ने कहा—'हाँ हाँ! तुमने ठीक कहा, परन्तु तुम भी तो स्वल्पकाय और सजातीय हो, नख तुम्हारा शस्त्र का काम करता है, अत तुम भी खाने के योग्य नही हो। (जिन पशुओ का नख आयुध—शस्त्र का काम करता है उनका भक्षण करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध है) कहा भी है—

नाभक्ष्य भक्षयेत्प्राज्ञ प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
विशेषात्तदपि स्तोक लोकद्वयविनाशकम् ॥ ३१९ ॥

तद्दर्शित त्वयात्मनः कौलीन्यम् । अथवा साधु चेदमुच्यते—

एतदर्थं कुलीनाना नृपा कुर्वन्ति सग्रहम् ।
आदिमध्यावसानेषु न ते गच्छन्ति विक्रियाम् ॥ ३२० ॥

तदपसराग्रत, येनाह स्वामिन विज्ञापयामि ।' तथानुष्ठिते द्वीपी प्रणम्य मदोत्कटमाह—'स्वामिन्, क्रियतामद्य मम प्राणै. प्राणयात्रा । दीयतामक्षयो वास स्वर्गे । मम विस्तार्यता क्षितितले प्रभूततर यश । तन्नात्र विकल्प कार्य । उक्त च—

मृताना स्वामिन कार्ये भृत्यानामनुवर्तिनाम् ।
भवेत्स्वर्गेऽक्षयो वास. कीर्तिश्च धरणीतले ॥ ३२१ ॥

तच्छ्रुत्वा क्रथनकश्चिन्तयामास 'एतैस्तावत्सर्वैरपि शोभनानि वाक्यानि

कण्ठ से प्राण (मृत्यु से एक दम समीप) आ जावे तो भी विद्वान् को चाहिए कि अभक्ष्य को भक्षण न करे । उसमे भी विशेष कर उसके स्वल्प शरीर होने से तो दोनो लोक ही बिगड जाते हैं ॥ ३१९ ॥

सो तुमने अपनी कुलीनता दिखला दी । अथवा यह ठीक ही कहा जाता है

इसलिए तो राजा लोग कुलीन (खान्दानी) लोगो का सग्रह करते हैं (अपने राजकीय कार्य मे रखते हैं) क्योकि कुलीन लोगो के मन मे पहले बीच और अन्तिम अवस्था (सकट काल मे) मे भी विकार प्राप्त नहीं होता ॥ ३२० ॥

सो आगे हटो, जिससे मै भी (आपसे) मालिक से निवेदन करूँ । उसके वैसा करने (हटने) पर चीते ने प्रणाम कर मदोत्कट से कहा—'स्वामी ! आज मेरे प्राणो से आप अपने प्राण बचाइए और मुझे स्वर्ग मे सदैव के लिए वास दीजिए । और ससार मे मेरा यश फैलाइए तथा आप इसके बारे मे कुछ भी विकल्प (सशय) मत कीजिए । कहा भी है—

जो आदेश पालक सेवक स्वामी के लिए अपने प्राणो का परित्याग कर देते हैं वे स्वर्ग मे अनन्त काल तक रहते हैं और ससार में उनकी क्षयरहित कीर्ति भी फैलती है ॥ ३२१ ॥

यह सब सुनकर क्रथनक चिन्ता करने लगा कि 'इन सबो ने अच्छी-अच्छी

प्रोक्तानि । न चैकोऽपि स्वामिना विनाशित । तदहमपि प्राप्तकाल विज्ञापयामि । येन मम वचनमेते त्रयोऽपि समर्थयन्ति । इति निश्चित्य प्रोवाच-'भो, सत्यमुक्त भवता । पर भवानपि नखायुध । तत्कथ भवन्त स्वामी भक्षयति । उक्त च--

मनसापि स्वजात्याना योऽनिष्टानि प्रचिन्तयेत् ।
भवन्ति तस्य तान्येव इह लोके परत्र च ।। ३२२ ।।

तदपसराग्रत, येनाह स्वामिन विज्ञापयामि ।' तथानुष्ठिते क्रथनकोऽग्रे स्थित्वा प्रणम्योवाच—'स्वामिन्, एते तावदभक्ष्या भवताम् । तन्मम प्राणै प्राणयात्रा विधीयताम्, येन ममोभयलोकप्राप्तिर्भवति । उक्त च—

न यज्वानोऽपि गच्छन्ति ता गति नैव योगिन ।
या यान्ति प्रोज्झितप्राणा स्वाम्यर्थे सेवकोत्तमा ।।३२३।।

एवमभिहिते ताभ्या शृगालचित्रकाभ्या विदारितोभयकुक्षि क्रथनक प्राणानत्याक्षीत् । ततश्च तै क्षुद्रपण्डितै सर्वैर्भक्षित । अतोऽह ब्रवीमि—'बहव पण्डिता क्षुद्रा' इति ।।

बाते कही हैं, किन्तु किसी को भी प्रभु ने मारा नही है । सो मै भी समय पाकर निवेदन करूँ जिससे ये तीनो मेरी बातो का समर्थन करेंगे । इतना विचार कर उसने कहा —'हाँ तुमने ठीक कहा—किन्तु तुम भी तो नख आयुध वाले हो, तो स्वामी तुम्हे कैसे खायेंगे ? कहा भी है ।

जो मन से अपनी जाति का अनिष्ट सोचता है उसका इस लोक एव परलोक दोनो मे अनिष्ट होता है ।। ३२२ ।।

सो आगे से हट जाओ, जिससे मैं भी स्वामी से निवेदन करूँ । उसके वैसा करने पर क्रथनक ने खडा हो, प्रणाम कर कहा—'हे स्वामी । ये सभी आपके भक्षण करने योग्य नही है । सो आप मेरे प्राणो से अपनी जान बचाइए, जिससे मुझे दोनो लोक की प्राप्ति हो । कहा भी है—

न यज्ञ करने वाले और न योगी ही उस गति को प्राप्त करते हैं जिस गति को श्रेष्ठ सेवक अपने मालिक के लिए प्राणो को छोडकर प्राप्त करते हैं ।। ३२३ ।।

ऐसा कहने पर सियार और चीते ने उसकी दोनो कोख फाड डाली, जिससे क्रथनक ने प्राणो को छोड दिया । इसके बाद उन सब क्षुद्र पण्डितो ने उसे खा डाला । इसी से मैं कहता हूँ 'बहुत से क्षुद्र पण्डितो ने' इत्यादि ।

तद्भद्र, क्षुद्रपरिवारोऽय ते राजा मया सम्यग्ज्ञातः। सतामसेव्यश्च। उक्त च—

अशुद्धप्रकृतौ राज्ञि जनता नानुरज्यते।
यथा गृध्रसमासन्न कलहस समाचरेत् ॥३२४॥

तथा च—गृध्राकारोऽपि सेव्य स्याद्धसाकारै सभासदै।
हसाकारोऽपि सत्याज्यो गृध्राकारैः स तैर्नृप. ॥३२५॥

तन्नून ममोपरि केनचिद् दुर्जनेनाय प्रकोपित, तेनैव वदति। अथवा भवत्येतत्। उक्त च—

मृदुना सलिलेन खन्यमानान्यवघृष्यन्ति गिरेरपि स्थलानि।
उपजापविदा च कर्णजापै किमु चेतासि मृदूनि मानवानाम् ॥३२६॥
कर्णविषेण च भग्न किं किं न करोति बालिशो लोक।
क्षपणकतामपि धत्ते पिबति सुरा नरकपालेन ॥ ३२७ ॥

इसलिए हे भद्र ! मैंने अच्छी तरह जान लिया कि तुम्हारे राजा के परिवार मे सब नीच ही नीच भरे हैं। अत सज्जनो को चाहिए कि इसकी सेवा न करें। कहा भी है—

जिस प्रकार गृध्र आदिको से घिरा हुआ कलहस (राजहस) श्रेष्ठ आचरण नही कर सकता, उसी प्रकार कलुषित विचार वाले मत्री आदिको से परिवेष्टित राजा से भी जनता प्रसन्न नही रह सकती है ॥ ३२४ ॥

और भी—यदि गृध्र के समान कठोर आकार वाला राजा हो और हस के समान मृदुल आकार वाले उसके सभासद हो तो उसकी सेवा करनी चाहिए। परन्तु यदि हस के समान आकार वाला राजा हो और गृध्र के समान आकार वाले सभासद हो तो उसे त्याग देना चाहिए ॥ ३२५ ॥

इसलिए किसी दुष्ट ने निश्चय ही मुझ पर इसको कुपित करा दिया है, जिससे यह ऐसा कहता है। अथवा यह होता ही है। कहा भी है—

कोमल जल के बराबर आघात से पर्वत स्थल (पहाड की चट्टान, पत्थर) भी घिस जाते हैं, फिर उपजाप (भेद मे कुशल मनुष्यों के लगातार कान भरते रहने से मनुष्यो का कोमल चित्त कब तक अडिग रह सकता है ॥३२६॥

कान भरने के विष से बिगडे हुए नासमझ मनुष्य क्या नही कर डालता ? कोई तो नग्न सन्यास भी धारण कर लेता है और कोई नर कपाल (मनुष्य की खोपडी) मे मद्यपान भी करने लगता है ॥ ३२७ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

पादाहतोऽपि दृढदण्डसमाहतोऽपि
यं दंष्ट्रया स्पृशति तं किल हन्ति सर्पः ।
कोऽप्येष एव पिशुनोग्रमनुष्यधर्मः
कर्णे परं स्पृशति हन्ति परं समूलम् ॥३२८॥

तथा च—अहो खलभुजङ्गस्य विपरीतो वधक्रमः ।
कर्णे लगति चैकस्य प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥ ३२९ ॥

तदेवं गतेऽपि किं कर्तव्यमित्यहं त्वां सुहृद्भावात्पृच्छामि ।' दमनक आह—'तद्देशान्तरगमनं युज्यते । नैवंविधस्य कुस्वामिनः सेवा विधातुम् । उक्तं च—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते' ॥ ३३० ॥

संजीवक आह—'अस्माकमुपरि स्वामिनि कुपिते गन्तुं न शक्यते, न चान्यत्र गतानामपि निर्वृतिर्भवति । उक्तं च—

अथवा ठीक ही कहा है—

चरणो द्वारा कुचले जाने और दृढ (मजबूत) दण्डे द्वारा मारे जाने पर सर्प जिसे दांतो से डँस लेता है उसी की मृत्यु होती है । परन्तु यह पिशुन (चुगलखोर) कैसा असाधारण जीव है जो एक के तो कान मे लगता (डँसता) है, किन्तु दूसरे का समूल नाश कर देता है ॥ ३२८ ॥

और भी— अत्यधिक आश्चर्य की बात है कि इस चुगलखोर रूपी सर्प के मारने का उपाय ही विपरीत प्रकार का है । यह एक के कान मे लगता (डँसता) है, किन्तु प्राणो से कोई दूसरा ही वियुक्त होता है ॥ ३२९ ॥

इसलिए ऐसा होने पर भी अब क्या करना चाहिए, यह मैं मित्रभाव से तुमसे पूछता हूँ । दमनक ने कहा—'यहां से कही दूसरे देश मे चले जाना उचित है, परन्तु इस प्रकार के दुष्ट मालिक की सेवा करना उचित नही । कहा भी है—

यदि अवलिप्त (उद्धत, मदोन्मत्त) कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को न जानते हुए कुमार्ग-गामी गुरुजन भी हो तो उनका परित्याग कर देना चाहिए' ॥ ३३० ॥

सञ्जीवक ने कहा—'हम स्वामी के क्रुद्ध होने पर भी दूसरी जगह नही जा सकते और न हमारा दूसरी जगह जाने पर कल्याण ही हो सकता है ।' कहा भी है—

महता योऽपराध्येत दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू ताभ्यां हिंसति हिंसकम् ।। ३३१ ।।

तद्युद्ध मुक्त्वा मे नान्यदस्ति श्रेयस्करम् । उक्त च--

न तान् हि तीर्थैस्तपसा च लोकान् स्वर्गैषिणो दानशतै सुवृत्तैः ।
क्षणेन यान् यान्ति रणेषु धीरा प्राणान् समुज्झन्ति हि ये सुशीला ।।३३२।।

मृतै सप्राप्यते स्वर्गो जीवद्भि कीर्तिरुत्तमा ।
तदुभावपि शूराणा गुणावेतौ सुदुर्लभौ ।। ३३३ ।।

ललाटदेशे रुधिर स्रवत्तु शूरस्य यस्य प्रविशेच्च वक्त्रे ।
तत्सोमपानेन सम भवेच्च सग्रामयज्ञे विधिवत्प्रदिष्टम् ।।३३४।।

तथा च—होमार्थैर्विधिवत्प्रदानविधिना सद्विप्रवृन्दार्चनै-
र्यज्ञैर्भूरिसुदक्षिणै सुविहितै सम्प्राप्यते यत्फलम् ।

'जो बडे लोगो का अपराध करता है और दूर भाग कर यह विचार करता कि मैं दूर हूँ वह मेरा कुछ अनिष्ट नही कर सकता' यह गलत है । क्योकि बुद्धिमान् मनुष्य की भुजाएँ बडी लम्बी होती हैं (जो दूरस्थित वस्तु के ग्रहण करने मे समर्थ होती हैं) अत उस अपराधी को पकड कर नाश ही कर डालते हैं ।। ३३१ ।

सो युद्ध के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई कल्याणकारी मार्ग नही रह गया है । कहा भी है—

स्वर्ग की अभिलाषा करने वाले मनुष्य तीर्थ, तप, सैकडो दान एव सुशील आचरण करने पर भी उन लोको को नही पा सकते, जिनको धैर्यवान् और सुशील मनुष्य सग्राम मे अपने प्राणो का परित्याग कर पाते हैं ।। ३३२ ।।

युद्ध मे मृत्यु होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है और उसमे विजय पाकर जीने से उत्तम कीर्ति मिलती है । ये दोनो गुण (स्वर्गप्राप्ति एव कीर्त्तिप्राप्ति) वीरो के लिए दुर्लभ है ।। ३३३ ।।

जिस वीर पुरुष के माथे से रक्त बहता हुआ उसके मुख मे प्रवेश करता है, वह युद्धरूपी यज्ञ मे विधिपूर्वक सोमरस पीने के समान है—ऐसा शास्त्रकारो ने कहा है ।। ३३४ ।।

और भी—विधिपूर्वक होम, प्रकृष्ट दान, विद्वान् ब्राह्मणो की पूजा और बडी-बडी दक्षिणावाले यज्ञो को करने से तथा उत्तम तीर्थ, आश्रमवास, होम

सत्तीर्थाश्रमवासहोमनियमैश्चान्द्रायणाद्यै कृतै.
पुंभिस्तत्फलमाहवे विनिहतै सम्प्राप्यते तत्क्षणात् ॥२३५॥

तदाकर्ण्य दमनकश्चिन्तयामास—'युद्धाय कृतनिश्चयोऽय दृश्यते दुरात्मा। तद्यदि कदाचित्तीक्ष्णशृङ्गाभ्या स्वामिन प्रहरिष्यति तन्महाननर्थ सपत्स्यते। तदेन भूयोऽपि स्वबुद्धया प्रबोध्य तथा करोमि यथा देशान्तरगमन करोति।' आह च—'भो मित्र, सम्यगभिहित भवता। पर क स्वामिभृत्ययो सग्रामः। उक्त च—

बलवन्त रिपु दृष्ट्वा किलात्मान प्रगोपयेत्।
बलवद्भिश्च कर्तव्या शरच्चन्द्रप्रकाशता ॥ २३६ ॥

अन्यच्च—शत्रोर्विक्रममज्ञात्वा वैरमारभते हि य।
स पराभवमाप्नोति समुद्रष्टिट्टिभाद्यथा ॥ २३७ ॥

सजीवक—आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

(अग्निहोत्रानुष्ठान), नियम (इन्द्रिय-निग्रहादि) एव चान्द्रायणादि व्रत-विशेष करने से पुरषो को जो फल प्राप्त होता है वह फल युद्ध मे मरने पर वीरों को उसी क्षण प्राप्त होता है ॥ २३५ ॥

यह सुनकर दमनक विचारने लगा—'इस दुष्टात्मा ने तो लडाई करने का निर्णय कर लिया है, यदि यह कही तीखे सीगो से स्वामी पर प्रहार कर बैठा तो बहुत भारी अनर्थ होगा। इसलिए इसको एक बार पुन अपनी बुद्धि से समझा कर, वैसा करूँ, जिससे यह अन्यत्र चला जाय।' यह विचार कर उसने कहा—'हे मित्र! तुमने ठीक कहा, परन्तु स्वामी और सेवक की लडाई कैसी? कहा भी है—

प्रबल शत्रु को देखकर जैसे हो अपने को भली भाँति रक्षित कर लेना चाहिए, और स्वय सबल होने पर शरत्कालीन चन्द्रमा के समान अपना प्रकाश फैलाना चाहिए अर्थात् विधिपूर्वक स्थित रहना चाहिए ॥ २३६ ॥

और भी— जो अपने शत्रु के पराक्रम को न समझकर विरोध (आन्दोलन) करता है, वह उसी प्रकार पराजय को प्राप्त होता है, जैसे टिट्टिभ से समुद्र ॥ २३७ ॥

सञ्जीवक ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

कथा १२

कस्मिश्चित्समुद्रतीरैकदेशे टिट्टिभदम्पती प्रतिवसत स्म। ततो गच्छति काले ऋतुसमयमासाद्य टिट्टिभी गर्भमाधत्त। अथासन्नप्रसवा सती सा टिट्टिभमूचे—'भो कान्त, मम प्रसवसमयो वर्तते। तद्विचिन्त्यता किमपि निरुपद्रव स्थानम्, येन तत्राहमण्डकविमोक्षण करोमि।' टिट्टिभ प्राह—'भद्रे, रम्योऽय समुद्रप्रदेश। तदत्रैव प्रसव कार्य।' साह—'अत्र पूर्णिमादिने समुद्रवेला चरति। सा मत्तगजेन्द्रानपि समाकर्षति। तद्दूरमन्यत्र किञ्चित्स्थानमन्विष्यताम्।' तच्छ्रुत्वा विहस्य टिट्टिभ प्राह—'भद्रे, युक्तमुक्त भवत्या। का मात्रा समुद्रस्य या मम दूषयिष्यति प्रसूतिम्। कि न श्रुत भवत्या—

बद्ध्वाम्बरचरमार्गं व्यपगतधूम सदा महद्भयदम्।
मन्दमति क प्रविशति हुताशन स्वेच्छया मनुज ॥ ३३८॥
मत्तेभकुम्भविदलनकृतश्रम सुप्तमन्तकप्रतिमम्।
यमलोकदर्शनेच्छु सिह बोधयति को नाम॥ ३३९॥

किसी समुद्र के एक प्रदेश मे टिट्टिभ और टिट्टिभी (पति-पत्नी) रहा करते थे। कुछ समय के बीत जाने पर ऋतु समय को प्राप्त कर टिट्टिभी ने गर्भ धारण किया। प्रसवकाल के समीप होने पर उसने टिट्टिभ से कहा—'हे प्राणनाथ! मेरे सव का समय निकट आ गया है। अत कोई उपद्रवरहित स्थान का अन्वेषण ीजिए जहाँ मैं अण्डे दे सकूँ।' टिट्टिभ ने कहा—कल्याणि! यह समुद्र का तट त्यधिक रमणीक है, अत यही 'प्रसव कार्य' करो।' उसने कहा—'इस स्थान र पूर्णिमा के दिन समुद्र मे लहर आती है। जो बडे बडे मदोन्मत्त हाथियो को भी (समुद्र—गर्भ मे) खीच ले जाती है। सो कही दूर दूसरा स्थान खोजो।' यह सुन हँसकर टिट्टिभ ने कहा—'देवी! तुमने कहा तो ठीक है, किन्तु समुद्र की क्या शक्ति जो मेरी सन्तान को दूषित (नष्ट) करे। क्या तुमने यह नही सुना है?—

कौन ऐसा मूर्ख मनुष्य होगा जो आकाश मे भ्रमण करने वाले पक्षियो का मार्ग अवरुद्ध करेगा और धुआँ से रहित (प्रखर प्रज्वलित) महाभयदायक अग्नि मे अपनी अभिलाषा से प्रवेश करेगा? ॥३३८॥

यमलोक का दर्शन करने की अभिलाषा रखनेवाला कौन ऐसा व्यक्ति होगा

को गत्वा यमसदन स्वयमन्तकमादिशत्यजातभय ।
प्राणानपहर मत्तो यदि शक्ति काचिदस्ति तव ॥ ३४० ॥
प्रालेयलेशमिश्र मरुति प्राभातिके च वाति जडे ।
गुणदोषज्ञ पुरुषो जलेन क शीतमपनयति ॥ ३४१ ॥

तस्मान्निश्चब्धात्रैव गर्भं मुञ्च । उक्त च—

य पराभवसत्रस्त स्वस्थान सत्यजेन्नर ।
तेन चेत्पुत्रिणी माता तद्वन्ध्या केन कथ्यते ॥ ३४२ ॥

तच्छ्रुत्वा समुद्रश्चिन्तयामास—'अहो गर्व. पक्षिकीटस्यास्य अथवा साध्विदमुच्यते—

उत्क्षिप्य टिट्टिभ पादावास्ते भङ्गभयाद्दिव ।
स्वचित्तकल्पितो गर्व कस्य नात्रापि विद्यते ॥ ३४३ ॥

तन्मयास्य प्रमाण कुतूहलादपि द्रष्टव्यम् । किं ममैषोऽण्डापहारे कृते

जो मन्दोन्मत्त हाथियो के गण्डस्थल को फाडने का परिश्रम करके काल की मूर्ति के समान सोते हुए सिंह को जगावेगा ? ॥ ३३९ ॥

कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो स्वय यमलोक जाकर भयरहित हो अन्तक (यमराज) से कहेगा कि 'यदि तुम्हारे मे कुछ सामर्थ्य है तो मेरे प्राणो को हरण करो !' ॥ ३४० ॥

कौन ऐसा गुण-दोष को जाननेवाला व्यक्ति होगा जो तुषार से सवलित (बर्फ से मिलित) और अत्यधिक शीतल प्रभातकालीन वायु के बहने पर उस शीत को जल से निवारण करने का उद्योग करेगा ? ॥ ३४१ ॥

इसलिए नि सन्देह होकर यही पर गर्भ का त्याग करो । कहा भी है—

जो मनुष्य पराजय के भय से अपने स्थान को छोड देता है, ऐसे व्यक्ति के होने से यदि माता पुत्रवती कही जाय तो फिर वन्ध्या कौन कही जायगी ॥३४२॥

इसे सुनकर समुद्र ने विचार किया —'अरे ! इस पक्षि-कीट (कीडे जैसे तुच्छ पक्षी) को इतना अभिमान है । अथवा ठीक ही कहा है—

'आकाश कही हमारे ऊपर टूटकर गिर न पडे' इस भय से टिट्टिभ अपने पैरो को आकाश की ओर ऊपर उठाकर सोता है । भला इस ससार मे किसको अपने चित्त से कल्पना किया हुआ अभिमान नही होता ? (अर्थात् सभी छोटे या बडे प्राणियो मे अपने चित्त के अनुसार अहङ्कार होता ही है) ॥३४३ ॥

'सो मैं इसके प्रमाण (निदर्शन, उदाहरण अर्थात् शक्ति) को कौतुकवश

करिष्यति।' इति चिन्तयित्वा स्थित । अथ प्रसवानन्तर प्राणयात्रार्थं गतायाष्टिट्टिभ्या. समुद्रो वेलाव्याजेनाण्डान्यपजहार। अथायाता सा टिट्टिभी प्रसवस्थान शून्यमवलोक्य प्रलपन्ती टिट्टिभमूचे—'भो मूर्ख, कथितमासीन्मया ते यत्समुद्रवेलयाण्डाना विनाशो भविष्यति। तद्-दूरतर व्रजाव । पर मूढतयाहृकारमाश्रित्य मम वचन न करोपि। अथवा साध्विदमुच्यते—

सुहृदा हितकामाना न करोतीह यो वच ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धि काष्ठाद् भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ३४४ ॥

टिट्टिभ आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा १३

अस्ति कस्मिश्चिज्जलाशये कम्बुग्रीवो नाम कच्छप । तस्य च सकटविकट-नाम्नी मित्रे हसजातीये परमस्नेहकोटिमाश्रिते नित्यमेव सरस्तीरमासाद्य तेन सहानेकदेवर्षिमहर्षीणा कथा कृत्वास्तमयवेलाया स्वनीडसश्रय कुरुत ।

देखूंगा। मेरे द्वारा अण्डे हरण कर लेने पर देखें यह क्या करेगा ? ऐसा सोचकर वह स्थित हो गया और प्रसव (अण्डे उत्पन्न) हो जाने के बाद अपनी प्राण-यात्रा (आहार) के लिए टिट्टिभी के कहीं चले जाने पर समुद्र ने लहर (जल-वृद्धि) के बहाने अण्डो का अपहरण कर लिया। तदनन्तर जब वह टिट्टिभी लौटकर आयी तो प्रसव-स्थान को शून्य देखकर बिलखती हुई टिट्टिभ से कहने लगी—'अरे मूर्ख! मैंने पहले ही तुमसे कहा था कि समुद्र को लहर से अण्डो का नाश हो जायगा, सो यहाँ से दूर चलें, किन्तु मूर्खता के कारण अहङ्कार का अवलम्बन कर तुमने मेरी बातें न मानो। अथवा ठीक ही कहा है—

इस ससार मे जो मनुष्य अपने हित करने वाले मित्रो की बात नही सुनता (आज्ञा पालन नही करता) वह दुर्बुद्धि, काठ से गिरे उस कछुए के समान नष्ट हो जाता है ॥ ३४४ ॥

टिट्टिभ ने कहा—'यह कैसे ?' वह कहने लगी—

किसी सरोवर (तालाव) मे कम्बुग्रीव नाम का एक कछुआ रहता था। उसके सङ्कट और विकट नाम के हस जाति के परमस्नेह की कोटि के स्वरूप के समान दो मित्र थे जो नित्य जलाशय के तट पर आकर उसके साथ अनेक प्रकार के देवर्षियो एव महर्षियो की कथा कहते और सन्ध्याकाल के समय अपने

अरक्षित तिष्ठति दैवरक्षित सुरक्षित दैवहत विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जित कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥३५२॥

तदह न यास्यामि भवद्भ्या च यत्प्रतिभाति तत्कर्तव्यम्।' अथ तस्य त निश्चय ज्ञात्वानागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च निष्क्रान्तौ सह परिजनेन। अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालैस्तज्जलाशयमालोड्य यद्भविष्येण सह तत्सरो निर्मत्स्यता नीतम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इति ॥

तच्श्रुत्वा टिट्टिभ आह-'भद्रे, किं मा यद्भविष्यसदृश सभावयसि। तत्पश्य मे बुद्धिप्रभाव यावदेन दुष्टसमुद्र स्वचञ्च्वा शोषयामि।' टिट्टिभ्याह—अहो कस्ते समुद्रेण सह विग्रह। तन्न युक्तमस्योपरि कोप कर्तुम्। उक्त च—

पुसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोप।
पिठर ज्वलदतिमात्र निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥३५३॥

अपरिपालित प्राणी भाग्य के सहारे जीवित रहता है, किन्तु यत्न से पालित प्राणी भाग्य से उपेक्षित होकर (अरक्षित होकर) स्थित नही रह सकता, क्योकि वन मे छोडा हुआ अनाथ व्यक्ति भी जी जाता है, किन्तु लाख यत्न करने पर भी सनाथ घर मे नही जीता ॥ ३५२ ॥

सो मै तो (दूसरी जगह) नही जाऊँगा, तुम दोनो को जो अच्छा लगे सो करो ?' तदनन्तर उसका ऐसा निश्चय जान कर 'अनागतविधाता' और 'प्रत्युत्पन्नमति' अपने बन्धु-बान्धवो के साथ वहाँ से चल दिये। इसके बाद दूसरे दिन प्रात काल धीवरो ने जाल से उस जलाशय को आलोडित कर के 'यद्भविष्य' समेत उस सरोवर को मछली से रहित कर दिया। इसी से मैं कहती हूँ—'अनागतविधाता' और प्रत्युत्पन्नमति' इत्यादि।

यह सुन कर टिट्टिभ ने कहा—हे कल्याणि ! क्या मुझे 'यद्भविष्य' के समान समझती हो ? सो मेरे बुद्धिप्रभाव को तव तक देखते रहना जब तक मैं इस दुष्ट समुद्र को अपनी चोच से सुखा न डालूँ ? टिट्टिभी ने कहा- –'अरे ! समुद्र के साथ तुम्हारी कैसी लडाई ? इस पर क्रोध करना ठीक नही। कहा भी है—

असमर्थ पुरुषो का क्रोध अपने ही उपद्रव (नाश) के लिए होता है। अत्यधिक जलती हुई भट्टी अपने निकट की ही वस्तु को जलाती ॥३५३॥

तथा च—अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुक ।
गच्छन्नभिमुखो नाश याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ ३५४ ॥

टिटिटभ आह—'प्रिये, मा मैव वद। येषामुत्साहशक्तिर्भवति ते स्वल्पा अपि गुरून्विक्रमन्ते। उक्त च—

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्षण ।
आभिमुख्य शशाङ्कस्य यथाऽद्यापि विधुन्तुद ॥ ३५५ ॥

तथा च—प्रमाणादधिकस्यापि गण्डश्याममदच्युते ।
पद मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ ३५६ ॥

तथा च—बालस्यापि रवे पादा पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
तेजसा सह जाताना वय कुत्रोपयुज्यते ॥ ३५७ ॥

हस्ती स्थूलतर स चाङ्कुशवश किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तम किं दीपमात्र तम ।

और भी—जो अपने और शत्रु के सामर्थ्य का विचार किये बिना ही उत्तेजित होकर शत्रु का सामना करता है वह अग्नि मे पडे फतिंगे के समान स्वय नष्ट हो जाता है ॥ ३५४ ॥

टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये। ऐसा मत कहो' जिनके पास उत्साह-सामर्थ्य (अध्यवसाय) होता है, वे छोटे होने पर भी बडो पर आक्रमण कर देते हैं। कहा भी है—

विधुन्तुद (राहु) इस समय भी जिस प्रकार परिपूर्ण (पूर्णिमा के) चन्द्रमा के सम्मुख जाता है (राहु चन्द्रमा पर आक्रमण करता है) उसी प्रकार क्रोध करने वाला मनुष्य भी विशेष कर परिपूर्ण शत्रु के ही सम्मुख जाता है। (शूर पुरुष दुर्बलो के साथ युद्ध नही करता) ॥ ३५५ ॥

और भी—अपने शरीर के प्रमाण से अधिक और कपोल स्थल से श्याम-वर्ण का मद च्युत करने वाला मदोन्मत्त हाथी के मस्तक पर ही सिंह चरण रखता है। (उत्साही व्यक्ति अल्प देखने मे आने पर भी विशालकाय शत्रु को भी पराजित कर देता है) ॥ ३५६ ॥

और भी—जिस प्रकार नवोदित सूर्य की किरणें (पाद) भूभृतो (पर्वतो) के ऊपर गिरती हैं, उसी प्रकार तेज के साथ उत्पन्न पुरुषो की उम्र नही देखी जाती। (सर्वत्र तेज के प्रभाव से ही विजय होती है, केवल विशालकाय रहने से नही) ॥ ३५७ ॥

अरक्षित तिष्ठति दैवरक्षित सुरक्षित दैवहत विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जित कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥३५२॥

तदह न यास्यामि भवद्भ्या च यत्प्रतिभाति तत्कर्तव्यम्।' अथ तस्य त निश्चय ज्ञात्वानागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिश्च निष्क्रान्तौ सह परिजनेन। अथ प्रभाते तैर्मत्स्यजीविभिर्जालैस्तज्जलाशयमालोड्य यद्भविष्येण सह तत्सरो निर्मत्स्यता नीतम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इति ॥

तच्छ्रुत्वा टिट्टिभ आह-'भद्रे, किं मा यद्भविष्यसदृश सभावयसि। तत्पश्य मे बुद्धिप्रभाव यावदेन दुष्टसमुद्र स्वचञ्च्वा शोषयामि।' टिट्टिभ्याह—अहो कस्ते समुद्रेण सह विग्रह। तन्न युक्तमस्योपरि कोप कर्तुम्। उक्त च—

पुसामसमर्थानामुपद्रवायात्मनो भवेत्कोप।
पिठर ज्वलदतिमात्र निजपार्श्वानेव दहतितराम् ॥३५३॥

अपरिपालित प्राणी भाग्य के सहारे जीवित रहता है, किन्तु यत्न से पालित प्राणी भाग्य से उपेक्षित होकर (अरक्षित होकर) स्थित नही रह सकता, क्योकि वन मे छोडा हुआ अनाथ व्यक्ति भी जी जाता है, किन्तु लाख यत्न करने पर भी सनाथ घर मे नही जीता ॥ ३५२ ॥

सो मै तो (दूसरी जगह) नही जाऊँगा, तुम दोनो को जो अच्छा लगे सो करो ?' तदनन्तर उसका ऐसा निश्चय जान कर 'अनागतविधाता' और 'प्रत्युत्पन्नमति' अपने बन्धु-बान्धवो के साथ वहाँ से चल दिये। इसके बाद दूसरे दिन प्रात काल धीवरो ने जाल से उस जलाशय को आलोडित कर के 'यद्भविष्य' समेत उस सरोवर को मछली से रहित कर दिया। इसी से मै कहती हूँ—'अनागतविधाता' और प्रत्युत्पन्नमति' इत्यादि।

यह सुन कर टिट्टिभ ने कहा—हे कल्याणि ! क्या मुझे 'यद्भविष्य' के समान समझती हो ? सो मेरे बुद्धिप्रभाव को तब तक देखते रहना जब तक मै इस दुष्ट समुद्र को अपनी चोच से सुखा न डालूँ ? टिट्टिभी ने कहा-—'अरे ! समुद्र के साथ तुम्हारी कैसी लडाई ? इस पर क्रोध करना ठीक नही। कहा भी है—

असमर्थ पुरुषो का क्रोध अपने ही उपद्रव (नाश) के लिए होता है। अत्यधिक जलती हुई भट्ठी अपने निकट की ही वस्तु को जलाती ॥३५३॥

तथा च—अविदित्वाऽऽत्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः ।
गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ ३५४ ॥

टिटिटभ आह—'प्रिये, मा मैवं वद। येषामुत्साहशक्तिर्भवति ते स्वल्पा अपि गुरून्विक्रमन्ते। उक्तं च—

विशेषात्परिपूर्णस्य याति शत्रोरमर्षणः ।
आभिमुख्यं शशाङ्कस्य यथाऽद्यापि विधुन्तुदः ॥ ३५५ ॥

तथा च—प्रमाणादधिकस्यापि गण्डश्याममदच्युतेः ।
पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः ॥ ३५६ ॥

तथा च—बालस्यापि रवेः पादाः पतन्त्युपरि भूभृताम् ।
तेजसा सह जातानां वयः कुत्रोपयुज्यते ॥ ३५७ ॥

हस्ती स्थूलतरः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः ।

और भी—जो अपने और शत्रु के सामर्थ्य का विचार किये बिना ही उत्तेजित होकर शत्रु का सामना करता है वह अग्नि मे पडे फतिंगे के समान स्वय नष्ट हो जाता है ॥ ३५४ ॥

टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये ! ऐसा मत कहो' जिनके पास उत्साह-सामर्थ्य (अध्यवसाय) होता है, वे छोटे होने पर भी बडो पर आक्रमण कर देते हैं । कहा भी है—

विधुन्तुद (राहु) इस समय भी जिस प्रकार परिपूर्ण (पूर्णिमा के) चन्द्रमा के सम्मुख जाता है (राहु चन्द्रमा पर आक्रमण करता है) उसी प्रकार क्रोध करने वाला मनुष्य भी विशेष कर परिपूर्ण शत्रु के ही सम्मुख जाता है। (शूर पुरुष दुर्बलो के साथ युद्ध नही करता) ॥ ३५५ ॥

और भी—अपने शरीर के प्रमाण से अधिक और कपोल स्थल से श्याम-वर्ण का मद च्युत करने वाला मदोन्मत्त हाथी के मस्तक पर ही सिंह चरण रखता है। (उत्साही व्यक्ति अल्प देखने मे आने पर भी विशालकाय शत्रु को भी पराजित कर देता है) ॥ ३५६ ॥

और भी—जिस प्रकार नवोदित सूर्य की किरणें (पाद) भूभृतो (पर्वतो) के ऊपर गिरती हैं, उसी प्रकार तेज के साथ उत्पन्न पुरुषो की उम्र नही देखी जाती। (सर्वत्र तेज के प्रभाव से ही विजय होती है, केवल विशालकाय रहने से नही) ॥ ३५७ ॥

वज्रेणापि हृता पतन्ति गिरय किं वज्रमात्रो गिरि-
स्तेजो यस्य विराजते स बलवान्स्थूलेषु क. प्रत्ययः ॥ ३५८ ॥

तदनया चञ्च्वाऽस्य सकल तोय शुष्कस्थलता नयामि।' टिट्टिभ्याह- 'भो कान्त, यत्र जाह्नवी नवनदीशतानि गृहीत्वा नित्यमेव प्रविशति, तथा सिन्धुश्च। तत्कथ त्वमष्टादशनदीशतै पूर्यमाण त विप्रुषवाहिन्या चञ्च्वा शोषयिष्यसि ? तत्किमश्रद्धेयेनोक्तेन।' टिट्टिभ आह— 'प्रिये—

अनिर्वेदः श्रियो मूल चञ्चुर्मे लोहसनिभा।
अहोरात्राणि दीर्घाणि समुद्र किं न शुष्यति ॥ ३५९ ॥
दुरधिगम परभागो यावत्पुरुषेण पौरुष न कृतम्।
जयति तुलामधिरूढो भास्वानपि जलदपटलानि ॥ ३६० ॥

हाथी अत्यधिक स्थूलकाय है, किन्तु वह अड्कुश के अधीन रहता है, तो क्या अड्कुश हाथी के समान है ? दीपक के प्रज्वलित होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, तो क्या दीपक अन्धकार की तरह व्यापक है, वज्र से सैकडो पर्वत गिर जाते है, तो क्या वज्र पर्वत के तुल्य है (अत. यह सिद्ध होता है कि) जिसमे तेज विशेष रूप से विद्यमान है वही बलवान् है, स्थूल आकार वालो का क्या भरोसा ? ॥ ३५८ ।

'सो इसी (तुच्छ) चोच से समुद्र का सब जल सुखा डालूँगा।' टिट्टिभी ने कहा—'हे स्वामिन्! जिसमे नौ सौ नदियो को लेकर गङ्गा नित्य प्रवेश करती है और उसी प्रकार (नौ सौ नदियो को लेकर) सिन्धु नद भी (प्रवेश करता है), सो किस प्रकार तुम अट्ठारह सौ नदियो द्वारा परिपूर्ण होनेवाले समुद्र को पानी की एक बूँद ले जानेवाली चोच से सुखा सकोगे ? इसलिए इन अविश्वनीय बातो के कहने से क्या प्रयोजन ? टिट्टिभ ने कहा—'प्रिये!

हताश न होना ही लक्ष्मी का मूल है और मेरी चोच लोहा के समान कठिन है, दिन रात इतने बडे होते है, क्या (इतने पर भी) समुद्र न सूखेगा ? (अर्थात् उत्साहपूर्वक मैं इस कठिन चोच से अधिक समय लगाकर समुद्र को अवश्य सुखा डालूँगा) ॥ ३५९ ॥

जब तक मनुष्य पुरुषार्थ नही करता, तब तक उत्कर्ष मिलना दुर्लभ है। (जिस प्रकार) तुला राशि मे प्राप्त हुआ सूर्य ही मेघ-वृन्दो पर विजय प्राप्त करता है (जब तक पराक्रम प्रकाशित न हो तब तक बडे व्यक्ति भी पराजय को ही प्राप्त होते हैं) ॥ ३६० ॥

टिट्टिभ्याह—'यदि त्वयाऽवश्य समुद्रेण सह विग्रहानुष्ठान कार्यम्, तदन्यानपि विहङ्गमानाहूय सुहृज्जनसहित एव समाचर। उक्त च—

बहूनामप्यसाराणा समवायो हि दुर्जय।
तृणरावेष्ट्यते रज्जुर्यया नागोऽपि बद्धयते ।। ३६१ ।।

तथा च—चटकाकाष्ठकूटेन मक्षिकादर्दुरैस्तथा।
महाजनविरोधेन कुञ्जर प्रलय गत' ।। ३६२ ।।

टिट्टिभ आह—'कथमेतत् ?' सा प्राह—

कथा १५

कस्मिश्चिद्वनोद्देशे चटकदम्पती तमालतरुकृतनिलयौ प्रतिवसत स्म। अथ तयोर्गच्छता कालेन सन्ततिरभवत्। अन्यस्मिन्नहनि प्रमत्तो वनगज कश्चित्त तमालवृक्ष॰ घर्मार्तश्छायार्थी समाश्रित। ततो मदोत्कर्षात्ता तस्य शाखा चटकाश्रिता पुष्कराग्रेणाकृष्य बभञ्ज। तस्या भङ्गेन चटकाण्डानि सर्वाणि विशीर्णानि। आयुःशेषतया च चटकौ कथमपि प्राणैर्न वियुक्तौ। अथ चटका साण्डभङ्गाभिभूता प्रलापान्कुर्वाणा न किंचित्सुख-

---

टिट्टिभी ने कहा—'यदि तुम्हें समुद्र के साथ अवश्य लड़ाई करनी है तो अन्य पक्षियों को बुलाकर मित्रो के साथ इस प्रकार का व्यवहार करो। कहा भी है—

अधिकतर सारहीन वस्तुओ का समवाय (समूह) अजेय हो जाता है। तृणों से बटकर रस्सी का निर्माण होता है, जिससे हाथी भी बाँध लिए जाते हैं ।। ३६१ ।।

और भी—कठफोरवा और चटका पक्षी, मेढक और मक्खी आदि अनेक जन (व्यक्तियो) के विरोध करने से हाथी का नाश हुआ ।। ३६२ ।।

टिट्टिभ ने कहा—'यह कैसे' ? उसने कहा—

किसी वन के प्रदेश मे चटक पक्षी का एक जोड़ा तमाल वृक्ष में घोसला बनाकर रहता था। कुछ दिन के अन्दर उन्हे सन्तान उत्पन्न हुई। किसी दिन धूप से व्यथित होकर मतवाला हाथी उसी तमाल वृक्ष के नीचे छाया के निमित्त बैठा। मद के आधिक्य के कारण उसकी शाखा को, जिस पर चटका थी, अपनी सूँड के अग्रभाग से खीचकर उसने तोड डाला। उसके टूट जाने से चटका के सब अण्डे फूट गये। आयु अवशिष्ट रहने के कारण किसी प्रकार चटक-

माससाद। अत्रान्तरे तस्यास्तान्प्रलापाञ्छ्रुत्वा काष्ठकूटो नाम पक्षी तस्या परमसुहृत्तद्दु खदु खितोऽभ्येत्य तामुवाच—'भगवति, किं वृथा प्रलापेन। उक्त च—

नष्ट मृतमतिक्रान्त नानुशोचन्ति पण्डिता ।
पण्डिताना च मूर्खाणा विशेषोऽय यत स्मृत ॥ ३६३ ॥

तथा च—अशोच्यानीह भूतानि यो मूढस्तानि शोचति ।
स दु खे लभते दु ख द्वावनर्थौ निषेवते ॥ ३६४ ॥

अन्यच्च—श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्त प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवश ।
तस्मान्न रोदितव्य हि क्रिया कार्याश्च शक्तित. ॥ ३६५ ॥

चटका प्राह—'अस्त्वेतत्। पर दुष्टगजेन मदान्मम सतानक्षय कृत। तद्यदि मम त्व सुहृत्सत्यस्तदस्य गजापसदस्य कोऽपि वधोपायश्चिन्त्यताम्, यस्यानुष्ठानेन मे सततिनाशदु खमपसरति। उक्त च—

चटका के प्राण न गये। चटका अपने अण्डो के फूट जाने से किंकर्तव्यविमूढ हो रुदन करने लगी और किसी प्रकार भी उसे शान्ति न मिल सकी। इसी बीच उसके रुदन को सुनकर 'कठफोरवा' नाम का पक्षी जो उसका घनिष्ठ मित्र था, उसके क्लेश से क्लेशित होकर उसके निकट आकर उससे कहने लगा—'देवी!' व्यर्थ रुदन क्यो करती हो? कहा भी है—

जो वस्तु नष्ट हो गयी, जो मर गया और जो बात बीत चुकी, इन तीन विषयो के लिए विद्वान् लोक शोक नही करते, क्योकि विद्वानो और मूर्खों मे तो इतना ही अन्तर कहा गया है ॥ ३६३ ॥

और—जो मूर्ख इस ससार मे अशोच्य (शोक न करने योग्य) के प्रति शोक करता है, वह क्लेश मे क्लेश पाता है और दो अनर्थों का अनुभव करता है ॥ ३६४ ॥

और भी—प्रेत (मृतात्मा) को विवश (लाचार) होकर (अभिलाषा न रहते हुए भी) अपने कुटुम्बियो द्वारा परित्यक्त श्लेष्माश्रु (कफ और आंसू) का पान करना पडता है, अत मरने पर रोना नही चाहिए किन्तु अपने सामर्थ्यं के अनुसार प्रेत की क्रिया (पारलौकिक श्राद्धादि) करनी चाहिए, जिससे प्रेत की सुगति हो जाय ॥ ३६५ ॥

चटका ने कहा—'यह ठीक है परन्तु दुष्ट हाथी ने मद (अहङ्कार) से मेरी सन्तान का नाश कर डाला है। सो यदि तुम मेरे सच्चे मित्र हो तो —

आपदि येनापकृत येन च हसित दशासु विषमासु ।
अपकृत्य तयोरुभयोः पुनरपि जात नर मन्ये ॥ ३६६ ॥

काष्ठकूट आह—'भगवति, सत्यमभिहित भवत्या । उक्त च—

स सुहृद्व्यसने य स्यादन्यजात्युद्भवोऽपि सन् ।
वृद्धौ सर्वोऽपि मित्र स्यात्सर्वेषामेव देहिनाम् ॥ ३६७ ॥
स सुहृद्व्यसने य स्यात्स पुत्रो यस्तु भक्तिमान् ।
स भृत्यो यो विधेयज्ञ सा भार्या यत्र निर्वृति ॥ ३६८ ॥

तत्पश्य मे बुद्धिप्रभावम् । पर ममापि सुहृद्भूता वीणारवा नाम मक्षिकाऽस्ति । तत्तामाहूयागच्छामि, येन स दुरात्मा दुष्टगजो वध्यते ।' अथासौ चटकया सह मक्षिकामासाद्य प्रोवाच—'भद्रे, ममेष्टेय चटका केनचिद्दुष्टगजेन पराभूताण्डस्फोटनेन । तत्तस्य वधोपायमनुतिष्ठतो मे साहाय्य कर्तुमर्हसि ।' मक्षिकाप्याह—'भद्र, किमुच्यतेऽत्र विषये । उक्त च—

हाथी को मारने का कोई उपाय सोचो, जिसके (वध करने की युक्ति) करने से बच्चे नष्ट हो जाने से उत्पन्न मेरा क्लेश दूर हो सके । कहा भी है—

सङ्कट काल मे जिसने अपना बुरा किया और दुरवस्था मे जिसने हँसी उड़ाई उन दोनो का अनिष्ट करनेवाले प्राणी का मैं पुनर्जन्म मानता हूँ ॥३६६॥

काठफोरवा ने कहा—'देवी ! तुमने ठीक कहा । कहा भी है—

दूसरी जाति में जन्म लेकर भी जो सङ्कट मे सहायता करे वही मित्र है, (वैसे तो) उन्नति मे (अभ्युदय के समय) शरीरधारियों के सब ही मित्र हो जाते हैं ॥ ३६७ ॥

जो दु ख मे साथ दे वही मित्र है, जो भक्तिमान् (आज्ञाकारी) हो वही पुत्र है जो अपने कर्तव्य को समझे वही सेवक है और जो सब तरह से निर्वृति (सुख) दे सके वही भार्या है ॥ ३६८ ॥

सो मेरी बुद्धि के प्रभाव को देखो तो सही, किन्तु मेरी मित्र 'वीणारवा' नाम की एक मक्खी है । सो उसको बुलाकर ले आऊँ जिससे इस दुष्ट हाथी का वध किया जाय। इसके बाद चटका के साथ मक्खी (वीणारवा) के निकट पहुँच कर उसने कहा—'भद्रे ! किसी दुरात्मा हाथी ने अण्डे को नष्ट कर मित्र 'चटका' को व्यथित कर दिया है, सो उसके वध करने के उपाय मे तुम्हें मेरा सहयोग करना चाहिये ।' मक्खी ने कहा—'भद्र ! इस विषय मे आप मुझे क्या आज्ञा देते हैं ? कहा भी है—

पुन प्रत्युपकाराय मित्राणा क्रियते प्रियम् ।
यत्पुनर्मित्रमित्रस्य कार्यं मित्रैर्न किं कृतम् ॥ ३६९ ॥

सत्यमेतत् । पर ममापि भेको मेघनादो नाम मित्र तिष्ठति । तमप्याहूय यथोचित कुर्म । उक्त —

हितै साधुसमाचारैः शास्त्रज्ञैर्मतिशालिभि ।
कथञ्चिन्न विकल्पन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नया ॥ ३७० ॥

अथ ते त्रयोऽपि गत्वा मेघनादस्याग्र समस्त वृत्तान्त निवेद्य तस्थु । अथ स प्रोवाच—'कियन्मात्रोऽसौ वराको गजो महाजनस्य कुपितस्याग्रे । तन्मदीयो मन्त्र कर्तव्य । मक्षिके, त्व गत्वा मध्याह्नसमये तस्य मदोद्धतस्य गजस्य कर्णे वीणारवसदृश शब्द कुरु येन, श्रवणसुखलालसो निमीलितनयनो भवति । ततश्च काष्ठकूटचञ्च्वा स्फोटितनयनोऽन्धीभूतस्तृषार्तो मम गर्ततटाश्रितस्य सपरिकरस्य शब्द श्रुत्वा जलाशय मत्वा

यदि लोग उपकार के बदले दूसरा उपकार पाने की आशा से अपने मित्रो का कार्य करते है, तो फिर मित्रता का महत्त्व ही क्या रह गया ? और अपने मित्र के मित्र का कार्य तो किसी प्रकार का प्रत्युपकार (बदला) पाने की अभिलाषा न रखकर करना ही चाहिए । सो यदि किसी मित्र ने इसे भी नही किया तो फिर कहो मित्र ने क्या किया ? अर्थात् कुछ नही (वास्तव मे ऐसी मित्रता को मित्रता कह ही नही सकते) ॥ ३६९ ॥

यह सत्य है (मैं आपके मित्र का सहयोग करूँगी) परन्तु मेरा 'मेघनाद' नाम का एक मेढक मित्र है । इसलिए उसे बुलाकर जो युक्त समझा जाय उसे किया जाय । कहा भी है—

अपना हित करनेवाला, सदाचारी, शास्त्र को जाननेवाला और बुद्धिमान् विद्वान् से सोची गयी कोई नीति, किसी प्रकार से विफल नही होती । ३७०॥

उसके बाद वे तीनो जाकर मेघनाद (मेढक) के समक्ष सब समाचार कहकर बैठ गये । तदनन्तर मेढक ने कहा—कोधित हम जीव समुदाय के समक्ष यह क्षुद्र हाथी क्या चीज है ? सो मेरे विचार से काम करो । हे मक्खी ! तुम कल दोपहर के समय उस मतवाले हाथी के कानो मे वीणा की ध्वनि के समान शब्द करो, जिससे श्रवण-सुख पाने की अत्यधिक अभिलाषा से जब वह अपनी आँखो को बन्द कर लेगा तब कठफोरवा जाकर उसकी आँखें फोड दे । तदनन्तर अन्धा होकर जब वह प्यास से विह्वल होगा । तब वह

समभ्येति। ततो गर्तमासाद्य पतिष्यति पञ्चत्वं यास्यति चेति। एवं समवायः कर्तव्यो यथा वैरसाधनं भवति।' अथ तथाऽनुष्ठिते स मत्तगजो मक्षिकागेयसुखान्निमीलितनेत्रः काष्ठकूटहृतचक्षुर्मध्याह्नसमये भ्राम्यन्मण्डूकशब्दानुसारी गच्छन्महतीं गर्तामासाद्य पतितो मृतश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—

'चटका काष्टकूटेन' इति ॥

टिट्टिभ आह—'भद्रे, एवं भवतु। सुहृद्वर्गसमुदायेन सह समुद्रं शोपयिष्यामि।' इति निश्चित्य बकसारसमयूरादीन् समाहूय प्रोवाच—'भो, पराभूतोऽहं समुद्रेणाण्डकापहरेण। तच्चिन्त्यतामस्य शोपणोपायः।' ते सम्मन्त्र्य प्रोचुः—'अशक्ता वयं समुद्रशोषणे। तत्किं वृथा प्रयासेन। उक्तं च—

अबलः प्रोन्नतं शत्रुं यो याति मदमोहितः।
युद्धार्थं स निवर्तेत शीर्णदन्तो गजो यथा ॥ ३७१ ॥

मेरे कुटुम्बियो के साथ गड्ढे के निकट शब्द सुन और उसे तालाब समझकर आवेगा और गड्ढे के निकट पहुँचकर उसमे गिर पडेगा और पाञ्चभौतिक शरीर छोड देगा। इस प्रकार समवाय (कौशल) करो तो अपकार का बदला निकल सकेगा।' तदनन्तर वैसा (मेघनाद की सम्मति के अनुसार कार्य) करने पर मक्खी के गान सुख से हाथी की आँखें बन्द होते ही कठफोरवा ने उसकी आँखें फोड दी। तब मध्याह्न (दोपहर) के समय प्यास के मारे इधर-उधर घूमता हुआ और मेंढको के शब्द का अनुसरण करता हुआ वह हाथी एक बडे गड्ढे मे पहुँचकर गिर कर मर गया। इसलिए मैं कहती हूँ—चटका और कठफोरवा स 'इत्यादि।

टिट्टिभ ने कहा—'भद्र! जैसा कहती हो वैसा किया जाएगा। मित्रमण्डली को साथ मे लेकर मैं समुद्र को सोख डालूँगा। इस प्रकार निश्चय कर उसने बक, सारस, मोर आदि को बुलाकर कहा—'हे मित्रो! समुद्र ने मेरे अण्डो का अपहरण कर मुझे सन्तप्त कर दिया है, इसलिए आप लोग इसके सुखाने के लिए कोई उपाय कीजिए।' उन्होंने आपस मे विचार कर कहा—'हम सब समुद्र को सुखाने मे असमर्थ हैं, सो व्यर्थ परिश्रम करने से क्या प्रयोजन। कहा भी है—

जो सामर्थ्यहीन व्यक्ति मदमोहित होकर सामर्थ्यशाली शत्रु के निकट लडने के लिए जाता है वह शीर्णदन्त (टूटे दात वाले) हाथी के समान पराजित होता है ॥ ३७१ ॥

तदस्माक स्वामी वैनतेयोऽस्ति। तस्मै सर्वमेतत्परिभवस्थान निवेद्यताम्, येन स्वजातिपरिभवकुपितो वैरानृण्य गच्छति। अथवाऽत्रावलेप करिष्यति तथाऽपि नास्ति वो दु खम्। उक्त च—

सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्येऽनुवर्तिनि कलत्रे।
स्वामिनि शक्तिसमेते निवेद्य दु ख सुखी भवति॥ ३७२॥

यद्यामो वैनतेयसकाश यतोऽसावस्माक स्वामी।' तथाऽनुष्ठिते सर्वे ते पक्षिणो विषण्णवदना बाष्पपूरितदृशो वैनतेयसकाशमासाद्य करुणस्वरेण फूत्कर्तुमारब्धा—'अहो, अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम्॥ अधुना सदाचारस्य टिट्टिभस्य भवति नाथे सति समुद्रेणाण्डान्यपहृतानि तत्प्रनष्टमधुना पक्षिकुलम्। अन्येऽपि स्वेच्छया समुद्रेण व्यापादयिष्यन्ते। उक्त च—

क्व कस्य कर्म सवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोक पारमार्थिक॥ ३७३॥

सो हमलोगो के मालिक गरुड है, इसलिए उनसे इस सन्ताप का विषय निवेदन कर देना चाहिए जिससे अपनी जाति के अपमान के कारण क्रुद्ध हुए गरुड वैरभाव का प्रतिकार करेंगे। अथवा (इसे सुनकर) यदि वे अभिमान करेंगे तो भी दुःखी नही होना चाहिए। कहा भी है—

अभिन्न हृदय मित्र से, गुणवान् अनुचर से, अनुरक्तपत्नी से और शक्तिशाली मालिक से अपना कष्ट निवेदन कर प्राणी सुखी होता है॥ ३७२॥

इसलिए हम गरुड के निकट चलें क्योकि वे हम लोगो के मालिक है। वैसा करने पर खिन्न मुँह कर आँखो मे आँसू भर समस्त पक्षी गरुड के समीप पहुँच कर दयनीय स्वर से आर्त्तनाद करने लगे—'अरे रक्षा करो! रक्षा करो! आप जैसे मालिक के रहते हुए भी इस निरपराधी टिट्टिभ के अण्डो को समुद्र ने बहा लिया है। अरे अब पक्षियो का विनाश उपस्थित हो गया? क्योकि (इस प्रकार मन बढ जाने पर) अब तो औरो को भी समुद्र अपनी अभिलाषा से मार डालेगा। कहा भी है—

एक को कुत्सित कर्म करते हुए देखकर दूसरा भी उसी प्रकार करने मे प्रवृत्त हो जाता है, ऐसा लोगो का भेडियाधसान है, परन्तु पारमार्थिक धर्म होने के लिए वे अनुकरण नही करते (तात्पर्य यह है कि समुद्र इसी प्रकार दुष्कर्म कर के भी यदि दण्डभागी नही बनेगा तो दूसरे भी इस प्रकार करने लग

चाटुतस्करदुर्वृत्तैस्तथा साहसिकादिभिः ।
पीड्यमाना प्रजा रक्ष्या. कटूच्छ्वादिभिस्तथा ॥ ३७४ ॥
प्रजानां धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षितुः ।
अधर्मादपि षड्भागो जायते यो न रक्षति ॥ ३७५ ॥
प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्तते ॥ ३७६ ॥
राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषां न्यायवर्तिनाम् ॥ ३७७ ॥
फलार्थी पार्थिवो लोकान् पालयेद्यत्नमास्थितः ।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ ३७८ ॥
यथा बीजाङ्कुरः सूक्ष्मः प्रयत्नेनाभिरक्षितः ।
फलप्रदो भवेत्काले तद्वल्लोकः सुरक्षितः ॥ ३७९ ॥

जायेंगे, कोई भी हिताहित का विवेचन नहीं करेगा और संसार की इससे अत्यधिक हानि होगी) ॥ ३७३ ॥

(मालिक का कर्तव्य है कि) चापलूस, चोर, दुराचारी और साहस करके दुष्कर्म करने वालों से पीडित प्रजा की रक्षा करे ॥ ३७४ ॥

प्रजा की रक्षा करने से प्रजा के धर्म का छठा हिस्सा राजा को प्राप्त होता है, किन्तु जब वह प्रजा का पालन नहीं करता तब उसे उसके विपरीत अधर्म का छठा हिस्सा प्राप्त होता है ॥ ३७५ ॥

पीडित प्रजा के सन्ताप से उत्पन्न हुई अग्नि, राजा की लक्ष्मी, बन्धु-बान्धव और प्राणों को नष्ट किये बिना निवृत्त नहीं होती है ॥ ३७६ ॥

राजा ही बन्धुरहितों (अनाथों) का बन्धु (हितकारी मित्र) है, अन्धों का चक्षु (लोचनरूप) है और न्याय के मार्ग से चलनेवाली समस्त प्रजाओं का पिता और माता है ॥ ३७७ ॥

फलों की अभिलाषा करनेवाले राजा को चाहिए कि प्रजा की दान-सम्मानादि रूप जल से उसी प्रकार यत्नपूर्वक रक्षा करे जिस प्रकार फल की अभिलाषा रखनेवाला माली यत्नपूर्वक जलदानादि से अंकुरों (पौधों) की रक्षा करता है ॥ ३७८ ॥

जिस प्रकार यत्नपूर्वक छोटे बीजांकुर की रक्षा करने से समय आने (वृक्ष होने) पर वह फलप्रद होता है, उसी प्रकार सुरक्षित प्रजा भी यथासमय फलप्रद होती है ॥ ३७९ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथाऽन्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्य स्यान्नृपस्य तत् ॥ ३८० ॥

अथैवं गरुड समाकर्ण्य तद्दु खदु खित कोपाविष्टश्च व्यचिन्तयत्—'अहो, सत्यमुक्तमेतै पक्षिभि । तदद्य गत्वा त समुद्र शोषयाम ।' एवं चिन्तयतस्तस्य विष्णुदूत समागत्याह—'भो गुरुत्मन्, भगवता नारायणेनाहं तव पार्श्वे प्रेषित । देवकार्याय भगवानमरावत्या यास्यतीति । तत्सत्वरमागम्यताम् । तच्छ्रुत्वा गरुड साभिमान प्राह—'भो दूत, किं मया कुभृत्येन भगवान्करिष्यति । तद्गत्वा त वद यदन्यो भृत्यो वाहनायास्मत्स्थाने क्रियताम् । मदीयो नमस्कारो वाच्यो भगवत । उक्त च—

यो न वेत्ति गुणान् यस्य न त सेवेत पण्डित ।
न हि तस्मात्फल किञ्चित्सुकृष्टादूषरादिव ॥ ३८१ ॥

दूत आह—भो 'वैनतेय, कदाचिदपि भगवन्त प्रति त्वया नैतदभिहितमीदृक् तत्कथय किं ते भगवतापमानस्थान कृतम् ।' गरुड आह— 'भगवदा-

---

सुवर्ण, धान्य, मणि अनेक प्रकार के अश्वादि वाहन और भी जो कुछ हैं वे सब राजा को प्रजा से प्राप्त होते हैं ॥ ३८० ॥

यह वचन सुनकर गरुड उनके दु ख से दु खित हुए और क्रुद्ध होकर विचार करने लगे—'अरे ! ये पक्षी ठीक ही कह रहे हैं । अत आज ही जाकर उस समुद्र को सुखा दूँगा ।' गरुड इस प्रकार सोच ही रहे थे कि विष्णुदूत ने आकर कहा—'हे गरुड ! भगवान् नारायण ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है । देव-कार्य के लिए भगवान् अमरावती (इन्द्र-नगरी) जावेंगे, सो शीघ्र जाओ । यह सुनकर गरुड ने अभिमान के साथ कहा—'हे दूत ! मुझ जैसे निन्दित सेवक से भगवान् का क्या कार्य होगा ? इसलिए जाकर उनसे कह दो, कि वाहन (सवारी) के लिए किसी दूसरे सेवक को मेरे स्थान पर निश्चित कर लें और भगवान् से मेरा प्रणाम कह देना । कहा भी है—

जो जिसके गुणों को नहीं जानता उसकी सेवा पण्डित (नीति के सारासार जाननेवाले बुद्धिमान्) को चाहिए कि न करे । क्योंकि उससे कुछ फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे अच्छी तरह से जोती हुई भी ऊसर भूमि से कुछ फलप्राप्ति नहीं होती ॥ ३८१ ॥

दूत ने कहा—'हे गरुड ! तुमने भगवान् के प्रति इस प्रकार की बातें कभी भी नहीं कही थी, सो कहो तो सही, भगवान् ने तुम्हारा क्या अपमान किया है ।

श्रयभूतेन समुद्रेणास्मट्टिट्टिभाण्डान्यपहृतानि। तद्यपि तस्य निग्रह न करोति तदह भगवतो न भृत्य इत्येष निश्चयस्त्वया वाच्य । तद् द्रुततर गत्वा भवता भगवत समीपे वक्तव्यम् ।' अथ दूतमुखेन प्रणयकुपित वैनतेयं विज्ञाय भगवाञ्चिन्तयामास—'अहो, स्थाने कोपो वैनतेयस्य । तत्स्वयमेव गत्वा सम्मानपुर सर तमानयामि । उक्त च—

भक्त शक्त कुलीन च न भृत्यमवमानयेत् ।
पुत्रवल्लालयेन्नित्य य इच्छेच्छ्रियमात्मन ॥ ३८२ ॥

अन्यच्च— राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्र प्रयच्छति ।
ते तु सम्मानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ३८३ ॥

इत्येव सम्प्रधार्य रुक्मपुरे वैनतेयमकाश सत्वरमगमत् । वैनतेयोऽपि गृहागत भगवन्तमवलोक्य त्रपाऽधोमुख प्रणम्योवाच—'भगवन्, त्वदाश्रयोन्मत्तेन समुद्रेण मम भृत्यास्याण्डान्यपहृत्य ममापमानो विहित । पर

गरुड ने कहा—भगवान् के आश्रयस्वरूप समुद्र ने इस टिट्टिभ के अण्डो का हरण कर लिया है, सो यदि वे उसको दण्ड नही देंगे तो मैं भी भगवान् का सेवक नही रहूँगा, यह मेरा निर्णय भगवान् से कह देना, इसलिए जल्दी से जल्दी जाकर भगवान् के समक्ष सब कह देना ।' तब दूत के मुख से गरुड को प्रणय-कुपित (स्नेहयुक्त क्रोधी) जानकर भगवान् सोचने लगे—'अहो ! गरुड का क्रोध करना युक्त ही है, इसलिए स्वय जाकर सम्मानपूर्वक मै उन्हे लिवा लाऊँ। कहा भी है—

मालिक यदि अपना कल्याण चाहे तो, अनुरक्त (भक्त), समर्थ एव सत्कुलोत्पन्न सेवक का कभी अपमान न करे, बल्कि उसका अपने पुत्र के समान प्रतिपालन करता रहे ॥ ३८२ ॥

और भी —राजा सेवको पर सन्तुष्ट होकर केवल धन (पुरस्कार) ही देता है, परन्तु वे सेवक राजा से सम्मानित होने पर राजा के लिए अपने प्राणो तक को लगाकर उपकार करते हैं ॥ ३८३ ॥

इस प्रकार विचार कर भगवान् अतिशीघ्र रुक्मपुर (गरुड नगर) मे गरुड के निकट पहुँच गये । गरुड ने भी स्वय भगवान् को अपने घर आए हुए देखकर लज्जा से नीचा मुँह कर लिया और प्रणाम करके कहा—'भगवन् ! आपका आश्रय (आधार) पा जाने से मतवाला हो समुद्र ने मेरे सेवक के अण्डों का अपहरण कर मेरा अपमान किया है। अत आपके सङ्कोच के कारण मैंने

भगवल्लज्जया मया विलम्बितम्, नो चेदेनमह स्थलान्तरमद्यैव नयामि। यत स्वामिभयाच्छ्वनोऽपि प्रहारो न दीयते। उक्त च—

येन स्याल्लघुता वाऽथ पीडा चित्ते प्रभो क्वचित्।
प्राणत्यागेऽपि तत्कर्म न कुर्यात् कुलसेवक ॥ ३८४ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवानाह—'भो वैनतेय, सत्यमभिहित भवता। उक्त च—

भृत्यापराधजो दण्डः स्वामिनो जायते यत।
तेन लज्जाऽपि तस्योत्था न भृत्यस्य तथा पुन ॥ ३८५ ॥

तदागच्छ येनाण्डानि समुद्रादादाय टिट्टिभ सम्भावयाव। अमरावती च गच्छाव।' तथाऽनुष्ठिते समुद्रो भगवता निर्भर्त्स्याग्नेय शर सधायाभिहित—'भो दुरात्मन्, दीयन्ता टिट्टिभाण्डानि। नो चेत्स्थलता त्वा नयामि।' तत समुद्रेण सभयेन टिट्टिभाण्डानि तानि प्रदत्तानि। टिट्टिभेनापि भार्यायै समर्पितानि। अतोऽह ब्रवीमि—'शत्रोर्बलमविज्ञाय' इति ॥

देर कर दी है। अन्यथा इसे तो मैं आज ही सुखाकर केवल स्थल बना देता। किन्तु स्वामी के भय से कुत्ते पर भी प्रहार नहीं किया जाता। कहा भी है—

जिस कार्य से स्वामी की लघुता (मान-हानि) होती हो या प्रभु के मन मे सन्ताप उत्पन्न होता हो तो कुल-सेवक को चाहिए कि वैसा कार्य वह प्राण-त्याग का अवसर आने पर भी न करे ॥ ३८४ ॥

इसे सुनकर भगवान् ने कहा—'हे गरुड ! तुम ठीक कह रहे हो। कहा भी है—

सेवक के अपराध करने पर स्वामी को ही दण्ड भोगना पडता है। अत उस (दण्डजनित) कार्य से जितनी लज्जा प्रभु को होती है, उतनी सेवक का नही होती ॥ ३८५ ॥

इसलिए आओ, जिससे समुद्र से अण्डो को लौटाकर टिट्टिभ को सान्त्वना दें और पुन अमरावती चलें। वैसा करने पर भगवान् ने समुद्र की भर्त्सना की और अग्निबाण को चढाकर कहा—'अरे दुरात्मन् ! टिट्टिभ के अण्डो को अभी लौटा दे, नही तो मैं तुझे सुखा डालूँगा।' तब समुद्र ने डरकर टिट्टिभ के सभी अण्डे दे दिये और टिट्टिभ ने उन्हे अपनी स्त्री को समर्पण कर दिया। इसी से मैं कहता हूँ—'शत्रु के पराक्रम को बिना समझे' इत्यादि।

तस्मात् पुरुषेणोद्यमो न त्याज्य । तदाकर्ण्य सञ्जीवकस्तमेव भूयोऽपि प्रपच्छ—'भो मित्र, कथ ज्ञेयो मयाऽसौ दुष्टबुद्धिरिति। इयन्त काल यावदुत्तरोत्तरस्नेहेन प्रसादेन चाह दृष्ट । न कदाचित्तद्विकृतिर्दृष्टा। तत्कथ्यता येनाहमात्मरक्षार्थं तद्वधायाद्यम करोमि। दमनक आह—भद्र किमत्र ज्ञेयम् । एष ते प्रत्यय । यदि रक्तनेत्रस्त्रिशिखा भ्रुकुटि दधान' सृक्कणी परिलेलिहन् त्वा दृष्ट्वा भवति, तद्दुष्टबुद्धि । अन्यथा सुप्रसादश्चेति।' तदाज्ञापय माम्। स्वाश्रय प्रति गच्छामि। त्वया च यथाय मन्त्रभेदो न भवति तथा कार्यम्। यदि निशामुख प्राप्य गन्तु शक्नोपि तद्देशत्याग कार्य । यत'—

त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवी त्यजेत् ॥ ३८६ ॥
आपदर्थे धन रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मान सतत रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ३८७ ॥

अत पुरुष उद्यम करना न छोडे। इसे सुनकर सञ्जीवक ने पुन पूछा—'हे मित्र! मैं कैसे जानूँ कि वह दुष्टबुद्धि वाला है। इतने दिनो तक मैंने उसे उत्तरोत्तर बढे हुए प्रेम और प्रसन्नता से देखा। कभी भी विकृत नही देखा, सो बतलाओ कैसे अपनी रक्षा के निमित्त उनको मारने के लिए उद्योग करूँ।' दमनक ने कहा—'इस विषय को जानने मे बातें ही क्या है? यह तुम्हारा विश्वास है (तुम्हें समझने के लिए बतलाता हूँ कि) यदि तुम्हे देखते ही लाल-लाल आँखें, टेढी भौहे किए और ओष्ठ के किनारो को चाटने लगे तो जान लेना कि वह दुष्टबुद्धि है। अथवा (यदि यह लक्षण देखने मे न आवे तो समझ लेना कि) प्रसन्न है। अब मुझे आदेश दो, जिससे अपने घर को चला जाऊँ। तुम भी ऐसा ही करना जिससे हम दोनो की इस गोपनीय वार्त्ता का भण्डाफोड न हो जाय। यदि जाने मे समर्थ हो तो सन्ध्याकाल के समय इस देश को छोड देना। क्योंकि—

कुल की रक्षा के लिए एक (व्यक्ति) को छोड दे, ग्रामवासियो की रक्षा के लिए कुल को छोड दे, देशवासियो की रक्षा के लिए ग्रामवासियो को छोड दे और अपने आत्मसम्मान के लिए पृथ्वी को छोड दे॥ ३८६ ॥

विपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से भी स्त्रियो

बलवताभिभूतस्य विदेशगमन तदनुप्रवेशो वा नीति । तद्देशत्याग कार्य । अथवाऽऽत्मा सामादिभिरुपायैरभिरक्षणीय । उक्त च—

अपि पुत्रकलत्रैर्वा प्राणान् रक्षेत पण्डित ।
विद्यमानैर्यतस्तै स्यात्सर्व भूयोऽपि देहिनाम् ॥ ३८८ ॥

तथा च—येन केनाप्युपायेन शुभेनाप्यशुभेन वा ।
उद्धरेद्दीनमात्मान समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८९ ॥
यो माया कुरुते मूढ प्राणत्यागे धनादिषु ।
तस्य प्राणा प्रणश्यन्ति तैर्नष्टैर्नष्टमेव तत्' ॥ ३९० ॥

एवमभिधाय दमनक करटकसकाशमगमत् । करटकोऽपि तमायान्त दृष्ट्वा प्रोवाच—'भद्र, कि कृत तत्रभवता ।' दमनक आह—'मया ताव-न्नीतिबीजनिर्वापण कृतम्, परतो दैवविहितायत्तम् । उक्त च—

की रक्षा करनी चाहिए और धन तथा स्त्री दोनो से सर्वदा अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥ ३८७ ॥

शक्तिशाली व्यक्ति से आक्रान्त होने पर विदेश की यात्रा करे या उसकी अधीनता स्वीकार कर ले—यह नीति है । इसलिए इस समय देश परित्याग करना श्रेयस्कर है । अथवा सामादि उपायो से अपनी रक्षा करनी चाहिए । कहा भी है—

नीति-कुशल विद्वान् को चाहिए कि पुत्र और स्त्री का परित्याग कर भी अपने प्राणो की रक्षा करे । क्योकि प्राणो के बचे रहने से उसे फिर से (पुत्र-स्त्री, आदि) सब हो जाते हैं ॥ ३८८ ॥

और भी—सङ्कट मे पडे हुए व्यक्ति को चाहिए कि अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के कार्य करने से अपनी रक्षा होती हो तो कर ले, पुन सामर्थ्ययुक्त होने पर धर्म का अनुष्ठान करे ॥ ३८९ ॥

जो मूढ अपने प्राणत्याग होने के समय धनादिको मे ममता रखता है, उसके प्राण तो नष्ट हो ही जाते हैं और प्राणो के विनाश होने पर वे सब धना-दिक भी नष्ट हो जाते है ॥ ३९० ॥

इस प्रकार कह कर दमनक करटक के समीप चला गया । करटक भी उसे आते हुए देखकर कहने लगा—'भद्र ! आपने वहाँ क्या किया ? दमनक ने कहा मैंने तो (आपस मे फूट) नीति रूपी बीजो को अच्छी तरह बो दिया है, आगे का काम दैव के अधीन है । क्योकि कहा भी है—

पराङ्मुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्य कार्यं विपश्चिता।
आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च ॥ ३९१ ॥

तथा च—उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोष ॥ ३९२ ॥

करटक आह—'तत्कथय कीदृक्त्वया नीतिबीज निर्वापितम्।' सोऽब्रवीत्। 'मयाऽन्योन्य ताभ्या मिथ्याप्रजल्पनेन भेदस्तथा विहितो यथा भूयोऽपि मन्त्रयन्तावेकस्थानस्थितौ न द्रक्ष्यसि।' करटक आह—'अहो, न युक्त भवता विहित यत्परस्पर तौ स्नेहार्द्रहृदयौ सुखाश्रयौ कोपसागरे प्रक्षिप्तौ। उक्त च—

अविरुद्ध सुखस्थ यो दु खमार्गे नियोजयेत्।
जन्मजन्मान्तर दु खी स नर स्यादसशयम् ॥ ३९३ ॥

इस ससार मे दैव के प्रतिकूल होने पर भी विद्वान् को चाहिए कि अपने दोषो के निवारण करने के लिए और मन को रोकने एव समझाने (ढाढस बँधाने) के लिए जो उचित कर्तव्य हो उसे करें ॥ ३९१ ॥

और भी—उद्योगी नरश्रेष्ठ के निकट लक्ष्मी स्वय आती है। 'भाग्य ! भाग्य !' तो कायर पुरुष कहा करते है। भाग्य का भरोसा न रखकर अपनी शक्ति के अनुकूल पुरुषार्थ करते रहो। यदि उद्योग करने पर भी इष्टसिद्धि न हो तो इस प्रकार सोचना चाहिए कि मेरे उद्योग मे कोई दोष रह गया है ॥ ३९२ ॥

करटक ने पूछा—'अच्छा कहो तुमने किस प्रकार भेद-नीति का बीज बोया है ?' उसने कहा—'मैंने उन दोनो को आपस मे, असत्य वचनो से इस प्रकार मन मे भेद (गाँठ) डाल दिया है कि अब फिर उनको एक जगह बैठ कर परामर्श करते हुए तुम नही देखोगे।' करटक ने कहा—यह तुमने अच्छा नही किया, जो परस्पर स्नेह से आर्द्र हृदय वाले तथा सुख के आश्रय स्वरूप सुख (भोगने) वाले उन दोनो को एक दूसरे के क्रोध-समुद्र मे डाल दिया। कहा भी है—

जो अपने से विरोध न रखने वाले और सुखी पुरुष को दु खमार्ग मे डालता

अपर त्व यद्भेदमात्रेणापि हृष्टस्तदप्ययुक्तम्, यत· सर्वोऽपि जनो विरूपकरणे समर्थो भवति नोपकर्तुम् । उक्त च—

घातयितुमेव नीच· परकार्यं वेत्ति न प्रसादयितुम् ।
पातयितुमस्ति शक्तिर्वायोर्वृक्ष न चोन्नमितुम्' ॥ ३९४ ॥

दमनक आह—'अनभिज्ञो भवान्नीतिशास्त्रस्य । तेनैतद् ब्रवीषि ।
उक्त च यत —

जातमात्र न य शत्रु व्याधि च प्रशमं नयेत् ।
महाबलोऽपि तनैव वृद्धि प्राप्य स हन्यते ॥ ३९५ ॥

तच्छत्रुभूतोऽयमस्माक मन्त्रिपदाहरणात् उक्त च—

पितृपैतामह स्थान यो यस्यात्र जिगीषते ।
स तस्य सहज शत्रुरुच्छेद्योऽपि प्रिये स्थित ॥ ३९६ ॥

है वह (पुरुष) जन्म-जन्मान्तर मे क्लेश भोगता रहता है—इसमे सन्देह नही ॥ ३९३ ॥

और जो तुम उन दोनो मे भेद (अन्तर) डाल कर अत्यधिक प्रसन्न हो रहे हो, सो भी समुचित नही है, क्योकि विरोधभाव उत्पन्न करने मे तो सभी पुरुष समर्थ होते हैं किन्तु उपकार करने कोई समर्थ नही होता । कहा भी है—

अधम पुरुष पराये कार्य को नष्ट करना ही जानता है, किन्तु बनाना नही जानता । (जिस प्रकार) वायु की शक्ति वृक्षो को उखाडने की ही है किन्तु गिरे हुए वृक्ष को जमाने मे नही । ३९४ ॥

दमनक ने कहा—'आप नीतिशास्त्र के जानकार नही है, इसीलिए ऐसा कहते है । क्योंकि कहा भी है—

जो उत्पन्न होते ही अपने शत्रु और अपने रोग को नष्ट नही कर देता, वह महाशक्तिशाली होता हुआ भी उनकी वृद्धि पाने पर, उन (शत्रु और व्याधि) से मारा जाता है ॥ ३९५ ॥

सो मन्त्री का पद हरण करने के कारण वह मेरा शत्रु के समान हुआ । कहा भी है—

इस ससार मे जो जिसके पितृ-पितामह (बाप-दादे) की जगह (भूमि, अधिकार) की हरण करना चाहता हैं वह चाहे अपना हितचिन्तक भी क्यो न हो, उसकी जड काट देनी चाहिए, क्योकि वह उसका सहज (स्वाभाविक) शत्रु है ॥ ३९६ ॥

तन्मया स उदासीनतया समानीतोऽभयप्रदानेन यावत्तावदहमपि तेन साचिव्यात् प्रच्यावित । अथवा साध्विदमुच्यते—

दद्यात्साधुर्यदि निजपदे दुर्जनाय प्रवेश
तन्नाशाय प्रभवति ततो वाञ्छमान स्वय म ।
तस्माद् देयो विपुलमतिभिर्नावकाशोऽधमाना
जारोऽपि स्याद् गृहपतिरिति श्रूयते वाक्यतोऽत्र ॥२९७॥

तेन मया तस्योपरि वधोपाय एप विरच्यते । देशत्यागाय वा भविष्यति । तच्च त्वा मुक्त्वाऽन्यो न ज्ञास्यति । तद्युक्तमेतत्ते स्वार्थायानुष्ठितम् । उक्त च—

निस्त्रिश हृदय कृत्वा वाणीमिक्षुरसोपमाम् ।
विकल्पोऽत्र न कर्तव्यो हन्यात्तत्रापकारिणम् ॥ २९८ ॥

अपर मृतोऽप्यस्माक भोज्यो भविष्यति । तदेक तावद्वैरसाधनम्, अपर

पहले मैं उदासीन (राग-द्वेप-रहित) रूप से उसे अभयदान देकर लाया, परन्तु पीछे से उसने मुझे ही मन्त्रिपद से च्युत (पृथक्) कर दिया । यह युक्त ही कहा है—

यदि कोई सज्जन (कोमलहृदय) अपनी जगह (पद) पर किसी दुर्जन को बैठा देता है तो वह उसका ही नाश करके स्वय ही उस सज्जन के पद ले लेने की अभिलाषा करता है । अत बुद्धिमानो को चाहिए कि दुर्जनो को प्रवेश होने का ऐसा अवसर ही न आने दें । ऐसा सुना जाता है कि उपपति (जार) भी किसी समय गृहपति (घर का मालिक) बन जाता है ॥ २९७ ॥

इसलिए मैंने उसके मारने के लिए इस (षड्यन्त्र) की रचना कर दी है । यदि उसका हनन न हुआ तो इस षड्यन्त्र से देश-त्याग तो अवश्य होगा । यह बात तुम्हारे सिवाय और किसी को ज्ञात न हो सके । जो कुछ मैंने किया है वह स्वार्थ के लिए उचित ही किया है । क्योकि कहा भी है—

हृदय को तलवार के समान कठोर और वाणी को गन्ने के रस के समान ('वाणी क्षुरसमोपमाम्' पाठ होने पर छुरे के समान तीक्ष्ण) बनाकर अपने अपकार (शत्रुता) करनेवाले को मार ही डालना चाहिए, इसमे (थोडा सा भी) सशय न करे ॥ २९८ ॥

इसके अतिरिक्त वह (सञ्जीवक) मर कर भी हम लोगो का खाद्य पदार्थ

साचिव्य च भविष्यति तृप्तिश्च' इति । तद्गुणत्रयेऽस्मिन्नुपस्थिते कस्मान्मा दूषयसि त्व जाड्यभावात् । उक्त च—

परस्य पीडन कुर्वन् स्वार्थसिद्धि च पण्डित ।
मूढबुद्धिर्न भक्षेत वने चतुरको यथा' ॥ ३९९ ॥

करटक आह—'कथमेतत् ।' स आह—

कथा १६

'अस्ति कस्मिश्चिद्वनोद्देशे वज्रदष्ट्रो नाम सिह । तस्य चतुरक-क्रव्यमुखनामानौ शृगालवृकौ भृत्यभूतौ सदैवानुगतौ तत्रैव वने प्रतिवसत । अथान्यदिने सिहेन कदाचिदासन्नप्रसवा प्रसववेदनया स्वयूथाद् भ्रष्टोष्ट्र्युपविष्टा कस्मिश्चिद्वनगहने समासादिता । अथ ता व्यापाद्य यावदुदर स्फोटयति, तावज्जीवॅल्लघुदासेरकशिशुर्निष्क्रान्त । सिहोऽपि दासेरक्या पिशितेन सपरिवार परा तृप्तिमुपागत । पर स्नेहाद्बालदासेरक त्यक्त गृहमानीयेदमुवाच—'भद्र, न तेऽस्ति मृत्योर्भय मत्तो नान्यस्मादपि । तत॰ स्वे-

---

होगा । सो एक तो शत्रुता का बदला चुकेगा और दूसरे मन्त्री की पदवी मिलेगी तथा तृप्ति होगी । अत इन तीन गुणो के उपस्थित रहने पर भी जाड्य-भाव (मूर्खता) के कारण मुझे क्यो दोषी ठहराते हो । कहा भी है---

नीति को जाननेवाले विद्वान् लोग दूसरे को पोडा देकर भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि कर डालते हैं, मूर्ख मनुष्य तो भोजन प्राप्त करने मे भी समर्थ नही होता, जिस प्रकार वन मे 'चतुरक' नामक सियार ने किया ॥ ३९९ ॥

करटक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी वन मे 'वज्रदष्ट्र' नाम का सिह रहता था । उसके 'चतुरक' नाम का सियार और 'क्रव्यमुख' नाम का भेडिया सेवक-भाव से सर्वदा पीछे-पीछे भ्रमण करते हुए उसी वन मे रहते थे । किसी दिन सिह ने प्रसव समय नजदीक वाली और प्रसव-वेदना के कारण अपने यूथ (झुण्ड) से बिछुडी हुई एक ऊँटनी को भयङ्कर जङ्गल मे देखा । उस (ऊँटनी) को मार कर ज्यो ही सिह उसका पेट फाडने लगा, त्यो ही एक छोटा सा जीता हुआ बच्चा उसके पेट से निकला । सिह-परिवार उस ऊँटनी के मांस से तृप्त हो गया । किन्तु स्नेह के कारण उस ऊँटनी के बच्चे को अपने घर ले आकर उसने कहा—आयुष्मन् ! तुम्हे न मुझसे और न किसी अन्य जीव से मारे जाने का

च्छयाऽत्र वने भ्राम्यतामिति। यतस्ते शकुसदृशौ कर्णौ, ततः शङ्कुकर्णो नाम भविष्यति।' एवमनुष्ठिते चत्वारोऽपि त एकस्थाने विहारिण परस्परमनेकप्रकारगोष्ठीसुख मनुभवन्तस्तिष्ठन्ति। शङ्कुकर्णोऽपि यौवनपदवीमारूढ. क्षणमपि न त सिंह मुञ्चति। अथ कदाचिद्वज्रदष्ट्रस्य केनचिद्वन्येन मत्तगजेन सह युद्धमभवत्। तेन मदवीर्यात्स दन्तप्रहारैस्तथा क्षतशरीरो विहितो यथा प्रचलितु न शक्नोति। तदा क्षुत्क्षामकण्ठस्तान्प्रोवाच— 'भो, अन्विष्यता किञ्चित्सत्व येनाहमेव स्थितोऽपि त व्यापाद्यात्मनो युष्माक च क्षुत्प्रणाश करोमि।' तच्छ्रुत्वा ते त्रयोऽपि वने सन्ध्याकाल यावद्भ्रान्ता, पर न किञ्चित्सत्त्वमासादितम्। अथ चतुरकश्चिन्तयामास—'यदि शङ्कुकर्णोऽय व्यापाद्येत तत सर्वेपा कतिचिद्दिनानि तृप्तिर्भवति। पर नैन स्वामी मित्रत्वादाश्रयममाश्रितत्वाच्च विनाशयिष्यति। अथवा बुद्धिप्रभावेण स्वामिन प्रतिबोध्य तथा करिष्ये यथा व्यापादयिष्यति। उक्त च—

भय है। सो अपनी अभिलाषा से (जहाँ मन चाहे) इस वन मे परिभ्रमण किया करो। तुम्हारा कान शकु (कील) के समान है। इसलिए तुम्हारा नाम मे 'शकुकर्ण' रखता हूँ। इस प्रकार अभयदान दे देने पर वे चारो एक जगह विहार करते हुए, परस्पर अनेक प्रकार के बात-चीत का सुखानुभव करते हुए रहने लगे। क्रमश शकुकर्ण भी तरुणावस्था को प्राप्त हुआ। एक क्षण के लिए भी वह उस सिंह का साथ नहीं छोडता था। किसी समय वज्रदष्ट्र का किसी जगली हाथी के साथ युद्ध हुआ, उस युद्ध मे दाँतो की चोट से मन्द-पराक्रम उस (सिंह) का शरीर इतना घायल हो गया कि एक पग भी वह चल न सकता था। भूख के कारण रूखे कण्ठ से वह कहने लगा—'अरे। किसी जीव को खोजो जिससे मैं इस प्रकार बैठा हुआ भी उसे मार कर अपनी और तुम सबो की क्षुधा शान्त कर सकूँ। इस प्रकार सुनकर वे तीनो (चतुरक, क्रव्यमुख और शकुकर्ण) वन मे सन्ध्याकाल तक भ्रमण करते रहे, परन्तु उन्हे कोई भी जीव न प्राप्त हुआ। तब चतुरक ने विचार किया कि यदि यह 'शकुकर्ण' मार डाला जाय तो कई दिनो के लिए सबकी तृप्ति होती रहेगी। किन्तु इसे स्वामी सुहृद्भाव और आश्रित होने के कारण न मारेंगे। फिर भी बुद्धि के प्रभाव से स्वामी को (इधर-उधर) समझा कर इस प्रकार का व्यवहार करूँगा जिससे वे इसे मार डालेंगे। कहा भी है—

अवध्य चाथवागम्यमकृत्य नास्ति किंचन ।
लोके बुद्धिमता बुद्धेस्तस्मात्ता विनियोजयेत्' ।। ४०० ।।

एव विचिन्त्य शङ्कुकर्णमिदमाह—'भो शङ्कुकर्ण, स्वामी तावत्पथ्य विना क्षुधया परिपीड्यते। स्वाम्यभावादस्माकमपि ध्रुव विनाश एव। ततो वाक्य किञ्चित्स्वाम्यर्थे वदिष्यामि। तच्छ्रूयताम्।' शकुकर्ण आह—'भोः, शीघ्र निवेद्यताम्, येन ते वचन शीघ्र निर्विकल्प करोमि। अपर स्वामिनो हिते कृते मया सुकृतशत कृत भविष्यति।' अथ चतुरक आह—'भो भद्र, आत्मशरीर द्विगुणलाभेन स्वामिने प्रयच्छ, येन ते द्विगुण शरीर भवति, स्वामिन पुन प्राणयात्रा भवति।' तदाकर्ण्य शङ्कुकर्ण प्राह—'भद्र, यद्येव तन्मदीयप्रयोजनमेतदुच्यताम्। स्वाम्यर्थं क्रियतामिति, परमत्र धर्म प्रतिभू।' इति ते विचिन्त्य सर्वे सिंहसकाशमाजग्मु। ततश्चतुरक आह—'देव, न किंचित्सत्त्व प्राप्तम्। भगवानादित्योऽप्यस्त गत। तद्यदि स्वामी द्विगुण शरीर प्रयच्छति, ततः शङ्कुकर्णोऽय द्विगुणवृद्धया स्वशरीर प्रयच्छति धर्मप्रतिभुवा।' सिंह आह—'भो, यद्येव तत्सुन्दरतरम्।

ससार मे ऐसी कोई चीज नही है जो बुद्धिमानो की बुद्धि के आगे अवध्य अथवा अलभ्य और अकार्य (करने योग्य न) हो। इसलिए नीति जानने वाले को चाहिए कि बुद्धि का उपयोग करता रहे ।। ४०० ।।

इस प्रकार विचार कर शकुकर्ण से उसने कहा—'हे शकुकर्ण ! आहार के बिना स्वामी भूख से व्यथित हो रहे है। स्वामी के न रहने पर हम लोगो का मरण अवश्य ही होगा। सो स्वामी की भलाई के लिए जो कुछ मैं निवेदन करूं, उसे सुनो।' शकुकर्ण ने कहा—'तुम शीघ्र निवेदन करो, अतिरिक्त स्वामी का हित करने पर मुझे शतगुणित पुण्य लाभ होगा।' इसके बाद चतुरक ने कहा—'हे सौम्य ! अपने शरीर को दुगुने लाभ (ब्याज) पर स्वामी को दे दो, जिससे एक तो तुम्हारा शरीर दूना हो जायगा और स्वामी का भोजन भी हो जायगा।' यह सुनकर शकुकण ने कहा—'हे भद्र ! यदि ऐसा है तो मेरा भी यही प्रयोजन (विचार) है। कि 'स्वामी का कार्य किया जाय। परन्तु इसमे धर्म ही साक्षी (गवाह) है।' वे सब इस तरह विचार कर सिंह के समीप गये। वहाँ चतुरक ने कहा—'स्वामिन् ! कोई जीव नही प्राप्त हुआ और भगवान् सूर्य भी अस्त हो गये। सो यदि स्वामी दुगुना शरीर प्रदान कर सकें तो यह शकुकर्ण द्विगुणवृद्धि (दुगुने ब्याज-वृद्धि) पर धर्म को साक्षी

व्यवहारस्यास्य धर्मं प्रतिभूं क्रियताम्' इति। अथ सिंहवचनानन्तरं वृकशृगालाभ्यां विदारितोभयकुक्षिः शङ्कुकर्णः पञ्चत्वमुपागतः। अथ वज्रदंष्ट्रश्चतुरकमाह—'भोश्चतुरक, यावदहं नदीं गत्वा स्नानं देवतार्चनविधिं कृत्वाऽऽगच्छामि, तावत्त्वयाऽत्राप्रमत्तेन भाव्यम्' इत्युक्त्वा नद्यां गतः। अथ तस्मिन् गते चतुरकश्चिन्तयामास—'कथं ममैकाकिनो भोज्योऽयमुष्ट्रो भविष्यति' इति विचिन्त्य क्रव्यमुखमाह—'भोः क्रव्यमुख, क्षुधालुर्भवान्। तद्यावदसौ स्वामी नागच्छति, तावत्त्वमस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षय। अहं त्वां स्वामिनो निर्दोषं प्रतिपादयिष्यामि।' सोऽपि तच्छ्रुत्वा यावत्किंचिन्मांसमास्वादयति तावच्चतुरकेणोक्तम्—'भो क्रव्यमुख, समागच्छति स्वामी। तत्त्यक्त्वैनं दूरे तिष्ठ, येनास्य भक्षणं न विकल्पयति।' तथाऽनुष्ठिते सिंहः समायातो यावदुष्ट्रं पश्यति तावद्रिक्तीकृतहृदयो दासेरकः। ततो भ्रूकुटिं कृत्वा परुषतरमाह—'अहो, केनैष उष्ट्र उच्छिष्टतां नीतो येन तमपि व्यापादयामि।' एवमभिहिते क्रव्यमुखश्चतुरकमुखमवलोकयति। 'किल

बना कर अपना शरीर आपको दे देगा। सिंह ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो बहुत सुन्दर है। यह व्यवहार (ऋणग्रहण) का काम है अतः धर्म को प्रतिभू (गवाह) बना कर यह काम किया जाय।' सिंह के इस प्रकार कहने पर भेड़िए और शृगालों ने उसकी दोनों कुक्षि (कोख) को फाड़ डाला, जिससे शङ्कुकर्ण पञ्चत्व को प्राप्त हो गया। तदनन्तर वज्रदंष्ट्र ने चतुरक से कहा—हे चतुरक! जब तक मैं नदी में जाकर स्नान और देवपूजन-विधि करके लौट न आऊँ तब तक तुम यहाँ सावधानी (चौकन्ने) से रहना। इस प्रकार कहकर वह नदी में (स्नानादि करने के लिए) चला गया? उसके चले जाने के अनन्तर चतुरक सोचने लगा—'कौन-सा यत्न करूँ कि अकेले मुझे ही यह ऊँट खाने के लिए जाय।' इस प्रकार सोचकर उसने क्रव्यमुख से कहा—'हे क्रव्यमुख! तुम भूखे हो, इसलिए जब तक स्वामी नहीं आ जाते तब तक तुम इस ऊँट के मांस को खाओ। मैं तुम्हें स्वामी के समक्ष निर्दोष सिद्ध करूँगा। उसने भी उसे सुनकर ज्यों ही मांस खाना आरम्भ किया, त्यों ही चतुरक ने कहा—'हे क्रव्यमुख! स्वामी आ रहे हैं मांस छोड़कर तुम दूर हो जाओ, जिससे उनको सन्देह न हो। वैसा करने पर सिंह ने आकर जब ऊँट की ओर देखा तो उसे बिना कलेजा का देखा। तब टेढ़ी भौंहे करके क्रोधपूर्वक बोला—'अरे! इस ऊँट को किसने उच्छिष्ट (जूठा) कर दिया, जिससे मैं उसे

तद्वद् किञ्चिद्येन मम शान्तिर्भवति।' अथ चतुरको विहस्योवाच—'भो, मामनादृत्य पिशितं भक्षयित्वाऽधुना मन्मुखमवलोकयसि। तदास्वादयास्य दुर्णयतरोः फलम्' इति। तदाकर्ण्य क्रव्यमुखो जीवनाशभयाद् दूरदेशं गतः। एतस्मिन्नन्तरे तेन मार्गेण दासेरकसार्थो भाराक्रान्तः समायातः। तस्याग्रेसरोष्ट्रस्य कण्ठे महती घण्टा बद्धा। तस्याः शब्दं दूरतोऽप्याकर्ण्य सिंहो जम्बुकमाह—'भद्र, ज्ञायतां किमेष रौद्रः शब्दः श्रूयतेऽश्रुतपूर्वः।' तच्छ्रुत्वा चतुरकः किञ्चिद्वनान्तरं गत्वा सत्वरमभ्युपेत्य प्रोवाच—'स्वामिन्, गम्यतां गम्यतां यदि शक्नोषि गन्तुम्।' सोऽब्रवीत्—'भद्र, किमेवं मां व्याकुलयसि। तत्कथय किमेतत्' इति। चतुरक आह—'स्वामिन्, एष धर्मराजस्तवोपरि कुपितः, यदनेनाकाले दासेरकोऽयं मदीयो व्यापादितः। तत्सहस्रगुणमुष्ट्रमस्य सकाशाद् ग्रहीस्यामि' इति निश्चित्य बृहन्मानमादायाग्रेसरस्योष्ट्रस्य ग्रीवायां घण्टां बद्ध्वा बध्यदासेरकसक्तानपि पितृपितामहानादाय वैरनिर्यातनार्थमायात एव।' सिंहोऽपि तच्छ्रुत्वा

भी मारूँ?' सिंह के इस प्रकार कहने पर क्रव्यमुख चतुरक का मुँह देखने लगा, तब चतुरक ने हँसकर कहा—'अरे क्रव्यमुख! उस समय मेरी अवहेलना कर तूने मांस खा लिया, अब मेरे मुख की ओर क्या देख रहा है? अब उस अविनय (अशिष्टाचरण) वृक्ष का फल आस्वादन कर।' इस प्रकार सुन कर क्रव्यमुख मरण के भय से दूर देश को चला गया (भाग गया)। इसी बीच उस मार्ग से ऊँटों का एक झुण्ड बोझ लदा हुआ आ रहा था। उस झुण्ड के आगे वाले ऊँट के गले में एक बड़ा घंटा बँधा हुआ था उसके शब्द को दूर से ही सुन कर सिंह ने सियार से कहा—'सौम्य! पता तो लगाओ, किसका यह भीषण शब्द सुनने में आता है जैसा कि पहले कभी भी सुना नहीं गया था।' उसे सुनकर चतुरक वन में थोड़ी दूर जाकर शीघ्रता से लौटकर कहने लगा—'देव! भाग जाइए, यदि भाग सकते हो तो भाग जाइए।' उसने कहा—'सौम्य! मुझे क्यों घबराहट में डाल रहे हो, (साफ-साफ) कहो कि यह क्या बात है?' चतुरक ने कहा—'देव! यमराज तुम्हारे ऊपर इसलिए क्रुद्ध हो गए हैं कि इसने हमारे ऊँट को असमय में (मरण-काल के न रहने पर) ही मार डाला है, इसलिए उस ऊँट का हजार गुना बदला सिंह से लूँगा। इस प्रकार निश्चय कर अनेक ऊँटों को लेकर, आगे के ऊँट की गर्दन में बहुत बड़ा घंटा बाँधकर और मरे हुए ऊँट के बाप दादा आदि सम्बन्धियों को लेकर

सर्वतो दूरादेवावलोक्य मृतमुष्ट्रं परित्यज्य प्राणभयात्प्रणष्टः । चतुरकोऽपि शनैः शनैस्तस्योष्ट्रस्य मांसं भक्षयामास । अतोऽहं ब्रवीमि—'परस्य पीडनं कुर्वन्' इति ॥

अथ दमनके गते संजीवकश्चिन्तयामास—अहो किमेतन्मया कृतम्, यच्छष्पादोऽपि मांसाशिनस्तस्यानुगः संवृत्तः । अथवा साध्विदमुच्यते—

अगम्यान् यः पुमान् याति असेव्यांश्च निषेवते ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ४०१ ॥

तत्किं करोमि । क्व गच्छामि । कथं मे शान्तिर्भविष्यति । अथवा तमेव पिङ्गलकं गच्छामि । कदाचिन्मां शरणागतं रक्षति । प्राणैर्न वियोजयति । यत उक्तं च—

धर्मार्थं यततामपीह विपदो दैवाद्यदि स्युः क्वचित्
तत्तासामुपशान्तये सुमतिभिः कार्यो विशेषान्नयः ।
लोके ख्यातिमुपागताऽत्र सकले लोकोक्तिरेषा यतो
दग्धानां किल वह्निना हितकरः सेकोऽपि तस्योद्भवः ॥ ४०२ ॥

बदला लेने के लिए आ रहे हैं ।' सिंह भी यह सुनकर बहुत दूर से ही उन्हें आते देखकर मरे हुए ऊँट को छोडकर प्राण चले जाने की आशङ्का से भाग गया और चतुरक धीरे-धीरे उस ऊँट के मांस को खा गया । इसलिए मैं कहता हूँ—'शत्रु को पीडा देकर ' 'इत्यादि ।

दमनक के चले जाने के अनन्तर संजीवक ने विचार किया कि 'अरे ! यह मैंने क्या किया, जो तृण-भोजी होकर मांसभोजी का अनुगामी हुआ । अथवा उचित ही कहा है—

जो पुरुष अगम्यों (साथ न करनेवाले साथियों) का साथ करता है और सेवा के अयोग्य मनुष्य की सेवा करता है, वह उसी प्रकार मृत्यु को प्राप्त करता है जिस प्रकार अश्वतरी (खच्चरी) अपनी मृत्यु के लिए गर्भधारण करती है ॥ ४०१ ॥

सो अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किस प्रकार मेरी शान्ति होगी ? अथवा उसी पिङ्गलक के समीप जाऊँ । कदाचित् वह मुझ शरणागत की रक्षा कर ले और प्राणों से रहित न करें (वध न करें) । क्योंकि कहा भी है—

इस संसार में धर्म के लिए आचरण करने पर दैववश यदि कुछ सङ्कट आ जाय तो बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि उसकी शान्ति के लिए विशेष रूप से

तथा च—लोकेऽथवा तनुभृता निजकर्मपाक
नित्य समाश्रितवता सुहितक्रियाणाम् ।
भावार्जित शुभमथाप्यशुभ निकाम
यद्भावि तद् भवति नात्र विचारहेतु ॥ ४०३ ॥

अपर चान्यत्र गतस्यापि मे कस्यचिद् दुष्टसत्त्वस्य मासाशिन सकाशान्मृत्युर्भविष्यति । तद्वर सिहात् । उक्त च—

महद्भि स्पर्धमानस्य विपदेव गरीयसी ।
दन्तभङ्गोऽपि नागाना श्लाघ्यो गिरिविदारणे ॥ ४०४ ॥

तथा च—महतोऽपि क्षय लब्ध्वा श्लाघ्य नीचोऽपि गच्छति ।
दानार्थी मधुपो यद्वद् गजकर्णसमाहत ॥ ४०५ ॥

एव निश्चित्य स स्खलितगतिर्मन्द मन्द गत्वा सिहाश्रय पश्यन्नपठत्, अहो, साध्विदमुच्यते—

सद्व्यवहार करें । क्योकि इस समस्त जगत् मे यह लोकोक्ति (जनश्रुति) भली भांति प्रसिद्ध हो गयी है कि अग्नि से जले अङ्गो पर उस (अग्नि) से सेक ही उपकारी होता है ॥ ४०२ ॥

और भी—इस ससार मे जीवो को अपने उन कर्मो का फल भोगना ही पडता है जो अपनी क्रिया (अच्छा या बुरा) द्वारा किया गया है । क्योकि अच्छा या बुरा जो अपने कर्म से उपार्जित है और जो भावी है वह होकर ही रहेगा इसलिए इसमे सोच-विचार की जरूरत नही है ॥ ४०३ ॥

और दूसरी जगह जाकर भी यदि किसी मास खाने वाले दुष्ट जीव से मेरी मृत्यु होगी ही, तब इस सिह द्वारा ही मरना श्रेयस्कर है । कहा भी है—

महापुरुषो के साथ सघर्ष करने पर यदि सकट भी आ जाय तो ठीक है, क्योकि पर्वत विदारण करते (तोडते) समय यदि हाथियो का दांत टूट जाय तो भी वह प्रशसनीय है ॥ ४०४ ॥

और भी—महापुरुषो के द्वारा यदि (तुच्छ) प्राणी की मृत्यु हो जाय तो वे श्लाघ्य समझे जाते हैं, जिस प्रकार हाथी के मद का इच्छुक भौंरा हाथी के कानो द्वारा आहत होने पर भी सराहना करने योग्य होता है ॥ ४०५ ॥

इस प्रकार निश्चय कर लडखडाता हुआ धीरे-धीरे सिंह के निवासस्थान को देखकर वह (सञ्जीवक) श्लोक पढने लगा । अहो ! ठीक ही कहा जाता है—

अन्तर्लीनभुजङ्गम गृहमिव व्यालाकुल वा वन
ग्राहाकीर्णमिवाभिरामकमलच्छायामनाथ मग॰ ।
नानादुष्टजनैरसत्यवचनामक्तैरनार्यैर्वृतं
दु.खेन प्रतिगम्यते प्रचकितै राज्ञा गृह वाधिवत् ॥ ४०६ ॥

एव पठन्दमनकोक्ताकार पिङ्गलक दृष्ट्वा प्रचकित मवृतशरीगे दूग्तर प्रणामकृति विनाप्युपविष्ट । पिङ्गलकोऽपि तथाविध त विलोक्य दमनक-वाक्य श्रद्दधान कोपात्तस्योपरि पपात । अथ सञ्जीवक खरनखविकर्तितपृष्ठ शृङ्गाभ्या तदुदरमुल्लिख्य कथमपि तस्मादपेत शृङ्गाभ्या हन्तुमिच्छन् युद्धायावस्थित । अथ द्वावपि तौ पुष्पितपलाशप्रतिमौ परस्परवध-काङ्क्षिणौ दृष्ट्वा करटको दमनकमाह—'भो मूढमते, अनयोर्विरोध वितन्वता त्वया साधु न कृतम्, न च त्व नीतितत्त्व वेत्सि । नीतिविद्भिरुक्त च—

जिस प्रकार अन्दर छिपे हुए सर्पयुक्त गृह मे, अग्नि की लपट से व्याप्त वन मे, अथवा मनोहर कमल की कान्ति से भूपित भी, ग्राह (घडियाल) से युक्त रमणीय सरोवर के समीप आशकित मनुष्य वडे कष्ट से जाता है, उसी प्रकार अनेक दुर्जनो, असत्य बोलने मे आसक्तो और असाधुओ से युक्त होकर राजा के भवनरूपी सागर मे सत्पुरुष अत्यधिक दु ख एव आशका से युक्त होकर जाते हैं ॥ ४०६ ॥

इस प्रकार पढता हुआ दमनक द्वारा निर्दिष्ट-आकार के पिङ्गलक को देखकर आश्चर्ययुक्त हो गया और अपने शरीर को सँभाल कर नमस्कार किए बिना ही दूर जाकर बैठ गया । पिङ्गलक भी उसे उस प्रकार देखकर दमनक के वचन को सत्य मानकर कोप से उसके ऊपर टूट पडा । जब उसके तीक्ष्ण (नोकीले) नख से सञ्जीवक की पीठ फट गयी, तब वह भी सीगो से उसके पेट मे प्रहार कर किसी तरह उससे दूर जाकर खडा हो गया और पुन सीगो से मारने की अभिलाषा से युद्ध के निमित्त खडा हो गया । उसके बाद उन दोनो को (रक्तस्राव के कारण) पुष्पित पलाश वृक्ष के समान और एक दूसरे का वध करने की इच्छा से उठे हुए देखकर, करटक ने दमनक से कहा—'अरे मूर्ख ! इन दोनो मे शत्रुता बढ़ाकर तुमने ठीक नही किया, तुम नीतिशास्त्र के मर्म को नही जानते हो । नीतिशास्त्र के अभिज्ञो ने ठीक कहा है—

कार्याण्युत्तमदण्डसाहसफलान्यायाससाध्यानि ये
प्रीत्या सशमयन्ति नीतिकुशला साम्नैव ते मन्त्रिणः ।
नि सारात्पफलानि ये त्वविधिना वाञ्छन्ति दण्डोद्यमै-
स्तेषा दुर्नयचेष्टितैर्नरपतेरारोप्यते श्रीस्तुलाम् ॥ ४०७ ॥

तद्यदि स्वाम्यभिघातो भविष्यति तत्कि त्वदीयमन्त्रबुद्ध्या क्रियते । अथ सञ्जीवको न बध्यते तथाप्यभव्यम् । यत प्राणसन्देहात्तस्य च वध । तन्मूढ, कथ त्व मन्त्रिपदमभिलषसि सामसिद्धि न वेत्सि । तद्वृथा मनोरथोऽय ते दण्डरुचे । उक्त च—

सामादिदण्डपर्यन्तो नय प्रोक्त स्वयम्भुवा ।
तेषा दण्डस्तु पापीयास्त पश्चाद्विनियोजयेत् ॥ ४०८ ॥

तथा च—साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्य ।
पित्त यदि शर्करया शाम्यसि कोऽर्थ पटोलेन ॥ ४०९ ॥

वे ही मन्त्री पद के अधिकारी हैं जो क्लेशसाध्य प्रबल युद्ध साहस और फल सहित कार्यो को स्नेह एव शान्ति के वचनो से ('साम' तथा 'दान' की नीति से) शमन करते हैं। और जो असार (निरर्थक) एव थोडे फलवाले कार्यों के पूर्ण करने की अभिलाषा अन्याय (भेद, आपसी फूट) तथा युद्धोद्योग (दण्डनीति) से करते हैं उन मन्त्रियो से राज्यलक्ष्मी ही सन्देह (खतरे) मे पड जाती है ॥ ४०७ ॥

इसलिए यदि कही स्वामी का विनाश हुआ तो फिर तुम्हारी मन्त्र-बुद्धि से क्या प्रयोजन ? और यदि कही बच गया तो भी अशुभ होगा, क्योंकि उसमे (सञ्जीवक के जीवित रहने पर) स्वामी का जीवन प्राण-सन्देह मे (सन्दिग्ध) रहेगा, इसलिए उसका वध होना परमावश्यक है। अत हे मूर्ख ! जब तुम साम-सिद्धि (सन्धि से सिद्ध होने वाले कार्य) को नही जानते तब कैसे मन्त्री के पद की अभिलाषा करते हो। इसलिए तुम्हारे सदृश सग्रामेच्छुक लोगो की यह अभिलाषा करना व्यर्थ है। कहा भी है—

ब्रह्मा ने 'साम' से लेकर (दान, भेद) 'दण्ड' तक जितनी नीति कही है, उनमे दण्ड-नीति अत्यन्त अधम है। इसलिए उसे सब सन्धियो के पीछे (साम आदि के व्यर्थ होने पर) काम मे लाना चाहिए ॥ ४०८ ॥

और भी—जहां साम नीति द्वारा ही इष्टसिद्धि होती हो वहां राजनीतिज्ञ

तथा च—आदौ साम प्रयोक्तव्य पुरुषेण विजानता ।
सामसाध्यानि कार्याणि विक्रिया यान्ति न क्वचित् ॥ ४१० ॥
न चन्द्रेण न चौषध्या न सूर्येण न वह्निना ।
साम्नैव विलय याति विद्वेषप्रभव तम· ॥ ४११ ॥

तथा यत्त्व मन्त्रित्वमभिलषसि, तदप्ययुक्तम् । यतस्त्व मन्त्रिगति न वेत्सि । यत पञ्चविधो मन्त्र । स च कर्मणामारम्भोपाय , पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभाग , विनिपातप्रतीकार , कार्यसिद्धिश्चेति । सोऽय स्वाम्यमात्ययोरेकतमस्य किं वा द्वयोरपि विनिपात समुत्पद्यते लग्न । तद्यपि काचिच्छक्तिरस्ति तद्विचिन्त्यता विनिपातप्रतीकार । भिन्नसन्धाने हि मन्त्रिणा बुद्धिपरीक्षा । तन्मूर्ख, तत्कर्तुमसमर्थस्त्व यतो विपरीतबुद्धिरसि । उक्त च—

दण्ड-नीति का प्रयोग न करे क्योंकि यदि शर्करा (चीनी) देने ही से पित्त की शान्ति हो जाय तो पटोल (कसैला परवल) देना व्यर्थ है ॥ ४०९ ॥

और भी—नीतिज्ञ पुरुष को चाहिए कि पहले साम का उपयोग करे, क्योंकि साम-नीति द्वारा सम्पन्न हुआ कार्य कभी भी विकृत नही होता ॥ ४१० ॥

यदि किसी विद्वेष (अस्त्रज) से तिमिर (द्वेष, अन्धकार) उत्पन्न हो जाय तो वह न चन्द्र से, न औषधि (ज्योतिष्मतीलता) से, न सूर्य से और न अग्नि से दूर हो सकता है, परन्तु साम (नीति) से ही दूर हो सकता है ॥४११॥

और तुम जो मन्त्री पद की इच्छा करते हो वह भी तुम्हारे लिए युक्त नही है, क्योंकि तुम मन्त्री के कर्तव्य को नही जानते । क्योंकि मन्त्र पाँच प्रकार के होते हैं—(१) किसी अभिलषित कार्य के आरम्भ (उद्योग) मे सन्धि, विग्रह आदि का उपाय (कौशल), (२) कर्मचारियो के लिए द्रव्य सम्पत्ति, (३) देश और काल के अनुसार साम, दाम, दण्ड, भेद का प्रयोग, (४) अभिलषित कार्य के पूर्ति के मार्ग मे आए हुए विघ्न को दूर करना और (५) अभिलषित कार्यादि को अच्छी तरह पूरा करना । इसलिए स्वामी और अमात्य (पिङ्गलक और सञ्जीवक) इन दोनो मे किसी एक का अथवा दोनो का मरण-समय उपस्थित है । अत यदि तुम्हारे अन्दर कोई सामर्थ्य हो तो इस सङ्कट को दूर करने का प्रयत्न करो । विरोधभाव दूर करने के समय ही

मन्त्रिणा भिन्नसन्धाने भिषजा सान्निपातिके ।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा स्वस्थे को वा न पण्डित ॥ ४१२ ॥

अन्यच्च—घातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् ।
पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटकम् ॥ ४१३ ॥

अथवा न ते दोषोऽयम् । स्वामिनो दोष , यस्ते वाक्य श्रद्दधाति । उक्त च—

नराधिपा नीचजनानुवर्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा न यान्ति ये ।
विशन्त्यतो दुर्गममार्गनिर्गम समस्तसम्बाधमनर्थपञ्जरम् ॥ ४१४ ॥

तद्यदि त्वमस्य मन्त्री भविष्यसि तदान्योऽपि कश्चिन्नास्य समीपे साधुजन समेष्यति । उक्त च—

गुणालयोऽप्यसन्मन्त्री नृपतिर्नाधिगम्यते ।
प्रसन्नस्वादुसलिलो दुष्टग्राह्यो यथा ह्रद ॥ ४१५ ॥

मन्त्रियो की बुद्धि की परीक्षा होती है । सो मूर्ख ! तुम उसे करने मे असमर्थ हो, क्योकि तुम विपरीत (उल्टी) बुद्धि वाले हो । कहा भी है—

भिन्न सन्धान (अघटनीय बात के घटने और बिगडी बात के बनाने) के समय मन्त्रियो की और सन्निपात (त्रिदोष से उत्पन्न ज्वर रोग) मे चिकित्सको की बुद्धि देखी जाती है । प्रकृतिस्थ (अच्छी दशा) मे कौन नही पण्डित बनता ॥ ४१२ ॥

और भी—क्षुद्र मनुष्य दूसरे के कार्य को नष्ट करना ही जानता है, न कि सिद्ध करना (बनाना) । अन्नपिटक (अन्न रखने के कोठिला) को गिरा देने का सामर्थ्य चूहे मे है किन्तु उसे उठा कर रखने का नही ॥ ४१३ ॥

अथवा इसमे तुम्हारा कोई दोष नही है, प्रत्युत यह स्वामी का ही दोष है, जो तुम्हारे वाक्य पर विश्वास करते है । कहा भी है—

जो राजा क्षुद्र लोगो की मन्त्रणानुसार काम करनेवाले होते है वे राजनीति के मर्मज्ञो द्वारा दिखलाए गये मार्ग से नही चलते । अत वे सभी प्रकार की बाधाओ से युक्त उस अनर्थ (दुर्गम सकट) रूपी पिंजरे मे प्रवेश करते है, जिससे निकलने का कोई मार्ग ही नही मिलता ॥ ४१४ ॥

सो यदि तुम इसके मन्त्री होगे तो दूसरा भी कोई सज्जन (राजनीति का मर्मज्ञ विद्वान्) पुरुष इसके निकट न आवेगा । कहा भी है—

(समस्त) गुणो (दया-दाक्षिण्य आदिको) का आलय राजा भी यदि

तथा च शिष्टजनरहितस्य स्वामिनोऽपि नाशो भविष्यति । उक्त च—

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकै ।
ये रमन्ते नृपास्तेषा रमन्ते रिपव श्रिया ॥ ४१६ ॥

तत्कि मूर्खोपदेशेन । केवल दोपो न गुण । उक्त च—

नानाम्य नमते दारु नाश्मनि स्यात्क्षुरक्रिया ।
सूचीमुख विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ॥ ४१७ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ।' सोऽब्रवीत्—

कथा १७

अस्ति कस्मिश्चित्पर्वतैकदेशे वानरयूथम् । तच्च कदाचिद्धेमन्तसमयेऽतिकठोरवातसस्पर्शवेपमानकलेवर तुषारवर्षोद्धत प्रवर्षघनधारानिपातसमाहत न कथञ्चिच्छान्तिमगमत् । अथ केचिद्वानरा वह्निकणसदृशानि

असाधु मन्त्रियो (दुर्मन्त्रियो) से सेवित होता है तो वह मगर से परिपूर्ण स्वच्छ और सुस्वादु जलवाले जलाशय (तालाव) के समान असेवनीय होता है ।।४१५।।

और भी शिष्ट (साधु) जनरहित होने पर स्वामी का भी नाश हो जायेगा । कहा भी है—

जो नानाविध मधुर भाषण (चिकनी चोपडी बात) करते है, अवसर आने पर धनुष चलाना नही जानते (सामयिक बाणादि सन्धान मे असमर्थ होते) हैं ऐसे अधिकारियों के साथ जो राजा रमण करते (मौज उडाते) है उनकी राज्य-लक्ष्मी से शत्रु लोग मौज उडाया करते है (अर्थात् उन्हे सग्राम मे हराकर उनकी सम्पत्ति को हरण कर लेते हैं) ॥ ४१६ ॥

सो मूर्ख को उपदेश देने से क्या प्रयोजन ? क्योकि उसमे केवल दोष ही रहता है, न कि गुण ? कहा भी है—

नही झुकने वाली लकडी टेढी नही हो सकती, पत्थर पर क्षुर-क्रिया नही होती (क्षुर-अस्तुरा, पत्थर पर कभी नही चलता, क्योकि पत्थर काटने मे उसका सामर्थ्य नही है) और अयोग्य शिष्य को उपदेश नही दिया जा सकता । सूचीमुख इसका उदाहरण है ॥ ४१७ ॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे ।' उसने कहा—

किसी पर्वत के एक प्रदेश मे वानरो का एक झुण्ड रहता था । वह वानर-समूह किसी समय हेमन्त ऋतु मे अत्युत्कट ठण्डी वायु लगने से कम्पमान शरीर तथा तुषार (पाला) की वर्षा तुल्य बडी मुसलाधार जल के बरसने के कारण

गुञ्जाफलान्यवचित्य वह्निवाञ्छया फूत्कुर्वन्त- समन्तान्तस्थु । अथ सुचीमुखो नाम पक्षी तेषा त वृथायासमवलोक्य प्रोवाच—'भो, सर्वे मूर्खा यूयम् । नैते वह्निकणा गुञ्जाफलानि एतानि । तत्कि वृथा श्रमेण । नैतस्माच्छीतरक्षा भविष्यति । तदन्विष्यता कश्चिन्निर्वातो वनप्रदेशो गुहा गिरिकन्दर वा । अद्यापि सटोपा मेघा दृश्यन्ते ।' अथ तेषामेकतमो वृद्ध-वानरस्तमुवाच—'भो मूर्ख, कि तावदनेन व्यापारेण । तद्गम्यताम् ।' उक्त च--

मुहुर्विघ्नितकर्माण द्यूतकार पराजितम् ।
नालापयेद्विवेकज्ञो यदीच्छेत्सिद्धिमात्मन ॥ ४१८ ॥

तथा च—आखेटक वृथाक्लेश मूर्ख व्यसन-सस्थितम् ।
आलापयति यो मूढ स गच्छति पराभवम् ॥ ४१९ ॥

सोऽपि तमनादृत्य भूयोऽपि वानराननवरतमाह—'भो, कि वृथा

पीडित हो कर किसी तरह भी सुख नही पा रहा था तब उनमे से कुछ बन्दर अग्निकण (आग की चिनगारी) के समान गुञ्जाफलो (घुघुचियो) को एकत्रित कर अग्नि की अभिलाषा से फूंकते हुए उसके चारो तरफ घेरकर बैठ गये। तदनन्तर 'सूचीमुख' नाम के पक्षी ने उनके उस निरर्थक परिश्रम को देखकर कहा—'अरे ! तुम सब मूर्ख हो । ये सब आग की चिनगारियाँ नही है। ये गुञ्जाफल हैं । इसलिये इस निरर्थक परिश्रम से क्या प्रयोजन ? इससे शीत की रक्षा नही होगी । सो कोई वायु-रहित वन स्थान, गुहा (गुफा) या गिरिकन्दर (पर्वत की खोह) खोजो । इस समय भी बादल की घनघोर घटा (मेघ की गर्जना) देखने मे आ रही है ।' तब उनमे से एक वृद्ध बन्दर ने कहा—'अरे मूर्ख ! तुझे इस काम से क्या प्रयोजन ? इसलिये (तू) चला जा ।' कहा भी है—

बार-बार किसी कार्य मे सफलता न पानेवाले और द्यूत (जुआ) खेलने मे पराजित (हार खाये हुए) व्यक्ति से बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि यदि अपनी कुशलता की इच्छा हो तो उनके साथ वार्तालाप न करें ॥ ४१८ ॥

और भी जो मूढ आखेटक (शिकारी), निरर्थक परिश्रम करनेवाले, मूर्ख और व्यसनी से वार्तालाप करता है, वह पराभव को प्राप्त होता है ॥ ४१९ ॥

वह भी उसके वचन की अवहेलना करता हुआ बार-बार वही बात कहता

क्लेशेन।' अथ यावदसौ न कथञ्चित्प्रलपन्निरमति तावदेकेन वानरेण व्यर्थश्रमत्वात्कुपितेन पक्षाभ्यां गृहीत्वा शिलायामास्फालित उपरतश्च अतोऽहं ब्रवीमि—'नानाम्य नमते दारु' इत्यादि ॥ तथा च—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥ ४२० ॥

अन्यच्च—उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने।
पश्य वानरमूर्खेण सुगृही निगृहीकृतः ॥ ४२१ ॥

दमनक आह—'कथमेतत्।' सोऽब्रवीत्—

कथा १८

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे शमीवृक्षः। तस्य लम्बमानशिखायां कृतावासावरण्यचटकदम्पती वसतः स्म। अथ कदाचित्तयोः सुखमस्थयोर्हेमन्तमेघो मन्दं मन्दं वर्षितुमारब्धः। अत्रान्तरे कश्चिच्छाखामृगो वातासारसमाहतः प्रोद्धूलितशरीरो दन्तवीणां वादयन्वेपमानस्तच्छमीमूलमासाद्योपविष्टः। अथ तं तादृशमवलोक्य चटका प्राह—'भो भद्र,

---

ही रहा कि—'अरे! इस निरर्थक कष्ट से क्या प्रयोजन ?' सो वह जब किसी प्रकार भी अपने कहने से न रुका, तब तक व्यर्थ परिश्रम से क्रुद्ध हुए बन्दर ने उसके पंख पकड़ कर शिला (पर्वत की चट्टान) पर पटक दिया जिससे वह मर गया। इसीलिए मैं कहता हूँ—न झुकने वाली लकड़ी नहीं झुकती ' इत्यादि।

मूर्खों को दिया गया उपदेश उनके क्रोध को बढ़ाने के लिए ही होता है, न कि शान्ति के लिए। जिस प्रकार सर्पों को दूध पिलाने से उनके विष का ही वर्धन होता है ॥ ४२० ॥

और भी—जैसे-तैसे व्यक्ति को उपदेश न देना चाहिए। देखो, मूर्ख बन्दर एक उत्तम गृहस्थ को घर से शून्य (बेघर) बना दिया ॥ ४२१ ॥

दमनक ने पूछा—'यह कैसे ? उसने कहा—

किसी वन के एक प्रदेश मे शमी का एक वृक्ष था। उसकी लम्बी शाखा (डाल) मे घोसला बना कर चटक-चटका (गौरैया और उसकी स्त्री) रहा करते थे। किसी समय जब वे आनन्द से बैठे हुए थे कि हेमन्त ऋतु का

'हस्तपादसमोपेतो दृश्यसे पुरुषाकृति ।
शीतेन भिद्यसे मूढ, कथ न कुरुषे गृहम्' ॥ ४२२ ॥

एतच्छ्रुत्वा ता वानर सकोपमाह—'अधमे कस्मान्न त्व मौनव्रता भवसि । अहो, धाष्टर्यमस्या । अद्य मामुपहसति—

'सूचीमुखी दुराचारा रण्डा पण्डितवादिनी ।
नाशङ्कते प्रजल्पन्ती तत्किमेना न हन्म्यहम् ॥ ४२३ ॥
वाच्य श्रद्धासमेतस्य पृच्छतेश्च विशेषत ।
प्रोक्त श्रद्धाविहीनस्य अरण्यरुदितोपमम् ॥ ४२४ ॥

तत्किं बहुना तावत् । कुलायस्थितया तया पुनरप्यभिहित । स तावत्ता

बादल धीरे-धीरे बरसने लगा । इसी समय हवा के झकझोर से युक्त वर्षा की धारा से ताडित (वर्षा के जल से भीगे हुए शरीरवाला), दन्तवीणा (कटकटाते दांत रूपी वीणा) बजाता हुआ और कांपता हुआ कोई बन्दर उसी शमी वृक्ष के नीचे आकर बैठ गया । उसको उस प्रकार की दशा देखकर चटका ने कहा—हे सौम्य !

तुम तो हाथ और पैर से युक्त होने के कारण पुरुष के समान देखने में आते हो । तब शीत (ठण्डक) से कष्ट क्यो पा रहे हो, अरे मूर्ख ! निवास के लिए घर क्यो नही बना लेता ? ॥४२२ ॥

उसे सुनकर बन्दर ने क्रोधपूर्वक कहा—'अरी अधमे ! तू चुप क्यो नही रहती ? अत्यधिक आश्चर्य की बात है, इसकी धृष्टता (ढिठाई) तो देखो ! यह मेरा उपहास कर रही है ।

सुई के सदृश मुँहवाली, व्यभिचारिणी, धूर्ता और अपने को विदुषी कहने वाली, बकवाद करती हुई यदि यह नही आशंकित होती (डरती) है, तो मैं क्यो न इसे मार डालूँ ? ॥ ४२३ ॥

इस प्रकार विचार कर उसने कहा—'अरी मुग्धे (भोली) ! मेरी चिन्ता करने से तुझे क्या प्रयोजन ?' कहा भी है—

विशेष श्रद्धा से युक्त होकर यदि कोई जानने की इच्छा से पूछे तो उससे बात करनी चाहिए । श्रद्धारहित मनुष्यो से कुछ कहना वन मे रोने के समान (निरर्थक) है ॥ ४२४ ॥

सो बहुत कहने से क्या प्रयोजन ! ज्यो ही कुलाय (घोसले) मे बैठी हुई

शमीमारुह्य तस्याः कुलाय शतधा खण्डशोऽकरोत्। अतोऽहं ब्रवीमि—'उपदेशो न दातव्य' इति॥

तन्मूर्ख, शिक्षापितोऽपि न शिक्षितस्त्वम्। अथवा न ते दोषोऽस्ति, यतः साधोः शिक्षा गुणाय सम्पद्यते, नासाधोः। उक्तं च—

किं करोत्येव पाण्डित्यमस्थाने विनियोजितम्।
अन्धकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाहितः॥ ४२५॥

तद्व्यर्थपाण्डित्यमाश्रित्य मम वचनमशृण्वन्नात्मनः शान्तिमपि वेत्सि। तन्नूनमपजातस्त्वम्। उक्तं च—

जातः पुत्रोऽनुजातश्च अतिजातस्तथैव च।
अपजातश्च लोकेऽस्मिन्मन्तव्याः शास्त्रवेदिभिः॥ ४२६॥
मातृतुल्यगुणो जातस्त्वनुजातः पितुः समः।
अतिजातोऽधिकस्तस्मादपजातोऽधमाधमः॥ ४२७॥

उस (चटका) ने पुनः कहा त्यो ही उस शमी वृक्ष पर चढकर उसके कुलाय (घोसले) को सौ टुकडे कर दिये। इसी से मैं कहता हूँ—'जैसे तैसे व्यक्ति को उपदेश न देना चाहिए' इत्यादि।

सो हे मूर्ख दमनक! उपदेश देने (सिखाने) पर भी तू नही सीख सका। अथवा इसमे तेरा दोष नही है, क्योकि सज्जन व्यक्ति मे शिक्षा (उपदेश) गुणदायिनी होती है, न कि अशिष्ट (असज्जन व्यक्ति) मे। कहा भी है—

अनुचित पात्र मे बतलाया गया सदुपदेश क्या कर सकता है। जिस प्रकार अन्धकार से पूर्ण घडे के ऊपर रखा हुआ दीपक घडे के भीतर प्रकाश कर सकता है?॥ ४२५॥

सो व्यर्थ पाण्डित्य ('मैं ज्ञानवान् हूँ' इस प्रकार का झूठा अहङ्कार) का अवलम्बन कर तुमने मेरा वचन नही सुना और जो मन की शान्ति थी उसे भी नही समझ पाया। सो निश्चय ही तू अपजात (अत्यन्त अधम) हुआ है। कहा भी है—

इस ससार मे शास्त्र के जाननेवालो को चार प्रकार के पुत्रों को मानना चाहिए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) जात (२) अनुजात (३) अतिजात और (४) अपजात॥ ४२६॥

उन चारो की परिभाषायें इस प्रकार है—माता के समान गुणवाला पुत्र

अप्यात्मनो विनाश गणयति न खल परव्यसनहृष्ट ।
प्रायो मस्तकनाशे समरमुखे नृत्यति कबन्ध ॥ ४२८ ॥

अहो, साध्विदमुच्यते—

'धर्मबुद्धि कुबुद्धिश्च द्वावेतौ विदितौ मम।
पुत्रेण व्यर्थपाण्डित्यात्पिता धूमेन घातित' ॥ ४२९ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

कथा १९

कस्मिश्चिदधिष्ठाने धर्मबुद्धि पापबुद्धिश्च द्वे मित्रे प्रतिवसत स्म । अथ कदाचित्पापबुद्धिना चिन्तितम्—'अह तावन्मूर्खो दारिद्र्योपेतश्च । तदेन धर्मबुद्धिमादाय देशान्तर गत्वास्याश्रयेणार्थोपार्जन कृत्वैनमपि वञ्चयित्वा सुखी भवामि ।' अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्धर्मबुद्धि प्राह—'भो मित्र, वार्धकभावे किं त्वमात्मविचेष्टित स्मरसि, देशान्तरमदृष्ट्वा का शिशुजनस्य वार्ता कथयिष्यसि ? उक्त च—

'जात', पिता के समान गुण वाला 'अनुजात', पिता से अधिक गुणवाला पुत्र 'अतिजात' और अत्यन्त अधम पुत्र 'अपजात' कहा जाता है ॥ ४२७ ॥

दुर्जन पुरुष दूसरो के दुःख से प्रसन्न होकर अपने विनाश को नही देखता है । प्राय ऐसा देखा जाता है कि मस्तक के कट जाने पर भी कबन्ध (छिन्न शिर वाला शरीर धड) युद्ध-भूमि मे नृत्य करता रहता है ॥ ४२८ ॥

अहो ! यह ठीक कहा गया है—धर्मबुद्धि और कुबुद्धि इन दोनो को मैंने जान लिया है । पुत्र (कुबुद्धि) ने अपनी निरर्थक पण्डिताई के कारण धुयें से पिता को मार डाला ॥ २२९ ॥

दमनक ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी नगर मे 'धर्मबुद्धि' और 'पापबुद्धि' नाम के दो मित्र रहते थे । एक दिन पापबुद्धि ने विचार किया कि 'मैं तो मूर्ख और दरिद्र हूँ । सो इस धर्मबुद्धि को साथ लेकर देशान्तर मे जाकर इसकी सहायता से धन उपार्जित करूँ (कमाऊँ और उसके बाद) इसे भी ठगकर सुखी हो जाऊँ ।' तदनुसार किसी दूसरे दिन पापबुद्धि ने धर्मबुद्धि से कहा—'हे मित्र ! वृद्धावस्था (बुढौती) मे तुम अपने अपने कौन से कार्य को स्मरण (याद) करोगे ? दूसरे देश को देखे बिना अपने बालको से कौन सी बाते कहोगे ? कहा भी है—

देशान्तरेषु बहुविधभाषावेषादि येन न ज्ञातम् ।
भ्रमता धरणीपीठे तस्य फल जन्मनो व्यर्थम् ॥ ४३० ॥

तथा च--विद्या वित्त शिल्प तावन्नाप्नोति मानव सम्यक् ।
यावद् व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तर हृष्ट ॥ ४३१ ॥

अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य प्रहृष्टमनास्तेनैव सह गुरुजनानुज्ञात. शुभेऽहनि देशान्तर प्रस्थित । तत्र च धर्मबुद्धिप्रभावेण भ्रमता पापबुद्धिना प्रभूततर वित्तमासादितम् । ततश्च द्वावपि तौ प्रभूतोपार्जितद्रव्यौ प्रहृष्टौ स्वगृह प्रत्यौत्सुक्येन निवृत्तौ । उक्त च--

प्राप्तविद्यार्थशिल्पाना देशान्तरनिवासिनाम् ।
क्रोशमात्रोऽपि भभाग शतयोजनवद्भवेत् ॥ ४३२ ॥

अथ स्वस्थानसमीपवर्तिना पापबुद्धिना धर्मबुद्धिरभिहित --'भद्र, न सर्वमेतद्धन गृह प्रति नेतु युज्यते । यत कुटुम्बिनो बान्धवाश्च प्रार्थयिष्यन्ते । तदत्रैव वनगहने क्वापि भूमौ निक्षिप्य किञ्चिन्मात्रमादाय

जिस व्यक्ति ने दूसरे देशो मे घूमकर अनेक प्रकार की भाषा और वेष (पोशाक) आदि को नही समझा उसका भूतल पर जन्म ग्रहण करना निरर्थक है ॥ ४३० ॥

उसी तरह--कोई भी व्यक्ति भूतल पर विद्या, वित्त (धन), शिल्प (वैज्ञानिक व्यापार, कारीगरी) तब तक अच्छी तरह नही प्राप्त करता, जब तक प्रफुल्लित मन से देश-देशान्तर नही जाता' ॥ ४३१ ॥

इसके बाद उसकी इस तरह की बात को सुनकर धर्मबुद्धि ने प्रसन्नचित्त होकर गुरुजनो (बडे लोगो) की आज्ञा लेकर उसी के साथ किसी अच्छे दिन मे दूर देश की ओर प्रस्थान किया। वहाँ धर्मबुद्धि के प्रभाव से भ्रमण करते हुए पापबुद्धि ने बहुत-सा धन प्राप्त किया। उसके बाद वे दोनो अत्यधिक धनोपार्जन से प्रसन्न हो बडी उत्कण्ठा से अपने घर की ओर लौटे। कहा भी है--

विद्या, धन और शिल्प (कारीगरी) प्राप्त करने के बाद देशान्तर मे गये हुए व्यक्ति के लिए अपने घर की ओर की एक कोस भर की जमीन सौ योजन (४०० कोस) के तुल्य (अधिक दूरवाली) हो जाती है ॥ ४३२ ॥

इसके बाद जब पापबुद्धि अपने घर के पास पहुँचा तब उसने धर्मबुद्धि से कहा--'सौम्य ! सब धन घर ले जाना ठीक नही है, क्योंकि भाई-बिरादर एव जाति के लोग उसे माँगने लगेंगे। सो इसी घोर जङ्गल मे कही भूमि मे गाडकर

गृह प्रविशाव'। भूयोऽपि प्रयोजने सञ्जाते तन्मात्र समेत्यास्मात्स्थानान्नेष्याव । उक्त च—

न वित्त दर्शयेत्प्राज्ञः कस्यचित्स्वल्पमप्यहो।
मुनेरपि यतस्तस्य दर्शनाच्चलते मन.॥ ४३३ ॥

तथा च—यथामिप जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ ४३४ ॥

तदाकर्ण्य धर्मबुद्धिराह—'भद्र, एव क्रियताम्।' तथाऽनुष्ठिते द्वावपि तौ स्वगृह गत्वा सुखेन सस्थितवन्तौ। अथान्यस्मिन्नहनि पापबुद्धिर्निशीथेऽटव्या गत्वा तत्सर्वं वित्त समादाय गर्तं पूरयित्वा स्वभवन जगाम। अथान्येद्युर्धर्मबुद्धि समभ्येत्य प्रोवाच—'सखे, बहुकुटुम्बा वय वित्ताभावात्सीदाम । तद् गत्वा तत्र स्थाने किञ्चिन्मात्र धनमानयाव ।' सोऽब्रवीत्—'भद्र, एव क्रियताम्'। अथ द्वावपि गत्वा तत्स्थान यावत्खनतस्तावद्रिक्त भाण्ड दृष्टवन्तौ। अत्रान्तरे पापबुद्धि शिरस्ताडयन् प्रोवाच—'भो धर्मबुद्धे, त्वया हृतमेतद्धनम्, नान्येन। यतो भूयोऽपि

और इसमे से थोडा-सा धन लेकर हम दोनो घर चलें। फिर आवश्यकता पडने पर यहाँ आकर हम दोनो शेष धन ले जायेंगे। कहा भी है—

बुद्धिमान् मनुष्यो को चाहिए कि अपना थोडा धन भी किसी को नही दिखलावे। क्योकि उसके देखने से मुनि लोगो का भी मन चलायमान हो जाता है॥ ४३३ ॥

और भी—जिस प्रकार मास जल मे मछलियो द्वारा, पृथ्वीपर सिंहादि हिंसक जन्तुओ द्वारा, आकाश मे पक्षियो द्वारा खाया जाता हे, उसी प्रकार सब जगह धनवान् व्यक्ति खाया जाता है—लूटा जाता है' ॥ ४३४ ॥

यह सुनकर धर्मबुद्धि ने कहा—'सौम्य! ऐसा ही करो।' वैसा करने पर वे दोनो अपने-अपने घर जाकर आनन्द से रहने लगे। इसके बाद किसी दूसरे दिन पापबुद्धि, आधी रात के समय जङ्गल मे जाकर, वह सब धन लेकर गड्ढे को भर कर अपने घर चला आया। तदनन्तर दूसरे दिन धर्मबुद्धि के समीप आकर कहा—'हे मित्र! हम लोग बहुत परिवार वाले हैं और धन के अभाव से कष्ट पाते हैं। सो उस जगह पर चलकर कुछ थोडा-सा धन ले आवें।' उसने कहा—'सौम्य! ऐसा ही करो।' इसके पश्चात् दोनो ने जाकर जब उस जगह को खोदा तो रिक्त भाण्ड देखा। इतने मे पापबुद्धि ने मस्तक पीटते हुए

गर्तापूरण कृतम्। तत्प्रयच्छ मे तस्यार्धम्। अन्यथाऽह राजकुले निवेद-यिष्यामि।' स आह—'भो दुरात्मन्, मैव वद। धर्मबुद्धि खल्वहम्। नैतच्चौरकर्म करोमि। उक्त च—

मातृवत्परदाराणि परद्रव्याणि लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धय'॥ ४३५॥

एव द्वावपि तौ विवदमानौ धर्माधिकारिण गतौ। प्रोचतुश्च परस्पर दूषयन्तौ। अथ धर्माधिकरणाधिष्ठितपुरुषैर्दिव्यार्थे यावन्नियोजितौ तावत् पापबुद्धिराह—'अहो, न सम्यग्दृष्टोऽय न्याय! उक्त च—

विवादेऽन्विष्यते पत्र तदभावेऽपि साक्षिणः।
साक्ष्यभावात्ततो दिव्य प्रवदन्ति मनीषिण॥ ४३६॥

तदत्र विषये मम वृक्षदेवता साक्षिभूतास्तिष्ठन्ति। ता अप्यावयोरे-कतर चौर साधु वा करिष्यन्ति।' अथ तै सर्वैरभिहितम्—'भो, युक्त-मुक्त भवता। उक्त च—

कहा—'हे धर्मबुद्धि! तुम्ही ने इस धन का हरण कर लिया है और दूसरे ने नही। धन लेकर तुमने ही गड्ढा भर दिया है। इसलिए मुझे उसका आधा दे दो, नही तो मैं राज-दरबार मे जाकर निवेदन करूंगा।' उसने कहा—'अरे दुष्ट! ऐसा मत कह, क्योंकि मैं धर्मबुद्धि हूं। ऐसा चौर का कर्म मैं नही कर सकता। कहा भी है—

जिनकी बुद्धि सत्कर्म मे रहती है ऐसे धार्मिक लोग परायी स्त्री को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के ढेले के समान और समस्त जीवो को अपनी आत्मा के समान देखते हैं'॥ ४३५॥

इस प्रकार वे दोनो विवाद करते हुए धर्माधिकारी के समीप जाकर एक दूसरे को दोष लगाते हुए कहने लगे। इसके बाद जब धर्माधिकारी से नियुक्त राजपुरुषो ने शपथ-ग्रहण के लिए कहा तब पापबुद्धि ने कहा—'अहो! यह न्याय तो उचित नही देखने मे आता। कहा भी है—

विवाद कर्म मे पहले लेख-पत्र का अन्वेषण किया जाता है, उसके न मिलने पर साक्षी खोजे जाते हैं, साक्षी के अभाव मे शपथग्रहण कराया जाता है—इस प्रकार राजनियम के अभिज्ञ लोग कहते हैं॥ ४३६॥

सो इस विषय मे हमारे साक्षी वनदेवता हैं। वे ही हम दोनो मे से एक

अन्त्यजोऽपि यदा साक्षी विवादे सम्प्रजायते ।
न तत्र विद्यते दिव्य किं पुनर्यत्र देवता ॥ ४३७ ॥

तदस्माकमप्यत्र विषये महत्कौतूहल वर्तते। प्रत्यूषसमये युवाभ्यामप्यस्माभि सह तत्र वनोद्देशे गन्तव्यम्' इति। एतस्मिन्नन्तरे पापबुद्धि स्वगृह गत्वा स्वजनकमुवाच—'तात, प्रभूतोऽय मयार्थो धर्मबुद्धेश्चोरितः। स च तव वचनेन परिणतिं गच्छति। अन्यथाऽस्माक प्राणैं सह यास्यति'। स आह—'वत्स, द्रुत वद येन प्रोच्य तद्द्रव्य स्थिरता नयामि।' पापबुद्धिराह—'तात, अस्ति तत्प्रदेशे महाशमी। तस्या महत्कोटरमस्ति। तत्र त्व साम्प्रतमेव प्रविश। तत प्रभाते यदाह सत्यश्रावण करोमि, तदा त्वया वाच्य यद्धर्मबुद्धिश्चौर इति।' तथानुष्ठिते प्रत्यूषे स्नात्वा पापबुद्धिर्धर्मबुद्धिपुर सरो धर्माधिकरणकै सह ता शमीमभ्येत्य तारस्वरेण प्रोवाच—

को चोर या साधु बनावेंगे !' उसके बाद उन सबो ने कहा—'हाँ, हाँ ! तुमने बहुत ठीक कहा। कहा भी है—

मुकदमा मे यदि अन्त्यज भी साक्षी होता है तो वहाँ शपथ की जरूरत नही समझी जाती, फिर जहाँ वनदेवता हो तो क्या पूछने की बात है ? ॥ ४३७ ॥

सो हम लोगो को भी इस विषय मे अत्यन्त कौतुक है। सो तुम दोनो को प्रात काल हम लोगो के साथ उस वन मे जाना होगा। इसी बीच मे पापबुद्धि ने अपने घर जाकर अपने पिता से कहा—'हे पिताजी ! मैंने धर्मबुद्धि का प्रभूत धन चुरा लिया है, और तुम्हारे कहने से वह पच जायगा। नही तो मेरे प्राणो के साथ वह धन भी चला जायगा।' उसने कहा—'वत्स ! जल्दी बताओ, जो मैं उसे कहकर उस द्रव्य को स्थिर कर दूँ।' पापबुद्धि ने कहा—'हे पिता जी ! उस स्थान पर एक बहुत बडा शमी का वृक्ष है। उसमे एक बहुत बडा कोटर है। उसमे तुम इस समय ही जा घुसो। उसके बाद प्रात काल जब मैं सत्य कहने को कहूँगा तब तुम कहना कि धर्मबुद्धि चोर है।' ऐसा करने पर योजनानुसार प्रभातकाल 'पापबुद्धि' ने स्नानकर धुले हुए कपडे पहनकर, धर्मबुद्धि को आगे कर, धर्माधिकारियो के साथ उस शमी वृक्ष के निकट पहुँचकर ऊँचे स्वर से कहा—

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदय यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मो हि जानाति नरस्य वृत्तम् ।।४३८।।

भगवति वनदेवते, आवयोर्मध्ये-यश्चौरस्त कथय ।' अथ पापबुद्धि-पिता शमीकोटरस्थ प्रोवाच—'भो, शृणुत शृणुत । धर्मबुद्धिना हृत-मेतद्धनम्' तदाकर्ण्य सर्वे ते राजपुरुषा विस्मयोत्फुल्ललोचना यावद्धर्म-बुद्धेर्वित्तहरणोचित निग्रह शास्त्रदृष्ट्याऽवलोकयन्ति तावद्धर्मबुद्धिना तच्छ-मीकोटर वह्निभोज्यद्रव्यै परिवेष्ट्य वह्निना सदीपितम् । अथ ज्वलति तस्मिन् शमीकोटरेऽर्धदग्धशरीर स्फुटितेक्षण. करुण परिदेवयन्पापबुद्धि-पिता निश्चक्राम । ततश्च ते सर्वे पृष्ट —'भो किमिदम् ।' इत्युक्ते 'इद सर्वं कुकृत्य पापबुद्धे कारणाद् जातम्' इत्युक्त्वा मृत । ततस्ते राज-पुरुषा पापबुद्धि शमीशाखाया प्रतिलम्ब्य धर्मबुद्धि प्रशस्येदमूचु.—'अहो, साध्विदमुच्यते—

उपाय चिन्तयेत्प्राज्ञस्तथापाय च चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलेन हता बका ॥ ४३९ ॥

'सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन-रात दोनो सन्ध्यायें और धर्म—ये मनुष्यो के चरित्र को जानते हैं ॥ ४३८ ॥

मात वनदेवते ! हम दोनो मे जो चोर हो उसे तुम कहो ।' इसके बाद शमी के खोखले मे बैठा हुआ पापबुद्धि का पिता कहने लगा—'अहो ! तुम सब सुनो, यह सब धन धर्मबुद्धि ने चुराया है ।' यह सुनकर उन सब राजपुरुषो की आँखे आश्चर्य से खुल गयी और जब वे धर्मबुद्धि के धन-हरण के योग्य दण्ड को शास्त्र की दृष्टि से विचारने में तत्पर हो गये, तब धर्मबुद्धि ने उस शमी वृक्ष के खोखले मे घास-पात भर कर आग लगा दी । उस काटर के जलने पर उससे आधा शरीर जला हुआ, फूटे नेत्र वाला, करुण स्वर से चिल्लाता हुआ पापबुद्धि का पिता निकला । उसके वाद उन अधिकारियो ने पूछा—'अरे, यह क्या हो गया ?' इस प्रकार कहने पर 'यह सब कुकृत्य पापबुद्धि के कारण हुआ' यह निवेदन कर वह मर गया । तदनन्तर उन राजपुरुषो ने पापबुद्धि को शमीवृक्ष की शाखा मे लटकाकर धर्मबुद्धि की प्रशसा करते हुए कहा—अहो ! यह ठीक ही कहा है—

बुद्धिमान् का कर्त्तव्य है कि उपाय के साथ-साथ अपाय को भी चिन्ता करे । क्योंकि मूर्ख बगुले के देखते-देखते नकुल ने उसके सभी बच्चे खा लिये' ।।४३९।।

धर्मबुद्धिः प्राह—'कथमेतत्।' ते प्रोचु —

कथा २०

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे बहुबकसनाथो वटपादप । तस्य कोटरे कृष्णसर्प प्रतिवसति स्म । स च बकबालकानजातपक्षानपि सदैव भक्षयन्काल नयति । अथैको बकस्तेन भक्षितान्यपत्यानि दृष्ट्वा शिशुवैराग्यात्सरस्तीरमासाद्य बाष्पपूरितनयनोऽधोमुखस्तिष्ठति । त च तादृक्चेष्टितमवलोक्य कुलीरक प्रोवाच—'मातुल, किमेव रुद्यते भवताऽद्य।' स आह—'भद्र, किं करोमि। मम मन्दभाग्यस्य बालका कोटरनिवासिना सर्पेण भक्षिता। तद्दु खदु खितोऽह रोदिमि। तत्कथय मे यद्यस्ति कश्चिदुपायस्तद्विनाशाय।' तदाकर्ण्य कुलीरकश्चिन्तयामास—'अय तावदस्मज्जातिसहजवैरी। तथोपदेश प्रयच्छामि सत्यानृत यथान्येऽपि बका सर्वे सक्षयमायान्ति। उक्त च—

नवनीतसमा वाणी कृत्वा चित्त तु निर्दयम्।
तथा प्रबोध्यते शत्रु सान्वयो म्रियते यथा ॥ ४४० ॥

धर्मबुद्धि ने कहा—'यह कैसे ?' राजपुरुषो ने कहा—

किसी वन मे अनेक बगुलो से युक्त एक वट का वृक्ष था। उसके कोटर मे एक काला सांप रहता था। वह पख न निकले हुए बगुलो के बच्चो का भक्षण करता हुआ अपना समय बिता रहा था। तदनन्दर एक बगुला उसके द्वारा अपने बच्चो को भक्षण किये हुए देखकर बच्चो के मरण के शोक मे जलाशय के किनारे आकर अश्रुधारा परिपूर्ण आंखो से नीचे की ओर मुँह किए हुए बैठा था। उसे उस अवस्था मे देखकर एक कुलीरक ने पूछा—'मामा ! आज आप इस तरह क्यो रो रहे है ?' उसने कहा—'सौम्य ! क्या करूँ ? मुझ भाग्यहीन के सभी बालको को खोखले मे रहनेवाले काले सांप ने भक्षण कर लिया है। सो उसी के दु ख से दु खित होकर मैं रो रहा हूं। यदि उस सांप के नाश का कोई उपाय हो तो मुझसे कहो।' यह सुनकर कुलीरक ने विचार किया कि 'यह तो मेरी जाति का सहज बैरी है, अत इस प्रकार सत्य और असत्य से मिश्रित उपदेश दूँ कि दूसरे सभी बगुले भी नष्ट हो जायं। कहा भी है—

वाणी को मक्खन के समान कोमल और चित्त को निष्ठुर करके शत्रु को इस प्रकार समझावे कि जिससे वह कुल सहित विनाश को प्राप्त हो जाय' ॥ ४४० ॥

आह च—'माम, यद्येव तन्मत्स्यमामखण्डानि नकुलस्य बिल्द्वारा-त्सर्पकोटर यावत्प्रक्षिप यथा नकुलस्तन्मार्गेण गत्वा त दुष्टसर्पं विनाशयति।' अथ तथानुष्ठिते मत्स्यमासानुसारिणा नकुलेन तं कृष्णसर्पं निहत्य तेऽपि तद्वृक्षाश्रया सर्वे बकाश्च शनै शनैर्भक्षिता। अतो वय ब्रूम —'उपाय चिन्तयेद्' इति।

तदनेन पापबुद्धिना उपायश्चिन्तितो नापाय। ततस्तत्फल प्राप्तम्।' अतोऽह ब्रवीमि—'धर्मबुद्धि कुबुद्धिश्च' इति॥

एव मूढ, त्वयाप्युपायश्चिन्तितो नापाय पापबुद्धिवत्। तन्न भवसि त्व सज्जन, केवल पापबुद्धिरसि। ज्ञातो मया स्वामिन प्राणसदेहानयनात्। प्रकटीकृत त्वया स्वयमेवात्मनो दुष्टत्व कौटिल्य च। अथवा साध्विदमुच्यते—

यत्नादपि क पश्येच्छिखिनामाहारनि सरणमार्गम्।
यदि जलदध्वनिमुदितास्त एव मूढा न नृत्येयु॥४४१॥

उसने कहा—'मामा! यदि ऐसा है तो मछलियो के मास के टुकडे लेकर नेवले के बिल के छेद से लेकर साँप के खोखले तक डाल दो, जिससे नेवला उस मार्ग से जाकर उस दुष्ट साँप को मार डालेगा।' इस प्रकार करने पर मछलियो के मास का अनुसरण करनेवाले नेवले ने उस काले साँप को मारकर उस वृक्ष पर रहनेवाले सभी बगुलो को भी धीरे-धीरे खा लिया। इसीलिए हम कहते हैं—'उपाय की चिन्ता करके ' इत्यादि।

सो इस पापबुद्धि ने उपाय का तो विचार किया किन्तु साथ ही साथ अपाय (विनाश) का विचार नही किया इसी से उसका फल पाया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि—धर्मबुद्धि और पापबुद्धि इन दोनो को मैने समझ लिया' इत्यादि।

इसी प्रकार ओ मूढ! तुमने भी उपाय का चिन्तन किया किन्तु पापबुद्धि के समान अपाय का नही। सो तुम सज्जन नही हो, केवल पापबुद्धि हो। स्वामी पिङ्गलक के प्राणो को सङ्कट में डाल देने से ही मुझे यह मालूम हो गया है। इससे तुमने अपने आप ही अपनी दुष्टता और कुटिलता स्पष्ट कर दी। अथवा यह ठीक ही कहा है—

यदि मेघो की ध्वनि से प्रसन्न होकर वे नादान (मयूर) अपने आप नाचने न लग जायँ तो कौन यत्न करके भी मयूरो के आहार निकलने का मार्ग (गुदा) को देख सकता है?॥ ४४१॥

यदि त्व स्वामिनमेना दशा नयसि तदस्मद्विधस्य का गणना। तस्मान्ममासन्नेन भवता न भाव्यम्। उक्त च—

तुला लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषका।
राजस्तत्र हरेच्छ्येनो बालक नात्र सशय ॥ ४४२ ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

कथा २१

'अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने जीर्णधनो नाम वणिक्पुत्र। स च विभवक्षयाद् देशान्तरगमनमना व्यचिन्तयत्—

'यत्र देशेऽथवा स्थाने भोगान्भुक्त्वा स्ववीर्यतः।
तस्मिन्विभवहीनो यो वसेत्स पुरुषाधम ॥ ४४३ ॥

तथा च—येनाहकारयुक्तेन चिर विलसित पुरा।
दीन वदति तत्रैव य परेषा स निन्दित ॥ ४४४ ॥

तस्य च गृहे सहस्रलोहभारघटिता पूर्वपुरुषोपार्जिता तुलाऽऽसीत्। ता च

जब तुम अपने मालिक को ऐसी अवस्था मे पहुँचा सकते हो, तो पुन हमारे सदृश लोगो की क्या गणना है। इसलिए मेरे निकट तेरा रहना उचित नही। कहा भी है—

जब एक हजार पल लोहे की तुला को चूहे खा जाते है, तो हे राजन्! यदि बालक को बाज पक्षी भी उडा ले जाय तो, इसमे सन्देह करना उचित नही है ॥ ४४२ ॥

दमनक ने पूछा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी नगर मे 'जीर्णधन' नामक एक बनिए का लडका रहता था। धन नष्ट हो जाने से वह विदेश मे जाने की अभिलाषा से सोचने लगा—

'जिस देश अथवा स्थान मे अपने पराक्रम से अनेक प्रकार के भोगो को भोग चुके, उसी देश अथवा स्थान मे विभवहीन होकर रहने वाला मनुष्य पुरुषो मे नीच है ॥४४३॥

और भी—जिसने किसी स्थान पर अभिमान के साथ पहले बहुत समय तक सुख-विलास किया हो और पुन उसी स्थान मे रहते हुए उसे अन्य लोगो के आगे दीन वचन कहना पडे तो वह निन्दा का पात्र है' ॥ ४४४ ॥

उसके घर मे पूर्व पुरुषो से उपार्जित एक हजार पल की लोहरचित एक

कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे निक्षेपभूता कृत्वा देशान्तरं प्रस्थितः । ततः सुचिरं कालं देशान्तरं यथेच्छया भ्रान्त्वा पुनः स्वपुरमागत्य तं श्रेष्ठिनमुवाच—'भो श्रेष्ठिन्, दीयतां मे सा निक्षेपतुला ।' स आह—'भो, नास्ति सा त्वदीया तुला । मूषकैर्भक्षिता ।' जीर्णधन आह—'भो, श्रेष्ठिन्, नास्ति दोषस्ते यदि मूषकैर्भक्षितेति । ईदृगेवायं संसारः न किंचिदत्र शाश्वतमस्ति । परमहं नद्यां स्नानार्थं गमिष्यामि । तत्त्वमात्मीयं शिशुमेनं धनदेवनामानं मया सह स्नानोपकरणहस्तं प्रेषय' इति । सोऽपि चौर्य-भयात्तस्य शङ्कितः स्वपुत्रमुवाच—'वत्स, पितृव्योऽयं तव स्नानार्थं नद्यां यास्यति । तद् गम्यतामनेन सार्धं स्नानोपकरणमादाय' इति । अहो, साध्विदमुच्यते—

न भक्त्या कस्यचित्कोऽपि प्रियं प्रकुरुते नरः ।
मुक्त्वा भयं प्रलोभं वा कार्यकारणमेव वा ॥ ४४५ ॥

तथा च—अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः ।
तत्र शङ्का प्रकर्तव्या परिणामेऽसुखावहा ॥ ४४६ ॥

तराजू थी । उस तराजू को किसी सेठ के घर मे धरोहर रखकर वह परदेश चला गया । उसके बाद दीर्घकाल तक परदेश मे अपनी इच्छा से भ्रमण कर पुनः अपने नगर मे आकर उस सेठ से उसने कहा—'सेठ जी ! मेरी उस अमानत रखी हुई तराजू को दे दीजिए ।' उसने उत्तर दिया—'हे भाई ! तुम्हारी तराजू तो नही है, उसे चूहो ने खा डाला ।' जीर्णधन ने कहा—'हे सेठ जी ! यदि उसे चूहे खा गये तो इसमे आपका क्या दोष ? इसी प्रकार का यह ससार है । कुछ भी इस ससार मे अविनाशी नही है । किन्तु मैं अब नदी मे स्नान करने के लिए जाऊँगा । सो अपने इस 'धनदेव' नामक पुत्र को मेरे साथ स्नान के योग्य सामग्रियाँ देकर भेज दीजिए । उसने भी चोरी लगने की आशङ्का से उससे भयभीत हो अपने पुत्र से कहा—'हे पुत्र ! यह तुम्हारे चाचा नदी मे नहाने के लिए जा रहे हैं सो तुम नहाने की सामग्री लेकर उनके साथ जाओ ।' अहो ! यह ठीक ही कहा है—

भय के निमित्त, प्रलोभन या कार्य-कारण (प्रयोजन) इन तीनो को छोड कर भक्ति से कोई मनुष्य किसी का प्रिय नही करता ॥ ४४५ ॥

और भी—जहाँ बिना किसी प्रयोजन के ही अत्यधिक आदर हो वहाँ निश्चय ही सशय करना चाहिए । क्योकि इसका परिणाम अत्यधिक क्लेशदायी होता है ॥ ४४६ ॥

अथासौ वणिक्शिशुः स्नानोपकरणमादाय प्रहृष्टमनास्तेनाभ्यागतेन सह प्रस्थित । तथाऽनुष्ठिते वणिक्स्नात्वा त शिशु नदीगुहायां प्रक्षिप्य तद्द्वार बृहच्छिलयाऽऽच्छाद्य सत्वर गृहमागतः पृष्टश्च तेन वणिजा—'भो अभ्यागत, कथ्यता कुत्र मे शिशुर्यस्त्वया सह नदी गत' इति । स आह—'नदीतटात्स श्येनेन हृत ' इति । श्रेष्ठ्याह—'मिथ्यावादिन्, किं क्वचिच्छ्येनो बाल हर्तुं शक्नोति । तत्समर्पय मे सुतम् । अन्यथा राजकुले निवेदयिष्यामि' इति । स आह—'भो सत्यवादिन्, यथा श्येनो बाल न नयति तथा मूषका अपि सहस्रलोहभारघटिता तुला न भक्षयन्ति । तदर्पय मे तुलाम्, यदि दारकेण प्रयोजनम् । एव तौ विवदमानौ द्वावपि राजकुल गतौ । तत्र श्रेष्ठी तारस्वरेण प्रोवाच—'भो, अब्रह्मण्यमब्रह्मण्यम् । मम शिशुरनेन चौरेणापहृत ' अथ धर्माधिकारिणस्तमूचु —'भो, समर्प्यता श्रेष्ठिसुत ।' स आह—'किं करोमि । पश्यतो मे नदीतटाच्छ्येनेनापहृत शिशु ।' तच्छ्रुत्वा ते प्रोचु —'भो, न सत्यमभिहित भवता ॥ किं श्येन शिशु हर्तुं समर्थो भवति ।' स आह—'भो भो श्रूयता मद्वच ।

इसके बाद वह सेठ का लडका स्नान की सामग्री लेकर प्रसन्न-चित्त हो, अतिथि के साथ चला गया । अभ्यागत बनिया स्नान कर के उस सेठ के लडके को नदी के एक गुहा मे रखकर और उसके द्वार को एक बडी शिला से ढँक कर अतिशीघ्र घर लौट आया । तब उस सेठ ने पूछा—'हे अभ्यागत ! कहो, वह मेरा बालक कहाँ है जो तुम्हारे साथ नदी मे स्नान करने के लिए गया था । उसने उत्तर दिया—'नदी के किनारे से उसे बाज उठा ले गया ।' सेठ ने कहा—'अरे असत्यवादी ! क्या कोई बाज भी लडके को उठा ले जा सकता है । तुम मेरे पुत्र को समर्पण कर दो नही तो राजकुल मे जाकर निवेदन कर दूँगा !' वह बोला—'अरे सत्यवादी ! जिस तरह बालक को बाज नही ले जा सकता, उसी तरह चूहे भी सहस्र पल की बनायी हुई तराजू को नही खा सकते । अत यदि बालक का प्रयोजन है तो मेरी तराजू दे दो ।' इस प्रकार दोनो वाद-विवाद करते हुए न्यायालय मे चले गये । वहाँ सेठ ने ऊचे स्वर से कहा— हे धर्माधिकारियो ! बडा अन्याय है, बडा अन्याय है । इस चोर ने मेरे पुत्र को चुरा लिया है ।' तब धर्माधिकारियो ने उससे कहा—'अरे ! सेठ के बालक को दे दो ।' उसने कहा "मैं क्या करूँ ? मेरे देखते देखते नदी के किनारे

तुला लोहसहस्रस्य यत्र खादन्ति मूषका ।
राजस्तत्र हरेच्छ्येनो बालक नात्र सशय ' ॥ ८४७ ॥

ते प्रोचु —'कथमेतत् ।' तत श्रेष्ठि सभ्यानामग्रे आदित नर्वं वृत्तान्त निवेदयामास । ततस्तैर्विहस्य द्वावपि तौ परस्पर सम्बोध्य तुलाशिशु-प्रदानेन सन्तोषितो । अतोऽह ब्रवीमि—'तुला लोहसहस्रस्य' इति ॥

तन्मूर्ख सञ्जीवकप्रसादमसहमानेन त्वयैतत्कृतम् । अहो, साध्विदमुच्यते—

प्रायेणात्र कुलान्वित कुकुलजा श्रीवल्लभ दुर्भगा
दातार कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थित निर्धना ।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुप धर्माश्रय पापिनो
नानाशास्त्रविचक्षण च पुरुप निन्दन्ति मूर्खा सदा ॥४४८॥

तथा च—मूर्खाणा पण्डिता द्वेष्या निर्धनाना महाधना ।
व्रतिन पापशीलानामसतीना कुलस्त्रिय ॥ ४४९ ॥

से लडके को बाज उठाकर ले गया' यह सुनकर उन्होने कहा—'अरे तुमने सत्य वचन नही कहा, क्या बाज लडके को हरण करने मे समर्थ हो सकता है ?' उसने कहा—'आप लोग मेरी बात तो सुनें ।

यदि सहस्र पल की बनी हुई तराजू को चूहे खा सकते है तो हे राजन् ! बाज लडके को उठा ले जाय तो इसमे सन्देह करने की कौन सी बात है ?'॥४४७॥

उन्होने पूछा—'यह अभियोग किस प्रकार का है ? तब सेठने सभासदो के आगे आरम्भ से सब समाचार को निवेदन कर दिया । उसके बाद वे सब हँसने लगे और उन दोनो को आपस मे समझा-बुझाकर तराजू और बालक दिलवाकर सन्तुष्ट किया । इसी से मैं कहता हूँ—'हजार लोह भार की तराजू' इत्यादि ।

इसलिये हे नादान ! सञ्जीवक के राजकीय अनुग्रह को न सह सकने के निमित्त ही तुमने इस प्रकार कार्य किया । अहो ! उचित ही कहा है—

प्राय. इस ससार मे नीच कुल मे उत्पन्न लोग सत्कुलीन व्यक्ति की, भाग्यरहित लोग भाग्यवान् की, कृपण लोग दाताओ की, कुटिल मनुष्य सीधे-साधे व्यक्ति की, निर्धन लोग धनियो की, कुरूप लोग सुन्दर स्वरूपवालो की, पापी लोग धार्मिको की और मूर्ख लोग विविध शास्त्रो के विशेषज्ञ पुरुप की निन्दा सदा किया करते हैं ॥ ४४८ ॥

इसी प्रकार मूर्खों के लिए विद्वान्, धनहीनो के लिए धनी, पापियो के लिए तपस्वी और कुलटाओ के लिए कुलस्त्रियाँ निन्दा के पात्र हैं ॥४४९॥

तन्मूर्ख, त्वया हितमप्यहित कृतम् । उक्त च—

पण्डितोऽपि वर शत्रुर्न मूर्खो हितकारक ।
वानरेण हतो राजा विप्राश्चौरेण रक्षिता' ॥ ४५० ॥

दमनक आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

कथा २२

'कस्यचिद्राज्ञो नित्य वानरोऽतिभक्तिपरोऽङ्गसेवकोऽन्त पुरेऽप्यप्रतिषिद्धप्रसरोऽतिविश्वासस्थानमभूत् । एकदा राज्ञो निद्रा गतस्य वानरे व्यजन नीत्वा वायु विदधति राज्ञो वक्ष स्थलोपरि मक्षिकोपविष्टा । व्यजनेन मुहुर्मुहुर्निषिध्यमानापि पुन पुनस्तत्रैवोपविशति । ततस्तेन स्वभावचपलेन मूर्खेण वानरेण क्रुद्धेन सता तीक्ष्ण खड्गमादाय तस्या उपरि प्रहारो विहित । ततो मक्षिकोड्डीय गता । तेन शितधारेणासिना राज्ञो वक्षो द्विधा जात राजा मृतश्च । तस्माच्चिरायुरिच्छता नृपेण मूर्खोऽनुचरो न रक्षणीय ।

अपरमेकस्मिन्नगरे कोऽपि विप्रो महाविद्वान्पर पूर्वजन्मयोगेन चौरो

सो हे मूर्ख ! तुमने हित को भी अनहित कर दिया । कहा भी है—

यदि विद्वान् अपना शत्रु भी हो तो अच्छा, किन्तु मूर्ख हितकारी भी हो तो वह ठीक नही । क्योकि हितकारी वानर के द्वारा राजा मारा गया और चोर से ब्राह्मण के प्राण बचे' ॥ ४५० ॥

दमनक ने पूछा – 'यह कैसे ?' उसने कहा—

किसी राजा के यहाँ अत्यन्त भक्त, शरीर परिचारक, अन्त पुर मे बिना रोक टोक के जाने आनेवाला और राजा का अत्यधिक विश्वासपात्र एक बन्दर था । एक समय राजा के सो जाने पर बन्दर पखा लेकर हवा झल रहा था कि राजा की छाती पर एक मक्खी बैठ गयी । पखे से बारम्बार उडाने पर भी वह फिर भी वही आकर बैठ जाया करती थी । उसके बाद स्वभाव से चञ्चल तथा मूर्ख बन्दर ने क्रुद्ध होकर एक तीक्ष्ण खड्ग लेकर उसके प्रहार कर दिया । तब मक्खी तो उड गयी, किन्तु उस तीक्ष्णधार वाली तलवार से राजा का उर स्थल दो टुकडा हो गया और तदनन्तर राजा मर गया । अत' चिर आयु की अभिलाषा करनेवाले को चाहिए कि मूर्ख अनुचर न रखे ।

दूसरी कथा ऐसी कि—किसी नगर मे कोई बडा विद्वान् ब्राह्मण रहता

वर्तते। स तस्मिन्पुरेऽन्यदेशादागतांश्चतुरो विप्रान्बहूनि वस्तूनि विक्रीणतो दृष्ट्वा चिन्तितवान्—'अहो, केनोपायेनैषां धनं लभे।' इति विचिन्त्य तेषां पुरोऽनेकानि शास्त्रोक्तानि सुभाषितानि चातिप्रियाणि मधुराणि वचनानि जल्पता तेषां मनसि विश्वासमुत्पाद्य सेवा कर्तुमारब्धा। अथवा साध्विदमुच्यते—

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरं च शीतलं भवति।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः॥४५१॥

अथ तस्मिन् सेवां कुर्वति तैर्विप्रैः सर्ववस्तूनि विक्रीय बहुमूल्यानि रत्नानि क्रीतानि। ततस्तानि जङ्घामध्ये तत्समक्षं प्रक्षिप्य स्वदेशं प्रति गन्तुमुद्यमो विहितः। ततः स धूर्तविप्रस्तान्विप्रान्गन्तुमुद्यतान्प्रेक्ष्य चिन्ताव्याकुलितमनाः सञ्जातः। 'अहो, धनमेतन्न किञ्चिन्मम चटितम्। अथैभिः सह यामि। पथि क्वापि विषं दत्त्वैतान्निहत्य सर्वरत्नानि। गृह्णामि।' इति विचिन्त्य तेषामग्रे सकरुणं विलप्येदमाह—'भो मित्राणि यूयं मामेकाकिनं मुक्त्वा गन्तुमुद्यताः। तन्मे मनो भवद्भिः सह स्नेह-

---

था, जो पहले जन्म के संस्कार के कारण चोर बन गया था। उसने उस नगर में दूसरे देशो से आए हुए चार ब्राह्मणो को बहुत सी वस्तुयें बेचते हुए देखकर विचार किया—अहो! किस उपाय से इनका धन मैं ले लूँ? इस प्रकार विचार कर उन (ब्राह्मणों) के सामने अनेक शास्त्र मे कहे हुए सुभाषितपूर्ण अतिशय प्रिय मधुर वचन को कहकर उसके मन मे विश्वास उत्पन्न कर दिया और उनकी सेवा करना भी प्रारम्भ कर दिया। अथवा यह ठीक ही कहा है—

कुलटा स्त्री बनावटी लाज करती है, खारा पानी ठंडा होता है, दम्भी ज्ञानी होते हैं, और धूर्त्त मनुष्य ही मनोहर बात करनेवाला होता है॥ ४५१॥

तदनन्तर उसके सेवा करने पर उन ब्राह्मणो ने सब वस्तुओ को बेचकर बहुमूल्य रत्न खरीदे और उस धूर्त्त ब्राह्मण के सामने ही उन रत्नो को जंघा मे रखकर अपने देश के प्रति जाने के लिए उद्यत हुए। तब वह धूर्त्त उन ब्राह्मणो को जाने के लिए तैयार देखकर मन मे बहुत चिन्तित तथा व्यग्र हुआ, 'अहो! यह धन कुछ भी मेरे हाथ नही लगा। सो अब मैं इनके साथ जाकर रास्ते मे कही विष दे इन्हे मार कर सब रत्नो को अपने हाथ मे ले लूँ।' इस प्रकार विचार कर उनके आगे करुणापूर्वक विलाप करता हुआ उसने ऐसा कहा—'भो मित्रो! आप लोग मुझे अकेले छोड़कर जाने के लिए उद्यत हो

पाशेन बद्धं भवद्भिरहनाम्नैवाकुलं सञ्जातं यथा धृतिं क्वापि न धत्ते। यूयमनुग्रहं विधाय सहायभूतं मामपि सहैव नयत।' तद्वचः श्रुत्वा ते करुणार्द्रचित्तास्तेन सममेव स्वदेशं प्रति प्रस्थिताः। अथाध्वनि तेषां पञ्चानामपि पल्लीपुरमध्ये व्रजतां ध्वाङ्क्षाः कथयितुमारब्धाः--'रे किराताः, धावत धावत। सपादलक्षधनिनो यान्ति। एतान्निहत्य धनं नयत।' ततः किरातैर्ध्वाङ्क्षवचनमाकर्ण्य सत्वरं गत्वा ते विप्रा लगुड-प्रहारैर्जर्जरीकृत्य वस्त्राणि मोचयित्वा विलोकिताः। परं धनं किञ्चिन्न लब्धम्। तदा तैः किरातैरभिहितम्--'भो पान्थाः, पुरा कदापि ध्वाङ्क्ष-वचनमनृतं नासीत्। ततो भवतां सन्निधौ क्वापि धनं विद्यते। तदर्पयत। अन्यथा सर्वेषामपि वधं विधाय चर्म विदार्य प्रत्यङ्गं प्रेक्ष्य धनं नेष्यामः' तदा तेषामीदृशं वचनमाकर्ण्य चौरविप्रेण मनसि चिन्तितम्--'यदैषां वि-प्राणां वधं विधायाङ्गं विलोक्य रत्नानि नेष्यन्ति, तदापि मां वधिष्यन्ति। ततोऽहं पूर्वमेवात्मानमरत्नं समर्प्यैतान्मुञ्चामि। उक्तं च--

---

गए हैं। सो मेरा मन आप लोगों के स्नेह-पाश में बँधा होने के कारण आपके वियोग नाम ही से सन्तप्त हो गया है जिससे मैं किसी प्रकार धैर्य नहीं धारण कर सकता। आप लोग दया कर मुझे सहयोगी समझ कर अपने साथ ले चलिए।' उसके वचन सुनकर उन्होंने करुणा से आर्द्रचित्त होकर उसको साथ में लेकर अपने देश की ओर प्रस्थान किया। तब रास्ते में पल्लीपुर जाते हुए उन पाँचों को कौओं ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया--'अरे अरे! भीलो! दौड़ो, दौड़ो, सवालाख के धनी जा रहे हैं। इनको मार कर सब धन छीन लो।' उसके बाद भीलों ने डण्डों की मार से उन्हें जर्जर कर कपड़े उतार कर देखा। किन्तु कुछ भी धन न मिला। तब उन भीलों ने कहा--'ओ मुसाफिरो! पहले कभी भी कौओं के वचन झूठ नहीं हुए थे। इसलिए तुम लोगों के निकट जो धन हो उसे रख दो। नहीं तो सबको मार कर चमड़ा फाड़कर समस्त अङ्गों को देखकर हम लोग धन ले लेंगे।' तब उनकी इस तरह की बात को सुनकर धूर्त्त ब्राह्मण ने मन में विचार किया कि 'यदि इन ब्राह्मणों को मार कर और शरीर फाड़कर रत्नों को ले लेंगे, तो उसके पीछे मुझे भी मार डालेंगे। सो मैं ही पहिले रत्नरहित शरीर को समर्पित कर इन ब्राह्मणों को छुड़ा दूँ। कहा भी है--

मृत्योर्बिभेषि किं बाल न स भीतं विमुञ्चति ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥४५२॥

तथा च—गवार्थे ब्राह्मणार्थे च प्राणत्यागं करोति यः ।
सूर्यस्य मण्डलं भित्त्वा स याति परमां गतिम् ॥४५३॥

इति निश्चित्याभिहितम्—'भो किराताः, यद्येवं ततो मां पूर्वं निहत्य विलोकयत ।' ततस्तैस्तथानुष्ठिते तं धनरहितमवलोक्यापरे चत्वारोऽपि मुक्ताः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पण्डितोऽपि वरं शत्रुः' इति ।

अथैवं संवदतोस्तयोः सञ्जीवकः क्षणमेकं पिङ्गलकेन सह युद्धं कृत्वा तस्य खरनखरप्रहाराभिहतो गतासुर्वसुन्धरापीठे निपपात । अथ तं गतासुमवलोक्य पिङ्गलकस्तद्गुणस्मरणार्द्रहृदयः प्रोवाच—'भोः, अयुक्तं मया पापेन कृतं सञ्जीवकं व्यापादयता । यतो विश्वासघाताद्अन्यन्नास्ति पापतरं कर्म । उक्तं च—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः ।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४५४ ॥

अरे नादान ! तू मृत्यु से क्यों डरता है ? वह डरे हुए लोगों को नहीं छोड़ती, क्योंकि आज या सौ वर्ष में प्राणियों की मृत्यु होती तो अवश्य है ॥ ४५२ ॥

और भी—जो पुरुष गौ और ब्राह्मणों की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों को छोड़ देता है, वह सूर्यमण्डल को भेदन कर परम गति को प्राप्त करता है ॥४५३॥

इस प्रकार निश्चय कर उसने कहा—'हे भीलो ! यदि ऐसी बात है तो मुझे पहले मार कर देख लो ।' तब उन्होंने वैसा ही करके उसे धनहीन देखकर अवशिष्ट चारों को भी छोड़ दिया, इसीलिए मैं कहता हूँ—'विद्वान् शत्रु भी अच्छा है' इत्यादि ।

तदनन्तर वे दोनों ऐसा कह ही रहे थे कि संजीवक एक क्षण तक पिङ्गलक के साथ युद्ध कर उसके तीक्ष्ण नख के प्रहार से आहत हो गया और प्राणहीन होकर भूतल पर गिर पड़ा । तब उसे मरा हुआ देखकर पिङ्गलक उसके गुणों को स्मरण कर आर्द्र हृदय होकर कहने लगा—अहो ! संजीवक को मार कर मैंने बहुत बड़ा पाप कर्म किया । क्योंकि विश्वासघात से बढ़कर और कोई दूसरा अनुचित कर्म नहीं है । कहा भी है—

जो मित्र द्रोही, कृतघ्न और विश्वासघात करने वाले हैं, वे मनुष्य जब तक सूर्य और चन्द्र विद्यमान हैं तब तक नरक में जाकर पड़े रहते हैं ॥ ४५४ ॥

भूमिक्षये राजविनाश एव भृत्यस्य वा बुद्धिमतो विनाशे।
नो युक्तमुक्त ह्यनयो समत्व नष्टापि भूमि सुलभा न भृत्या ॥

तथा माया सभामध्ये स सदैव प्रशसित । तत्कि कथयिष्यामि तेषामग्रत । उक्त च---

उक्तो भवति य पूर्वं गुणवानिति ससदि।
न तस्य दोषो वक्तव्य. प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ॥ ४५६ ॥

एवविध प्रलपन्त दमनक समेत्य सहर्षमिदमाह—'देव, कातरतमस्तवैष न्यायो यद्द्रोहकारिण शष्पभुज हत्वेत्थ शोचसि। तन्नैतदुपपन्नै भूभुजाम् । उक्त च---

पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो भार्याऽथवा सुहृत् ।
प्राणद्रोह यदा गच्छेद्धन्तव्यो नास्ति पातकम् ॥ ४५७ ॥

तथा च—राजा घृणी ब्राह्मण सर्वभक्षी स्त्री चात्रपा दुष्टमति सहाय ।
प्रेष्य प्रतीपोऽधिकृत प्रमादी त्याज्या अमी यश्च कृत न वेत्ति ॥ ४५८ ॥

भूमि (राज्य) चले जाने पर तथा बुद्धिमान् सेवक के विनाश होने पर राजा का नाश होता है। परन्तु इन दोनो की तुलना को समान कहना उचित नही क्योकि गया हुआ राज्य फिर से प्राप्त हो सकता है, किन्तु अच्छे अनुचर फिर नही मिल सकते ॥ ४५५ ॥

और मैं भी उसकी सभा में हर समय प्रशसा ही किया करता था। तो अब उन लोगो के सामने मैं क्या कहूँगा। कहा भी है—

यदि कोई किसी के लिए सभा में पहले यह कह दे कि 'यह गुणवान् है' तो पुन अपने पहले वचन को झूठ होने के सन्देह से बाद मे उसके दोष को नही कहे।

दमनक ने इस तरह विलाप करते हुए पिङ्गलक के निकट जाकर प्रसन्न चित्त होकर कहा—'महाराज! आपकी यह नीति कातरतम है जो द्रोह करने वाले तृण-भक्षी बैल को मार कर इस तरह सोच कर रहे हैं, सो राजाओ के लिए यह न्यायसङ्गत नही है। कहा भी है—

चाहे पिता, भाई, पुत्र, स्त्री या मित्र हो, इनमे से कोई भी यदि प्राण लेने की अभिलाषा करे तो उसे मार डालना चाहिए। इसमे कोई पाप नही लगता ॥ ४५७ ॥

और भी—घृणी (दयालु) राजा, सर्व-भक्षी ब्राह्मण, निर्लज्ज स्त्री, नीच

अपि च—सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।
भूरिव्यया प्रचुरवित्तसमागमा च
वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ४५९ ॥

अपि च—अकृतोपद्रव कश्चिन्महानपि न पूज्यते ।
पूजयन्ति नरा नागान्न तार्क्ष्यं नागघातिनम् ॥४६०॥

तथा च—अशोच्यानन्वशोचँस्त्व प्रज्ञावादाश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिता ॥ ४६१ ॥

एव तेन सम्बोधित पिङ्गलक सञ्जीवकशोक त्यक्त्वा दमनकसाचिव्येन राज्यमकरोत् ।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रभेदो नाम प्रथम तन्त्रम् ।

बुद्धिवाला सहायक, प्रतिकूल आचरण करनेवाला अनुचर, प्रमादी अध्यक्ष, और जो किए हुए उपकार को नही समझता ये सब त्याग देने योग्य हैं ॥ ४५८ ॥

और भी—जिस तरह वेश्या विविध प्रकार का रूप धारण करती है—सत्य के तुल्य प्रतीत होने पर यथार्थ में असत्य भाषिणी होती है, मधुर भाषिणी होने पर भी कठोर होती है, दयामयी होने पर भी हिंसा से पूर्ण होती है, धन की लोभी होने पर भी उदार प्रतीत होती है, बहुत धन खीचने पर भी बहुत खर्च करनेवाली प्रतीत होती है। उसी तरह राजा की नीति भी बहुरूपिणी होती है ॥ ४५९ ॥

और भी—बिना उपद्रव किए कोई बडा मनुष्य भी पूजित नही होता। जिस प्रकार मनुष्य सर्पो की पूजा करते हैं, किन्तु सर्पघाती गरुड की पूजा नही करते ॥ ४६० ॥

उसी प्रकार जिनका सोच नही करना चाहिए उसी के लिए तुम सोच कर रहे हो और बुद्धिमानो के समान वचन बोल रहे हो? क्योकि जो विद्वान् होते हैं वे मरने और जीनेवालो के लिए सोच नही करते ॥ ४६१ ॥

इस तरह उसके समझाने पर पिङ्गलक सञ्जीवक के शोक को छोडकर, दमनक के मन्त्रित्व से राज्य करने लगा।

इस प्रकार पञ्चतन्त्र के मित्रभेद नामक प्रथमतन्त्र का
भाषानुवाद समाप्त हुआ।



॥ श्री ॥

पञ्चतन्त्रम्

अथ मित्रसम्प्राप्तिः

(द्वितीयं यन्त्रम्)

अथेदमारभ्यते मित्रसम्प्राप्तिर्नाम द्वितीय तन्त्रम्। यस्यायमाद्य श्लोक —

मित्रसम्प्राप्ति नामक द्वितीय तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है, जिसका यह प्रथम श्लोक है—

असाधना अपि प्राज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुता ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काकाखुमृगकूर्मवत् ॥ १ ॥

ससार-व्यवहार मे निपुण, बुद्धिमान् पुरुष साधनरहित होने पर भी, कौवे, मृग, चूहे और कछुवे के समान अपने कार्य शीघ्र ही सिद्ध कर लेते हैं ॥ १ ॥

तद्यथानुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्य नाम नगरम्। तस्य नातिदूरस्थो महोच्छ्रायवान्नानाविहङ्गोपभुक्तफल कोटैरावृतकोटरश्छायाश्वासितपथिकजनसमूहो न्यग्रोधपादपो महान्।

अथवा युक्तम्—

सुना जाता है कि दक्षिण देश मे महिलारोप्य नाम का एक नगर है। उसके समीप ही बडा ऊँचा एक विशाल वटवृक्ष है। उसके फलो को सैकडो पक्षी काम मे लाते हैं, कीडो से खोखले भरे हुए हैं और वह अपनी छाया से राहगीरो को आराम पहुँचाता है, यह ठीक ही है—

छायासुप्तमृग शकुन्तनिवहैर्विष्वग्विलुप्तच्छद
कीटैरावृतकोटर कपिकुलै स्कन्धे कृतप्रश्रय ।

विश्रब्ध मधुपैर्निपीतकुसुम श्लाघ्य स एव द्रुम
सर्वाङ्गै र्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपर ॥ २ ॥

जिसकी छाया मे मृग गण सोते हो, जिसके पत्ते पक्षिसमूहो द्वारा चारो ओर से ढँके हो, जिसके कोटर कीडो से भरे हो, जिसकी शाखाओ पर बन्दर बैठे हो, जिसका पुष्प-रस भौरे नि शक होकर पी रहे हो और जो अपने सम्पूर्ण अगो से बहुतेरे जीवो को सुख दे रहा हो, वह वृक्ष श्लाघनीय होता है। इसके अतिरिक्त सभी वृक्ष पृथिवी के भारभूत होते ह ॥ २ ॥

तत्र च लघुपतनको नाम वायस प्रतिवसति स्म। स कदाचित्प्राणयात्रार्थं पु मुद्दिश्य प्रचलितो यावत्पश्यति, तावज्जालहस्तोऽतिकृष्णतनु स्फुटितचरण ऊर्ध्वकेशो यमकिंकराकारो नर. समुखो बभूव। अथ त दृष्ट्वा शङ्कितमना व्यचिन्तयत्—'यदय दुरात्माद्य ममाश्रयवटपादपसमुखोऽभ्येति। तन्न ज्ञायते किमद्य वटवासिना विहङ्गमाना सक्षयो भविष्यति न वा।' एव बहुविध विचिन्त्य तत्क्षणान्निवृत्य तमेव वटपादप गत्वा सर्वान्विहङ्गमान्प्रोवाच—'भो, अयं दुरात्मा लुब्धको जालतण्डुलहस्त समभ्येति। तत्सर्वथा तस्य न विश्वसनीयम्। एष जाल प्रसार्य तण्डुलान्प्रक्षेप्स्यति। ते तण्डुला भवद्भि सर्वैरपि कालकूटसदृशा द्रष्टव्या। एव वदतस्तस्य स लुब्धकस्तत्र वटतल आगत्य जाल प्रसार्य सिन्दुवारसदृशास्तण्डुलान्प्रक्षिप्य नातिदूर गत्वा निभृत स्थित। अथ ये पक्षिणस्तत्र स्थितास्ते लघुपतनकवाक्यार्गलया निवारितास्तास्तण्डुलान्हालाहलाङ्कुरानिव वीक्षमाणा निभृतास्तस्थु। अत्रान्तरे चित्रग्रीवो नाम कपोतराज सहस्रपरिवार प्राणयात्रार्थं परिभ्रमस्तास्तण्डुलान्दूरतोऽपि पश्यल्लघुपतनकेन निवार्यमाणोऽपि जिह्वालौल्याद्भक्षणार्थमपतत्। सपरिवारो निबद्धश्च। अथवा साध्विदमुच्यते—

उस वृक्ष पर लघुपतनक नाम का एक कौवा रहता था। एक समय वह भोजन की तलाश मे शहर की ओर चला कि उसी समय हाथ मे जाल लिये हुए, अत्यन्त काले शरीर वाला, कटे पैर वाला, जिसके बाल ऊपर को खडे हुए थे, (वेणीरूप मे बँधे हुए बालवाला), यमदूत के समान भयकर एक मनुष्य उसके सामने आया। उसको देखकर, भयभीत हो सोचने लगा कि—यह दुष्ट, आज मेरे निवासस्थान वट-वृक्ष के तरफ आ रहा है। इससे समझ मे नही

आता है कि आज वट पर रहने वाले पक्षियों का नाश तो न हो जायगा ? इस तरह बहुत प्रकार से सोचकर, उसी समय लौटकर, उसी वट वृक्ष के पास पहुँच सब पक्षियों से बोला—हे पक्षियों ! यह दुष्ट व्याध (शिकारी) हाथ में जाल और चावल लिये हुए आ रहा है । इस पर बिल्कुल विश्वास न करना । यह जाल फैलाकर चावल बिखेरेगा । उन चावलों को आप लोग हालाहल विष के समान समझें । जब वह ऐसा कह ही रहा था कि उसी समय वह शिकारी वट के नीचे पहुँच कर, जाल फैला कर और सिन्दुवार के फूलों के समान चावल बिखेर कर कुछ ही पास जाकर छिप कर बैठ गया । उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षी लघुपतनक की वाक्यरूपी अर्गला से रोके जाकर, उन चावलों को हालाहल के अङ्कुरों के समान समझते हुए चुपचाप बैठे रहे । इसी समय चित्र-ग्रीव नामक कबूतरों का राजा साथ में हजारों कबूतर लिये हुए भोजन की तलाश में घूमता हुआ (वहाँ आया) उन चावलों को दूर से ही देखकर लघुपतनक के रोकने पर भी जिह्वा की चपलता से खाने के लिये उनपर उतर पड़ा और परिवार सहित जाल में फँस गया । यह ठीक ही कहा है—

जिह्वालौल्यप्रसक्ताना जलमध्यनिवासिनाम् ।
अचिन्तितो वधोऽज्ञाना मीनानामिव जायते ॥ ३ ॥

जीभ की चपलता से फँसी हुई, जल के बीच में रहने वाली मछलियों के समान मूर्ख पुरुषों को अचानक मृत्यु उपस्थित हो जाती है ॥ ३ ॥

अथवा दैवप्रतिकूलतया भवत्येवम् । न तस्य दोषोऽस्ति । उक्त च—

अथवा भाग्य की प्रतिकूलता से यह सब होता है । उसका दोष नहीं है । कहा भी है—

पौलस्त्य कथमन्यदारहरणे दोष न विज्ञातवान्
रामेणापि कथ न हेमहरिणस्यासभवो लक्षित ।
अक्षैश्चापि युधिष्ठिरेण सहसा प्राप्तो ह्यनर्थ कथ
प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसा प्रायो मति. क्षीयते ॥ ४ ॥

रावण ने दूसरे की स्त्री को हरण करने में क्यों न बुराई समझी, राम ने भी सोने के हिरन की असम्भवता क्यों न समझी, युधिष्ठिर ने भी जुआ खेलकर अकस्मात् वनवास रूप अनर्थ क्यों पाया । (भविष्य में) शीघ्र आने वाली विपत्ति से जिनका मन भ्रान्त हो गया है ऐसे पुरुषों की बुद्धि प्राय नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

तथा च—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम् ।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि ॥ ५ ॥

और देखो—यम के पाश में बँधे हुए और दैव ने जिनका विवेक नष्ट कर दिया है ऐसे महापुरुषों की भी बुद्धियाँ कुमार्ग में प्रवृत्त हो जाती हैं ॥ ५ ॥

अत्रान्तरे लुब्धकस्तान् बद्धान्विज्ञाय प्रहृष्टमनाः प्रोद्यतयष्टिस्तद्वधार्थं प्रधावितः । चित्रग्रीवोऽप्यात्मानं सपरिवारं बद्धं मत्वा लुब्धकमायान्तं दृष्ट्वा तान्कपोतानूचे—'अहो, न भेतव्यम् । उक्तं च—

तब शिकारी, उनको बँधा हुआ समझकर प्रसन्न मन से लट्ठ उठा कर उनको मारने के लिये दौड़ा । चित्रग्रीव ने परिवार सहित अपने को बँधा हुआ समझ तथा शिकारी को आता हुआ देखकर उन कबूतरों से कहा—डरना नहीं चाहिए । कहा भी है—

व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते ।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम् ॥ ६ ॥

जिस पुरुष की बुद्धि सब तरह की विपत्तियाँ उपस्थित होने पर भी भ्रष्ट नहीं होती वह पुरुष, उस बुद्धि के प्रभाव से उन व्यसनों को पार कर जाता है ॥ ६ ॥

संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ॥ ७ ॥

संपत्ति और विपत्ति के समय महान् पुरुष समान भाव से रहते हैं । जैसे कि सूर्य उदय और अस्त दोनों समय रक्तवर्ण रहता है ॥ ७ ॥

तत्सर्वे वयं हेलयोड्डीय सपाशजाला अस्यादर्शनं गत्वा मुक्तिं प्राप्नुमः । नो चेद्भयविक्लवाः सन्तो हेलया समुत्पातं न करिष्यथ । ततो मृत्युमवाप्स्यथ । उक्तं च—

इसलिये हम सब इस जाल के सहित आसानी से उड़ जावें और इसकी आँखों से परे होकर छुटकारा पावें, नहीं तो डर से घबड़ाकर यदि न उड़ेंगे तो मृत्यु को प्राप्त होंगे । कहा भी है—

तन्तवोऽप्यायता नित्यं तन्तवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥ ८ ॥

तन्तु सूक्ष्म (पतले) और लम्बे होने पर भी यदि बहुत और बराबर हो तो वे बहुत होने के कारण बहुत से झटको (...) को सह लेते हैं, यही सज्जनो के लिए दृष्टान्त है, अर्थात् अच्छे मनुष्य ... होने पर भी यदि दूसरो के साथ मिलकर काम करें तो क्लेशो को पा कर ... प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

तथानुष्ठिते लुब्धको जालमादायाकाशे गच्छता तेषां पृष्ठतो भूमिस्थोऽपि पर्यधावत् । तत ऊर्ध्वानन श्लोकमेनमपठत्—

ऐसा करने पर (जाल लेकर उड जाने पर) शिकारी जमीन पर ही जाल लेकर आकाश मे उडते हुए उन पक्षियो के पीछे दौडा। तब ऊपर—आकाश की ओर मुख करके यह श्लोक पढने लगा—

जालमादाय गच्छन्ति महता पक्षिणोऽप्यमी।
यावच्च विवदिष्यन्ते पतिष्यन्ति न संशय ॥ ९ ॥

ये पक्षी केवल मिले होने के कारण जाल लेकर चले जा रहे हैं। इसमे सन्देह नही कि जब ये आपस मे झगडा करेंगे तब गिरेंगे ॥ ९ ॥

लघुपतनकोऽपि प्राणयात्राक्रिया त्यक्त्वा किमत्र भविष्यतीति कुतूहलात्तत्पृष्ठतोऽनुसरति। अथ दृष्टेरगोचरता गतान्विज्ञाय लुब्धको निराश श्लोकमपठन्निवृत्तश्च।

लघुपतनक भी भोजन की तलाश छोडकर 'देखें इसमे अब क्या होता है', इस कुतूहल से उनके पीछे-पीछे जाने लगा। अनन्तर शिकारी उनको अदृश्य जानकर निराश हो गया और यह श्लोक पढता हुआ लौट गया।

नहि भवति यन्न भाव्य भवति च भाव्य विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य हि भवितव्यता नास्ति ॥ १० ॥

जो नही होना है वह कभी नही होगा और होनहार बिना यत्न के भी होकर ही रहेगा। जिस वस्तु का होना (भाग्य मे) नही बदा है वह हाथ मे आने पर भी नष्ट हो जाती है ॥ १० ॥

तथा च—

पराङ्मुखे विधौ चेत्स्यात्कथचिद्द्रविणोदय ।
तत्सोऽन्यदपि सगृह्य याति शङ्खनिधिर्यथा ॥ ११ ॥

भाग्य के प्रतिकूल होने पर, यदि किसी प्रकार कुछ धन मिल भी जाय तो वह पूर्वसचित को भी लेकर शङ्खनिधि के समान नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

तदास्तां तावद्विहङ्गमलोभो यावत्कुटुम्बवर्तनोपायभूतं जालमपि मे नष्टम्। चित्रग्रीवोऽपि लुब्धकमदर्शनीभूतं ज्ञात्वा तानुवाच—'भो, निवृत्तः स दुरात्मा लुब्धकः। तत्सर्वेऽपि स्वस्थैर्गम्यतां महिलारोप्यस्य प्रागुत्तरदिग्भागे। तत्र मम सुहृद्धिरण्यको नाम मूषकः सर्वेषां पाशच्छेदं करिष्यति। उक्तं च—

पक्षियो के मास की प्राप्ति तो जाने दो (कैसा दुर्भाग्य है कि) मेरे कुटुम्ब के पालन का साधन मेरा जाल भी जाता रहा है। चित्रगीव ने शिकारी को पीछे छूटा जानकर उन कबूतरो से कहा—वह दुष्ट व्याध लौट गया, इसलिए सब निडर होकर महिलारोप्य नगर के पूर्वोतर दिशा मे चलो। वहाँ मेरा मित्र हिरण्यक नाम का चूहा रहता है। वह सबके बन्धन काट देगा। कहा भी है—

सर्वेषामेव मर्त्यानां व्यसने समुपस्थिते।
वाङ्मात्रेणापि साहाय्यं मित्रादन्यो न सदधे ॥ १२ ॥

सभी मनुष्यो को व्यसन–विपत्ति पडने पर, मित्र के सिवाय कोई दूसरा मनुष्य वाणीमात्र से भी सहायता नहीं करता ॥ १२ ॥

एवं ते कपोताश्चित्रग्रीवेण संबोधिता महिलारोप्ये नगरे हिरण्यक-बिलदुर्गं प्रापुः। हिरण्यकोऽपि सहस्रमुखबिलदुर्गं प्रविष्टः सन्नकुतोभयः सुखेनास्ते। अथवा साध्विदमुच्यते—

चित्रग्रीव के इस प्रकार कहने पर वे कबूतर महिलारोप्य नगर मे हिरण्यक के बिल के पास पहुँचे। वहाँ हिरण्यक हजार मुखवाले बिलरूपी दुर्ग मे प्रविष्ट हुआ सब तरह से निर्भय हो सुख से रहता था। ठीक ही कहा है—

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः।
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार दाँतरहित साँप और मदरहित हाथी सबके वश मे हो जाता है वैसे ही दुर्गरहित राजा सबके वश मे हो जाता है ॥ १३ ॥

तथा च—

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम्।
तत्कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे ॥ १४ ॥

और भी—युद्ध मे राजाओ का एक किले से जो काम निकलता है वह हजार हाथियो और लाखो घोडो से भी नहीं सिद्ध हो सकता ॥ १४ ॥

शतमेकोऽपि सन्धत्ते प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
तस्माद्दुर्गं प्रशसन्ति नीतिशास्त्रविदो जनाः ॥ १५ ॥

किले की दीवार पर खडा हुआ अकेला धनुर्धारी सैकडो के साथ युद्ध कर सकता है । इसलिये नीतिशास्त्रवेत्ता पुरुष किले को अच्छा समझते है ॥ १५ ॥

अथ चित्रग्रीवो बिलमासाद्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो भो मित्र हिरण्यक, सत्वरमागच्छ । महती मे व्यसनावस्था वर्तते' । तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि बिलदुर्गान्तर्गतः सन्नोवाच—'भो, को भवान् । किमर्थमायातः । किं कारणम् । कीदृक्ते व्यसनावस्थानम् । तत्कथ्यताम्' इति । तच्छ्रुत्वा चित्रग्रीव आह—'भो, चित्रग्रीवो नाम कपोतराजोऽहं ते सुहृत् । तत्सत्वरमागच्छ । गुरुतरं प्रयोजनमस्ति ।' तदाकर्ण्य पुलकिततनुः प्रहृष्टात्मा स्थिरमनास्त्वरमाणो निष्क्रान्तः ।

अथवा साध्विदमुच्यते—

चित्रग्रीव ने बिल के पास पहुँच कर जोर से पुकारा—हे मित्र हिरण्यक ! जल्दी आओ । मैं बडी विपत्ति मे पडा हूँ । यह सुनकर हिरण्यक बिलरूपी किले के अन्दर से ही बोला—आप कौन हैं ? क्यो आये हैं ? क्या कारण है ? आपको विपत्ति कैसी है ? (उसका स्वरूप क्या है ?) यह सब बताइये । यह सुन कर चित्रग्रीव ने कहा—हे (मूषक) ! कबूतरो का राजा, तेरा मित्र, मैं चित्रग्रीव हूँ । इसलिये जल्दी आओ । बडा भारी काम है । यह सुन कर हिरण्यक के (आनन्द से) रोम खडे हो गये और वह प्रसन्न चित्त होकर निर्भय मन से जल्दी-जल्दी बाहर निकला । ठीक ही कहा है—

सुहृदः स्नेहसम्पन्ना लोचनानन्ददायिनः ।
गृहे गृहवतां नित्यं नागच्छन्ति महात्मनाम् ॥ १६ ॥

स्नेहपूर्ण, नेत्रोको आनन्द देने वाले (जिनको देखकर नेत्रो को आनन्द प्राप्त हो) मित्र गृहस्थ पुरुषो के घर सर्वदा नही आते ॥ १६ ॥

आदित्यस्योदयः तात ताम्बूलं भारती कथा ।
इष्टा भार्या सुमित्रं च अपूर्वाणि दिने दिने ॥ १७ ॥

सूर्योदय, पान का बीडा, महाभारत की कथा, पतिव्रता पत्नी और सच्चा मित्र ये सब नित्य नया सुख देने वाले होते है ॥ १७ ॥

सुहृदो भवने यस्य समागच्छन्ति नित्यशः ।
चित्ते च तस्य सौख्यस्य न किञ्चित्प्रतिमं सुखम् ॥ १८ ॥

जिस पुरुष के घर मित्र नित्य ही आते रहते है उसके चित्त मे जो सुख होता है वह स्वर्ग मे भी नही मिल सकता ॥ १८ ॥

अथ चित्रग्रीव सपरिवार पाशबद्धमालोक्य हिरण्यक सविषाद-मिदमाह—'भो , किमेतत् ।' स आह—भोः, जानन्नपि किं पृच्छसि । उक्त च यत —

अनन्तर चित्रग्रीव को परिवारसहित बँधा हुआ देखकर हिरण्यक दु ख-पूर्वक बोला—'यह क्या (हालत) है !' वह बोला—'जानते हुए भी क्यो पूछते हो ? क्योकि कहा भी है—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ १९ ॥

भाग्यवश पुरुष (पूर्वजन्म मे किये हुए) अपने अच्छे या बुरे कर्मों का उसी स्थान से, उसी कारण से, उसी समय, उसी प्रकार, वही और उतना ही फल पाता है, जिस स्थान से, जिस कारण से, जिस समय, जिस प्रकार जो और जितना उसे प्राप्त है ॥ १९ ॥

तत्प्राप्त मयैतद्बन्धन जिह्वालौल्यात् । साम्प्रत त्व सत्वर पाशवि-मोक्ष कुरु ।' तदाकर्ण्य हिरण्यक प्राह —

इसलिये मैंने जिह्वा की चपलता से यह बन्धन पाया, अब तुम जल्दी बन्धन से छुडाओ । यह सुनकर हिरण्यक बोला—

'अर्धार्धाद्योजनशतादामिष वीक्षते खग ।
सोऽपि पार्श्वस्थित दैवाद्बन्धन न च पश्यति ॥२० ॥

पक्षी ५०–५० योजन से अपनी भोग्य वस्तु को देख लेता है, लेकिन दुर्भाग्य से वही पक्षी पास मे स्थित बन्धन को नही देख पाता ॥ २० ॥

तथा च—

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडन गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमता च निरीक्ष्य दरिद्रता विधिरहो बलवानिति मे मति. ॥ २१ ॥

और भी—सूर्य और चन्द्रमा के राहु से ग्रसे जाने, हाथी, साँप और पक्षियो के बन्धन और बुद्धिमानो की दरिद्रता देखकर मेरा विचार होता है कि भाग्य अत्यन्त बलवान् [illegible] आश्चर्य की बात है ॥ २१ ॥

तथा च—

व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीना समुद्रादपि ।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः
कालः सर्वजनान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ २२ ॥

और भी—आकाश के एक हिस्से में उड़नेवाले भी पक्षी विपद को प्राप्त होते है, निपुण मनुष्यो द्वारा अथाह समुद्र में भी मछलियाँ पकड़ ली जाती हैं। इस ससार में पाप और पुण्य क्या है? गौरवान्वित पदवी (अथवा उत्तम स्थान) पाने से ही क्या लाभ? काल हाथ फैलाकर सर्व प्राणियो को दूर से ही खींच लेता है ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—'भद्र' मा मैवं कुरु। प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु। तदनु ममापि च।' तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—'भो, न युक्तमुक्तं भवता। यतः स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः।' स आह—'भद्र, मा मैवं वद। मदाश्रयाः सर्वे एते वराकाः। अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः। तत्कथमेतावन्मात्रमपि सम्मानं न करोमि। उक्तं च—

यह कहकर चित्रग्रीव का बन्धन काटने के लिये उद्यत हुए उससे (हिरण्यक से) उसने कहा—भद्र! ऐसा मत करो, पहिले मेरे भृत्यो का बन्धन काटो उसके बाद मेरा भी (काटना)। यह सुनकर हिरण्यक ने गुस्से में कहा—तुमने ठीक नही कहा, स्वामी के बाद नौकर होते हैं—पहिले स्वामी का काम करके पीछे नौकरो का काम किया जाता है। उसने कहा—भद्र! ऐसा मत कहो। बेचारे ये सब कबूतर मेरे आश्रित हैं, दूसरे अपने कुटुम्ब को छोड़कर आये हैं, तो क्यो मैं इतना भी सम्मान न करूँ? कहा भी है—

यः सम्मानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।
वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥ २३ ॥

जो राजा हमेशा भृत्यो का अधिक सम्मान करता है, उसका भृत्य धन के न होने पर भी अपने सम्मान का स्मरण कर उस राजा को कभी नही छोड़ता ॥ २३ ॥

तथा च—

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते ॥ २४ ॥

जिस पुरुष के घर मित्र नित्य ही आते रहते हैं उसके चित्त मे जो सुख होता है वह स्वर्ग मे भी नही मिल सकता ॥ १८ ॥

अथ चित्रग्रीव सपरिवार पाशबद्धमालोक्य हिरण्यक सविषादमिदमाह—'भो , किमेतत् ।' स आह—भोः, जानन्नपि कि पृच्छसि । उक्त च यत —

अनन्तर चित्रग्रीव को परिवारसहित बँधा हुआ देखकर हिरण्यक दु खपूर्वक बोला—'यह क्या (हालत) है ।' वह बोला—'जानते हुए भी क्यो पूछते हो ? क्योकि कहा भी है—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥ १९ ॥

भाग्यवश पुरुष (पूर्वजन्म मे किये हुए) अपने अच्छे या बुरे कर्मों का उसी स्थान से, उसी कारण से, उसी समय, उसी प्रकार, वही और उतना ही फल पाता है, जिस स्थान से, जिस कारण से, जिस समय, जिस प्रकार जो और जितना उसे प्राप्त है ॥ १९ ॥

तत्प्राप्त मयैतद्बन्धन जिह्वालौल्यात् । साम्प्रत त्व सत्वर पाशविमोक्ष कुरु ।' तदाकर्ण्य हिरण्यक प्राह —

इसलिये मैंने जिह्वा की चपलता से यह बन्धन पाया, अब तुम जल्दी बन्धन से छुडाओ । यह सुनकर हिरण्यक बोला—

'अर्धार्धाद्योजनशतादामिष वीक्षते खग ।
सोऽपि पार्श्वस्थित्त दैवाद्बन्धन न च पश्यति ॥२० ॥

पक्षी ५०–५० योजन से अपनी भोग्य वस्तु को देख लेता है, लेकिन दुर्भाग्य से वही पक्षी पास मे स्थित बन्धन को नही देख पाता ॥ २० ॥

तथा च—

रविनिशाकरयोर्ग्रहपीडन गजभुजङ्गविहङ्गमबन्धनम् ।
मतिमता च निरीक्ष्य दरिद्रता विधिरहो बलवानिति मे मति ॥ २१ ॥

और भी—सूर्य और चन्द्रमा के राहु से ग्रसे जाने, हाथी, साँप और पक्षियो के बन्धन और बुद्धिमानो की दरिद्रता देखकर मेरा विचार होता है कि भाग्य अत्यन्त बलवान् है । यह बडे आश्चर्य की बात है ॥ २१ ॥

तथा च—

व्योमैकान्तविचारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मीना समुद्रादपि ।
दुर्नीतं किमिहास्ति किं च सुकृतं कः स्थानलाभे गुणः
कालः सर्वजनान्प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ २२ ॥

और भी—आकाश के एक हिस्से मे उडनेवाले भी पक्षी विपद को प्राप्त होते हैं, निपुण मनुष्यो द्वारा अथाह समुद्र से भी मछलियाँ पकड ली जाती है। इस ससार मे पाप और पुण्य क्या है? गौरवान्वित पदवी (अथवा उत्तम स्थान) पाने से ही क्या लाभ? काल हाथ फैलाकर सर्व प्राणियो को दूर से ही खीच लेता है ॥ २२ ॥

एवमुक्त्वा चित्रग्रीवस्य पाशं छेत्तुमुद्यतं स तमाह—'भद्र' मा मैवं कुरु। प्रथमं मम भृत्यानां पाशच्छेदं कुरु। तदनु ममापि च।' तच्छ्रुत्वा कुपितो हिरण्यकः प्राह—'भो, न युक्तमुक्तं भवता। यतः स्वामिनोऽनन्तरं भृत्याः।' स आह—'भद्र, मा मैवं वद। मदाश्रयाः सर्वं एते वराकाः। अपरं स्वकुटुम्बं परित्यज्य समागताः। तत्कथमेतावन्मात्रमपि सम्मानं न करोमि। उक्तं च—

यह कहकर चित्रग्रीव का बन्धन काटने के लिये उद्यत हुए उससे (हिरण्यक से) उसने कहा—भद्र! ऐसा मत करो, पहिले मेरे भृत्यो का बन्धन काटो उसके बाद मेरा भी (काटना)। यह सुनकर हिरण्यक ने गुस्से मे कहा—तुमने ठीक नही कहा, स्वामी के बाद नौकर होते हैं—पहिले स्वामी का काम करके पीछे नौकरो का काम किया जाता है। उसने कहा—भद्र! ऐसा मत कहो। बेचारे ये सब कबूतर मेरे आश्रित है, दूसरे अपने कुटुम्ब को छोडकर आये हैं, तो क्यो मैं इतना भी सम्मान न करूँ? कहा भी है—

यः सम्मानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम् ।
वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित् ॥ २३ ॥

जो राजा हमेशा भृत्यो का अधिक सम्मान करता है, उसका भृत्य धन के न होने पर भी अपने सम्मान का स्मरण कर उस राजा को कभी नही छोडता ॥२३॥

तथा च—

विश्वासः सम्पदां मूलं तेन यूथपतिर्गजः ।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि न मृगैः परिवार्यते ॥ २४ ॥

क्योकि—विश्वास ही अभ्युदय का कारण है, उसी विश्वास से हाथी यूथपति होता है—अन्य हाथी उसे घेरे रहते है। किन्तु सिंह को मृगो का राजा होने पर भी उसे पशु नही घेरते ॥ २४ ॥

अपर मम कदाचित्पाशच्छेद कुर्वतस्ते दन्तभङ्गो भवति। अथवा दुरात्मा लुब्धक समभ्येति। तन्नून मम नरकपात एव। उक्त च—

दूसरी बात यह भी है कि—मेरा बन्धन काटते हुए कभी तुम्हारा दाँत टूट जाय अथवा दुष्ट व्याध ही आ जाय तो निश्चय ही मुझे नरक मिलेगा।

सदाचारेषु भृत्येषु ससीदत्सु च य प्रभु ।
सुखी स्यान्नरकं याति परत्रेह च सीदति ॥ २५ ॥

जो स्वामी अनुरक्त भृत्यो की दु खावस्था मे सुखी-निश्चिन्त रहता है, वह परलोक मे नरक को प्राप्त होता है और इस लोक मे कष्ट पाता है ॥ २५ ॥

तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो हिरण्यक प्राह—'भो, वेद्म्यहं राजधर्मम्। पर मया तव परीक्षा कृता। तत्सर्वेषा पूर्वं पाशच्छेद करिष्यामि। भवानप्यनेन विधिना बहुकपोतपरिवारो भविष्यति। उक्त च—

यह सुनकर प्रसन्न हुए हिरण्यक ने कहा—हे (चित्रग्रीव) मैं राजकर्त्तव्य को समझता हूँ। लेकिन मैने तुम्हारी परीक्षा की थी। इसलिये प्रथम मैं सब के बन्धन काटूंगा। आपका भी इस रीति से कबूतरो का परिवार बढ जायगा।

कारुण्यं संविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा ।
संभवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे ॥ २६ ॥

कहा भी है—जिस राजा की अपने भृत्यो पर सदा दया रहती है वह राजा तीनो लोको की रक्षा करने मे समर्थ हो सकता है ॥ २६ ॥

एवमुक्त्वा सर्वेषा पाशच्छेद कृत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवमाह— मित्र, गम्यतामधुना स्वाश्रय प्रति। भूयोऽपि व्यसने प्राप्ते समागन्तव्यम्।' इति तान्सप्रेष्य पुनरपि दुर्गं प्रविष्ट। चित्रग्रीवोऽपि सपरिवार स्वाश्रयमगमत्। अथवा साध्विदमुच्यते —

यह कह और सब के बन्धन काट कर हिरण्यक ने चित्रग्रीव से कहा—मित्र, अब अपने स्थान को जाओ। विपत्ति पडने पर फिर भी आना। इस प्रकार उनको विदा करके फिर भी दुर्ग-बिल मे घुस गया। चित्रग्रीव भी परिवारसहित अपने स्थान को चला गया। यह ठीक ही कहा है—

मित्रवान्साधयत्यर्थान्दु साध्यानपि वै यत ।
तम्मान्मित्राणि कुर्वीत समानान्येव चात्मनः ॥ २७ ॥

चूँकि मित्रवान् पुरुष कठिन कार्यों को भी सिद्ध कर लेता है । इसलिये (मनुष्य को चाहिए कि) अपने अनुरूप मित्र बनावे ॥ २७ ॥

लघुपतनकोऽपि वायस सर्वं त चित्रग्रोववन्धमोक्षमवलोक्य विस्मितमना व्यचिन्तयत्—'अहो बुद्धिरस्य हिरण्यकस्य शक्तिश्च दुर्गसामग्री च । ईदृगेव विधिविहङ्गाना बन्धनमोक्षात्मक । अह च न कस्यचिद्विश्वसिमि चलप्रकृतिश्च । तथाप्येन मित्र करोमि । उक्त च—

लघुपतनक उन सब चित्रग्रीव के बन्धन छुटकारे (छुटने के प्रकार) को देखकर आश्चर्यान्वित हो सोचने लगा ओ, इस हिरण्यक की बुद्धि कैसी तीव्र है, इसकी शक्ति और दुर्ग की रचना कैसी अद्भुत है । पक्षियो के बन्धन से छूटने के लिये यही रीति है (ऐसे ही मित्रो का होना ऐसे समय मे काम आता है) इधर मैं किसी पर विश्वास नही करता, स्वभाव से भी चञ्चल हूँ । तो भी इसको मित्र बनाऊँ । कहा भी है—

अपि सपूर्णतायुक्ते कर्तव्या सुहृदो बुधे ।
नदीश परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥ २८ ॥

धनधान्य पूर्ण रहते हुए भी समझदार मनुष्यो को मित्र बनाना चाहिए । देखो–(जल से) परिपूर्ण भी समुद्र चन्द्रमा के उदय की प्रतीक्षा करता है ॥२८॥

एव सप्रधार्य पादपादवतीर्य बिलद्वारमाश्रित्य चित्रग्रीववच्छब्देन हिरण्यक समाहूतवान्—'एह्येहि भो हिरण्यक, एहि ।' तच्छब्द श्रुत्वा हिरण्यको व्यचिन्तयत्—'किमन्योऽपि कश्चित्कपोतो बन्धनशेषस्तिष्ठति येन मा व्याहरति ।' आह च—'भो, को भवान् ।' स आह—'अह लघुपतनको नाम वायस ।' तच्छ्रुत्वा विशेषादन्तर्लीनो हिरण्यक आह–'भो, द्रुत गम्यतामस्मात्स्थानात् ।' वायस आह—'अह तव पार्श्वे गुरुकार्येण समागत । तत्किं न क्रियते मया सह दर्शनम् ।' हिरण्यक आह—'न मेऽस्ति त्वया सह सगमेन प्रयोजनम्' इति । स आह—'भो, चित्रग्रीवस्य मया तव सकाशात्पाशमोक्षण दृष्टम् । तेन मम महती प्रीति सजाता । तत्कदाचिन्ममापि बन्धने जाते तव पार्श्वान्मुक्तिर्भविष्यति । तत्क्रियता मया सह मैत्री ।' हिरण्यक आह—'अहो, त्व भोक्ता । अह

ते भोज्यभूत । तत्का त्वया सह मम मैत्री। तद्गम्यताम्। मैत्री विरोधभावात्कथम्। उक्त च—

ऐसा निश्चय कर और वृक्ष से उतर कर वह बिल के दरवाजे पर पहुँचा और उसने चित्रग्रीव की तरह आवाज से हिरण्यक को पुकारा—'आओ आओ हे हिरण्यक! आओ।' उस (के) शब्द को सुनकर हिरण्यक ने विचारा—'क्या कोई और भी कबूतर छूटने से बाकी रह गया है जो मुझे बुलाता है?' और कहा—'तुम कौन हो?' वह बोला—'मैं लघुपतनक नामक कौवा हूँ' यह सुन और भी अन्दर घुसकर हिरण्यक ने कहा 'इस स्थान से जल्दी चले जाओ, कौवा बोला—'मैं तुम्हारे पास बडे काम से आया हूँ फिर मेरे साथ मिलते क्यो नही?' हिरण्यक ने कहा—'तुझसे मिलने का मेरा कोई काम नही' वह बोला—'मैंने तेरे पाससे (तेरे द्वारा) चित्रग्रीव का बन्धन से छुटकारा देखा है इससे मुझे बडी प्रीति उत्पन्न हुई है। कभी मेरे भी बन्धन मे पडने पर तेरे द्वारा मेरी भी मुक्ति हो जाय, इसलिये मेरे साथ मित्रता कर लो' हिरण्यक ने कहा—'तुम खाने वाले और मैं (तुम्हारा) भोजन हूँ, फिर तुम्हारे साथ मेरी मित्रता कैसी? इसलिये मैत्री के साथ विरोध होने से तुम्हारे साथ हमारी मित्रता स्वभावविरुद्ध है इसलिये तुम चले जाओ। कहा भी है—

> ययोरेव सम वित्त ययोरेव सम कुलम्।
> तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयो ॥ २९॥

जिनका धन समान हो, जिनका खानदान समान हो उन्ही का परस्पर विवाह और मित्रता ठीक है—न्यूनाधिक की नही ॥ २९ ॥

तथा च—

> यो मित्र कुरुते मूढ आत्मनोऽसदृश कुधी ।
> हीन वाप्यधिक वापि हास्यता यात्यसौ जन ॥ ३० ॥

क्योकि—जो अज्ञानी, दुर्बुद्धि अपने से छोटे या बडे अर्थात् असमान के साथ मित्रता करता है वह हँसी को प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

तद्गम्यताम्' इति। वायस आह—'भो हिरण्यक, एषोऽह तव दुर्ग-द्वार उपविष्ट'। यदि त्व मैत्री न करोषि ततोऽह प्राणमोक्षण तवाग्रे करिष्यामि। अथवा प्रायोपवेशन मे स्यात्' इति। हिरण्यक आह—'भो, त्वया वैरिणा सह कथ मैत्री करोमि। उक्त च—

इसलिए कहता हूँ 'चले जाओ।' कौवा बोला—'हे हिरण्यक! यह मैं तेरे बिल के दरवाजे पर बैठा हूँ, अब अगर तू मित्रता नही करेगा तो मैं तेरे सामने मे ही प्राणत्याग कर दूँगा। हिरण्यक बोला—'तुझ शत्रु के साथ मैं मित्रता कैसे करूँ।' कहा भी है—

वैरिणा न हि सदध्यात्सुश्लिष्टेनापि सधिना।
सुतप्तमपि पानीय शमयत्येव पावकम् ।। ३१ ।।

अच्छे प्रकार सन्धि करनेवाले भी अथवा सन्धि के द्वारा भी शत्रु के साथ मेल न करे। देखो, पानी अत्यन्त गरम होने पर भी अग्नि को बुझा ही देता है ।। ३१ ।।

वायस आह—भोः, त्वया सह दर्शनमपि नास्ति। कुतो वैरम्। तत्किमनुचित्त वदसि। हिरण्यक आह—द्विविध वैर भवति। सहज कृत्रिम च। तत्सहजवैरी त्वमस्मकम्। उक्त च—

कौवा बोला—मैंने तुम्हे कभी देखा भी नही फिर वैर कैसा? क्यो अनुचित वात कहते हो हिरण्यक बोला—वैर दो प्रकार का होता है, स्वाभाविक और कारणोत्पन्न, तू हमारा स्वाभाविक वैरी है। कहा भी है—

कृत्रिम नाशमभ्येति वैर द्राक्कृत्रिमैर्गुणै।
प्राणदान विना वैर सहज याति न क्षयम् ।। ३२ ।।

कृत्रिम वैर शीघ्र ही उपकारादि अन्य साधनो से नष्ट हो जाता है। परन्तु स्वाभाविक वैर प्राणदान किये बिना नष्ट नही होता ।। ३२ ।।

वायस आह—'भो, द्विविधस्य वैरस्य लक्षण श्रोतुमिच्छामि। तत्कथ्यताम्।' हिरण्यक आह—'भो, कारणेन निवृत्त कृत्रिमम्। तत्तदर्होपकारकरणाद्गच्छति। स्वाभाविक पुनि कथमपि न गच्छति। तद्यथा—नकुलसर्पाणाम्, शष्पभुड्नखायुधानाम्, जलवह्न्योः, देवदैत्यानाम्, सारमेयमार्जाराणाम्, ईश्वरदरिद्राणाम्, सपत्नीनाम्, सिंहगजानाम्, लुब्धकहरिणानाम्, श्रोत्रियभ्रष्टक्रियाणाम्, मूर्खपण्डितानाम्, पतिव्रताकुलटानाम्, सज्जनदुर्जनानाम्। व कश्चित्केनापि व्यापादित, तथापि प्राणान्सन्तापयन्ति।' वायस आह—'भो, अकारणमेतत्। श्रूयता मे वचनम्—

कौवा बोला—मैं उन दोनो प्रकार के वैर का लक्षण सुनना चाहता हूँ इसलिये कहिये। हिरण्यक ने कहा—हे वायस! कारण से उत्पन्न हुआ जो कृत्रिम वैर

कहाता है, वह उसके योग्य उपकारादि करने से चला जाता है, परन्तु स्वाभाविक (वैर) किसी प्रकार भी नही जाता जैसे—नकुल और साप का, घास खाने वाले तथा नन्दायुध (सिंह आदि) का, जल अग्नि का, देव और दैत्यो का, कुत्ते बिल्लियो का, अमीर गरीबो का, सौतो का, सिंह तथा हाथियो का, व्याध और हरिणो का, धर्मात्मा और अधर्मात्माओ का, मूर्ख तथा पण्डितो का, पतिव्रता तथा व्यभिचारिणी स्त्रियो का, सज्जन और दुर्जनो का—इसमे से किसी ने किसी को नही मारा तो भी प्राणों को कष्ट देते ही है। कौवे ने कहा—यह कारण ठीक नही है। मेरी बात सुनो—

कारणान्मित्रता याति कारणादेति शत्रुताम्।
तस्मान्मित्रत्वमेवात्र योज्य वैर न धीमता ॥ ३३ ॥

(मनुष्य उपकारादि) कारण से मित्रता को प्राप्त होता तथा (अपकारादि) कारण से ही शत्रुता को प्राप्त होता है। इसलिये इस ससार मे बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह मित्रता ही करे, न कि शत्रुता ॥ ३३ ॥

तस्मात् कुरु मया सह समागम मित्रधर्मार्थम्।'

इसलिये मित्रता के कार्य करने के लिये मेरे साथ मिलिये।

हिरण्यक आह—'भो, श्रूयता नीतिसर्वस्वम्—

सकृद्दुष्टमभीष्ट य पुन सधातुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३४ ॥

हिरण्यक ने कहा—नीति का साराश सुनो—जो मित्र को एक भी बार दुष्टता करने पर फिर मिलाना चाहता है—फिर उसके साथ मित्रता करना चाहता है मानो वह मृत्यु को ही ग्रहण करता है। जैसे कि खचरी गर्भधारण कर मृत्यु को ही ग्रहण करती है। ३४ ॥

अथवा गुणवानहम्, न मे कश्चिद्वैरयातना करिष्यति, एतदपि न सभाव्यम्। उक्त च—

अथवा—मैं गुणवान् हूँ, मुझसे कोई वैर न चुकायेगा (अथवा शत्रुता करके पीडा न देगा) यह भी सभव नही। क्योकि कहा भी है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिने-
र्मीमासाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल-
मज्ञानावृतचेतसामतिरुषा कोऽर्थस्तिरश्चा गुणै ॥३५॥

सिंह ने व्याकरणशास्त्रप्रणेता पाणिनि मुनि के प्यारे प्राण हर लिये, हाथी ने मीमासा के रचयिता जैमिनि मुनि को अकस्मात् मार डाला। मकर ने समुद्र के किनारे छन्द शास्त्र के खजाने (अद्वितीय वेत्ता) पिङ्गल को मार डाला। अतएव मूर्खता से जिनका अन्त करण भरा हुआ है, अत्यन्त क्रोधी पशुपक्षियो को (दुष्ट पुरुषो को) मनुष्यो के गुणो से क्या प्रयोजन ? वे किसी के गुण-अवगुण का विचार नही करते ॥ ३५ ॥

वायस आह—'अस्त्येतत् । तथापि श्रूयताम्—

कौवे ने कहा—यह ठीक है, तो भी सुनिये—

उपकाराच्च लोकाना निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणा मैत्री स्याद्दर्शनात्सताम् ॥३६॥

मनुष्यो की मित्रता एक दूसरे के उपकार करने से ही होती है, पशुपक्षियो की किसी कारण से, मूर्खो की भय और लोभ से और सज्जनो की मित्रता एक दूसरे के देखने से ही होती है ॥ ३६ ॥

मृद्घट इव सुखभेद्यो दु सधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघट इव दुर्भेद सुकरसधिश्च ॥ ३७ ।

दुष्ट पुरुष, मिट्टी के घडे के समान, आसानी से टूट सकता है और कठिनता से जोडा जा सकता है (आसानी से उसकी मित्रता नष्ट हो जाती है और फिर मुश्किल से सन्धि होती है) और सज्जन पुरुष सोने के घडे की तरह कठिनता से टूटता और आसानी से जुड सकता है ॥ ३७ ॥

इक्षोरग्रात्क्रमश पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेष ।
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीताना तु विपरीता ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार गन्ने की पोई मे ऊपर से नीचे की तरफ रस अधिक होता है इस प्रकार सज्जनो की मित्रता होती है तथा दुष्टो की इससे उलटी होती है ॥३८॥

तथा च—

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ३९ ॥

दुष्टो और सज्जनो की मित्रता दिन के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की छाया के समान पृथक्-पृथक् होती है जैसे कि—दुष्टो की मैत्री प्रात कालीन छाया के समान प्रारम्भ मे बडी और फिर धीरे-धीरे घटनेवाली होती है तथा सज्जनो की मित्रता

मध्याह्नवर्ती छाया के तुल्य प्रारम्भ मे छोटी और पीछे धीरे-धीरे बढने वाली होती है ॥ ३९ ॥

तत्साधुरहम् । अपर त्वा शपथादिभिर्निर्भयं करिष्यामि ।

मैं सज्जन हूँ और तुम को शपथादि से निर्भय कर दूँगा ।

स आह—'न मेऽस्ति ते शपथै प्रत्यय । उक्त च—

उसने कहा—मुझे तेरी शपथो पर विश्वास नही है । कहा भी है—

शपथै सधितस्यापि न विश्वास व्रजेद्रिपो ।
श्रूयते शपथ कृत्वा वृत्र शक्रेण सूदित ॥ ४० ॥

शपथो द्वारा मेल को प्राप्त हुए शत्रु का विश्वास न करे, सुना जाता है कि शपथ करके ही इन्द्र ने वृत्रासुर को मार डाला ॥ ४० ॥

न विश्वास विना शत्रुर्देवानामपि सिध्यति ।
विश्वासात्त्रिदशेन्द्रेण दितेर्गर्भो विदारित ॥ ४१ ॥

विश्वास उत्पन्न किये बिना शत्रु देवताओ के वश मे भी नही आ सकता, विश्वास के द्वारा ही इन्द्र ने दिति के गर्भ को खण्डित कर दिया ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—

बृहस्पतेरपि प्राज्ञस्तस्मान्नैवात्र विश्वसेत् ।
य इच्छेदात्मनो वृद्धिमायुष्यं च सुखानि च ॥ ४२ ॥

इसलिये—जो बुद्धिमान् पुरुष अपनी उन्नति, लम्बी आयु और सुख चाहे वह बृहस्पति का भी विश्वास न करे ॥ ४२ ॥

तथा च—

सुसूक्ष्मेणापि रन्ध्रेण प्रविश्याभ्यन्तर रिपु ।
नाशयेच्च शनै पश्चात्प्लव सलिलपूरवत् ॥ ४३ ॥

छोटे से छिद्र के द्वारा शत्रु अन्दर घुसकर नष्ट कर देता है जैसे कि जल का प्रवाह छोटे से छिद्र के द्वारा नौका मे घुसकर उसको नष्ट कर देता है ॥ ४३ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्न मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४४ ॥

विश्वास के अयोग्य पुरुष का कभी विश्वास न करे तथा विश्वस्त आदमी का भी अधिक विश्वास न करना चाहिए, क्योकि विश्वास के द्वारा उत्पन्न हुआ भय जडो को भी काट देता है—सर्वथा नष्ट कर देता है ॥ ४४ ॥

न वध्यते ह्यविश्वस्तो दुर्बलोऽपि बलोत्कटैः ।
विश्वस्तास्त्वाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ ४५ ॥

विश्वास न करनेवाला दुर्बल पुरुष भी बलवानो से नही मारा जाता किन्तु विश्वास करनेवाले बलवान पुरुष भी दुर्बलो से मारे जाते है ॥ ४५ ॥

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च ।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसन्धिस्त्रिधा स्थितः ॥ ४६ ॥

चाणक्य के मतानुसार 'अच्छे प्रकार कार्य करना', शुक्राचार्य के मत से 'मित्रसग्रह करना' और बृहस्पति के मतानुसार 'विश्वास न करना' नीति है। इस प्रकार नीति-सिद्धान्त तीन प्रकार का है ॥ ४६ ॥

तथा च—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु सुविरक्तासु तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य, अधिक धन पाकर शत्रुओ पर तथा विरक्त अपनी स्त्रियो पर विश्वास करता है, उसका जीवन वही तक है, वह उस विश्वास से ही मारा जाता है ॥ ४७ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनकोऽपि निरुत्तरश्चिन्तयामास—'अहो, बुद्धिप्रागल्भ्यमस्य नीतिविषये। अथवा स एवास्योपरि मैत्रीपक्षपातः।' स आह—'भो हिरण्यक,

यह सुनकर लघुपतनक को कोई जवाब न सूझ पडा और वह सोचने लगा—अहो नीति के विषय मे इसका कितना अधिक ज्ञान है? इसीलिये मैं इससे मित्रता करना चाहता हूँ। तब जाहिर बोला—हे हिरण्यक !

सतां साप्तपदं मैत्रमित्याहुर्विबुधा जनाः ।
तस्मात्त्वं मित्रतां प्राप्तो वचनं मम तच्छृणु ॥ ४८ ॥

विद्वान् लोग सात पद उच्चारण करने अथवा सात पैर साथ-साथ चलने से सज्जनो की मित्रता बताते हैं, इसलिए तू मेरा मित्र हो गया (क्योकि तेरे साथ मेरा काफी वार्तालाप हो चुका है) अतएव मेरी बात सुन ॥ ४८ ॥

दुर्गस्थेनाऽपि त्वया मया सह नित्यमेवालापो गुणदोषसुभाषितगोष्ठीकथा सर्वदा कर्तव्या। यद्येवं न विश्वसिषि।' तच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि व्यचिन्तयत्—'विदग्धवचनोऽयं दृश्यते लघुपतनकः सत्यवाक्यश्च।

तद्युक्तमनेन मैत्रीकरणम्। परं कदाचिन्मम दुर्गे चरणपातोऽपि न कार्यः। उक्तं च—

अगर तुम विश्वास नहीं करते हो तो बिल में रहते हुए भी तुम मेरे साथ नित्य ही वार्तालाप तथा गुण-दोष-विवेचना और सुभाषित उत्तम-उत्तम-वचन-सम्बन्धी गोष्ठी तथा कथायें किया करो। यह सुनकर हिरण्यक ने सोचा—यह लघुपतनक विद्वान् और सत्यवादी मालूम पड़ता है, इसलिये इसके साथ मित्रता करना उचित है (प्रकाश में बोला) अच्छा, परन्तु मेरे बिल में कभी पैर भी न रखना। कहा भी है—

भीतभीतैः पुरा शत्रुर्मन्दं मन्दं विसर्पति।
भूमौ प्रहेलया पश्चाज्जारहस्तोऽङ्गनास्विव ॥ ४९ ॥

शत्रु पहले तो डरते-डरते और धीरे-धीरे शत्रु के नगर में प्रवेश करता है, तत्पश्चात् वह वैसे ही ढीठ और निर्भय होकर आगे बढ़ने लगता है जैसे जारों के हाथ पराई स्त्रियों का स्पर्श करने के लिये सरलता से आगे बढ़ते हैं ॥४९॥

तच्छ्रुत्वा वायस आह—'भद्र, एवं भवतु'। ततः प्रभृति तौ द्वावपि सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्तौ तिष्ठतः। परस्परं कृतोपकारौ कालं नयतः। लघुपतनकोऽपि मांसशकलानि मेध्यानि बलिशेषाण्यन्यानि वात्सल्याहृतानि पक्वान्नविशेषाणि हिरण्यकार्थमानयति। हिरण्यकोऽपि तण्डुलानन्यांश्च भक्ष्यविशेषाल्लघुपतनकार्थं रात्रावाहृत्य तत्कालायातस्यार्पयति। अथवा युज्यते द्वयोरप्येतत्। उक्तं च—

यह सुनकर कौआ बोला—भद्र ! ऐसा ही हो। तब से वे दोनों सुभाषित गोष्ठी का सुख भोगते हुए रहने लगे और एक दूसरे का उपकार करते हुए समय बिताने लगे। लघुपतनक हिरण्यक के लिए मांस के टुकड़े, पवित्र बलि-शेष और अन्य प्रेम से एकत्रित किये हुए पक्वान्न आदि लाता था। हिरण्यक भी चावल तथा अन्य खाने योग्य वस्तु रात्रि में एकत्रित करके समय पर आये हुए लघुपतनक को देता था। दोनों के लिये यह ठीक ही था। कहा भी है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ५० ॥

देना, लेना, गोप्य बातें पूछना-कहना, खाना और खिलाना ये ६ प्रीति के चिह्न हैं ॥ ५० ॥

नोपकारं विना प्रीतिः कथञ्चित्कस्यचिद्भवेत् ।
उपयाचितदानेन यतो देवा अभीष्टदाः ॥ ५१ ॥

उपकार के विना किसी प्रकार प्रीति नहीं होती, देवता लोग भी उपयाचित वस्तु के देने से मनोरथ पूर्ण करते हैं ॥ ५१ ॥

तावत्प्रीतिर्भवेल्लोके यावद्दानं प्रदीयते ।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम् ॥ ५२ ॥

संसार मे तभी तक प्रीति स्थिर रहती है, जब तक दान दिया जाता रहता है । देखो, बछडा भी दूध का ह्रास देखकर माता को छोड देता है ॥ ५२ ॥

पश्य दानस्य माहात्म्यं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
यत्प्रभावादपि द्वेषी मित्रतां याति तत्क्षणात् ॥ ५३ ॥

तुरन्त विश्वास दिलाने वाली दान की महिमा देखो, जिसके प्रभाव से शत्रु भी दान देते ही मित्र हो जाता है ॥ ५३ ॥

पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।
दत्ते खले तु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ॥ ५४ ॥

मैं समझता हूँ विवेकरहित पशु को भी पुत्र से प्यारा दान होता है । देखो—खली देने पर बच्चा रहते हुए भी भैंस सारा दूध रोज दे देती है ॥ ५४ ॥

किं बहुना—

प्रीतिं निरन्तरां कृत्वा दुर्भेद्यां नखमांसवत् ।
मूषको वायसश्चैव गतौ कृत्रिममित्रताम् ॥ ५५ ॥

अधिक क्या ! नख और मांस के समान अटूट और कभी नष्ट न होने वाली प्रीति करके चूहा तथा कौआ कृत्रिम मित्रता को प्राप्त हुए ॥ ५५ ॥

एवं स मूषकस्तदुपकाररञ्जितस्तथा विश्वस्तो यथा तस्य पक्षमध्ये प्रविष्टस्तेन सह सर्वदैव गोष्ठीं करोति । अथान्यस्मिन्नहनि वायसोऽश्रुपूर्णनयनः समभ्येत्य सगद्गदं तमुवाच—'भद्र हिरण्यक, विरक्तिः संजाता मे सांप्रतं देशस्यास्योपरि तदन्यत्र यास्यामि ।' हिरण्यक आह—'भद्र, किं विरक्तेः कारणम् ।' स आह—'भद्र, श्रूयताम् । अत्र देशे महत्यानावृष्ट्या दुर्भिक्षं संजातम् । दुर्भिक्षत्वाज्जनो बुभुक्षापीडितः कोऽपि बलिमात्रमपि न प्रयच्छति । अपरं गृहे गृहे बुभुक्षितजनैर्विह-

ङ्गाना बन्धनाय पाशा प्रगुणीकृताः सन्ति । अहमप्यायु शेषतया पाशेन बद्ध उद्धरितोऽस्मि । एतद्विरक्ते कारणम् । तेनाऽह विदेश चलित इति बाष्पमोक्ष करोमि ।' हिरण्यक आह—'अथ भवान् क्व प्रस्थित ।' स आह—'अस्ति दक्षिणापथे वनगहनमध्ये महासरः । तत्र त्वत्तोऽधिक परमसुहृत्कूर्मो मन्थरको नाम । स च मे मत्स्यमासखण्डानि दास्यति । तद्भक्षणात्तेन सह सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्सुखेन काल नेष्यामि । नाहमत्र विहङ्गाना पाशबन्धनेन क्षय द्रष्टुमिच्छामि । उक्त च—

उस (कौवे) के उपकारो से प्रसन्न वह चूहा इतना विश्वास करने लगा कि उसके पखो के नीचे बैठकर हमेशा उसके साथ बात-चीत किया करता था । अनन्तर किसी दिन कौवा आँखो मे आँसू भरे हुए आकर गद्गद कण्ठ से बोला—'भद्र हिरण्यक ! अब मुझे इस देश के ऊपर विरक्ति हो गई—अब मुझे यह स्थान अच्छा नही लगता, इसलिये और कही जाऊँगा ।' हिरण्यक ने कहा—'भद्र, विरक्ति का कारण क्या है ?' उसने कहा—'भद्र ! सुनो, इस देश मे बडी भारी अनावृष्टि से बहुत दिनो तक वर्षा न पडने से अकाल पड गया है । दुर्भिक्ष होने के कारण भूख से पीडित मनुष्य बलिमात्र भी नही देते । इसके अतिरिक्त घर-घर भूखे लोगो ने पक्षियो के पकडने के लिये जाल फैला रक्खे हैं । मैं भी फासे मे बँध गया था परन्तु जीवनशेष होने से किसी प्रकार बच गया हूँ । यही विरक्ति का कारण है । इसीलिये मै विदेश को जा रहा हूँ । और आँसू बहा रहा हूँ ।' हिरण्यक ने कहा—'अच्छा आप कहाँ जा रहे है ?' वह बोला—'दक्षिण देश मे घने जङ्गल के बीच एक बडा तालाब है, वहाँ तुमसे भी अधिक परम मित्र मन्थरक नाम का कछुआ रहता है । वह मुझे मछलियो के मास के टुकडे देगा । उन्हे खाकर उसके साथ सुभाषित गोष्ठी का सुख भोगते हुए आराम से समय बिताऊँगा । मैं यहाँ रहकर पाशो के द्वारा पक्षियो का नाश देखना नही चाहता । कहा भी है—

अनावृष्टिहते देशे शस्ये च प्रलय गते ।
धन्यास्तात न पश्यन्ति देशभङ्ग कुलक्षयम् ।। ५६ ।।

वर्षा के न होने से, देश के उजड जाने तथा अन्न नष्ट हो जाने प॰, हे प्रिय ! जो मनुष्य देश और वश का नाश नही देखते वे बडे भाग्यशाली होते हैं ।। ५६ ।।

कोऽतिभार समर्थाना किं दूर व्यवसायिनाम् ।
को विदेश सविद्याना क पर प्रियवादिनाम् ।। ५७ ।।

समर्थ पुरुषो को कठिन कार्य क्या है ? उद्योगी पुरुषो को दूर क्या है ? विद्वान् पुरुषो को विदेश क्या है ? मधुरभाषी पुरुषो का पराया कौन है ? कोई भी नही ? ॥ ५७ ॥

विद्वत्त्व च नृपत्व च नैव तुल्य कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान्सर्वत्र पूज्यते ॥ ५८ ॥

विद्वत्ता और राजत्व कभी भी समान नही हो सकते क्योकि राजा अपने ही देश मे आदर पाता है परन्तु विद्वान् का सब जगह सत्कार होता है ॥ ५८ ॥

हिरण्यक आह—'यद्येव तदहमपि त्वया सह गमिष्यामि। ममापि महद् दु ख वर्तते। वायस आह—'भो, तत्र किं दु खम्। तत्कथय।' हिरण्यक आह—'भो, बहु वक्तव्यमस्त्यत्र विषये। तत्रैव गत्वा सर्वं सविस्तर कथयिष्यामि।' वायस आह—'अह तावदाकाशगति । तत्कथ भवतो मया सह गमनम्।' स आह—'यदि मे प्राणान्रक्षसि तदा स्वपृष्ठमारोप्य मा तत्र प्रापयिष्यसि। नान्यथा मम गतिरस्ति।' तच्छ्रुत्वा सानन्द वायस आह—'यद्येव तद्धन्योऽह यद्भवतापि सह तत्र काल नयामि। अह सम्पातादि ऽानष्टावुड्डीनगतिविशेषान्वेद्मि। तत्समारोह मम पृष्ठम्, येन सुखेन त्वा तत्सर प्रापयामि।' हिरण्यक आह—'उड्डीनाना नामानि श्रोतुमिच्छामि।' स आह—

हिरण्यक ने कहा—अगर यह बात है तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा मुझे बडा दु ख है। कौवे ने कहा—तुम्हे क्या दु ख है सो बताओ। हिरण्यक ने कहा—इस विषय मे बहुत कुछ कहना है। वही जाकर विस्तारपूर्वक कहूँगा। कौवे ने कहा—मैं तो आकाश मे चलने वाला हूँ फिर तुम मेरे साथ कैसे चल सकते हो ? उसने कहा—यदि तुम मेरे प्राण बचाना चाहो तो अपनी पीठ पर चढाकर मुझे वहाँ पहुँचाओ और किसी प्रकार मै नही जा सकता। यह सुन कौवा आनन्द से बोला—तब तो मैं बडा भाग्यशाली हूँ क्योकि आपके भी साथ समय बिता सकूँगा। मैं सम्पात आदि आठ प्रकार की उडने की चालें जानता हूँ। मेरी पीठ पर चढ जाओ, मैं आराम से उस तालाब पर पहुँचा दूँगा। हिरण्यक ने कहा—उन चालो के नाम सुनना चाहता हूँ। वह बोला—

'सपात विप्रपात च महापात निपातनम्।
वक्र तिर्यक्तथा चोर्ध्वमष्टम लघुसज्ञकम्' ॥ ५९ ॥

सम्पात—समानभाव से उडना जिसमे पख न हिले। विप्रपात—पख हिलाकर उडना, महापात—ऊँचे उठकर तेजी से उडना, निपात—नीचे-नीचे उडना, वक्र—तिरछा उडना, तिर्यक्—तिरछे होकर (करवट से) उडना, ऊर्ध्व—कुछ ऊपर होकर उडना, आठवाँ लघुसञ्ज्ञक—तेजी से उडना ये आठ प्रकार की चाले हैं॥ ५९ ॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकस्तत्क्षणादेव तदुपरि समारूढ। सोऽपि शनैः-शनैस्तमादाय सम्पातोड्डीनप्रस्थित, क्रमेण तत्सर प्राप्त। ततो लघुपतनक मूषकाधिष्ठित विलोक्य दूरतोऽपि देशकालविदसामान्यकाकोऽयमिति ज्ञात्वा सत्वर मन्थरको जले प्रविष्ट। लघुपतनकोऽपि तीरस्थतरुकोटरे हिरण्यक मुक्त्वा शाखाग्रमारुह्य तारस्वरेण प्रोवाच—'भो मन्थरक, आगच्छागच्छ। तव मित्रमह लघुपतनको नाम वायसश्चिरात्सोत्कण्ठ समायातः। तदागत्यालिङ्गय माम्। उक्त च—

यह सुनकर हिरण्यक उसी समय उसके ऊपर चढ गया। वह भी, उसको लेकर, सम्पात नामक उड्डीन से रवाना हो धीरे-धीरे उस तालाब के पास पहुँच गया। तब दूर से ही पीठ पर चढा हुआ है मूषक जिसके ऐसे लघुपतनक को देखकर देशकालज्ञ मन्थरक 'यह कोई मामूली कौवा नही है, ऐसे समझकर जल मे घुस गया। लघुपतनक भी किनारे पर स्थित पेड के खोखले मे हिरण्यक को रखकर शाखा के अग्रभाग पर बैठ जोर से बोला—भो मन्थरक! आओ आओ, मैं तुम्हारा मित्र लघुपतनक नाम का कौवा चिरकाल से तुम्हारे दर्शनो की लालसा से आया हूँ। इसलिए आकर मुझे आलिङ्गन करो। कहा भी है—

किं चन्दनै सकर्पूरैस्तुहिनै किं च शीतलै।
सर्वे ते मित्रगात्रस्य कला नार्हन्ति षोडशीम्॥ ६० ॥

कपूर मिले हुए चन्दन तथा हिमकणो से क्या लाभ? ये सब मित्र के शरीर के १६वे भाग का भी बराबरी नही कर सकते॥ ६० ॥

तथा च—

केनामृतमिद सृष्ट मित्रमित्यक्षरद्वयम्।
आपदा च परित्राण शोकसतापभेषजम्॥ ६१ ॥

विपत्तियो मे बचाने का साधन, शोक और मानसिक ताप का औषध अमृत तुल्य 'मित्र' ये दो अक्षर किसने बनाये है। अथवा प्रजापति ने बनाये है॥ ६१॥

तच्छ्रुत्वा निपुणतरं परिज्ञाय सत्वरं सलिलान्निष्क्रम्य पुलकिततनुरानन्दाश्रुपूरितनयनो मन्थरकः प्रोवाच—'एह्येहि मित्र, आलिङ्गय माम् । चिरकालान्मया त्वं न सम्यक्परिज्ञातः । तेनाहं सलिलान्तः प्रविष्टः । उक्तं च—

यह सुन और अच्छी तरह पहचान कर मन्थरक जल्दी से बाहर निकल आया । उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वह आँखों में प्रेमाश्रु भरे हुए बोला—आओ आओ, मुझे आलिङ्गन करो । तुम्हारे दर्शन किये बहुत दिन हो गये अतः मैं तुमको पहचान न सका और इसीलिये मैं जल में घुस गया था । कहा भी है—

यस्य न ज्ञायते वीर्यं न कुलं न विचेष्टितम् ।
न तेन सङ्गतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ६२ ॥

जिसका सामर्थ्य, वंश और कार्य न मालूम हो उसके साथ मेल न करे यह बृहस्पति ने कहा है ॥ ६२ ॥

एवमुक्ते लघुपतनको वृक्षादवतीर्य तमालिङ्गितवान् । अथवा साध्विदमुच्यते—

यह कहे जाने पर वृक्ष से उतर कर लघुपतनक ने उसे आलिङ्गन किया । यह ठीक ही कहा है—

अमृतस्य प्रवाहैः किं कायक्षालनसम्भवैः ।
चिरान्मित्रपरिष्वङ्गो योऽसौ मूल्यविवर्जितः ॥ ६३ ॥

शरीर धोने मात्र के उपयोग में आनेवाली जल-धाराओं से क्या लाभ ? चिरकाल के पश्चात् मित्र का आलिङ्गन अमूल्य होता है ॥ ६३ ॥

एवं द्वावपि तौ विहितालिङ्गनौ परस्परं पुलकितशरीरौ वृक्षादधः समुपविष्टौ प्रोचतुरात्मचरित्रवृत्तान्तम् । हिरण्यकोऽपि मन्थरकस्य प्रणामं कृत्वा वायसाभ्याशे समुपविष्टः । अथ तं समालोक्य मन्थरको लघुपतनकमाह—'भो, कोऽयं मूषकः । कस्मात्त्वया भक्ष्यभूतोऽपि पृष्ठमारोप्यानीतः । तन्नात्र स्वल्पकारणेन भाव्यम् ।' तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—'भो हिरण्यको नाम मूषकोऽयम् । मम सुहृद्द्वितीयमिव जीवितम् ।' तत्किं बहुना ।

इस प्रकार वे दोनों परस्पर आलिङ्गन कर रोमाञ्चितशरीर हो वृक्ष के नीचे बैठ गये और अपना-अपना चरित्र-वृत्तान्त कहने लगे । हिरण्यक भी

मन्थरक को प्रणाम कर कौवे के पास बैठ गया। उसको देखकर मन्थरक लघुपतनक से बोला—यह चूहा कौन है और किस कारण से तू इसे अपना भक्ष्य होते हुए भी पीठ पर चढ़ाकर लाया ? इसका कोई साधारण कारण नही हो सकता। यह सुन लघुपतनक ने कहा—हिरण्यक नाम का यह चूहा मेरा परम मित्र है, (केवल मित्र ही नही अपितु) दूसरा प्राण ही है। अधिक कहने से क्या लाभ।

पर्जन्यस्य यथा धारा यथा च दिवि तारका'।
सिकता-रेणवो यद्वत्सख्यया परिवर्जिता ॥ ६४॥
गुणा सख्यापरित्यक्तास्तद्वदस्य महात्मन ।
पर निर्वेदमापन्न सप्राप्तोऽय तवान्तिकम्' ॥ ६५॥

जिस प्रकार मेघ की धाराएँ, आकाश मे तारे और बालू के कण सख्यातीत है उसी प्रकार इस महात्मा के गुण भी सख्यातीत है, यह बडे वैराग्य को प्राप्त हो तुम्हारे पास आया है ॥ ६४–६५ ॥

मन्थरक आह—'किमस्य वैराग्यकारणम्।' वायस आह—'पृष्टो मया। परमनेनाभिहितम्, यद् बहु वक्तव्यमिति। तत्तत्रैव गत कथयिष्यामि। ममापि न निवेदितम्। तद्भद्र हिरण्यक, इदानी निवेद्यतामुभयोरप्यावयोस्तदात्मनो वैराग्यकारणम्।' सोऽब्रवीत्—

मन्थरक बोला—इसके वैराग्य का कारण क्या है ? कौवे ने कहा—मैंने पूछा था, परन्तु वह 'इस विषय मे बहुत कुछ कहना है, वही आकर कहूँगा' यह कहकर चुप हो गया। भद्र हिरण्यक। अब तुम हम दोनो से अपने वैराग्य के कारण कहो ? वह बोला—

कथा १

'अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्य नाम नगरम्। तस्य नातिदूरे मठायतन भगवतः श्रीमहादेवस्य। तत्र च ताम्रचूडो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति स्म। स च नगरे भिक्षाटन कृत्वा प्राणयात्रा समाचरति। भिक्षाशेष च तत्रैव भिक्षापात्रे निधाय तद्भिक्षापात्र नागदन्तेऽवलम्ब्य पश्चाद्रात्रौ स्वपिति। प्रत्यूषे च तदन्न कर्मकराणा दत्त्वा सम्यक् तत्रैव देवतायतने समार्जनोपलेपनमण्डनादिक समाज्ञापयति। अन्यस्मिन्नहनि मम बान्धवैर्निवेदितम्—'स्वामिन्, मठायतने

सिद्धमन्न मूषकभयात्तत्रैव भिक्षापात्रे निहित नागदन्तेऽवलम्बित तिष्ठति सदैव। तद्वय भक्षयितु न शक्नुम । स्वामिन. पुनरगम्य किमपि नास्ति। तत्किं वृथाटनेनान्यत्र । अद्य तत्र गत्वा 'यथेच्छ भुञ्जामहे तव प्रसादात्।' तदाकर्ण्याह सकलयूथपरिवृतस्तत्क्षणादेव तत्र गत । उत्पत्य च तस्मिन्भिक्षापात्रे समारूढ । तत्र भक्ष्यविशेषाणि सेवकेभ्यो दत्त्वा पश्चात्स्वयमेव भक्षयामि। सर्वेषा तृप्ती जाताया भूय स्वगृह गच्छामि। एवं नित्यमेव तदन्न भक्षयामि। परिव्राजकोऽपि यथाशक्ति रक्षति। पर यदैव निद्रान्तरितो भवति, तदाह तत्रारुह्यात्मकृत्य करोमि। अथ कदाचित्तेन मम रक्षणार्थं महान् यत्न' कृत, जर्जरवश समानीत । तेन सुप्तोऽपि मम भयाद्भिक्षापात्र ताडयति। अहमप्यभक्षितेऽप्यन्ने प्रहारभयादपसर्पामि। एव तेन सह सकला रात्रि विग्रहपरस्य कालो व्रजति। अथान्यस्मिन्नहान तस्य मठे बृहत्स्फिङ्नामा परिव्राजकस्तस्य सुहृत्तीर्थयात्राप्रसङ्गेन पान्थ प्राघुणिक समायात । त दृष्ट्वा प्रत्युत्थानविधिना सम्भाव्य प्रतिपत्तिपूर्वकमभ्यागतक्रियया नियोजित । ततश्च रात्रावेकत्र कुशसस्तरे द्वावपि प्रसुप्तौ धर्मकथा कथयितुमारब्धौ। अथ बृहत्स्फिक्कथागोष्ठीषु स ताम्रचूडो मूषकत्रासार्थं व्याक्षिप्तमना जर्जरवशेन भिक्षापात्र ताडयस्तस्य शून्य प्रतिवचन प्रयच्छति। तन्मयो न किञ्चिदुदाहरति। अथासावभ्यागत परं कोपमुपागतस्तमुवाच—'भोस्ताम्रचूड, परिज्ञात न त्वं सम्यक् सुहृत्। तेन मया सह साह्लाद न जल्पसि। तद्रात्रावपि त्वदीय मठ त्यक्त्वाऽन्यत्र मठे यास्यामि। उक्त च—

दक्षिण देश मे महिलारोप्य नाम का नगर है। उसके पास ही भगवान् श्री महादेवजी का मन्दिर है। वहाँ ताम्रचूड नामक सन्यासी रहता था, वह शहर मे भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करता था, बचे हुए भिक्षान्न को वही भिक्षापात्र मे रख और उस भिक्षापात्र को खूँटी पर लटकाता और पीछे सोता था। प्रात काल, वह अन्न नौकरो को देकर उनसे झाड़ू-बुहारी, लिपवाना और रगीन रेखाओ से (मन्दिर भूमि को) भूषित कराता था। एक दिन मेरे बन्धुओ ने मुझसे कहा—स्वामिन् ! इस मन्दिर मे तैयार अन्न, चूहो के डर से भिक्षापात्र मे रक्खा हुआ हमेशा ही खूँटी पर लटका रहता है। हम उसे खा नही सकते, आपके लिये कुछ भी अलभ्य नही है, फिर और जगह व्यर्थ

रे मूर्ख ! तू शोक के, दया के योग्य है, लेकिन् तू अहङ्कार करता है। इसलिए मैं तेरे मठ को छोडकर जाता हूँ। यह सुनकर, भयभीत हो ताम्रचूड उससे बोला—हे भगवन् ! ऐसा मत कहो, तुम्हारे समान मेरा कोई दूसरा मित्र नही लेकिन वार्तालाप मे शिथिलता का कारण और है सो सुनो—यह दुष्ट चूहा ऊँचे स्थान पर भी रक्खे हुए भिक्षापात्र पर कूदकर चढ जाता है और उसमे रक्खे हुए भिक्षा के (खाने से) बचे हुए अन्न को खा जाता है। भिक्षा-शेष न होने की वजह से ही मन्दिर मे झाडू आदि भी नही लगती। इसलिए चूहे को डराने के लिए इस बाँस से बार-बार भिक्षापात्र को पीटता हूँ, और कोई कारण नही है। इस दुष्ट का और भी तमाशा देखो—इसके कूदने ने बिल्ली और बन्दर आदि को भी मात कर दिया। बृहत्स्फिक् ने कहा—मालूम है उसका बिल किस स्थान मे है ? ताम्रचूड ने कहा—भगवन् ! ठीक नही मालूम। वह बोल—इसमे सन्देह नही कि इसका बिल रत्नादि के निधान के ऊपर है। यह निधान की गरमी से ही कूदता है। कहा भी है—

ऊष्मापि वित्तजो वृद्धिं तेजो नयति देहिनाम्।
किं पुनस्तस्य सभोगस्त्यागकर्मसमन्वित ॥ ७० ॥

धन की गरमी भी प्राणियो के तेज को बढा देती है, दानादि से युक्त उसके भोग को तो कहना ही क्या है ? ॥ ७० ॥

तथा च—

'नाकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्।
लुञ्चितानितरैर्येन हेतुरत्र भविष्यति' ॥ ७१ ॥

हे मात ! यह शाण्डिली बिना ही कारण साफ किये हुए तिलो से बिना साफ किये तिलो को नही बदल सकती, इसमे कोई कारण अवश्य होगा ॥ ७१ ॥

ताम्रचूड आह—'कथमेतत्।' स आह—

ताम्रचूड बोला यह कैसे ? वह बोला—

कथा २

यदाह कस्मिंश्चित्स्थाने प्रावृट्काले व्रतग्रहणनिमित्त कश्चिद् ब्राह्मण वासार्थं प्रार्थितवान्। ततश्च तद्वचनात्तेनापि शुश्रूषित सुखेन देवार्चनपरस्तिष्ठामि। अथान्यस्मिन्नहनि प्रत्यूषे प्रबुद्धोऽह ब्राह्मण-ब्राह्मणीसवादे दत्तावधान शृणोमि। तत्र ब्राह्मण आह—'ब्राह्मणि,

प्रभाते दक्षिणायनसंक्रान्तिरनन्तदानफलदा भविष्यति । तदहं प्रतिग्रहार्थं ग्रामान्तरं यास्यामि । त्वया ब्राह्मणस्यैकस्य भगवतः सूर्यस्योद्देशेन किंचिद्भोजनं दातव्यम्' इति । अथ तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी परुषतरवचनैस्तं भर्त्सयमाना प्राह—'कुतस्ते दारिद्र्योपहतस्य भोजनप्राप्तिः । तत्किं न लज्जसे एवं ब्रुवाणः अपि च न मया तव हस्तलग्नया क्वचिदपि लब्धं सुखम् । न मिष्टान्नस्यास्वादनम्, न च हस्तपादकण्ठादिभूषणम् ।' तच्छ्रुत्वा भयत्रस्तोऽपि विप्रो मन्दं मन्दं प्राह—'ब्राह्मणि, नैतद्युज्यते वक्तुम् ।' उक्तं च—

किसी समय वर्षाकाल में किसी नियम का अनुष्ठान करने के लिये मैंने किसी ब्राह्मण से (उसके घर) रहने की प्रार्थना की । तब उसके कहने से उसने भी सत्कार पा, आराम से देवपूजा करता हुआ रहने लगा । दूसरे दिन प्रातःकाल जब मैं जागा तब ब्राह्मण और ब्राह्मणी की बातचीत में ध्यान देते हुए सुना । ब्राह्मण बोला—हे ब्राह्मणी ! प्रातःकाल अनन्तदानफल देनेवाली दक्षिणायन संक्रान्ति होगी । इसलिये मैं दान लेने के लिये दूसरे ग्राम जाऊँगा । तू सूर्य भगवान् के उद्देश्य से किसी ब्राह्मण को कुछ भोजन करा देना । यह सुनकर ब्राह्मणी कठोर वचनों से उसे धमकाती हुई बोली—दरिद्रता के मारे हुए तेरे घर (किसी को) भोजन कैसे मिल सकता है । ऐसा कहते हुए तुझे शरम नहीं आती । तेरे हाथ में पड़कर मैंने किसी भी बात का सुख नहीं पाया, न तो मिष्टान्न खाने को मिले और न हाथ, पैर, गले आदि के भूषण ही मिले । यह सुन भयभीत हुए ब्राह्मण ने धीरे-धीरे कहा—ब्राह्मणि ! यह कहना ठीक नहीं । कहा भी है—

ग्रासादपि तदर्धं च कस्मान्नो दीयतेऽर्थिषु ।
इच्छानुरूपो विभवः कदा कस्य भविष्यति ॥ ७२ ॥

ग्रास का आधा भी हिस्सा याचकों को क्यों नहीं देते । इच्छानुकूल ऐश्वर्य कब किसको मिलेगा ॥ ७२ ॥

ईश्वरा भूरिदानेन यल्लभन्ते फलं किल ।
दरिद्रस्तच्च काकिण्या प्राप्नुयादिति नः श्रुतिः ॥ ७३ ॥

हमने सुना है कि धनी लोग बहुत कुछ देने से जो फल पाते हैं, दरिद्र लोग एक कौड़ी देने से वही फल पाते हैं ॥ ७३ ॥

दाता लघुरपि सेव्यो भवती न कृपणो महानपि समृद्धया ।
कूपोऽन्त स्वादुजल: प्रीत्यै लोकस्य न समुद्र ॥ ७४ ॥

मनुष्य दानी निर्धन की भी सेवा करते हैं परन्तु कृपण समृद्धिशाली की भी नही, स्वादुजल से परिपूर्ण कुआँ छोटा होने पर भी लोगो को प्रिय होता है, पर समुद्र बडा होने पर भी नही ॥ ७४ ॥

तथा च—

अकृतत्यागमहिम्ना मिथ्या किं राजराजशब्देन ।
गोप्तार न निधीना कथयन्ति महेश्वर विबुधा. ॥ ७५ ॥

जिसमे त्याग—दान की महिमा नही ऐसे मिथ्या महाराज अथवा कुबेर शब्द से क्या लाभ ? निधियो की रक्षा करनेवाले कुवेर को विद्वान् लोग महेश्वर नहीं कहते ॥ ७५ ॥

अपि च—

सदा दानपरिक्षीण शस्त एव करीश्वर ।
अदान. पीनगात्रोऽपि निन्द्य एव हि गर्दभ ॥ ७६ ॥

हमेशा मदजल से तथा दान देने से कृशशरीर और निर्धन हुआ गजेन्द्र तथा धनवान् पुरुष प्रशसा के योग्य होता है । परन्तु मदजलरहित और दान न करने वाला गदहा तथा कृपण पुरुष स्थूलशरीर और प्रचुर धनवान् होने पर भी निन्दनीय होता है ॥ ७६ ॥

सुशीलोऽपि सुवृत्तोऽपि यात्यदानादधो घट ।
पुन. कुब्जापि काणापि दानादुपरि कर्कटी ॥ ७७ ॥

अच्छी प्रकार बना हुआ और गोल भी घडा जल न देने से नीचे जाता है—पानी मे डूबता है लेकिन कुबडी और कानी भी ककडी देने से ऊपर को जाती है ॥ ७७ ॥

यच्छञ्जलमपि जलदो वल्लभतामेति सकलो लोकस्य ।
नित्य प्रसारितकरो मित्रोऽपि न वीक्षितु शक्य ॥ ७८ ॥

मेघ जल (मामूली चीज) भी देता हुआ सबका प्रिय होता है । हमेशा हाथ फैलानेवाला वन्धु तथा हमेशा किरणें फैलाने वाला सूर्य नही देखा जा सकता ॥ ७८ ॥

एव ज्ञात्वा दारिद्र्याभिभूतैरपि स्वल्पात्स्वल्पतर काले पात्रे च देयम् । उक्त च—

यह समझकर दरिद्र पुरुषो को भी थोडा बहुत समय पर योग्य पात्र को देना चाहिये। कहा भी है—

सत्पात्र महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदनन्ताय कल्पते ॥ ७९ ॥

उत्तम दान योग्य पात्र, महती श्रद्धा और उचित स्थान तथा समय होने पर विवेकी पुरुषो से जो दिया जाता है वह मोक्ष का साधक होता है अथवा अक्षय फल होता है ॥ ७९ ॥

तथा च—

अतितृष्णा न कर्तव्या तृष्णा नैव परित्यजेत्।
अतितृष्णाभिभूतस्य शिखा भवति मस्तके ॥ ८० ॥

तृष्णा अधिक न करनी चाहिये और तृष्णा को सर्वथा छोडना भी न चाहिए, अत्यन्त तृष्णा में पडे हुए के मस्तक पर शिखा होती है ॥ ८० ॥

ब्राह्मण्याह—'कथमेतत्' स आह—
ब्राह्मणी ने कहा—यह कैसे ? वह बोला—

कथा ३

'अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्द । स च पापर्द्धि कर्तुं वन प्रति प्रस्थित । अथ तेन प्रसर्पता महानञ्जनपर्वतशिखराकार क्रोड समासादित । त दृष्ट्वा कर्णान्ताकृष्टनिशितसायकेन समाहत । तेनापि कोपाविष्टेन चेतसा बालेन्दुद्युतिना दंष्ट्राग्रेण पाटितोदर पुलिन्दो गतासुर्भूतलेऽपतत्। अथ लुब्धक व्यापाद्य शूकरोऽपि शरप्रहारवेदनया पञ्चत्व गत । एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदासन्नमृत्यु श्रृगाल इतस्ततो निराहारतया पीडित परिभ्रमस्त प्रदेशमाजगाम। यावद्वराहपुलिन्दौ द्वावपि पश्यति तावत्प्रहृष्टो व्यचिन्तयत्—'भो , सानुकूलो मे विधिः। तेनैतदप्यचिन्तित भोजनमुपस्थितम्। अथवा साध्विदमुच्यते —

किसी वनभाग मे कोई भील रहता था, एक समय वह शिकार के लिये वन को गया। अनन्तर उसने घूमते हुए अञ्जन पर्वत के शिखर के समान आकारवाला कोई सूअर पाया (देखा)। उसे देखकर कान पर्यन्त खीचे हुए तेज बाण से उसे मारा। उसने भी क्रोध से भरे हुए चित्त से चन्द्रकला के समान कान्तिवाले अपने दाढ के अग्रभाग से उस शिकारी का पेट चीर दिया। वह

कामन्दकीशास्त्र दृष्ट्वा व्याहृतम्—'मात , अग्राह्या खल्विमे तिला। नास्या अलुञ्चितैर्लुञ्चिता ग्राह्या । कारण किञ्चिद्भविष्यति । तेनैषाऽलुञ्चितैर्लुञ्चितान्प्रयच्छति' । तच्छ्रुत्वा तया परित्यक्तास्ते तिला. । अतोऽहं ब्रवीमि—'नाकस्माच्छाण्डिलीमात ' इति ।

जिस घर मे भिक्षा के लिये मै गया था, वह भी तिल लेकर उसी घर मे बदलने के लिये आई और बोली—कोई साफ किये हुए से वगैर साफ किये हुए तिल बदल ले। अनन्तर ज्योहो उस घर की मालकिन बिना साफ किये हुए तिलो से साफ किये हुए तिल बदलने के लिये घर मे घुसो त्योही उसके पुत्र ने कामन्द की नीति शास्त्र देख कर कहा—हे मात ! इन तिलो को मत लो, इसके धुले तिलो के बदले अपने बेधुले तिल नही देने चाहिए। इसमे कोई कारण होगा। इसलिये यह धुले तिल देकर बेधुले तिल लेती है। यह सुन उसने वह तिल छोड दिये—नही लिये इसलिये मैं कहता हूँ। 'नाकस्माच्छाण्डिलीमात ' इति ।

एतदुक्त्वा स भूयोऽपि प्राह—'अथ ज्ञायते तस्य क्रमणमार्ग ।' ताम्रचूड आह—'भगवन्' ज्ञायते। यत एकाकी न समागच्छति । किंत्वसख्ययूथपरिवृत पश्यतो मे परिभ्रमन्नितस्तत सर्वजनेन सहागच्छति याति च ।' अभ्यागत आह—'अस्ति किञ्चित्खनित्रकम् ।' स आह—'बाढमस्ति । एषा सर्वलोहमयी स्वहस्तिका ।' अभ्यागत आह—'तर्हि प्रत्यूषे त्वया मया सह स्थातव्यम्, येन द्वावपि जनचरणमलिनायां भूमौ तत्पदानुसारेण गच्छाव ।' मयापि तद्वचनमाकर्ण्य चिन्तितम्—'अहो, विनष्टोऽस्मि, यतोऽस्य साभिप्रायवचासि श्रूयन्त। नून यथा निधान ज्ञात तथा दुर्गमप्यस्माक ज्ञास्यति। एतदभिप्रायादेव ज्ञायते। उक्त च—

यह कहकर इसने फिर कहा—क्या उसके जाने-आने का रास्ता मालूम है ? ताम्रचूड ने कहा—भगवन् ! मालूम है, क्योकि वह अकेला नही आता किन्तु असख्य परिवार के साथ आता है। मेरे देखते ही इधर-उधर घूमता हुआ सबके साथ आता और चला जाता है। अतिथि ने कहा—खोदने की कोई चीज है ? उसने कहा—हाँ है, यह लोहे की कुदाल है। अभ्यागत ने कहा—तो प्रात काल तुम मेरे साथ जागना जिससे हम दोनो, मनुष्यो के चरणो द्वारा भूमि के मलिन होने से पूर्व ही अर्थात् जब तक मनुष्यो के पदा से चूहे के पदचिह्न न मिट जाँय, उससे पूर्व ही उसके पदचिह्न के अनुसार चलेंगे। मैंने उसके वचन सुनकर विचार किया—अहो नाश हो गया, क्योंकि

इसके वचन मतलबभरे सुनाई पडते है। जिस तरह उसने निधान जान लिया उसी तरह हमारे बिल का भी पता लगा लेगा। यह इनकी बात मे ही मालूम पडता है। कहा भी है—

सकृदपि दृष्ट्वा पुरुष विबुधा जानन्ति सारता तस्य।
हस्ततुलयापि निपुणा पलप्रमाण विजानन्ति ॥ ८५ ॥

विद्वान् लोग, पुरुष को एक ही वार देखकर उसकी सारता—गुण, सामर्थ्य आदि को जान लेते है। चतुर लोग हाथ से ही तौलकर पल के प्रमाण को जान लेते है। (१ पल =४ कर्ष, १ कर्ष =¾ तोला—पौन तोला) ॥ ८५ ॥

वाञ्छैव सूचयति पूर्वतर भविष्य
पुसा यदन्यतनुज त्वशुभ शुभ वा।
विज्ञायते शिशुरजातकलापचिह्न
प्रत्युद्गतैरपसरन्सरल कलापी ॥ ८६ ॥

मनुष्यो की इच्छा ही उनके जन्मान्तर के कर्मानुसार बने हुए अच्छे-बुरे भविष्य को बहुत पहिले ही सूचित कर देती है। जैसे कि—कलापरूपी चिह्न उत्पन्न न होने पर भी मोर का बच्चा, शानदार कदमो से जलाशय से लौटता हुआ यह मयूर है ऐसा जान लिया जाता है ॥ ८३ ॥

ततोऽह भयत्रस्तमना सपरिवारो दुर्गमार्ग परित्यज्यान्यमार्गेण गन्तु प्रवृत्त। सपरिजनो यावदग्रतो गच्छामि तावत्सम्मुखो बृहत्कायो मार्जारः समायाति। स च मूषकवृन्दमवलोक्य तन्मध्ये सहसोत्पपात। अथ ते मूषका मा कुमार्गगामिनमवलोक्य गर्हयन्तो हतशेषा रुधिरप्लावित-वसुन्धरास्तमेव दुर्ग प्रविष्टा। अथवा साध्विदमुच्यते—

तब मैं, भयभीत मन से परिवारसहित दुर्गमार्ग को छोड कर दूसरे मार्ग से जाने लगा। परिवारसहित ज्यो ही मैं आगे बढा त्यो ही स्थूलशरीर एक बिलाव सामने आया। वह चूहो के झुण्ड को देख कर एकदम उसमे कूद पडा। अनन्तर, मरने से बचे हुए वे चूहे, मुझ को कुमार्गगामी देख कर मेरी निन्दा करते हुए और खून से भूमि को भिगोते हुए उसी बिल मे घुस गये। ठीक ही कहा है—

छित्त्वा पाशमपास्य कूटरचना भङ्क्त्वा बलाद्वागुरा
पर्यन्ताग्निशिखाकलापजटिलान्निर्गत्य दूर वनात्।

व्याधाना शरगोचरादपि जवेनोत्पत्यधावन्मृग
कूपान्त पतित करोतु विधुरे किंवा विधौ पौरुषम् ॥८७।

जाल काटकर, बाँधने के यन्त्रविशेष को पार कर, बलपूर्वक जाल विशेष को तोडकर, सीमाप्रदेश—किनारो पर अग्निशाखाओ के समूह से दुर्गम वन से दूर पहुँच कर, शिकारियो की भी बाणो की पहुँच से बाहर होकर वेग से दौडता हुआ मृग कुएँ मे गिर पडा। बेचारा दैव के प्रतिकूल होने पर क्या पुरुषार्थ करे ॥ ८७ ॥

अथाहमेकोऽन्यत्र गत । शेषा मूढतया तत्रैव दुर्गे प्रविष्टा । अत्रान्तरे स दुष्टपरिव्राजको रुधिरबिन्दुचर्चिता भूमिमवलोक्य तेनैव दुर्गमार्गेणागत्योपस्थित । ततश्च स्वहस्तिकया खनितुमारब्ध । अथ तेन खनता प्राप्त तन्निधान यस्योपरि सदैवाऽह कृतवसतिर्यस्योष्मणा महादुर्गमपि गच्छामि । ततो हृष्टमनास्ताम्रचूडमिदमूचेऽभ्यागत —'भो भगवन्, इदानी स्वपिहि नि शङ्क । अस्योष्मणा मूषकस्ते जागरण सपादयति ।' एवमुक्त्वा निधानमादाय मठाभिमुख प्रस्थितौ द्वावपि। अहमपि यावन्निधानरहित स्थानमागच्छामि, तावदरमणीयमुद्वेगकारक तत्स्थान वीक्षितुमपि न शक्नोमि। अचिन्तय च—'किं करोमि। क्व गच्छामि। कथ मे स्यान्मनस प्रशान्ति ।' एव चिन्तयतो महाकष्टेन स दिवसो व्यतिक्रान्त । अथास्तमितेऽर्के सोद्वेगो निरुत्साहस्तस्मिन्मठे सपरिवार प्रविष्ट ।

मै अकेला और तरफ चला गया। शेष मूर्खता से उसी बिल मे घुस गये। इसी बीच मे वह दुष्ट सन्यासी रुधिर की बूँदो से चिह्नित पृथ्वी को देखकर उसी बिलमार्ग मे आ पहुँचा और कुदाल से खोदने लगा। खोदते-खोदते उसने वह रत्न पा लिया जिसके ऊपर मैं हमेशा रहता था और जिसके प्रभाव से दुर्गम जगहो पर भी पहुँच जाता था। तब अभ्यागत प्रसन्न मन से ताम्रचूड से बोला—भगवन्! अब नि शङ्क होकर सोओ। इसीकी गरमी से चूहा तुम्हे रात भर जगाता था। यह कह और रत्न लेकर दोनो मठ की तरफ चले गये। मै भी जब निधानरहित स्थान पर पहुँचा तब अरमणीय मन को क्षुब्ध करने वाले उस स्थान को देख भी न सकता था। मै सोचने लगा—क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? मेरे मन को शान्ति कैसे हो? इस प्रकार सोचते-सोचते बड़े कष्ट

से वह दिन बीत गया। अनन्तर सूर्यास्त होने पर उद्विग्न, उत्साहहीन हुआ मैं, परिवारसहित उस मठ में घुसा।

अथास्मत्परिग्रहशब्दमाकर्ण्य ताम्रचूडोऽपि भूयो भिक्षापात्रं जर्जरवंशेन ताडयितुं प्रवृत्तः। अथासावभ्यागतः प्राह—'सखे, किमद्यापि निःशङ्को न निद्रां गच्छसि।' स आह—'भगवन्, भूयोऽपि समायातः सपरिवारः स दुष्टात्मा मूषकः। तद्भयाज्जर्जरवंशेन भिक्षापात्रं ताडयामि।' ततो विहस्याभ्यागतः प्राह—'सखे, मा भैषीः। वित्तेन सह गतोऽस्य कूर्दनोत्साहः सर्वेषामपि जन्तूनामियमेव स्थितिः। उक्तं च—

हमारे परिजनों के शब्द को सुनकर, ताम्रचूड, फिर पुराने बाँस से भिक्षापात्र को पीटने लगा। तब अभ्यागत ने कहा—'मित्र! अब भी निःशङ्क हो क्यों नहीं सोते? वह बोला—भगवन्! वह दुष्ट चूहा फिर परिवारसहित आ पहुँचा, उसके डर से भिक्षापात्र को बाँस से बजाता हूँ। तब हँसकर अभ्यागत ने कहा—मित्र! मत डरो, धन के साथ इसके कूदने का उत्साह भी चला गया, सब मनुष्यों का यही नियम है।

यदुत्साही सदा मर्त्यः पराभवति यज्जनान्।
यदुद्धतं वदेद्वाक्यं तत्सर्वं वित्तजं बलम्' ॥ ८८ ॥

मनुष्य जो हमेशा उत्साही होता, जो मनुष्यों को तिरस्कृत करता और जो कठोर बात कहता है वह, सब धन का बल है ॥ ८८ ॥

अथाहं तच्छ्रुत्वा कोपाविष्टो भिक्षापात्रमुद्दिश्य विशेषादुत्कूर्दितोऽप्राप्त एव भूमौ निपतितः। तच्छ्रुत्वाऽसौ मे शत्रुर्विहस्य ताम्रचूडमुवाच—'भोः, पश्य पश्य कौतूहलम्।' आह च—

यह सुनकर मैं क्रुद्ध हो भिक्षापात्र की तरफ सारी शक्ति लगाकर कूदा, परन्तु वहाँ न पहुँचकर भूमि पर गिर पड़ा। यह देखकर वह मेरा शत्रु हँसकर ताम्रचूड से बोला—देखो तमाशा देखो, फिर कहने लगा—

'अर्थेन बलवान्सर्वोऽप्यर्थयुक्तः स पण्डितः।
पश्यैनं मूषकं व्यर्थं सजातेः समतां गतम् ॥ ८९ ॥

सब मनुष्य धन से बलवान् होते हैं, जो धनवान् है वही पण्डित है, देखो—धनरहित यह चूहा अपनी जातिवालों के समान हो गया ॥ ८९ ॥

तत्स्वपिहि त्वं गतशङ्कः। यदस्योत्पतनकारणं तदावयोर्हस्तगतं जातम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिये तुम नि शङ्क सोओ। इसके कूदने का कारण हमदोनो के हाथ मे आ गया है। ठीक ही कहा है—

दंष्ट्राविरहित सर्पो मदहीनो यथा गज ।
तथार्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारक ' ॥९०॥

जिस प्रकार टूटे दाँतवाला साप ओर मदरहित हाथी इस ससार मे केवल नामधारी होते हैं, उसी प्रकार धन से रहित पुरुष भी नामधारी होता है ॥९०॥

तच्छ्रुत्वाह मनसा विचिन्तितवान्—'यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति, तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम्। उक्त च—

यह सुनकर मे सोचने लगा—मुझमे अगुल भर भी कूदने की शक्ति नही रही, इसलिए धनहीन पुरुष के जीवन को धिक्कार है। कहा भी है—

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधस ।
उच्छिद्यन्ते क्रिया सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ ९१ ॥

धनहीन अतएव मन्दबुद्धि पुरुष के सब कार्य, गरमी मे छोटी-छोटी नदियो के समान नष्ट हो जाते हैं ॥ ९१ ॥

यथा काकयवा प्रोक्ता यथारण्यभवास्तिला ।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नरा ॥ ९२ ॥

जैसे काकयव—एक प्रकार का साररहित अन्न और जङ्गली तिल नाममात्र के ही होते है। उनसे कोई सिद्धि नही होती। उसी प्रकार धनहीन पुरुष भी होते हैं ॥ ९२ ॥

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणा ।
आदित्य इव भूताना श्रीर्गुणाना प्रकाशिनी ॥ ९३ ॥

दरिद्र व्यक्ति के सभी गुण धन के अभाव से प्रकाशित नही होते। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सकल पदार्थो को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सकल गुणो की प्रकाशिका लक्ष्मी ही है ॥ ९३ ॥

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जन ।
यथा द्रव्याणि सप्राप्य तैर्विहीनोऽसुखे स्थित ॥ ९४ ॥

जो व्यक्ति प्रकृति से ही निर्धन हे उसे उतना कष्ट नही होता जितना कि पहले धन प्राप्त कर बाद मे उससे रहित हो दु ख मे रहने वाले व्यक्ति को होता है ॥ ९४ ॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वत ।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिनः ॥ ९५ ॥

सूखे, कीडो मे खाये, चारो ओर से जले तथा ऊसर भूमि मे स्थित वृक्ष का जन्म याचक के जन्म की अपेक्षा कही श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
उपकर्तुमपि हि प्राप्त नि स्वं सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९६ ॥

अकीर्तिकारिणी दरिद्रता से सदा-सर्वदा सावधान रहना चाहिये । क्योंकि उपकार करने के लिये भी आये हुए निर्धन को मनुष्य छोड देता है ॥ ९६ ॥

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनाना मनोरथा ।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥ ९७ ॥

विधवा स्त्री के स्तन के समान निर्धन मनुष्य की अभिलाषाएँ भी हृदय मे उठ-उठकर वही नष्ट हो जाती हैं ॥ ९७ ॥

व्यक्तेऽपि वासरे नित्य दौर्गत्यतमसावृत ।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते' ॥ ९८ ॥

इस ससार मे दुर्गति (दरिद्रता) रूप अन्धकार से ढका हुआ मनुष्य दिन के प्रकाश मे आगे रहता हुआ भी प्रयत्न करने पर भी किसी से नही देखा जाता ॥

एव विलप्याह भग्नोत्साहस्तन्निधान गण्डोपधानीकृत दृष्ट्वा स्व दुर्गं प्रभाते गतः । ततश्च मद्भृत्या प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति—'अहो, असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् । केवलमस्य पृष्ठलग्नाना बिडालादिविपत्तय तत्किमनेनाराधितेन ।' उक्त च—

इस प्रकार विलाप कर मैं उत्साहरहित हो उस धन को कन्धे के नीचे (सिरहाने मे) रखा देख प्रात काल अपने दुर्ग (बिल) मे चला गया । तब मेरे सेवक प्रात काल जाते हुए आपस मे कहने लगे—यह हमारा पेट भरने मे असमर्थ है, इसके पीछे फिरते हुए (साथ रहने मे) बिल्ली आदि की विपत्तियाँ प्राप्त होगी, अत इसकी सेवा करने से क्या लाभ । कहा भी है—

'यत्सकाशान्न लाभा स्यात्केवला स्युर्विपत्तय ।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभि ॥ ९९ ॥

जिससे कोई लाभ न हो और केवल विपत्तियाँ ही प्राप्त हो ऐसे मालिक को विशेषकर अनुचर दूर से ही छोड देवें ॥ ९९ ॥

इसलिये तुम नि शङ्क सोओ। इसके कूदने का कारण हमदोनो के हाथ मे आ गया है। ठीक ही कहा है—

दष्ट्राविरहित सर्पो मदहीनो यथा गज।
तथार्थेन विहीनोऽत्र पुरुषो नामधारक'॥९०॥

जिस प्रकार टूटे दाँतवाला साप और मदरहित हाथी इस ससार मे केवल नामधारी होते ह, उसी प्रकार धन से रहित पुरुष भी नामधारी होता है॥९०॥

तच्छुत्वाह मनसा विचिन्तितवान्—'यतोऽङ्गुलिमात्रमपि कूर्दनशक्तिर्नास्ति, तद्धिगर्थहीनस्य पुरुषस्य जीवितम्। उक्त च—

यह सुनकर मे सोचने लगा—मुझमे अगुल भर भी कूदने की शक्ति नही रही, इसलिए धनहीन पुरुष के जीवन को धिक्कार है। कहा भी है—

अर्थेन च विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधस।
उच्छिद्यन्ते क्रिया सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥९१॥

धनहीन अतएव मन्दबुद्धि पुरुष के सब कार्य, गरमी मे छोटी-छोटी नदियो के समान नष्ट हो जाते हैं॥ ९१॥

यथा काकयवा प्रोक्ता यथारण्यभवास्तिला।
नाममात्रा न सिद्धौ हि धनहीनास्तथा नरा॥९२॥

जैसे काकयव—एक प्रकार का साररहित अन्न और जङ्गली तिल नाममात्र के ही होते है। उनसे कोई सिद्धि नही होती। उसी प्रकार धनहीन पुरुष भी होते है॥ ९२॥

सन्तोऽपि न हि राजन्ते दरिद्रस्येतरे गुणा।
आदित्य इव भूताना श्रीर्गुणाना प्रकाशिनी॥९३॥

दरिद्र व्यक्ति के सभी गुण धन के अभाव से प्रकाशित नही होते। क्योकि जिस प्रकार सूर्य सकल पदार्थों को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सकल गुणो की प्रकाशिका लक्ष्मी ही है॥ ९३॥

न तथा बाध्यते लोके प्रकृत्या निर्धनो जन।
यथा द्रव्याणि सप्राप्य तैर्विहीनोऽसुखे स्थित॥९४॥

जो व्यक्ति प्रकृति से ही निर्धन है उसे उतना कष्ट नही होता जितना कि पहले धन प्राप्त कर बाद मे उससे रहित हो दु ख मे रहने वाले व्यक्ति को होता है॥ ९४॥

शुष्कस्य कीटखातस्य वह्निदग्धस्य सर्वत ।
तरोरप्यूषरस्थस्य वरं जन्म न चार्थिन ॥ ९५ ॥

सूखे, कीडो से खाये, चारो ओर से जले तथा ऊसर भूमि मे स्थित वृक्ष का जन्म याचक के जन्म की अपेक्षा कही श्रेष्ठ है ॥ ९५ ॥

शङ्कनीया हि सर्वत्र निष्प्रतापा दरिद्रता ।
उपकर्तुमपि हि प्राप्त नि स्व सन्त्यज्य गच्छति ॥ ९६ ॥

अकीर्तिकारिणी दरिद्रता से सदा सर्वदा सावधान रहना चाहिये । क्योकि उपकार करने के लिये भी आये हुए निर्धन को मनुष्य छोड देता है ॥ ९६ ॥

उन्नम्योन्नम्य तत्रैव निर्धनाना मनोरथा ।
हृदयेष्वेव लीयन्ते विधवास्त्रीस्तनाविव ॥ ९७ ॥

विधवा स्त्री के स्तन के समान निर्धन मनुष्य की अभिलाषाएँ भी हृदय मे उठ-उठकर वही नष्ट हो जाती हैं ॥ ९७ ॥

व्यक्तेऽपि वासरे नित्य दौर्गत्यतमसावृत ।
अग्रतोऽपि स्थितो यत्नान्न केनापीह दृश्यते ॥ ९८ ॥

इस ससार मे दुर्गति (दरिद्रता) रूप अन्धकार से ढका हुआ मनुष्य दिन के प्रकाश मे आगे रहता हुआ भी प्रयत्न करने पर भी किसी से नही देखा जाता ॥

एव विलप्याह भग्नोत्साहस्तन्निधान गण्डोपधानीकृत दृष्ट्वा स्व दुर्गं प्रभाते गतः । ततश्च मद्भृत्या प्रभाते गच्छन्तो मिथो जल्पन्ति— 'अहो, असमर्थोऽयमुदरपूरणेऽस्माकम् । केवलमस्य पृष्ठलग्नाना बिडालादिविपत्तय तत्किमनेनाराधितेन ।' उक्त च—

इस प्रकार विलाप कर मैं उत्साहरहित हो उस धन को कन्धे के नीचे (सिरहाने मे) रखा देख प्रात काल अपने दुर्ग (बिल) मे चला गया । तब मेरे सेवक प्रात काल जाते हुए आपस मे कहने लगे—यह हमारा पेट भरने मे असमर्थ है, इसके पीछे फिरते हुए (साथ रहने मे) बिल्ली आदि की विपत्तियाँ प्राप्त होगी, अत इसकी सेवा करने से क्या लाभ । कहा भी है—

'यत्सकाशान्न लाभा स्यात्केवला स्युर्विपत्तय ।
स स्वामी दूरतस्त्याज्यो विशेषादनुजीविभि ॥ ९९ ॥

जिससे कोई लाभ न हो और केवल विपत्तियाँ ही प्राप्त हो ऐसे मालिक को विशेषकर अनुचर दूर से ही छोड देवें ॥ ९९ ॥

एव तेषा वचासि श्रुत्वा स्वदुर्गं प्रविष्टोऽहम्। यावन्न कश्चिन्मम समुखेऽभ्येति तावन्मया चिन्तितम्—'धिगिय दरिद्रता।' अथवा साध्विदमुच्यते—

उनके यह वचन सुनकर मैं अपने दुर्ग मे घुस गया। जब मेरे पास कोई न आया तब मैंने सोचा—इस दरिद्रता को धिक्कार है। अथवा ठीक ही कहा है—

मृतो दरिद्र पुरुषो मृत मैथुनमप्रजम्।
मृतमश्रोत्रिय श्राद्ध मृतो यज्ञस्त्वदक्षिण'॥ १०० ॥

दरिद्र मनुष्य, सन्तान पैदा करने मे असमर्थ मैथुन, वेदज्ञ ब्राह्मण रहित श्राद्ध और दक्षिणारहित यज्ञ निष्फल है ॥ १०० ॥

एव मे चिन्तयतस्ते भृत्या मम शत्रूणा सेवका जाता। ते च मामेकाकिन दृष्ट्वा विडम्बना कुर्वन्ति। अथ मयैकाकिना योगनिद्रा गतेन भूयो विचिन्तितम्—'यत्तस्य कुतपस्विन समाश्रय गत्वा तद्गण्डोपधानवर्तिकृता वित्तपेटा शनै शनैर्विदार्य तस्य निद्रावश गतस्य स्वदुर्गे तद्वित्तमान यामि, येन भूयोऽपि मे वित्तप्रभावेणाधिपत्य पूर्ववद्भविष्यति। उक्त च—

जब कि मैं इस तरह सोच रहा था (उसी समय) मेरे सेवक, मेरे शत्रुओ के अनुचर हो गये। वे लोग मुझे अकेला देखकर मेरी हँसी करने लगे। तब मैंने अकेले ही अपनी हालत पर विचार करते हुए सोचा कि उस दुष्ट तपस्वी के स्थान पर जा, उसके सोते हुए ही तकिये के नीचे रखी हुई धन की पिटारी को धीरे-धीरे काटकर वह धन अपने बिल मे ले आऊँ। जिससे धन के प्रभाव से पहिले की तरह ही मेरा आधिपत्य हो जाय। कहा भी है—

व्यथयन्ति पर चेतो मनोरथशतैर्जना।
नानुष्ठानैर्धनैर्हीना कुलजा विधवा इव॥ १०१॥

निर्धन मनुष्य कुलीन विधवाओ के समान सैंकडो इच्छाओ के द्वारा केवल अपने मन को क्लेश ही दिया करते है। वे अपनी इच्छाओ को पूर्ण करके मन को आनन्दित नही कर सकते ॥ १०१ ॥

दौर्गत्य देहिना दु खमपमानकर परम्।
येन स्वैरपि मन्यन्ते जीवन्तोऽपि मृता इव॥ १०२॥

दरिद्रता प्राणियो के लिये महान् दु ख और अत्यन्त अपमान करनेवाली होती है। जिससे अपने कुटुम्बी भी जिन्दो को ही मुर्दा ही समझते है ॥ १०२ ॥

दैन्यस्य पात्रतामेति पराभूतेः परं पदम् ।
विपदामाश्रयः शश्वद्दौर्गत्यकलुषीकृतः ॥ १०३ ॥

दरिद्रता से मलिन हुआ पुरुष, हमेशा दीनता का पात्र होता है तथा तिरस्कार का मुख्य स्थान और विपत्तियों का घर होता है ॥ १०३ ॥

लज्जन्ते बान्धवास्तेन संबन्धं गोपयन्ति च ।
मित्राण्यमित्रतां यान्ति यस्य न स्युः कपर्दकाः ॥ १०४ ॥

जिसके पास धन न हो उससे कुटुम्बी लोग लज्जित होते हैं और उसके साथ अपना सम्बन्ध छिपाते हैं। (केवल इतना ही नहीं किन्तु) मित्र भी शत्रु हो जाते हैं ॥ १०४ ॥

मूर्तं लाघवमेवैतदपायानामिदं गृहम् ।
पर्यायो मरणस्यायं निर्धनत्वं शरीरिणाम् ॥ १०५ ॥

यह दरिद्रता प्राणियों के लिये मूर्तिमती लघुता, विपत्तियों का घर और मृत्यु का नामान्तर है—यह दूसरी मृत्यु ही है ॥ १०५ ॥

अजाधूलिरिव त्रस्तैर्मार्जनीरेणुवज्जनैः ।
दीपखट्वोत्थछायेव त्यज्यते निर्धनो जनैः ॥ १०६ ॥

बकरी के पैर से उठी हुई धूलि के समान झाड़ू से उड़ाई हुई गर्द की तरह और दीपक द्वारा पड़ी हुई खाट की परछाईं की तरह निर्धन मनुष्य लोगों से छोड़ दिया जाता है ॥ १०६ ॥

शौचावशिष्टयाप्यस्ति किञ्चित्कार्यं क्वचिन्मृदा ।
निर्धनेन जनेनैव न तु किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १०७ ॥

शौच के बाद अंग साफ करने से बची हुई मिट्टी का भी कहीं कोई काम निकल सकता है, परन्तु निर्धन मनुष्य से कहीं कुछ काम नहीं हो सकता—वह उससे भी गया बीता है ॥ १०७ ॥

अधनो दातुकामोऽपि सम्प्राप्तो धनिनां गृहम् ।
मन्यते याचकोऽयं धिग्दारिद्र्यं खलु देहिनाम् ॥ १०८ ॥

निर्धन मनुष्य (कुछ) देने की इच्छा रखता हुआ भी जब धनवानों के घर जाता है तब लोग उसे याचक ही समझते हैं, इसलिये प्राणियों की इस दरिद्रता को धिक्कार है ॥ १०८ ॥

अतो वित्तापहारं विदधतो यदि मे मृत्युः स्यात्तथापि शोभनम् । उक्तं च—

यदि उस धन को लाने के उद्योग मे मेरी मृत्यु भी हो जाय, तो अच्छा है। कहा भी है—

स्ववित्तहरण दृष्ट्वा यो हि रक्षत्यसून्नर।
पितरोऽपि न गृह्णन्ति तद्दत्त सलिलाञ्जलिम् ॥ १०९ ॥

जो मनुष्य अपने धन का अपहरण देखकर प्राणो की रक्षा करता है। उसके दिये हुए तर्पण जल को पितर लोग भी ग्रहण नही करते ॥ १०९ ॥

तथा च—

गवार्थे ब्राह्मणार्थे च स्त्रीवित्तहरणे तथा।
प्राणास्त्यजति यो युद्धे तस्य लोका सनातना' ॥ ११० ॥

जो मनुष्य गौ और ब्राह्मणो की रक्षा के लिये तथा स्त्री और धन के हरण होने पर (उनको वापिस लाने मे) युद्ध मे प्राण छोडता है उसे अक्षय लोक प्राप्त होते है—वह स्वर्ग को जाता है ॥ ११० ॥

एव निश्चित्य रात्रौ तत्र गत्वा निद्रावशमुपागतस्य पेटाया मया छिद्र कृत यावत्, तावत्प्रबुद्धो दुष्टतापस । ततश्च जर्जरवशप्रहारेण शिरसि ताडित कथञ्चिदायु शेषतया निर्गतोऽहम्, न मृतश्च। उक्त च—

ऐसा निश्चय कर रात मे वहाँ जाकर जब तक मैंने (तपस्वी के) सोते हुए पिठारी मे छेद किया उसी समय वह दुष्ट तपस्वी जाग गया। तब (उसने) फटे बाँस से मेरे सिर पर मारा। (मै) किसी प्रकार आयुशेष होने के कारण वहाँ से निकल आया और मरा नही। कहा भी है—

प्राप्तव्यमर्थ लभते मनुष्यो देवोऽपि त लङ्घयितु न शक्त ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीय न हि तत्परेषाम् ॥१११॥

मनुष्य पाने योग्य (भाग्य मे लिखी हुई) वस्तु को पाता ही है, दैव भी उसे रोक नही सकता, इसलिये न तो मै शोक करता हूँ और न मुझे आश्चर्य ही है, क्योंकि जो वस्तु हमारी है वह दूसरो की नही हो सकती ॥ १११ ॥

काककूर्मो पृच्छत —'कथमेतत्।' हिरण्यक आह—

कौवे आर कछुए ने पूछा—'यह कैसे ?' हिरण्यक बोला—

कथा ४

'अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना रूपक-शतेन विक्र

किसी नगर मे सागरदत्त नामका वनिया रहता था। उसके पुत्र ने सौ रुपये मे विकती हुई एक पुस्तक खरीदी। उसमे लिखा था—

(प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो देवोऽपि त लघयितु न शक्त ।
तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे यदस्मदीय न हि तत्परेषाम् ॥)

'मनुष्य पाने योग्य वस्तु को पाता है' इत्यादि। (देखें श्लोक १११)॥

तद्दृष्ट्वा सागरदत्तेन तनुज पृष्ट—'पुत्र, कियता मूल्येनैतत् पुस्तक गृहीतम्।' सोऽब्रवीत्—'रूपकशतेन'। तच्छ्रुत्वा सागरदत्तोऽब्रवीत्—धिङ्मूर्ख, त्व लिखितैकश्लोक रूपकशतेन यद्गृह्णासि, एतया बुद्ध्या कथ द्रव्योपार्जन करिष्यसि। तदद्यप्रभृति त्वया मे गृहे न प्रवेष्टव्यम्। एव निर्भर्त्स्य गृहान्नि सारित । स च तेन निर्वेदेन विप्रकृष्ट देशान्तर गत्वा किमपि नगरमासाद्यावस्थित । अथ कतिपयदिवसैस्तन्नगरनिवासिना केनचिदसौ पृष्ट—'कुतो भवानागत । किनामधेयो वा' इति। असावब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य ।' अथान्येनापि पृष्टेनानेन तथैवोत्तर दत्तम्। एव च तस्य नगरस्य मध्ये प्राप्तव्यमर्थं इति तस्य प्रसिद्ध नाम जातम्। अथ राजकन्या चन्द्रवती नामाभिनवरूपयौवनसम्पन्ना सखीद्वितीयैकस्मिन्महोत्सवदिवसे नगर निरीक्षमाणास्ति। तत्रैव च कश्चिद्राजपुत्रोऽतीवरूपसम्पन्नो मनोरमश्च कथमपि तस्या दृष्टिगोचरे गत । तद्दर्शनसमकालमेव कुसुमबाणाहतया तया निजसख्यभिहिता—'सखि, यथा किलानेन सह समागमो भवति तथाद्य त्वया यतितव्यम्'। एव च श्रुत्वा सा सखी तत्सकाश गत्वा शीघ्रमब्रवीत्—'यदह चन्द्रवत्या तवान्तिक प्रेषिता। भणितं च त्वा प्रति तया, यन्मम त्वद्दर्शनान्मनोभवेन पश्चिमावस्था कृता। तद्यदि शीघ्रमेव मदन्तिके न समेष्यसि तदा मे मरण शरणम्।' इति श्रुत्वा तेनाभिहितम्—'यद्यवश्य मया तत्रागन्तव्य तत्कथय केनोपायेन प्रवेष्टव्यम्।' अथ सख्याभिहितम्—'रात्रौ सौधावलम्बितया दृढवरत्रया त्वया तत्रारोढव्यम्।' सोऽब्रवीत्—'यद्येव निश्चयो भवत्यास्तदहमेव करिष्यामि।' इति निश्चित्य सखी चन्द्रवतीसकाश गता।

उसे देखकर सागरदत्त ने पुत्र से पूछा—पुत्र! कितने मूल्यमे यह पुस्तक खरीदी है? उसने कहा—सौ रुपये मे। यह सुनकर सागरदत्त बोला—मूर्ख! तुझे धिक्कार है। जब तू एक श्लोकवाली पुस्तक सौ रुपये मे खरीदता है

रोहक हत्वा प्रणश्यज्जनकोलाहलेन लोकमाकुलयस्तमेवोद्देश प्राप्त' । त च दृष्ट्वा सर्वे वरानुयायिनो वरेण सह प्रणश्य दिशो जग्मु । अथास्मिन्नवसरे भयतरललोचनामेकाकिनी कन्यामवलोक्य 'मा भैषी, अह परित्राता' इति सुधीर स्थिरीकृत्य दक्षिणपाणौ सगृह्य महासाहसिकतया प्राप्तव्यमर्थं परुषवाक्यैर्हस्तिन निर्भर्त्सितवान् । तत कथमपि दैवयोगादपाये हस्तिनि ससुहृद्बान्धवेनातिक्रान्तलग्नसमये वरकीर्तिनागत्य तावत्ता कन्यामन्यहस्तगता दृष्ट्वाभिहितम्—'भो श्वशुर, विरुद्धमिद त्वयानुष्ठित यन्मह्य प्रदाय कन्यान्यस्मै प्रदत्ता' इति । सोऽब्रवीत्—'भोः, अहमपि हस्तिभयपलायितो भवद्भि महायातो न जाने किमिद वृत्तम् ।' इत्यभिधाय दुहितर प्रष्टुमारब्ध—'वत्से, न त्वया सुन्दर कृतम् । तत्कथ्यता कोऽय वृत्तान्त ।' साऽब्रवीत्—'यदहमनेन प्राणसशयाद्रक्षिता, तदेन मुक्त्वा मम जीवन्त्या नान्य पाणि ग्रहीष्यति' इति । अनेन वार्ताव्यतिकरेण रजनी व्युष्टा । अथ प्रातस्तत्र सजाते महाजनसमवाये वार्ताव्यतिकर श्रुत्वा राजदुहिता तमुद्देशमागता । कर्णपरम्परया श्रुत्वा दण्डपाशकसुतापि तत्रैवागता । अथ त महाजनसमवाय श्रुत्वा राजापि तत्रैवाजगाम । प्राप्तव्यमर्थं प्राह—'भो, विश्रब्ध कथय । कीदृशोऽसौ वृत्तान्त ।' अथ सोऽब्रवीत्—'प्राप्तव्यमर्थ लभते मनुष्य' इति । राजकन्या स्मृत्वा प्राह—'देवोऽपि त लङ्घयितु न शक्त' इति । ततो दण्डपाशकसुताब्रवीत्—'तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे' इति । तमखिललोकवृत्तान्तमाकर्ण्य वणिक्सुताब्रवीत्—'यदस्मदीय न हि तत्परेषाम्' इति । तत अभयदान दत्त्वा राजा पृथक्पृथग्वृत्तान्ताञ्ज्ञात्वावगततत्त्वस्तस्मै प्राप्तव्यमर्थाय स्वदुहितर सबहुमान ग्रामसहस्रेण सम सर्वालकारपरिवारयुता दत्त्वा त्व मे पुत्रोऽसीति नगरविदित त यौवराज्येऽभिषिक्तवान् । दण्डपाशकेनापि स्वदुहिता स्वशक्त्या वस्त्रदानादिना सभाव्य प्राप्तव्यमर्थाय प्रदत्ता ।

इस प्रकार अच्छी तरह सोचकर उसके पास नहीं गया । रात्रि मे घूमते हुए 'प्राप्तव्यमर्थ' ने राजमहल मे लटकती हुई रस्सी देखी, उसे देखकर उसका हृदय कुतूहल (रस्सी लटकने का कारण जानने की इच्छा) से भर गया और वह उसे पकड ऊपर चढ गया । वह राजपुत्री यह समझकर कि यह वही है बडी प्रसन्न हुई । वह स्नान, भोजन, पान और वस्त्रादि से उसका सत्कार कर उसके

साथ शय्या पर स्थित होकर उसके स्पर्श से पुलकित होती हुई बोली—आपके दर्शनमात्र से ही अनुरक्त होकर मैंने यह शरीर आपको अर्पण कर दिया है, आपके अतिरिक्त कोई पुरुष मन मे भी मेरा पति न होगा, फिर आप मुझसे क्यो नही बोलते। उसने कहा—प्राप्तव्य वस्तु मनुष्य पा ही लेता है। ऐसा कहने पर 'यह कोई और है' यह समझ कर उसने उसे उतार कर छोड दिया। वह भी टूटे हुए मन्दिर मे (अथवा 'खण्डोवा'[1] नामक देवताविशेष के मन्दिर मे) जाकर सो रहा। इसके बाद शहर का कोतवाल किसी स्वेच्छा-चारिणी का सकेत पाकर वहाँ आया। उसने पहिले से सोये हुए इसे (प्राप्तव्यमर्थ को) देखा और अपना गुप्तभेद छिपाने के लिये कहा—आप कौन है? उसने कहा, 'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य'। यह सुन दण्डपाशक ने कहा—यह देवालय सूना है इसलिये मेरे स्थान पर जाकर सो रहो। वह स्वीकार कर (चला गया परन्तु) धोखे से दूसरी चारपाई पर सो गया। (इधर) उस कोतवाल की सुन्दरी और युवती लडकी विनयवती किसी पुरुष मे अनुरक्त हो (उसे) सकेत देकर उस चारपाई पर सोई हुई थी, उसने अपना प्रिय समझ लिया, (इसलिए) उठकर भोजनाच्छादनादि क्रियायें कराई और गान्धर्व विवाह के द्वारा उसके साथ विवाह कर लिया। तब उसके साथ शय्या पर स्थित होकर कमल के समान सुन्दर मुख से मुस्कराती हुई बोली—'अब भी आप, मेरे साथ खुले दिल से क्यो नही बोलते।' उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य।' यह सुन वह सोचने लगी—जो कार्य बिना सोचे-समझे किया जाता है उसका ऐसा ही परिणाम होता है। यह सोचकर उसने दुःखी हो उसे निकाल दिया। वह जिस समय सडक पर जा रहा था उसी समय दूसरे देश (शहर) का रहनेवाला वरकीर्ति नामक वर, बडे गाजे-बाजे के साथ आ रहा था। प्राप्तव्यमर्थ भी उसके साथियो के साथ चल दिया। (इधर जब) विवाह लग्न से कुछ ही पूर्व सडक के पास वाले एक सेठ के घर के दरवाजे पर मण्डप के नीचे बनी हुई वेदी पर हाथ मे कलावा (मङ्गल कार्यों मे काम आने वाला लाल डोरा) बाँधे और विवाह के वस्त्रादि धारण

---

१ दक्षिण में पूना से २५ मील पर जेजुरी नामक पर्वत पर 'खडोबा' नामक देवता की चैत्र पूर्णिमा में पूजा होती है। इस देवता की पूजा मुख्यतः गडरिये लोग करते हैं।

किये हुए बनिये की लडकी बैठी हुई थी उसी समय एक मतवाला हाथी पीलवान को मार कर भागते हुए मनुष्यो के शोर से लोगो को भयभीत करता हुआ उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसे देखकर वर और उसके साथी इधर-उधर भाग गये। इसी मौके पर प्राप्तव्यमर्थ ने डर के कारण चञ्चल नेत्रवाली उस लडकी को अकेली देखकर बहादुरी के साथ 'मत डरो, मै तुम्हारा रक्षक हूँ' (कहकर) धीरज दिया और उसे दाहिने हाथ मे पकडकर (लडकी का दाहिना हाथ पकडकर) बडे साहसपूर्वक कठोर शब्दो से हाथी को धमकाया। तब किसी प्रकार भाग्यवश हाथी के चले जाने और विवाह मुहूर्त के भी निकल जाने पर वरकीर्ति-बन्धु बान्धवो सहित वहाँ आया। उसने लडकी को दूसरे के हाथ मे (कब्जे मे) देखकर कहा—हे श्वशुर! आपने यह काम अनुचित किया कि मुझे लडकी देकर (देने का वायदा करके) दूसरे को दे दी। उसने कहा—मै भी हाथी के डर से भागकर आप लोगो के साथ ही आया हूँ, नही, मालूम यह क्या बात हो गई। यह कहकर लडकी से पूछने लगा—पुत्रि! तुमने यह ठीक नही किया, कहो, यह क्या बात है? वह बोली—चूँकि इसने खतरे से मेरी जान बचाई है इसलिए मेरे जीवित रहते हुए इसे छोडकर कोई दूसरा मेरा हाथ नही पकड सकता (मेरे साथ विवाह नही कर सकता)। इसी बातचीत मे रात व्यतीत हो गई। अनन्तर प्रात काल वहाँ बहुत से मनुष्यो के इकट्ठा हो जाने पर इस समाचार को सुन राजकुमारी वही आयी और कर्णपरम्परा (एक दूसरे से यह घटना) सुन कोतवाल की लडकी भी वहाँ आ गई। राजा भी यह सुनकर कि 'वहाँ बहुत मनुष्य एकत्रित है' उसी स्थल पर आ गया। (उसने) प्राप्तव्यमर्थ से पूछा—भद्र! निडर होकर कहो, यह क्या वृत्तान्त है। उसने कहा—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्य'। राजकन्या ने सोचकर कहा–'विधाता भी उसे रोक नही सकता।' तब कोतवाल की पुत्री बोली–'इसलिये न तो मै शोक ही करती हूँ और न मुझे आश्चर्य ही है।' यह समस्त लोकसमाचार सुन कर वैश्यपुत्री बोली—'जो हमारा है वह दूसरो का नही हो सकता।' तब अभय दान देकर राजा ने पृथक्-पृथक् समाचार मालूम किये और सब बात ठीक ठीक जानकर उस प्राप्तव्यमर्थ को सब तरह के भूषणो से सुशोभित कर दास-दासियो के साथ अपनी पुत्री को आदरपूर्वक दे दी। साथ ही एक सहस्र ग्राम भी दिये। तथा—'तुम मेरे पुत्र हो' ऐसा लोक मे प्रसिद्ध कर उन्हे युवराज पद पर अभिषिक्त किया। दण्डपाशक ने भी

शक्त्यानुसार वस्त्र आदि से सम्मानित कर अपनी पुत्री प्राप्तव्यमर्थ को दे दी।

अथ प्राप्तव्यमर्थेनापि स्वीयपितृमातरौ समस्तकुटुम्बावृतौ तस्मिन्नगरे सम्मानपुरःसरं समानीतौ। अथ सोऽपि स्वगोत्रेण सह विविधभोगानुपभुञ्जानः सुखेनावस्थितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः' इति।

अनन्तर प्राप्तव्यमर्थं ने सब कुटुम्बियो के साथ अपने माता-पिता को आदरपूर्वक उसी नगर मे बुला लिया। वह प्राप्तव्यमर्थ, अपने परिवार के साथ तरह-तरह के सुख-भोग भोगता हुआ आनन्द से रहने लगा। इसलिये मै कहता हूँ 'प्राप्तव्य वस्तु मनुष्य पा ही लेता है।' इत्यादि।

तदेतत्सकलं सुखदुःखमनुभूय परं विषादमुपागतोऽनेन मित्रेण त्वत्सकाशमानीतः। तदेतन्मे वैराग्यकारणम्। मन्थरक आह—'भद्र, भवति सुहृदयमसन्दिग्धं यः क्षुत्क्षामोऽपि शत्रुभूतं त्वां भक्ष्यस्थाने स्थितमेव पृष्ठमारोप्यानयति न मार्गेऽपि भक्षयति। उक्तं च यतः—

यह सब सुख-दुःख भोगकर मै अत्यन्त दुखी हुआ, अब यह मित्र मुझे तुम्हारे पास लाया है, मेरा वैराग्य का यही कारण है। मन्थरक बोला—भद्र! निस्सन्देह यह मित्र है जो भूखा होने पर भी अपने भोजनस्वरूप तुझ शत्रु को भी अपनी पीठपर चढाकर लाता है, रास्ते मे भी खाता नही। कहा भी है—

विकारं याति नो चित्तं वित्ते यस्य कदाचन।
मित्रं स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम्॥ ११४॥

जिसका मन ऐश्वर्य पाकर विकार को प्राप्त नही होता अर्थात् बदलता नही और जो सब अवस्थाओ मे सच्चा मित्र रहे उस उत्तम पुरुष को मित्र बनाना चाहिये॥ ११४॥

विद्वद्भिः सुहृदामत्र चिह्नैरेतैरसंशयम्।
परीक्षाकरणं प्रोक्तं होमाग्नेरिव पण्डितैः॥ ११५॥

इन चिह्नो से विद्वान् के लिए होमाग्नि की तरह मित्रो की परीक्षा अवश्य कही गयी है॥ ११५॥

तथा च—

आपत्काले तु सम्प्राप्ते यन्मित्रं मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु सम्प्राप्ते दुर्जनोऽपि सुहृद्भवेत्॥ ११६॥

विपत्ति का समय आने पर जो मित्र रहे वही मित्र कहलाने योग्य है (क्योकि) बढती के समय तो दुष्ट भी मित्र बन जाते हैं ॥ ११६ ॥

तन्ममाप्यद्यास्य विषये विश्वास समुत्पन्नो यतो नीतिविरुद्धेयं मैत्र मासाशिभिर्वायसैः सह जलचराणाम् । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिये आज मुझे भी इसके विषय मे विश्वास हो गया है क्योकि मासाहारी कौवो के साथ जल मे रहनेवालो की यह मित्रता नीतिविरुद्ध है । अथवा यह ठीक ही कहा है—

मित्र कोऽपि न कस्यापिनितान्त न च वैरकृत् ।
दृश्यते मित्रविध्वस्तात्कार्याद्वैरी परीक्षत ॥ ११७ ॥

न तो कोई सर्वथा किसी का मित्र ही है और न सर्वथा शत्रु ही होता है क्योकि कार्यवश मित्र से मारे जाते हुए और शत्रु से रक्षा किये जाते हुए पुरुष देखे जाते हैं ॥ ११७ ॥

तत्स्वागत भवत । स्वगृहवदास्यतामत्र सरस्तीरे । यच्च वित्तनाशो विदेशवासश्च ते सजातस्तत्र विषये सन्तापो न कर्तव्य । उक्त च—

आपका स्वागत है। इस तालाब के किनारे पर अपने घर के समान रहिये । और जो आपके धन का नाश तथा विदेश मे वास हो गया है इस विषय मे दुख न करना चाहिये । कहा भी है—

अभ्रच्छाया खलप्रीति सिद्धमन्न च योषित ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥ ११८ ॥

मेघ की छाया, दुष्टो की प्रीति, पका हुआ अन्न (भात आदि), स्त्रियाँ, जवानी और धन ये सब वस्तु थोडे काल तक ही भोगने योग्य होती हैं अर्थात् ये देर तक नही ठहरती ॥ ११८ ॥

अतएव विवेकिनो जितात्मानो धनस्पृहा न कुर्वन्ति । उक्त च—

इसीलिये विवेकी जितेन्द्रिय पुरुष धन की इच्छा नही करते । कहा भी है—

सुसचितैर्जीवनवत्सुरक्षितै-
निजेऽपि देहे न वियोजितै क्वचित् ।
पुसो यमान्त व्रजतोऽपि निष्ठुरै-
रेतैर्धनै पञ्चपदो न दीयते ॥ ११९ ॥

अच्छी प्रकार (कष्ट सहकर भी) सङ्ग्रह किये हुए, प्राणो के समान रक्षा किये हुए, अपने शरीर के लिये भी खर्च नही किये गये ऐसे ये निष्ठुर धन

यम के समीप भी जाते हुए (मरते हुए) पुरुष के पीछे पाँच पैर भी नहीं जाते ॥ ११९ ॥

अन्यच्च—

यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ १२० ॥

और भी—जैसे मांस को पानी में मछलियाँ, पृथिवी पर हिंसक जन्तु और आकाश में पक्षी खाते हैं उसी प्रकार धनवान् सर्वत्र खाया जाता है ॥ १२० ॥

निर्दोषमपि वित्ताढ्यं दोषैर्योजयते नृपः।
निर्धनः प्राप्तदोषोऽपि सर्वत्र निरुपद्रवः ॥ १२१ ॥

राजा निरपराध भी धनी पुरुष को अपराधी सिद्ध करता है (दोष लगाकर धन वसूल करता है)। निर्धन पुरुष अपराध करके भी सब जगह निर्दोष ही रहता है ॥ १२१ ॥

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्कष्टसंश्रयान् ॥ १२२ ॥

धन के कमाने और उसकी रक्षा करने में कष्ट होता है। उसके नाश होने तथा खर्च करने में भी दुःख होता है, इन केवल दुःख देने वाले धनों को धिक्कार है ॥ १२२ ॥

अर्थार्थी यानि कष्टानि मूढोऽयं सहते जनः।
शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १२३ ॥

मूर्ख मनुष्य, धन कमाने में जो दुःख सहता है उसका सौवाँ भाग भी यदि सहन करे तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है ॥ १२३ ॥

अपरं विदेशवासजमपि वैराग्यं त्वया न कार्यम्। यतः—

और विदेशवास से उत्पन्न खेद को भी तुम्हें मन में नहीं लाना चाहिए, क्योंकि—

को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १२४ ॥

स्थिरचित्त महामना मनुष्य के लिये क्या स्वदेश और क्या विदेश! सब ही उसके लिए समान है। वह जिस देश में रहता है उसी को भुजबल से

अपने अधीन कर लेता है। (जैसे कि) दाँत, नाखून और पूँछरूपी अस्त्रधारी सिंह जिस वन मे प्रविष्ट होता है उसी मे बडे-बडे हाथियो को मारकर उनके खून से अपनी प्यास बुझाता है ॥ १२४ ॥

अर्थहीन परे देशे गतोऽपि य प्रज्ञावान्भवति स कथंचिदपि न सीदति। उक्त च—

परदेश मे गया हुआ निर्धन भी यदि बुद्धिमान् हो तो वह दुखी नही होता। कहा भी है—

कोऽतिभार समर्थाना किं दूर व्यवसायिनाम्।
को विदेश सुविद्याना क पर प्रियवादिनाम्। १२५ ॥

समर्थ के लिए अतिभार क्या है ? व्यापारियो के लिए दूर कौन सा स्थान है ? विद्वानो के लिए विदेश क्या है ? प्रियवादियो के लिये गैर कौन है ? ॥१२५॥

तत्प्रज्ञानिधिर्भवान्न प्राकृतपुरुषतुल्य । अथवा—

आप महाबुद्धिमान् हैं, साधारण पुरुष के समान नही हैं। अथवा—

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्र क्रियाविधिज्ञ व्यसनेष्वसक्तम्।
शूर कृतज्ञ दृढसौहृद च लक्ष्मी स्वय मार्गति वासहेतो ॥ १२६ ॥

उद्योगी, कार्य मे देर न लगानेवाले, (कार्यो के) सिद्धान्त तथा निर्माण पद्धति को जाननेवाले, मद्यपानादि बुरे व्यसनो से पृथक्, बहादुर उपकार मानने वाले और स्थिर मित्रता वाले पुरुष को लक्ष्मी स्वय अपने निवास के लिये तलाश कर लेती है ॥ १२६ ॥

अपर प्राप्तोऽप्यर्थं कर्मप्राप्त्या नश्यति। तदेतावन्ति दिनानि त्वदीयमासीत्। मुहूर्तमप्यनात्मीय भोक्तु न लभ्यते। स्वयमागतमपि विधिनापह्रियते।

और प्राप्त हुआ भी धन कर्मानुसार नष्ट हो जाता है। इतने दिनो तक (यह धन) तुम्हारा रहा। क्षण भर भी उस वस्तु को नही भोग सकते जो अपनी नही है। स्वय प्राप्त भी (ऐसी वस्तु को) विधाता (भाग्य) हर लेता है।

अर्थस्योपार्जन कृत्वा नैव भोग समश्नुते।
अरण्य महदासाद्य मूढ सोमिलको यथा ॥ १२७ ॥

मनुष्य बडे जङ्गल मे पहुँचकर घबडाये हुए (मूढ) सोमलिक के समान धन जमा कर भी (भाग्य के प्रतिकूल होने पर) उसको भोग नही सकता ॥१२७॥

हिरण्यक आह—'कथमेतत्' । स आह-
हिरण्यक ने कहा—यह कैसे ? यह बोला-

कथा ५

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने सोमिलको नाम कौलिको वसति स्म। स चानेकविधपट्टरचनारञ्जितानि पार्थिवोचितानि सदैव वस्त्राण्युत्पादयति। पर तस्य चानेकविधपट्टरचनानिपुणस्यापि न भोजनाच्छादनाभ्यधिक कथमप्यर्थमात्र सम्पद्यते। अथान्ये यत्र सामान्यकौलिका स्थूलवस्त्रसम्पादनविज्ञानिनो महर्द्धिसम्पन्ना । तानवलोक्य स स्वभार्यामाह—'प्रिये, पश्यैतान्स्थूलपट्टकारकान्धनकनकसमृद्धान् । तदधारणक ममैतत्स्थानम् । तदन्यत्रोपार्जनाय गच्छामि।' सा प्राह—'भो प्रियतम, मिथ्या प्रलपितमेतद्यदन्यत्र गताना धन भवति स्वस्थाने न भवतीति। उक्त च—

किसी स्थान मे सोमलिक नाम का जुलाहा रहता था। वह तरह-तरह की बुनावट से मनोहर, राजाओ के (पहिनने) योग्य वस्त्र बुना करता था। यद्यपि वह अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने मे चतुर था तथापि भोजन-वस्त्रादि से अधिक थोडा भी धन उसे नही मिलता था। और वहाँ मामूली जुलाहे मोटा (साधारण) कपडा बनाना जानने वाले बडे सम्पन्न थे। उनको देखकर वह पत्नी से बोला—प्रिये! इन मामूली कपडा बनाने वालो को देखो, ये कैसे मालदार (धन और सोने से सम्पन्न हैं)। मेरे लिये यह स्थान उपयुक्त नही, मुझे इस स्थान पर लाभ न होगा, इसलिये मैं कमाने के लिये और जगह जाऊँगा। वह बोली—प्रियतम! यह बात मिथ्या है कि दूसरे स्थान पर जानेवालो को धन मिलता है। कहा भी है—

उत्पतन्ति यदाकाशे निपतन्ति महीतले।
पक्षिणा तदपि प्राप्त्या नादत्तमुपतिष्ठति ॥ १२८ ॥

पक्षी जो आकाश मे उडते और पृथ्वी पर उतरते हैं यह सब उनके पूर्वजन्म मे किये हुये कर्मों के फल के कारण है, बगैर दी हुई कोई वस्तु नही मिलती ॥ १२८ ॥

तथा च—

न हि भवति यन्न भाव्य भवति च भाव्य विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥ १२९ ॥

और भी—जो होनेवाला नही है, वह नही होता। जो होनेवाला है वह बिना किसी यत्न के ही पूरा हो जाता है। जो प्राप्त नही होने वाला है वह हाथ मे आकर भी नष्ट हो जाता है ॥ १२९ ॥

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा पुराकृत कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥ १३० ॥

जिस प्रकार बछडा हजारो गायो मे अपनी माता को पा लेता है (पहिचान कर उसके पास चला जाता है) इसी तरह पूर्व मे किया हुआ कर्म करने वाले के पीछे-पीछे जाता है ॥ १३० ॥

शेते सह शयानेन गच्छन्तमनुगच्छति ।
नराणा प्राक्तन कर्म तिष्ठेत्त्वथ सहात्मना ॥ १३१ ॥

मनुष्यो का पूर्वजन्म मे किया हुआ कर्म, सोते हुए मनुष्य के साथ सोता और चलते हुए के पीछे चलता है, (हमेशा) आत्मा के साथ रहता है ॥१३१॥

यथा छायातपौ नित्य सुसबद्धौ परस्परम् ।
एव कर्म च कर्ता च सश्लिष्टावितरेतरम् ॥ १३२ ॥

जिस प्रकार छाया और धूप आपस मे सदा सम्बद्ध रहते है इसी तरह कर्म और कर्ता एक दूसरे से बँधे रहते हैं ॥ १३२ ॥

तस्मादत्रैव व्यवसायपरो भव।' कौलिक आह—'प्रिये, न सम्यगभिहित भवत्या। व्यवसाय विना कर्म न फलति। उक्त च—

इसीलिये यही व्यापार करो। जुलाहा बोला—प्रिये, तुमने ठीक नही कहा क्योकि व्यवसाय के बिना कर्म फलीभूत नही होता, कहा भी गया है—

यथैकेन न हस्तेन तालिका सप्रपद्यते ।
तथोद्यमपरित्यक्त न फल कर्मण स्मृतम् ॥ १३३ ॥

जिस तरह एक हाथ से ताली नही बजती, इसी तरह उद्योग के बिना कर्म (भाग्य) फल नही दे सकता ॥ १३३ ॥

पश्य कर्मवशात्प्राप्त भोज्यकालेऽपि भोजनम् ।
हस्तोद्यम विना वक्त्रे प्रविशेन्न कथचन ॥ १३४ ॥

देखो—भोजन के समय पूर्व कर्म के कारण प्राप्त हुआ भी भोजन, हाथ की चेष्टा के विना मुख मे प्रविष्ट नही हो सकता ॥ १३४ ॥

तथा च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १३५ ॥

जैसे उपयोगी पुरुष-सिंह को लक्ष्मी प्राप्त होती है। कायर पुरुष दैव-दैव पुकारते हैं। दैव को छोड़कर शक्तिभर पुरुषार्थ करके यत्न करने पर भी यदि सिद्धि की प्राप्ति न हो तो समझना चाहिए कि यत्न करने मे त्रुटि रह गई है पुनः-पुनः पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिए ॥ १३५ ॥

तथा च—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ १३६ ॥

कार्य उद्योग से ही सफल होते हैं केवल मनोरथो से नही, सोते हुए सिंह के मुख मे पशु नही घुसते ॥ १३६ ॥

उद्यमेन विना राजन्न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः ।
कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति ॥ १३७ ॥

हे राजन् ! यत्न के बिना इच्छायें सिद्ध नही होती, आलसी पुरुष ही कहा करते है कि 'जो होना होगा सो हो जायगा' ॥ १३७ ॥

स्वशक्त्या कुर्वतः कर्म न चेत्सिद्धिं प्रयच्छति ।
नोपालभ्यः पुमांस्तत्र दैवान्तरितपौरुषः ॥ १३८ ॥

अपनी शक्त्यनुसार काम करते हुए पुरुष को यदि (काम करना रूप) पुरुषार्थ फल नही देता तो इसमे पुरुष निन्दनीय नही है क्योंकि उसका यत्न भाग्य से नष्ट कर दिया गया है ॥ १३८ ॥

तन्मयाऽवश्यं देशान्तरं गन्तव्यम्।' इति निश्चित्य वर्धमानपुरं गतः । तत्र च वर्षत्रयं स्थित्वा सुवर्णशतत्रयोपार्जनं कृत्वा भूयः स्वगृहं प्रस्थितः । अथार्धपथे गच्छतस्तस्य कदाचिदटव्यां पर्यटतो भगवान् रविरस्तमुपागतः । तदासौ व्यालभयात्स्थूलतरवटस्कन्धमारुह्य यावत्प्रसुप्तस्तावन्निशीथे स्वप्ने द्वौ पुरुषौ रौद्राकारौ परस्परं प्रजल्पन्तावश्रृणोत् । तत्रैक आह—'भो कर्त्तः, त्वं किं सम्यङ्न वेत्सि यदस्य सोमिलकस्य भोजनाच्छादनाभ्यधिका समृद्धिर्नास्ति। तत्किं त्वयास्य सुवर्णशतत्रयं प्रद-

त्तम्।' स आह—'भो कर्मन्, मयावश्य दातव्य व्यवसायिनाम्। तत्र च तस्य परिणितिस्त्वदायत्ता' इति। अथ यावदसौ कौलिक प्रबुद्ध सुवर्णग्रन्थिमवलोकयति तावद्रिक्त पश्यति। तत साक्षेप चिन्तयामास—'अहो, किमेतत् महता कष्टेनोपार्जित वित्त हेलया क्वापि गतम्। तद्व्यर्थ-श्रमोऽकिंचन कथ स्वपत्न्या मित्राणा च मुख दर्शयिष्यामि।' इति निश्चित्य तदेव पत्तन गत। तत्र च वर्षमात्रेणापि सुवर्णशतपञ्चकमु-पार्ज्य भूयोऽपि स्वस्थान प्रति प्रस्थित। यावदर्धपथे भूयोऽटवीगतस्य भगवान्भानुरस्त जगाम। अथ सुवर्णनाशभयात्सुश्रान्तोऽपि न विश्रा-म्यति। केवल कृतगृहोत्कण्ठ सत्वर व्रजति। अत्रान्तरे द्वौ पुरुषौ तादृशौ दृष्टिदेशे समागच्छन्तौ जल्पन्तौ चाशृणोत्। तत्रैक आह—'भोः कर्त, किं त्वयैतस्य सुवर्णशतपञ्चक प्रदत्तम्। तत्किं न वेत्सि, यद्भोज-नाच्छादनाभ्यधिकमस्य किंचिन्नास्ति।' स आह—'भो कर्मन्, मया-वश्य देय व्यवसायिनाम्। तस्य परिणामस्त्वदायत्त। तत्किं मामु-पालभ्यसि।' तच्छ्रुत्वा सोमिलको यावद् ग्रन्थिमवलोकयति ताव-त्सुवर्णं नास्ति। तत पर दुखमापन्नो व्यचिन्तयत्—'अहो, किं मम धनरहितस्य जीवितेन। तदत्र वटवृक्ष आत्मानमुद्वध्य प्राणास्त्यजामि।' एव निश्चित्य दर्भमयी रज्जु विधाय स्वकण्ठे पाश नियोज्य शाखाया-मात्मान निबध्य यावत्प्रक्षिपति तावदेक पुमानाकाशस्थ एवेदमाह—'भो भो सोमिलक, मैव साहस कुरु। अह ते वित्तापहारक। न ते भोजनाच्छादनाभ्यधिका वराटिकामपि सहामि। तद्गच्छ स्वगृह प्रति। अन्यच्च भवदीयसाहसेनाह तुष्ट। तथा मे न स्याद्व्यर्थ दर्शनम्। तत्प्रा-र्थ्यतामभीष्टो वर कश्चित्।' सोमिलक आह—'यद्येव तद्देहि मे प्रभूत धनम्।'। स आह—'भोः, किं करिष्यसि भोगरहितेन धनेन, यतस्तव भोजनाच्छादनाभ्यधिका प्राप्तिरपि नास्ति। उक्त च—

इसलिये मैं अवश्य विदेश को जाऊँगा ऐसा निश्चय कर वर्धमानपुर गया। वहाँ तीन वर्ष रहकर और तीन सौ मोहर (सोने के सिक्के) कमाकर फिर अपने घर को रवाना हुआ। अनन्तर, जब कि वह आधी दूर ही पहुँचा था (आधा मार्ग ही पार किया था) कि जगल मे उसके घूमते हुए भगवान् सूर्य अस्त हो गये। तब वह हिंसक-जन्तुओ के भय से वड के एक मोटे गुद्दे (स्कन्ध) पर चढ कर सो गया। आधी रात के समय, उसने स्वप्न मे भयङ्कर

आकृति के दो पुरुष आपस मे बातचीत करते हुए सुनें। उनमे से एक बोला—हे कर्त ! क्या तुम्हे ठीक ठीक नही मालूम कि इस सोमिलक के (भाग्य मे) खाने-पहिरने से अधिक सम्पत्ति नही है, फिर क्यो तुमने इसे तीन सौ मुहर दी ?' उसने कहा, हे कर्मन् ! (कर्माधिष्ठान देव !) मैं उद्योगी पुरुषो को अवश्य दूँगा, उसकी स्थिति (उसके पास रहना या न रहना) तुम्हारे अधीन है। अनन्तर जब जुलाहा जागा और उसने अपनी सोने की गाँठ देखी तो उसे खाली पाया। तब वह, भाग्य को कोसता हुआ सोचने लगा। यह क्या बात है ? बडे कष्ट से कमाया हुआ धन अचानक कही चला गया। मेरा परिश्रम व्यर्थ हो गया, मेरे पास कुछ भी न रहा। (ऐसी दशा मे) मैं अपनी पत्नी और मित्रो को कैसे मुख दिखाऊँगा। यह निश्चय कर उसी नगर को (लौटा) गया। वहाँ, एक ही वर्ष मे ५०० मोहरें कमाकर फिर भी अपने घर को चला। फिर रास्ते मे जङ्गल मे पहुँचने पर सूर्य अस्त हो गया। (परन्तु) धन नष्ट होने के भय से, थकने पर भी उसने विश्राम नही किया। केवल घर जाने की उत्कण्ठा से जल्दी-जल्दी चलता रहा। इसी समय उसी प्रकार के (जैसे पहिले स्वप्न मे देखे थे) दो आदमी सामने से आते हुए और बातचीत करते हुए सुने। उनमे से एक बोला—हे कर्त ! तूने इसे ५०० मोहरें क्यो दी ? क्या तुझे नही मालूम कि खाने-पहिनने से अधिक इसके भाग्य मे कुछ नही है। उसने कहा—हे कर्मन् ! मुझे उद्योगी पुरुषो को अवश्य देना है, उसका परिणाम (फल) तुम्हारे अधीन है, मुझे क्यो दोष देते हो। यह सुनकर सोमिलक ने जब गाँठ (पोटली) देखी तो उसे खाली पाया। तब अत्यन्त दु खी हो सोचने लगा—मुझ निर्धन के जीने से क्या लाभ ? इसलिये इस बड के पेड मे फाँसी लगाकर प्राण छोडे देता हूँ। यह निश्चय कर, कुशा की रस्सी बना अपने गले मे फासी लगाकर और शाखा मे अपने को बाँधकर ज्यो ही फन्दा खीचना चाहता था त्यो ही एक पुरुष ने, आकाश मे स्थित हुए ही यह कहा—हे सोमिलक ! ऐसा साहस मत कर, तेरा धन चुराने वाला मैं हूँ। मैं भोजन वस्त्रादि से अधिक तेरे पास कौडी भी सहन नही कर सकता, इसलिये अपने घर को चला जा। दूसरी बात यह है कि मैं तुम्हारे साहस से प्रसन्न हूँ तथा मेरा दर्शन व्यर्थ नही हो सकता इसलिये अपना मनचाहा कोई वर मागो। सोमिलक ने कहा—अगर यह बात है तो मुझे बहुत सा धन दो। उसने कहा—भोग रहित (काम मे न आने वाले) धन को

क्या करेगा ? क्योंकि तुझे भोजन वस्त्रादि से अधिक मिलना नहीं है। कहा भी है—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ १३९ ॥

उस लक्ष्मी से क्या लाभ जो केवल पत्नी के समान है। (एक पुरुष की ही भोग्य हो) और जो वेश्या के समान सर्वसाधारण पथिकों के काम में न आवे ॥ १३९ ॥

सोमिलक आह—'यद्यपि तस्य धनस्य भोगो नास्ति, तथापि तद्भवतु। उक्तं च—

सोमिलक ने कहा—यद्यपि भाग्य में भोग नहीं लिखा है। तथापि मैं चाहता हूँ मुझे धन हो। कहा भी है—

कृपणोऽप्यकुलीनोऽपि सज्जनैर्वर्जितः सदा।
सेव्यते स नरो लोके यस्य स्याद्वित्तसंचयः ॥ १४० ॥

जिस पुरुष के पास धन की राशि है वह कञ्जूस, नीच कुल में पैदा हुआ तथा भले आदमियों से परित्यक्त ही क्यों न हो, लोग उसकी सेवा करते हैं ॥१४०॥

तथा च—

शिथिलौ च सुबद्धौ च पततः पततो न वा।
निरीक्षितौ मया भद्रे दश वर्षाणि पञ्च च' ॥ १४१ ॥

हे भद्रे ! मैंने पन्द्रह वर्ष तक लटकते हुए (परन्तु) मजबूती से जुड़े हुए (वृषण) देखे (यह देखने के लिये कि) ये गिरते हैं वा नहीं ? ॥ १४१ ॥

पुरुष आह—'किमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

पुरुष ने कहा—यह क्या बात है ? वह बोला—

कथा ६

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने तीक्ष्णविषाणो नाम महावृषभः प्रतिवसति स्म। स च मदातिरेकात्परित्यक्तनिजयूथः शृङ्गाभ्यां नदीतटानि विदारयन्स्वेच्छया मरकतसदृशानि शष्पाणि भक्षयन्नरण्यचरो बभूव। अथ तत्रैव वने प्रलोभको नाम शृगालः प्रतिवसति स्म। स कदाचित्स्वभार्यया सह नदीतीरे सुखोपविष्टस्तिष्ठति। अत्रान्तरे स तीक्ष्णविषाणो जलार्थं तदेव पुलिनमवतीर्णः। ततश्च तस्य लम्बमानौ वृषणाववलोक्य शृगाल्या

शृगालोऽभिहितः—'स्वामिन्, पश्यास्य वृषभस्य मासपिण्डी लम्बमानौ यथा स्थितौ। तदेतौ क्षणेन प्रहरेण वा पतिष्यत । एव ज्ञात्वा भवता पृष्ठानुयायिना भाव्यम् ।' शृगाल आह—'प्रिये, न ज्ञायते कदाचिदेतयो. पतन भविष्यति वा न वा। तत्कि वृथा श्रमाय मा नियोजयसि। अत्र-स्थस्तावज्जलार्थमागतान्मूषकान्भक्षयिष्यामि सम त्वया, मार्गोऽय यत-स्तेषाम्। `अपर यदि त्वा मुक्त्वास्य तीक्ष्णविषाणस्य वृषभस्य पृष्ठे गमि-ष्यामि, तदागत्यान्य. कश्चिदेतत्स्थान समाश्रयिष्यति। नैतद्युज्यते कर्तुम् । उक्त च—

किसी स्थान मे तीक्ष्णविषाण (तेज पैने सीग वाला) नाम का एक बडा बैल रहता था। उसने बल के घमण्ड से अपने साथियो (झुण्ड) को छोड दिया और सीगो से नदी के किनारे गिराता हुआ इच्छानुकूल मरकतमणि के समान हरी-हरी घास खाता हुआ जगल मे ही रहने लगा। उसी वन मे प्रलोभक नाम का शृगाल रहता था। किसी समय वह पत्नी के साथ नदी के किनारे पर आराम से बैठा हुआ था। उसी समय तीक्ष्ण विषाण पानी (पीने) के लिए उसी बालू के स्थान पर आया। उसके लटकते हुए अण्डकोश देखकर शृगाली ने शृगाल से कहा—स्वामिन् ! देखो, इस बैल के ये मासपिण्ड लटक रहे हैं, ये क्षण भर मे या एक पहर (३ घण्टे) मे गिर पड़ेंगे। यह समझकर आप इसके पीछे लग जाँय। शृगाल ने कहा—'प्रिये ! नही मालूम' ये कभी गिरेंगे वा नही ? इसलिये व्यर्थ मेहनत के लिये मुझे क्यो प्रेरित करती हो, यहाँ पर बैठा हुआ मैं तेरे साथ जल के लिये आये हुए चूहो को खाऊँगा। क्योकि (उनके आने का) यही रास्ता है। और यदि तुमको छोडकर इस तीक्ष्णविषाण बैल के पीछे जाऊँगा तो कोई दूसरा आकर इस स्थान को घेर लेगा। इसलिये यह करना ठीक नही है। कहा भी है—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च' ॥१४२॥

जो मनुष्य निश्चित (जिनके मिलने मे सन्देह नही) वस्तुओ को छोडकर सन्दिग्ध वस्तुओ को खोजता है—उनके पीछे-पीछे घूमता है उसकी निश्चित वस्तुएँ नष्ट हो जाती है—हाथ से जाती रहती है (उनको प्राप्त करने के लिये यत्न न करने से) और अनिश्चित तो (पहिले से ही) नष्ट थी (मिलती नहीं थी)।

श्रृगाल्याह—'भो', कापुरुषस्त्वम्। यत्किंचित्प्राप्त तेनापि सन्तोष करोषि। उक्त च—

श्रृगाली ने कहा—तू नीच आदमी है, क्योकि जो कुछ मिल गया उसी मे सन्तुष्ट हो जाता है। कहा भी है—

सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलि।
ससन्तुष्ट कापुरुष स्वल्पकेनापि तुष्यति॥ १४३॥

छोटी नदी आसानी से भर जाती है, चूहे की अञ्जलि थोडे मे ही भर जाती है। इसी तरह साधारण मनुष्य भी थोडे से ही प्रसन्न हो जाता है॥ १४३॥

तस्मात्पुरुषेण सदैवोत्साहवता भाव्यम्। उक्त च—

इसलिये पुरुष को हमेशा उत्साही होना चाहिए। कहा भी है—

यत्रोत्साहसमारम्भो यत्रालस्यविहीनता।
नयविक्रमसयोगस्तत्र श्रीरचला ध्रुवम्॥ १४४॥

सम्पत्ति वही अचल होकर वास करती है जहाँ उत्साह के साथ काम किये जाते हैं, जहाँ आलस्य का परित्याग है और नीति (कार्यकुशलता) तथा पुरुषार्थ का मेल हो—जहाँ इन दोनो से काम लिया जाता है॥ १४४॥

तद्दैवमिति सचिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मन।
अनुयोग विना तैल तिलाना नोपजायते॥ १४५॥

यह भाग्य ही है (जो काम करता है) यह सोचकर (मनुष्य को) अपना पुरुषार्थ न छोडना जाहिये। (यन्त्र चलाने रूप) पुरुप व्यापार के बिना तिलो का तेल नही बनता॥ १४५॥

अन्यच्च—

य स्तोकेनापि सन्तोष कुरुते मन्दधीर्जन।
तस्य भाग्यविहीनस्य दत्ता श्रीरपि मार्ज्यते॥ १४६॥

जो मूढ थोडे से ही सन्तुष्ट हो जाता है उस भाग्यहीन पुरुष की पाई हुई भी लक्ष्मी नष्ट हो जाती है॥ १४६॥

यच्च त्व वदसि, एतौ पतिष्यतो न वेत्ति, तदप्ययुक्तम्। उक्त च—

और जो तुम कहते हो कि ये गिरेंगे या नही, सो ठीक नही। क्योकि कहा भी है—

कृतनिश्चयिनो वन्द्यास्तुङ्गिमा न प्रशस्यते।
चातक को वराकोऽय यस्येन्द्रो वारिवाहक॥ १४७॥

अपने सङ्कल्प मे न हटने वाले दृढसङ्कल्प पुरुष प्रशसा के योग्य है, ऊँचा पद किसी काम मे नही आता (पाठान्तर मे दृढसङ्कल्प पुरुष की प्रशसनीय उच्चाकाक्षा हमे भली मालूम होती है) बेचारे चातक पक्षी की क्या गणना, (परन्तु दृढता के कारण) इन्द्र भी उसको जल देता है ॥ १८७ ॥

अपर मूषकमासस्य निर्विण्णाहम्। एतौ च मासपिण्डौ पतनप्रायौ दृश्येते। तत्सर्वथा नान्यथा कर्तव्यम्' इति। अथासौ तदाकर्ण्य मूषक-प्राप्तिस्थान परित्यज्य तीक्ष्णविषाणस्य पृष्ठमन्वगच्छत्। अथवा साध्विद-मुच्यते—

और चूहो के मास से मै विरक्त हो गई हूँ—मुझे अरुचि हो गई है। तथा ये मासपिण्ड गिरने ही वाले है। इसलिये अब और कुछ न करो (केवल बैल के पीछे लगो)। अनन्तर शृगाल यह सुनकर चूहो के मिलने के स्थान को छोडकर तीक्ष्णविषाण के पीछे घूमने लगा। यह ठीक ही कहा है—

तावत्स्यात्सर्वकृत्येषु पुरुषोऽत्र स्वय प्रभु ।
स्त्रीवाक्याङ्कुशविक्षुण्णो यावन्नोद्ध्रियते बलात् ॥ १४८ ॥

इस ससार मे मनुष्य तभी तक सब कार्यों मे स्वाधीन है जब तक स्त्री के वचनरूपी अकुश से ताडित होकर रोका नही जाता (उनके वश मे नही होता) ॥ १४८ ॥

अकृत्य मन्यते कृत्यमगम्य मन्यते सुगम्।
अभक्ष्य मन्यते भक्ष्य स्त्रीवाक्यप्रेरितो नर ॥ १४९ ॥

स्त्री के वचन मे प्रेरित हुआ मनुष्य अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य, अगम्य को सुगम और अभक्ष्य को भक्ष्य समझता है ॥ १४९ ॥

एव स तस्य पृष्ठत समार्य परिभ्रमश्चिरकालमनयत्। न च तयो पतनमभूत्। ततश्च निर्वेदात्पञ्चदशे वर्षे शृगाल स्वभार्यामाह—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इत्यादि।

इस प्रकार वह पत्नी सहित उसके पीछे बहुत दिनो तक घूमता रहा। परन्तु वे गिरे नही। तब पन्द्रहवें वर्ष मे शृगाल घबडा कर अपनी पत्नी से बोला—'शिथिलौ' इत्यादि।

तयोस्तत्पश्चादपि पातो न भविष्यति। तत्तदेव स्वस्थान गच्छाव'। अतोऽह ब्रवीमि—'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति। (दे० पृ० ५८)

ये दोनो अण्डकोष पीछे (इसके बाद भी) न गिरेंगे। इसलिये अपने उसी स्थान पर चलें। इसलिये मैं कहता हूँ 'शिथिलौ च सुबद्धौ च' इति।

पुरुष आह—'यद्येव तद्गच्छ भूयोऽपि वर्धमानपुरम्। तत्र द्वौ वणिक्पुत्रौ वसत। एको गुप्तधन, द्वितीय उपभुक्तधन। ततस्तयो स्वरूप बुद्ध्वैकस्य वरः प्रार्थनीय। यदि ते धनेन प्रयोजनमभक्षितेन, ततस्त्वामपि गुप्तधन करोमि। अथवा दत्तभोग्येन धनेन ते प्रयोजन तदुपभुक्तधन करोमि' इति। एवमुक्त्वाऽदर्शन गतः। सोमिलकोऽपि विस्मितमना भूयोऽपि वर्धमानपुर गत। अथ सन्ध्यासमये श्रान्त कथमपि तत्पुर प्राप्तो गुप्तधनगृह पृच्छन्कृच्छ्राल्लब्ध्वास्तमितसूर्ये प्रविष्ट। अथासौ भार्यापुत्रसमेतेन गुप्तधनेन निभर्त्स्यमानो हठाद् गृह प्रविश्योपविष्ट। ततश्च भोजनवेलाया तस्यापि भक्तिवर्जित किञ्चिदशन दत्तम्। ततश्च भुक्त्वा तत्रैव यावत्सुप्तो निशीथे पश्यति तावत्तावपि द्वौ पुरुषौ परस्पर मन्त्रयत.। तत्रैक आह—'भो कर्त, किं त्वयास्य गुप्तधनस्यान्योऽधिको व्ययो निर्मितो यत् सोमिलकस्यानेन भोजन दत्तम्। तदयुक्त त्वया कृतम्।' स आह—'भो कर्मन्, न ममात्र दोष। मया पुरुषस्य लाभप्राप्तिर्दातव्या। तत्परिणति पुनस्त्वदायत्ता' इति। अथासौ यावदुत्तिष्ठति तावद्गुप्तधनो विषूचिकया खिद्यमानो रुजाभिभूत क्षण तिष्ठति। ततो द्वितीयेऽह्नि तद्दोषेण कृतोपवास सजात। सोमिलकोऽपि प्रभाते तद्गृहान्निष्क्रम्योपभुक्तधनगृह गत। तेनापि चाभ्युत्थानादिना सत्कृतो विहितभोजनाच्छादनसम्मानस्तस्यैव गृहे भव्यशय्यामारुह्य सुष्वाप। ततश्च निशीथे आह—'भो कर्त, अनेन सोमिलकस्योपकार कुर्वता प्रभूतो व्यय कृत। तत्कथय कथमस्योद्धारक-विधिर्भविष्यति। अनेन सवमेतद्व्यवहारकगृहात्समानीतम्।' स आह—'भो कर्मन्, मम कृत्यमेतत्। परिणतिस्त्वदायत्ता' इति। अथ प्रभात-समये राजपुरुषो राजप्रसादज वित्तमादाय समायात उपभुक्तधनाय समर्पयामास। तद्दृष्ट्वा सोमिलकश्चिन्तयामास—'सञ्चयरहितोऽपि वरमेष उपयुक्तधन., नासौ कदर्यो गुप्तधनः। उक्त च—

पुरुष ने कहा—'अगर यह बात है तो फिर वर्धमानपुर को जाओ। वहाँ दो वैश्य-पुत्र रहते हैं, एक गुप्तधन और दूसरा उपभुक्तधन। उन दोनो का असलीपन (वह रीति जिससे वे धन को काम मे लाते हैं)

जानकर उनमे से एक को पसन्द कर लेना। यदि तुम अनुपभुक्त धन चाहोगे तो तुम्हे भी गुप्तधन कर दूँगा। और यदि दान तथा भोग के योग्य धन चाहोगे तो उपभुक्त धन बना दूँगा। यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया (छिप गया) सोमिलक भी आश्चर्य मे पड फिर वर्धमान नगर को गया। सायकाल के समय थका-थकाया किसी प्रकार उस नगर मे पहुँचा और गुप्तधन का घर पूछता हुआ सूर्यास्त के बाद किसी प्रकार (उसका घर) पाकर उसमे प्रविष्ट हुआ। पत्नी तथा पुत्र सहित गुप्तधन ने उसे धमकाकर (बाहर निकालना चाहा) परन्तु वह जबर्दस्ती घुस कर बैठ गया। तब उन्होने भोजन के समय अनादर पूर्वक उसको भी कुछ भोजन दे दिया। वही खाकर तथा सोकर आधी रात के समय उसन उन्ही दो पुरुषो को बातचीत करते हुए देखा। उनमे से एक ने कहा—'हे कर्त ! तुमने इस गुप्तधन का अधिक (प्रतिदिन से अधिक) व्यय कर दिया, क्योकि इसने सोमिलक को भोजन दिया है। यह तुमने ठीक नही किया।' वह बोला—हे कर्मन् ! पुरुष को उचित लाभ पहुँचाना मेरा काम है और उसका परिणाम तो तुम्हारे अधीन है। सो जब वह उठा तब गुप्तधन विसूचिका से पीडित हो दर्द से व्याकुल हो रहा था। तब दूसरे दिन इस बीमारी के कारण उसने उपवास किया (इस प्रकार कर्म ने सोमिलक को कराये हुए भोजन की कमी पूरी कर दी)। सोमिलक भी प्रात काल उसके घर से निकल कर उपभुक्तधन के घर गया। उसने उठकर (अगवानी से) सत्कार किया, वह भोजन-वस्त्रादि से सत्कार पा सुन्दर शय्या पर उसी के घर सो गया। तब अर्धरात्रि मे उन्ही दो पुरुषो को आपस मे बातचीत करते हुए देखा। उनमे से एक ने कहा—हे कर्त ! इसने सोमिलक का उपकार (सत्कार) करके बहुत खर्च कर दिया है, यह किस तरह पूरा किया जायेगा। यह सब इसने दूकानदार से मँगवाया है। वह बोला—हे कर्मन्, यह मेरा कर्तव्य है, परिणाम तुम्हारे अधीन है। प्रात काल राज-पुरुष राजा की प्रसन्नता का (इनाम) धन लेकर आया और वह उपभुक्तधन को दे दिया। यह देख सोमिलक ने सोचा—सचय (सग्रह) न करने वाले यह उपभुक्तधन ही अच्छा है न कि वह कञ्जूस गुप्तधन। कहा भी है—

अग्निहोत्रफला वेदा शीलवित्तफल श्रुतम्।
रतिपुत्रफला दारा दत्तभुक्तफल धनम् ॥ १५० ॥

वेदो (वेदाध्ययन) का फल अग्निहोत्र है, शास्त्रज्ञान से आचार तथा धन

की प्राप्ति होती है, आनन्द और पुत्रप्राप्ति के लिये विवाह किया जाता है, दान करने तथा भोगने के लिये धन होता है ॥ १५० ॥

तद्विधाता मा दत्तभुक्तफल करोतु । न कार्यं मे गुप्तधनेन ।' ततः सोमिलको दत्तभुक्तधन सजातः । अतोऽह ब्रवीमि—'अर्थस्योपार्जनं कृत्वा' इति (दे० पृ० ५२)। तद्भद्र हिरण्यक, एव ज्ञात्वा धनविषये सन्तापो न कार्यः । अथ विद्यमानमपि धन भोज्यबन्ध्यतया तदविद्यमान मन्तव्यम् । उक्त च—

इसलिये विधाता मुझे दत्तभुक्तधन (जिसका धन दान और भोग मे काम आवे) कर दे, मुझे गुप्त (काम मे न आनेवाले) धन से कोई मतलब नही—मैं गुप्तधन होना नही चाहता। इसलिये मैं कहता हूँ 'अर्थस्योपार्जनम्' इत्यादि ।

सो मित्र हिरण्यक ! ऐसा जानकर तुम धन के लिए सन्ताप मत करो। विद्यमान रहता हुआ भी जो धन भोग मे न आ सके उसको नही के बराबर समझना चाहिए। कहा भी है—

गृहमध्यनिखातेन धनेन धनिनो यदि ।
भवाम किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥ १५१ ॥

घर के बीच मे गाडे हुए धन से यदि मनुष्य धनवान् समझे जाते है तो हम भी उसी धन से धनवान् क्यों न होवें ? (भोग न करना दोनो के लिए समान है) ॥ १५१ ॥

तथा च—

उपार्जितानामर्थाना त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसस्थाना परीवाह इवाम्भसाम् ॥ १५२ ॥

कमाये हुए धनो का दान ही उसकी रक्षा है जिस प्रकार कि तालाब मे भरे हुए जल का परिवाह—नाली के द्वारा निकाला जाना ही (उसकी रक्षा है) तात्पर्य यह है कि—जिस प्रकार तालाब मे भरे हुए जल को नाली के द्वारा यदि न निकाला जाय तो वह सडकर विकृत हो जायेगा और उससे आसपास के मनुष्यो की हानि होगी। उसी तरह दान न दिया हुआ धन अजीर्ण बनकर धनी को पाप कर्मों मे लिप्तकर उसका विनाश कर देगा ॥ १५२ ॥

दातव्य भोक्तव्य धनविषये सञ्चयो न कर्तव्य ।
पश्येह मधुकरीणा सञ्चितमर्थं हरन्त्यन्ये ॥ १५३ ॥

धन का दान और भोग करना चाहिये, सञ्चय न करना चाहिये। देखो—मधुमक्षिकाओ के सग्रह किये हुए मधुरूप धन को दूसरे लोग हर ले जाते हैं ॥ १५३ ॥

अन्यच्च—

दान भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १५४ ॥

दान, भोग और नाश, धन की ये तीन दशायें होती है। जो मनुष्य न देता है और न भोगता है उसकी (उसके धन की) तीसरी दशा (नाश) होती है ॥ १५४ ॥

एव ज्ञात्वा विवेकिना न स्थित्यर्थं वित्तोपार्जन कर्तव्यम्, यतो दु:खाय तत्। उक्त च—

ऐसा जानकर ज्ञानियो को घर मे गाडने के लिए धनोपार्जन नही करना चाहिए। क्योकि वह धन दु:खदायी होता है, कहा भी है—

धनादिकेषु विद्यन्ते येऽत्र मूर्खाः सुखाशयाः।
तप्तग्रीष्मेण सेवन्ते शैत्यार्थं ते हुताशनम् ॥ १५५ ॥

जो मूर्ख, धन आदि भोग्य वस्तुओ मे सुख की आशा करते हैं, वे धूप से सन्तप्त होकर शीतलता के लिये अग्नि का सेवन करते हैं ॥ १५५ ॥

सर्पा पिबन्ति पवन न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दै फलैर्मुनिवरा गमयन्ति काल
सन्तोष एव पुरुषस्य पर निधानम् ॥ १५६ ॥

सर्प वायु पीते हैं (वायु पर जीवन व्यतीत करते हैं) परन्तु वे दुर्बल नही होते, जगली हाथी सूखी घास खाकर बलवान् होते हैं, मुनि लोग कन्द फल खाकर ही समय बिता देते है। इसलिए पुरुष के लिए सन्तोष ही उत्तम खजाना है ॥ १५६ ॥

सतोषामृततृप्ताना यत्सुख शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥ १५७ ॥

धन के लोभी, अतएव (उसकी प्राप्ति के लिए) इधर-उधर भटकने वाले पुरुषो को वह सुख कहाँ मिल सकता है, जो सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त हुए शान्तचित्त वाले पुरुषो को प्राप्त होता है ॥ १५७ ॥

पीयूषमिव सतोषं पिबता निर्वृतिः परा।
दु ख निरन्तर पुसामसतोषवता पुन ॥ १५८ ॥

अमृततुल्य सन्तोष का पान करने वाले पुरुषो को महान् आनन्द होता है लेकिन असन्तोषी जनो को लगातार दु ख ही होता रहता है ॥ १५८ ॥

निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्ना स्युर्गभस्तय ॥ १५९ ॥

मन को वश मे करने से सभी इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो जाती हैं, जैसे कि मेघो द्वारा सूर्य के ढके जाने पर उसकी किरणें भी तिरोहित हो जाती हैं ॥१५९॥

वाञ्छाविच्छेदन प्राहु. स्वास्थ्य शान्ता महर्षय ।
वाञ्छा निवर्तते नार्थै पिपासेवाग्निसेवनै ॥ १६० ॥

शान्त ऋषियो ने इच्छाओ की निवृत्ति को ही मन को शान्ति कहा है। जैसे अग्निसेवन से प्यास नही मिटती उसी तरह इच्छा की निवृत्ति धन से नही होती ॥ १६० ॥

अनिन्द्यमपि निन्दन्ति स्तुवन्त्यस्तुत्यमुच्चकै ।
स्वापतेयकृते मर्त्या किं किं नाम न कुर्वते ॥ १६१ ॥

धन के लिए मनुष्य अनिन्दनीय पुरुषो की निन्दा करते और जो प्रशसा के योग्य नही हैं उनकी प्रशसा करते हैं। धन के लिए लोग क्या नही करते ? अर्थात् सब कुछ करते हैं ॥ १६१ ॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शन वरम् ॥ १६२ ॥

धर्म कार्यों के लिए भी जो मनुष्य धन (कमाना) चाहता है, उसकी यह इच्छा भी उत्तम नही है, क्योकि कीचड लगाकर धोने की अपेक्षा उसका दूर से (भी) न छूना ही अच्छा है ॥ १६२ ॥

दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपु पृथिव्याम्।
विभूषण शीलसम न चान्यत्
सतोपतुल्य धनमस्ति नान्यत् ॥ १६३ ॥

ससार मे दान के समान दूसरा कोई खजाना नही, लोभ के समान दूसरा कोई शत्रु नही, सदाचार के समान कोई भूपण नही और सन्तोप के समान दूसरा कोई धन नही है ॥ १६३ ॥

दारिद्र्यस्य परा भूतिर्यन्मानद्रविणाल्पता ।
जरद्गववन. शर्वस्तथापि परमेश्वर ॥ १६४ ॥

मानरूपी धन की न्यूनता (अभाव) ही दरिद्रता का अन्तिम स्वरूप है । क्योंकि शम्भु के पास धन के नाम से एक बूढा बैल ही है फिर भी वे परमेश्वर समझे जाते हैं ॥ १६४ ॥

सकृत्कन्दुकपातेन पतत्यार्यं पतन्नपि ।
तथा पतति मूर्खस्तु मृत्पिण्डपतन यथा ॥ १६५ ॥

सज्जन पुरुष गिरते हुए भी गेंद के समान गिरते हैं—गिरकर फिर उठते है। परन्तु मूर्ख मिट्टी के ढेले के समान गिरता है—गिरता है तो उठता नही ॥१६५॥

एव ज्ञात्वा भद्र, त्वया सतोष कार्य ' इति । मन्थरकवचनमाकर्ण्य वायस आह—'भद्र, मन्थरको यदेव वदति तत्त्वया चित्ते कर्तव्यम् । अथवा सा ध्वदमुच्यते—

हे भद्र ! यह जानकर तुम्हें सन्तोष करना चाहिये । मन्थरक के ये वचन सुनकर कौआ बोला—मन्थरक, जो ऐसा कह रहा है वह तुम्हे ध्यान मे रखना चाहिये । अथवा यह सत्य ही कहा है—

सुलभा पुरुषा राजन् सतत प्रियवादिन ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ ॥ १६६ ॥

हे राजन् ! हमेशा प्रिय बोलनेवाले (खुशामदी) पुरुष आसानी से मिल जाते हैं । परन्तु हितकारी अप्रिय वचन के प्रवक्ता और श्रोता दोनो ही दुर्लभ हैं ॥ १६६ ॥

अप्रियाण्यपि पथ्यानि ये वदन्ति नृणामिह ।
त एव सुहृद प्रोक्ता अन्ये स्युर्नामधारका ॥ १६७ ॥

इस लोक मे जो मनुष्य अप्रिय लगनेवाले (परन्तु) हितकर वचन कहते हैं वे ही सच्चे मित्र कहे जाते हैं और लोग तो नाममात्र के ही मित्र होते हैं ॥ १६७ ॥

अथैव जल्पता तेषा चित्राङ्गो नाम हरिणो लुब्धकत्रासितस्तस्मिन्नेव सरसि प्रविष्ट । अथायान्त ससभ्रममवलोक्य लघुपतनको वृक्षमारूढ । हिरण्यको निकटवर्तिन शरस्तम्ब प्रविष्ट । मन्थरक सलिलाशयमास्थित । अथ लघुपतनको मृग सम्यक्परिज्ञाय मन्थरकमुवाच—'एह्येहि सखे मन्थरक, मृगोऽय तृषार्तोऽत्र समायात सरसि'

प्रविष्ट, तस्य शब्दोऽय न मानुषसभव' इति। तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह—'भो लघुपतनक, यथायं मृगो दृश्यते प्रभूतमुच्छ्वा-समुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति, तन्न तृषार्त एष, नून लुब्धकत्रासित। तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा' इति। उक्त च—

जिस समय वे इस प्रकार बातचीत कर रहे थे उसी समय चित्राङ्ग नामक हरिण शिकारियो से डरा हुआ उस तालाब मे घुसा। उसको आता हुआ देख घबडाकर लघुपतनक जल्दी से वृक्ष पर चढ गया, हिरण्यक समीपवर्ती सरपत (मूँज) की झाडी मे घुस गया और मन्थरक तालाब मे प्रविष्ट हो गया। अनन्तर लघुपतनक ने मृग को अच्छी तरह जानकर मन्थरक से कहा—'मित्र मन्थरक! आओ आओ! यह हरिण अधिक प्यासित होकर तालाब मे घुसा है, उसी का यह शब्द है, किसी मनुष्य का नही।' यह सुनकर मन्थरक देशकाल के अनुसार बोला—'हे लघुपतनक! जैसा यह मृग दिखाई पडता है कि लम्बी-लम्बी वेग से श्वास ले रहा है और घबडाई हुई दृष्टि से पीछे की तरफ देख रहा है, इससे मालूम पडता है कि यह प्यासा नही है किन्तु शिकारियो से डरा हुआ है। इसलिये देखो, इसके पीछे व्याध आते है या नही?' कहा भी है—

'भयत्रस्तो नर श्वास प्रभूत कुरुते मुहु।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्य व्रजति क्वचित्' ॥ १६८ ॥

भयभीत हुआ पुरुष बारम्बार लम्बी सास लेता और चारो ओर देखता है तथा कही भी उसे शान्ति नही मिलती ॥ १६८ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक, ज्ञात त्वया सम्यड् मे त्रासकारणम्। अह लुब्धकशरप्रहारादुद्धारित कृच्छ्रेणात्र समायात। मम यूथ तैर्लुब्धकैर्व्यापादित भविष्यति। तच्छरणागतस्य मे दर्शय किञ्चिदगम्य स्थान लुब्धकानाम्। तदाकर्ण्य मन्थरक आह—'भो-श्चित्राङ्ग, श्रूयता नीतिशास्त्रम्—

यह सुनकर चित्राङ्ग बोला—हे मन्थरक! तुमने मेरे भय का कारण ठीक-ठीक समझ लिया है। मैं व्याध के बाण के प्रहार से बचकर बडी कठिनता से आया हूँ। मेरे झुण्ड (मेरे साथी) को उन शिकारियो ने मार डाला होगा। मैं तुम्हारी शरण मे आया हूँ, मुझे कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ शिकारियो की पहुँच न हो। यह सुन मन्थरक बोला—हे चित्राङ्ग! नीतिशास्त्र की बात सुनो—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने ।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीय पादवेगज ॥ १६९ ॥

शत्रु का सामना होने पर उससे बचने के दो उपाय नीतिशास्त्र मे कहे है । एक तो हाथो को चलाना—होशियारी से अस्त्र चलाना और दूसरा पैरो मे वेग होना (भागना) ॥ १६९ ॥

तद्गम्यता शीघ्र सघन वनम्, यावदद्यापि नागच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धका ।' अत्रान्तरे लघुपतनक सत्वरमभ्युपेत्योवाच—'भो मन्थरक, गतास्ते लुब्धका स्वगृहोन्मुखा प्रचुरमासपिण्डधारिण । तच्चित्राङ्ग, त्व विश्रब्धो वनाद्बहिर्भव । ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात्सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्त सुखेन कालं नयन्ति । अथवा युक्तमेतदुच्यते—

इसलिए, शीघ्र ही घने वन मे चले जाओ । जब तक यहाँ भी वह दुष्ट शिकारी न आ जाय । इसी समय लघुपतनक ने जल्दी से आकर कहा—हे मन्थरक ? बहुत सा मास लिया हुआ वह शिकारी अपने घर की तरफ चला गया । इसलिये हे चित्राङ्ग ! तुम नि शङ्क हो जल से बाहर आओ । तब वे चारो ही आपस मे मित्रभाव से उस तालाब के किनारे रहने लगे और दोपहर के समय वृक्ष के नीचे आपस मे मनोहर विषयो पर वार्तालाप का सुख भोगते हुए आनन्द से समय बिताने लगे । यह ठीक ही कहा है—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुका ।
विनापि सगम स्त्रीणा सुधिय सुखमासते ॥ १७० ॥

वे विद्वान् पुरुष जिन्होने मनोहर विषयो पर वार्तालाप के आनन्दानुभव से उत्पन्न रोमाञ्चरूपी कञ्चुक (कुर्ता) धारण किया है, वे स्त्री के साथ सम्भोग के बिना भी सुख से रहते हैं ॥ १७० ॥

सुभाषितमयद्रव्यसग्रह न करोति यः ।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु का प्रदास्यति दक्षिणाम् ॥ १७१ ॥

जो पुरुष सुभाषितरूपी धन का सग्रह नही करता वह प्रस्ताव—परस्पर वार्तालाप—रूपी यज्ञो मे क्या दक्षिणा देगा ?—किस प्रकार सभ्य पुरुषो को प्रसन्न कर सकेगा ॥ १७१ ॥

तथा च—सकृदुक्त न गृह्णाति स्वय वा न करोति य ।
यस्य सपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ॥ १७२ ॥

प्रविष्ट, तस्य शब्दोऽय न मानुषसभव' इति। तच्छ्रुत्वा मन्थरको देशकालोचितमाह—'भो लघुपतनक, यथायं मृगो दृश्यते प्रभूतमुच्छ्वासमुद्वहन्नुद्भ्रान्तदृष्ट्या पृष्ठतोऽवलोकयति, तन्न तृषार्त एष, नून लुब्धकत्रासित। तज्ज्ञायतामस्य पृष्ठे लुब्धका आगच्छन्ति न वा' इति। उक्त च—

जिस समय वे इस पकार बातचीत कर रहे थे उसी समय चित्राङ्ग नामक हरिण शिकारियो से डरा हुआ उस तालाब मे घुसा। उसको आता हुआ देख घबडाकर लघुपतनक जल्दी से वृक्ष पर चढ गया, हिरण्यक समीपवर्ती सरपत (मूंज) की झाडी मे घुस गया और मन्थरक तालाब मे प्रविष्ट हो गया। अनन्तर लघुपतनक ने मृग को अच्छो तरह जानकर मन्थरक से कहा—'मित्र मन्थरक! आओ आओ! यह हरिण अधिक प्यासित होकर तालाब मे घुसा है, उसी का यह शब्द है, किसी मनुष्य का नही।' यह सुनकर मन्थरक देशकाल के अनुसार बोला—'हे लघुपतनक! जैसा यह मृग दिखाई पडता है कि लम्बी-लम्बी वेग से श्वास ले रहा है और घबडाई हुई दृष्टि से पीछे की तरफ देख रहा है, इससे मालूम पडता है कि यह प्यासा नही है किन्तु शिकारियो से डरा हुआ है। इसलिये देखो, इसके पीछे व्याध आते हैं या नही?' कहा भी है—

'भयत्रस्तो नर श्वास प्रभूत कुरुते मुहु।
दिशोऽवलोकयत्येव न स्वास्थ्य व्रजति क्वचित्' ॥ १६८ ॥

भयभीत हुआ पुरुष बारम्बार लम्बी सास लेता और चारो ओर देखता है तथा कही भी उसे शान्ति नही मिलती ॥ १६८ ॥

तच्छ्रुत्वा चित्राङ्ग आह—'भो मन्थरक, ज्ञात त्वया सम्यङ् मे त्रासकारणम्। अह लुब्धकशरप्रहारादुद्धारित कृच्छ्रेणात्र समायात। मम यूथ तैर्लुब्धकैर्व्यापादित भविष्यति। तच्छरणागतस्य मे दर्शय किञ्चिदगम्य स्थान लुब्धकानाम्। तदाकर्ण्य मन्थरक आह—'भोश्चित्राङ्ग, श्रूयता नीतिशास्त्रम्—

यह सुनकर चित्राङ्ग बोला—हे मन्थरक! तुमने मेरे भय का कारण ठीक-ठीक समझ लिया है। मैं व्याध के बाण के प्रहार से बचकर बडी कठिनता से आया हूँ। मेरे झुण्ड (मेरे साथी) को उन शिकारियो ने मार डाला होगा। मैं तुम्हारी शरण मे आया हूँ, मुझे कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ शिकारियो की पहुँच न हो। यह सुन मन्थरक बोला—हे चित्राङ्ग! नीतिशास्त्र की बात सुनो—

द्वावुपायाविह प्रोक्तौ विमुक्तौ शत्रुदर्शने।
हस्तयोश्चालनादेको द्वितीय पादवेगज ॥ १६९ ॥

शत्रु का सामना होने पर उससे बचने के दो उपाय नीतिशास्त्र मे कहे है। एक तो हाथो को चलाना—होशियारी से अस्त्र चलाना और दूसरा पैरो मे वेग होना (भागना) ॥ १६९ ॥

तद्गम्यता शीघ्र सघन वनम्, यावदद्यापि नागच्छन्ति ते दुरात्मानो लुब्धकाः।' अत्रान्तरे लघुपतनक सत्वरमभ्युपेत्योवाच—'भो मन्थरक, गतास्ते लुब्धका स्वगृहोन्मुखा प्रचुरमासपिण्डधारिण। तच्चित्राङ्ग, त्व विश्रब्धो वनाद्बहिर्भव। ततस्ते चत्वारोऽपि मित्रभावमाश्रितास्तस्मिन्सरसि मध्याह्नसमये वृक्षच्छायाया अधस्तात्सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवन्त. सुखेन कालं नयन्ति। अथवा युक्तमेतदुच्यते—

इसलिए, शीघ्र ही घने वन मे चले जाओ। जब तक यहाँ भी वह दुष्ट शिकारी न आ जाय। इसी समय लघुपतनक ने जल्दी से आकर कहा—हे मन्थरक ? बहुत सा मास लिया हुआ वह शिकारी अपने घर की तरफ चला गया। इसलिये हे चित्राङ्ग ! तुम नि शङ्क हो जल से बाहर आओ। तब वे चारो ही आपस मे मित्रभाव से उस तालाब के किनारे रहने लगे और दोपहर के समय वृक्ष के नीचे आपस मे मनोहर विषयो पर वार्तालाप का सुख भोगते हुए आनन्द से समय बिताने लगे। यह ठीक ही कहा है—

सुभाषितरसास्वादबद्धरोमाञ्चकञ्चुका।
विनापि सगम स्त्रीणा सुधिय सुखमासते ॥ १७० ॥

वे विद्वान् पुरुष जिन्होने मनोहर विषयो पर वार्तालाप के आनन्दानुभव से उत्पन्न रोमाञ्चरूपी कञ्चुक (कुर्ता) धारण किया है, वे स्त्री के साथ सम्भोग के बिना भी सुख से रहते हैं ॥ १७० ॥

सुभाषितमयद्रव्यसग्रह न करोति य.।
स तु प्रस्तावयज्ञेषु का प्रदास्यति दक्षिणाम् ॥ १७१ ॥

जो पुरुष सुभाषितरूपी धन का सग्रह नही करता वह प्रस्ताव—परस्पर वार्तालाप—रूपी यज्ञो मे क्या दक्षिणा देगा ?—किस प्रकार सभ्य पुरुषो को प्रसन्न कर सकेगा ॥ १७१ ॥

तथा च—सकृदुक्त न गृह्णाति स्वय वा न करोति य।
यस्य सपुटिका नास्ति कुतस्तस्य सुभाषितम् ॥ १७२ ॥

जो पुरुष एक बार कहे हुए (उच्चारण किये हुए वचन) को धारण नही कर सकता, जो स्वय सूक्तियो का निर्माण नही कर सकता और जिसके पास सूक्तियो का सग्रह नही है—जिसे सूक्तियाँ याद नही हैं—वह पुरुष सुभाषित नही कह सकता ॥ १७२ ॥

अथैकस्मिन्नहनि गोष्ठीसमये चित्राङ्गो नायात । अथ ते व्याकुलीभूता परस्पर जल्पितुमारब्धा —'अहो, किमद्य सुहृन्न समायात । किं सिंहादिभि क्वापि व्यापादित, उत लुब्धकै, अथवा अनले प्रपतितो गर्ते विषमे वा नवतृणलौल्यात्' इति । अथवा साध्विदमुच्यते—

एक दिन गोष्ठी के समय चित्राग नही आया । तब वे सब व्याकुल होकर परस्पर कहने लगे—अहो ! आज हम लोगो के मित्र चित्राग क्यो नही आये ? क्या उन्हे कही सिंहादि ने तो नही मार डाला या व्याधो ने तो कही पकड नही लिया या अग्नि मे तो नही जल मरा अथवा हरी घासो के लोभ से किसी गहरे गड्ढे मे तो नहीं गिर गया । अथवा सत्य ही कहा है—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धै पाप विशङ्क्यते मोहात् ।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ॥ १७३ ॥

बन्धु लोग प्रीति के कारण अपने घर के बगीचे मे भी गए हुए मित्र के लिए (तरह तरह के) अनिष्ट की आशङ्का किया करते हैं । फिर यदि वह (मित्र) ऐसे जङ्गल मे स्थित हो, जहाँ अनेक प्रकार के सङ्कट देखे गये हो और जो भयावह हो तो उसके विषय मे कहना ही क्या है ? ॥ १७३ ॥

अथ मन्थरको वायसमाह—'भो लघुपतनक, अह हिरण्यकश्च तावद्द्वावप्यशक्तौ तस्यान्वेषण कर्तुं मन्दगतित्वात् । तद्गत्वा त्वमरण्य शोधय यदि कुत्रचित्त जीवन्त पश्यसि' इति । तदाकर्ण्य लघुपतनको नातिदूरे यावद्गच्छति तावत्पल्वलतीरे चित्राङ्ग कूटपाशनियन्त्रितस्तिष्ठति । त दृष्ट्वा शोकव्याकुलितमनास्तमवोचद्—'भद्र, किमिदम् ।' चित्राङ्गोऽपि वायसमवलोक्य विशेषेण दु खितमना बभूव । अथवा युक्तमेतत् ।

मन्थरक ने कौवे से कहा—हे लघुपतनक ! मैं और हिरण्यक दोनो ही धीरे-धीरे चलने के कारण उनकी तलाश करने मे असमर्थ हैं इसलिये तुम जाकर जङ्गल मे ढूँढो, कदाचित् वे जिन्दा मिल जावें । यह सुनकर लघुपतनक ज्योही कुछ दूर पहुँचा त्योंही तलैया के किनारे फन्दे में फँसा हुआ चित्राङ्ग

(दिखाई पडा) उसे देखकर शोक से व्याकुल मन हो उससे बोला—'भद्र ! यह क्या है ? (यह कैसे हुआ ?) चित्राङ्ग भी कौए को देखकर पहिले से भी अधिक दु खी हुआ । क्योकि यह ठीक ही है—

अपि मन्दत्वमापन्नो नष्टो वापीष्टदर्शनात् ।
प्रायेण प्राणिना भूयो दु खावेगोऽधिको भवेत् ॥ १७४ ॥

लघुता प्राप्त होने या नष्ट होने पर प्राणियो के शोक का वेग, प्रियजनो के दर्शन से और भी अधिक बढ जाता है ॥ १७४ ॥

ततश्च बाष्पावसाने चित्राङ्गो लघुपतनकमाह—'भो मित्र, सजातोऽय तावन्मम मृत्यु । तद्युक्त सपन्न यद्भवता सह मे दर्शन सजातम् । उक्त च—

तव आँसुओ को अन्त मे रोककर चित्राङ्ग ने लघुपतनक से कहा—हे मित्र ! मेरी मृत्यु तो हो ही गई—मेरी मृत्यु तो उपस्थित ही हुई, अत यह अच्छा हुआ कि आपके दर्शन हो गये । कहा भी है—

प्राणात्यये समुत्पन्ने यदि स्यान्मित्रदर्शनम् ।
तद्द्वाभ्या सुखद पश्चाज्जीवतोऽपि मृतस्य च ॥ १७५ ॥

प्राणो का नाश (मृत्यु) उपस्थित होने पर यदि मित्र के दर्शन हो तो वह दोनो प्रकार से सुखदायी होता है—चाहे फिर जीवित रहे या मृत्यु हो जाय ॥ १७५ ॥

तत्क्षन्तव्य यन्मया प्रणयात्सुभाषितगोष्ठीष्वभिहितम् । तथा हिरण्यकमन्थरकौ मम वाक्याद्वाच्यौ—

सो प्रणय के कारण सुभाषित गोष्ठियो मे मैंने जो कुछ कहा उसे क्षमा करना और मेरी ओर से हिरण्यक तथा मन्थरक से कहना—

अज्ञानाज्ज्ञानतो वापि दुरुक्त यदुदाहृतम् ।
तत्क्षन्तव्य युवाभ्या मे कृत्वा प्रीतिपर मन ॥ १७६ ॥

जाने या बिना जाने जो अप्रिय वचन मैंने कहे हो, आप लोग उसे प्रीति पूर्ण मन से क्षमा कर देंगे ॥ १७६ ॥

तच्छ्रुत्वा लघुपतनक आह—भद्र, न भेतव्यमस्मद्विधैर्मित्रैर्विद्यमाने । यावदह द्रुततर हिरण्यक गृहीत्वाऽऽगच्छामि । अपर ये सत्पुरुषा भवन्ति ते व्यसने न व्याकुलत्वमुपयान्ति । उक्त च—

यह सुनकर लघुपतनक बोला—भद्र ! हमारे जैसे मित्रो के जीवित रहते

हुए मत डरो। मैं शीघ्र ही हिरण्यक को लेकर आता हूँ। दूसरी बात यह भी है कि धैर्यशाली सत्पुरुष, विपत्ति मे घबडाते नही हैं। कहा भी है—

'सपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
त भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुत विरलम्' ॥ १७७॥

जिस पुरुष को सपत्ति मे हर्ष विपत्ति मे विषाद और युद्ध मे कायरता नही आती ऐसे त्रिलोक श्रेष्ठ पुत्र को माता विरल ही उत्पन्न करती है ॥ १७७॥

एवमुक्त्वा लघुपतनकश्चित्राङ्गमाश्वास्य यत्र हिरण्यकमन्थरकौ तिष्ठतस्तत्र गत्वा सर्वं चित्राङ्गपाशपतन कथितवान्। हिरण्यक च चित्राङ्गपाशमोक्षण प्रति कृतनिश्चय पृष्ठमारोप्य भूयोऽपि सत्वर चित्राङ्गसमीपे गत। सोऽपि मूषकमवलोक्य किञ्चिज्जीविताशया सश्लिष्ट आह—

यह कहकर चित्राग को समझा-बुझाकर लघुपतनक वहाँ गया जहाँ हिरण्यक और मथरक बैठे थे। वहाँ जाकर चित्राग के पाश-बन्धन का समाचार कहा। (यह सुनकर) मित्र चित्राग के पाश-बन्धन को काटने के लिए उद्यत हिरण्यक को अपनी पीठ पर लादकर लघुपतनक शीघ्रता से चि ाग के समीप पहुँचा। चित्राग ने अपने मित्र चूहा को देखकर जीने की आशा से बोला—

'आपन्नाशाय विबुधै कर्तव्या सुहृदोऽमला।
न तरत्यापद कश्चिद्योऽत्र मित्रविवर्जित ॥ १७८॥

विपत्ति का नाश करने के लिए विद्वानो को अच्छे मित्र करना चाहिए। जो मित्रो से हीन रहता है, वह विपत्ति को सरलता से पार नही कर सकता ॥ १७८॥

हिरण्यक आह—'भद्र, त्व तावन्नीतिशास्त्रज्ञो दक्षमति। तत्कथमत्र कूटपाशे पतित।' स आह—'भो, न कालोऽय विवादस्य। तन्न यावत्स पापात्मा लुब्धक समभ्येति यावद्द्रुततर कर्तव्येम मत्पादपाशम्।' तदाकर्ण्य विहस्याह हिरण्यक—'किं मय्यपि समायाते लुब्धकाद् बिभेषि। तत' शास्त्र प्रति महती मे विरक्ति सपन्ना, यद्भवद्विधा अपि नीतिशास्त्रविद एनामवस्था प्राप्नुवन्ति। तेन त्वा पृच्छामि।' स आह—'भद्र, कर्मणा बुद्धिरपि हन्यते। उक्त च—

हिरण्यक ने कहा—भद्र! तुम तो नीतिशास्त्र के जाननेवाले तथा चतुर बुद्धि हो फिर इस जाल मे कैसे फँस गये? वह बोला—'यह समय विवाद (पूछताछ) करने का नही है। इसलिये जब तक वह दुष्ट व्याध न आवे तब तक

शीघ्र मेरे इस पैर के फन्दे को काट दो।' यह सुन हँसकर हिरण्यक ने कहा—'क्या मेरे आने पर भी व्याध से डरते हो। (चूँकि) आप जैसे नीतिशास्त्रज्ञ भी इस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये मुझे शास्त्र के विषय में बड़ी अश्रद्धा हो गई है। इसलिये मैं तुमसे पूछता हूँ।' वह बोला—भद्र! दैवभाग्य बुद्धि को भी हर लेता है। कहा भी है—

कृतान्तपाशबद्धानां दैवोपहतचेतसाम्।
बुद्धयः कुब्जगामिन्यो भवन्ति महतामपि॥ १७९॥

यम पाश में बँधे और दुर्भाग्य से हत चित्तवाले महात्माओं की बुद्धि भी कुटिलगामिनी हो जाती है॥ १७९॥

विधात्रा रचिता या सा ललाटेऽक्षरमालिका।
न तां मार्जयितुं शक्ताः स्वबुद्ध्याप्यतिपण्डिताः॥ १८०॥

ब्रह्मा ने मस्तक में जो वर्णमाला लिख दी है उसे विद्वान् पुरुष भी अपनी बुद्धि द्वारा मिटा नहीं सकते॥ १८०॥

एवं तयोः प्रवदतोः सुहृद्व्यसनसंतप्तहृदयो मन्थरकः शनैः शनैस्तं प्रदेशमाजगाम। तं दृष्ट्वा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'अहो, न शोभनमापतितम्।' हिरण्यक आह—'किं स लुब्धकः समायाति।' स आह—'आस्तां तावल्लुब्धकवार्ता। एष मन्थरकः समागच्छति। तदनीतिरनुष्ठितानेन, यतो वयमप्यस्य कारणान्नूनं व्यापादनं यास्यामो यदि स पापात्मा लुब्धकः समागमिष्यति। तदहं तावत्खमुत्पतिष्यामि। त्वं पुनर्बिलं प्रविश्यात्मानं रक्षयिष्यसि। चित्राङ्गोऽपि वेगेन दिगन्तरं यास्यति। एष पुनर्जलचरः स्थले कथं भविष्यतीति व्याकुलोऽस्मि।' अत्रान्तरे प्राप्तोऽयं मन्थरकः। हिरण्यक आह—'भद्र, न युक्तमनुष्ठितं भवता, यदत्र समायातः। तद्भूयोऽपि द्रुततरं गम्यताम्, यावदसौ लुब्धको न समायाति।' मन्थरक आह—'भद्र, किं करोमि। न शक्नोमि तत्रस्थो मित्रव्यसनाग्निदाहं सोढुम्। तेनाहमत्रागतः। अथवा साध्विदमुच्यते—

जब वे दोनों बातचीत कर रहे थे उसी समय मन्थरक धीरे-धीरे उस स्थान पर आया, उसका हृदय मित्र की विपत्ति से जल रहा था—दुःखी हो रहा था। उसे देखकर लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—यह बात अच्छी नहीं हुई। हिरण्यक बोला—क्या वह शिकारी आ रहा है। उसने कहा—'शिकारी

की बात जाने दो, यह मन्थरक आ रहा है, इसने यह काम नीति विरुद्ध किया है, क्योंकि हमलोग भी इनके कारण नाश को प्राप्त होंगे। अगर वह व्याध आ गया तो मैं आकाश मे उड जाऊँगा, तुम भी बिल मे घुस कर अपनी रक्षा कर लोगे और चित्राग भी तेजी से इधर-उधर (दूसरी दिशा को) भाग जायगा। परन्तु इस जलचर की स्थल (जमीन) मे क्या हालत होगी—यह क्या करेगा ? यही सोचकर मैं घबडा रहा हूँ।' उसी समय वह मन्थरक पहुँच गया। हिरण्यक ने कहा—'भद्र ! तुमने यहाँ आकर उचित नही किया, इसलिये जल्दी ही लौट जाओ जब तक वह व्याध न आवे।' मन्थरक ने कहा—'भद्र ! क्या करूँ मैं वहाँ रहकर मित्र की विपत्ति रूपी अग्नि की जलन सहन नही कर सका इसलिये यहाँ चला आया। अथवा ठीक ही कहा है—

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगश्च केन सह्या स्यु ।
यदि सुमहौपधकल्पो वयस्यजनसङ्गमो न स्यात् ॥ १८१ ॥

यदि उत्तम औषधि के समान (पीडा हरने वाला) मित्रो का ससर्ग न हो तो प्रिय बन्धुओ का वियोग और धन का नाश किससे सहा जाय—उसे कौन सह सके ? कोई भी नहीं (बन्धुओ के वियोग और धन-नाश का शोक मित्रो के ससर्ग से ही दूर हो सकता है) ॥ १८१ ॥

वर प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशै ।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो न भवन्ति भवद्विधा ॥ १८२ ॥

प्राणो का विनाश (मृत्यु) अच्छा, परन्तु आप जैसो (मित्रो) का वियोग अभीष्ट नही, क्योकि प्राण तो दूसरे जन्म मे फिर भी मिल जाते हैं किन्तु आप जैसे मित्र पुन नही प्राप्त हो सकते ॥ १८२ ॥

एव तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागत । त दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डित । अत्रान्तरे चित्राङ्ग सत्वर पृष्ठमवलोकयन्प्रधावित । लघुपतनको वृक्षमारूढ हिरण्यकश्च समीपवर्तिबिल प्रविष्ट । अथासौ लुब्धको मृगगमनाद्विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्त मन्थरक मन्द मन्द स्थलमध्ये गच्छन्त दृष्टवान्, अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्तथाप्यय कूर्म आहारार्थं सम्पादित । तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहारनिर्वृत्तिर्भविष्यति। एव विचिन्त्य त दर्भै सञ्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृह प्रति प्रस्थित । अत्रान्तरे त नीय-

मानमवलोक्य हिरण्यको दुःखाकुल पर्यदेवयत्—'कष्टं भो, कष्टमापतितम्।

जब वह इस प्रकार कह रहा था, उसी समय कान तक धनुष खींचे हुए शिकारी भी आ गया। उसको देखकर चूहे ने चित्राङ्ग की तांत की बनी हुई रस्सी (पाश) तुरन्त काट दी। तब चित्राङ्ग पीछे की ओर देखता हुआ तेजी से भागा। लघुपतनक वृक्ष पर चढ गया, और हिरण्यक पास के बिल में घुस गया। तब हिरन के चले जाने से निष्फल प्रयत्न होने के कारण उस शिकारी का मुख मलिन (उदास) हो गया, उसने मन्थरक को जमीन पर धीरे-धीरे जाता हुआ देखकर सोचा—यद्यपि विधाता ने हिरन को हर लिया (छीन लिया) तो भी भोजन के लिये यह कछुआ तो दे दिया है, इसलिये आज इसी के मांस से मेरे कुटुम्ब का भोजन होगा। यह सोचकर वह कछुए को घासों से ढक कर धनुष पर लटका कर कन्धे पर रख घर को चल दिया। इस प्रकार उसको ले जाते हुए देखकर हिरण्यक दुःख से व्याकुल हो विलाप करने लगा। अहो, कैसा दुःख आ पड़ा ?

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति॥ १८३॥

जब तक मैं समुद्र के समान भयंकर एक दुःख को पार नहीं करता (उसे पूरे तौर से नहीं भोग पाता) तब तक दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है। (ठीक ही है—) छिद्रों में—विपत्ति के समय—विपत्तियाँ बढ जाती हैं अर्थात् विपत्ति अकेली कभी नहीं आती॥ १८३॥

तावदस्खलितं यावत्सुखं याति समे पथि।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमं च पदे पदे॥ १८४॥

तब तक मनुष्य समभूमि (चौरस) में बिना गिरे चलता है जब तक आराम से चला जाता है किन्तु एक बार भी पदच्युत होने पर पद-पद में ठोकर खाता है॥ १८४॥

यन्नम्रं सरलं चापि यच्चापत्सु न सीदति।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम्॥ १८५॥

ऐसा धनुष मिलना कठिन है जो अच्छे बाँस का बना हुआ—लचकदार और सीधा हो तथा युद्धादि में टूटने वाला न हो। तथा ऐसा मित्र और पत्नी

की बात जाने दो, यह मन्थरक आ रहा है, इसने यह काम नीति विरुद्ध किया है, क्योकि हमलोग भी इनके कारण नाश को प्राप्त होंगे। अगर वह व्याध आ गया तो मैं आकाश मे उड जाऊँगा, तुम भी बिल मे घुस कर अपनी रक्षा कर लोगे और चित्राग भी तेजी से इधर-उधर (दूसरी दिशा को) भाग जायगा। परन्तु इन जलचर की स्थल (जमीन) मे क्या हालत होगी—यह क्या करेगा ? यही सोचकर मै घबडा रहा हूँ।' उसी समय वह मन्थरक पहुँच गया। हिरण्यक ने कहा—'भद्र ! तुमने यहाँ आकर उचित नही किया, इसलिये जल्दी ही लौट जाओ जब तक वह व्याध न आवे।' मन्थरक ने कहा—'भद्र ! क्या करूँ मैं वहाँ रहकर मित्र की विपत्ति रूपी अग्नि की जलन सहन नही कर सका इसलिये यहाँ चला आया। अथवा ठीक ही कहा है—

दयितजनविप्रयोगो वित्तवियोगश्च केन सह्या स्यु ।
यदि सुमहौषधकल्पो वयस्यजनसङ्गमो न स्यात् ॥ १८१ ॥

यदि उत्तम औषधि के समान (पीडा हरने वाला) मित्रो का ससर्ग न हो तो प्रिय बन्धुओ का वियोग और धन का नाश किससे सहा जाय—उसे कौन सह सके ? कोई भी नही (बन्धुओ के वियोग और धन-नाश का शोक मित्रो के ससर्ग से ही दूर हो सकता है) ॥ १८१ ॥

वर प्राणपरित्यागो न वियोगो भवादृशै ।
प्राणा जन्मान्तरे भूयो न भवन्ति भवद्विधा ॥ १८२ ॥

प्राणो का विनाश (मृत्यु) अच्छा, परन्तु आप जैसो (मित्रो) का वियोग अभीष्ट नही, क्योकि प्राण तो दूसरे जन्म मे फिर भी मिल जाते हैं किन्तु आप जैसे मित्र पुन नही प्राप्त हो सकते ॥ १८२ ॥

एव तस्य प्रवदत आकर्णपूरितशरासनो लुब्धकोऽप्युपागत । त दृष्ट्वा मूषकेण तस्य स्नायुपाशस्तत्क्षणात्खण्डित । अत्रान्तरे चित्राङ्ग सत्वर पृष्ठमवलोकयन्प्रधावित । लघुपतनको वृक्षमारूढ हिरण्यकश्च समीपवर्तिबिल प्रविष्ट । अथासौ लुब्धको मृगगमनाद्विषण्णवदनो व्यर्थश्रमस्त मन्थरक मन्द मन्द स्थलमध्ये गच्छन्त दृष्टवान्, अचिन्तयच्च—'यद्यपि कुरङ्गो धात्रापहृतस्तथाप्यय कूर्म आहारार्थं सम्पादित । तदद्यास्यामिषेण मे कुटुम्बस्याहारनिर्वृत्तिर्भविष्यति। एव विचिन्त्य त दर्भै सञ्छाद्य धनुषि समारोप्य स्कन्धे कृत्वा गृह प्रति प्रस्थित । अत्रान्तरे त नीय-

मानमवलोक्य हिरण्यको दु खाकुल पर्यदेवयत्—'कष्ट भो, कष्टमापतितम् ।

जब वह इस प्रकार कह रहा था, उसी समय कान तक धनुष खीचे हुए शिकारी भी आ गया । उसको देखकर चूहे ने चित्राङ्ग की तांत की बनी हुई रस्सी (पाश) तुरन्त काट दी । तब चित्राङ्ग पीछे की ओर देखता हुआ तेजी से भागा । लघुपतनक वृक्ष पर चढ गया, और हिरण्यक पास के बिल मे घुस गया । तब हिरन के चले जाने से निष्फल प्रयत्न होने के कारण उस शिकारी का मुख मलिन (उदास) हो गया, उसने मन्थरक को जमीन पर धीरे-धीरे जाता हुआ देखकर सोचा—यद्यपि विधाता ने हिरन को हर लिया (छीन लिया) तो भी भोजन के लिये यह कछुआ तो दे दिया है, इसलिये आज इसी के मास से मेरे कुटुम्ब का भोजन होगा । यह सोचकर वह कछुए को घासो से ढक कर धनुष पर लटका कर कन्धे पर रख घर को चल दिया । इस प्रकार उसको ले जाते हुए देखकर हिरण्यक दु ख से व्याकुल हो विलाप करने लगा । अहो, कैसा दु ख आ पडा ?

एकस्य दु खस्य न यावदन्त गच्छाम्यहू पारमिवार्णवस्य ।
तावद्द्वितीय समुपस्थित मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ १८३ ॥

जब तक मैं समुद्र के समान भयकर एक दु ख को पार नही करता (उसे पूरे तौर से नही भोग पाता) तब तक दूसरा दु ख उपस्थित हो जाता है । (ठीक ही है–) छिद्रो मे—विपत्ति के समय—विपत्तियाँ बढ जाती हैं अर्थात् विपत्ति अकेली कभी नही आती ॥ १८३ ॥

तावदस्खलित यावत्सुख याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषम च पदे पदे ॥ १८४ ॥

तब तक मनुष्य सममूमि (चौरस) मे बिना गिरे चलता है जब तक आराम से चला जाता है किन्तु एक बार भी पदच्युत होने पर पद-पद मे ठोकर खाता है ॥ १८४ ॥

यन्नम्र सरल चापि तच्चापत्सु न सीदति ।
धनुर्मित्र कलत्र च दुर्लभ शुद्धवशजम् ॥ १८५ ॥

ऐसा धनुष मिलना कठिन है जो अच्छे बाँस का बना हुआ—लचकदार और सीधा हो तथा युद्धादि मे टूटने वाला न हो । तथा ऐसा मित्र और पत्नी

एव बहुविध विलप्य स्वगृह गत । अथ तस्मिन्व्याधे दूरतर गते सर्वेऽपि ते काककूर्ममृगमूषका परमानन्दभाज. परस्परमालिङ्ग्य पुनर्जातमिवात्मान मन्यमानास्तदेव सर स प्राप्य महासुखेन सुभाषित-कथागोष्ठीविनोदेन काल नयन्ति स्म । एव ज्ञात्वा विवेकिना मित्रसग्रह. कार्य । न च मित्रेण सह व्याजेन वर्तितव्यमिति । उक्त च यत —

इस प्रकार तरह-तरह से विलाप करके अपने घर चला गया । तब उस व्याध के बहुत दूर चले जाने पर वे सब—कौआ, कछुआ, मृग और चूहा—अत्यन्त आनन्दित हो एक दूसरे का आलिङ्गन कर अपने को दुबारा उत्पन्न समझते हुए उसी तालाब पर पहुँच कर बडे आनन्द से सुभाषित कथाओ के द्वारा समय बिताने लगे । यह जानकर समझदार मनुष्य को मित्र-सग्रह करना चाहिए और मित्र के साथ कपट—व्यवहार न करना चाहिए । कहा भी है—

यो मित्राणि करोत्यत्र न कौटिल्येन वर्तते ।
तै सम न पराभूति सम्प्राप्नोति कथञ्चन ॥ १९६ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे मित्रसम्प्राप्तिर्नाम
द्वितीय तन्त्र समाप्तम् ।

इस ससार मे जो मनुष्य मित्र बनाता है और उन के साथ कपट-व्यवहार नही करता वह किसी प्रकार भी शत्रुओ से पराजय को प्राप्त नही होता ॥१९६॥

द्वितीय तन्त्र समाप्त ।

॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला—

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

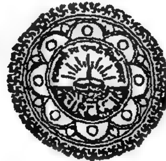
काकोलूकीयम्

(पञ्चतन्त्रस्य तृतीयं तन्त्रम्)

'सरला' भाषाटीकोपेतम्

टीकाकार.—

स्व० गोकुलदास गुप्त बी ए



चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के   तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी–२२१००१

दूरभाष : { ६३०७६ दुकान
५५३५७ निवास

द्वितीय संस्करण १९८१

मूल्य ३–५०

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स न० १२९

वाराणसी–२२१००१

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

पञ्चतन्त्रम्

अथ काकोलूकीयम्

[तृतीयं तन्त्रम्]

अथेदमारभ्यते काकूलूकीय[1] नाम तृतीय तन्त्रम् । यस्यायमाद्य श्लोक —

न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य ।
दग्धां गुहां पश्य, उलूकपूर्णां काकप्रणीतेन हुताशनेन ॥ १ ॥

'काकोलूकीय' नामक यह तृतीय तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है जिसका यह प्रथम श्लोक है —

प्रथम शत्रुता रखने वाले, पीछे मित्रता को प्राप्त हुए भी शत्रु का विश्वास न करना चाहिए, कौवे से लगाई हुई अग्नि के द्वारा उल्लुओं से भरी हुई गुफा को भस्म हुआ देखो ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्य नाम नगरम् । तस्य समीप[2]स्थोऽनेकशाखासनाथोऽतिघनतरपत्रच्छन्नो न्यग्रोधपादपोऽस्ति । तत्र च मेघवर्णो नाम वायसराजोऽनेककाकपरिवार[3] प्रतिवसति स्म । स तत्र विहितदुर्गरचन सपरिजन काल नयति । तथाऽन्योऽरिमर्दनो नामोलूकराजोऽसख्योलूकपरिवारो गिरिगुहादुर्गाश्रय प्रतिवसति स्म । स च रात्रावभ्येत्य सदैव तस्य न्यग्रोधस्य समन्तात्परिभ्रमति । अथोलूकराज पूर्वविरोधवशाद्य कश्चिद्वायसमासादयति, त व्यापाद्य[4] गच्छति । एव नित्याभिगमनाच्छनैः शनैस्तन्न्यग्रोधपादपदुर्गं तेन समन्तान्निर्वायस कृतम् । अथवा भवत्येवम् ।

---

१ सन्धिविग्रहादिसम्बन्ध का । २ समीपेऽनेकखगसनाथो ।
३ परिवृत । ४ व्यापादयति वा ।

उक्त च—

य उपेक्षेत शत्रु स्वं प्रसरन्त यदृच्छया ।
रोग चाऽलस्यसयुक्त' स शनैस्तेन हन्यते ॥ २ ॥

जैसा कि सुना जाता है—दक्षिण देश मे महिलारोप्य नामक एक नगर था उसके पास अनेक शाखाओ से युक्त, अत्यन्त घने पत्तो से ढका हुआ एक बड का पेड था । उस पर मेघवर्ण नाम का राजा रहता था उसके परिवार मे अनेक कौवे थे । वह वही अपना दुर्ग बनाकर परिवार सहित समय बिताता था—रहता था । तथा, अरिमर्दन नाम का एक दूसरा उल्लुओ का राजा असख्य उल्लुओ के परिवार के साथ पर्वत की गुफारूपी किले मे रहता था । वह हमेशा ही रात्रि में आकर उस वट-वृक्ष के चारो ओर घूमा करता और पूर्व शत्रुता के कारण, जिस किसी कौवे को पाता उसे मारकर जाता था । इस तरह प्रतिदिन आक्रमण करके धीरे-धीरे उसने, वह न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्ग बाहर की ओर से कौवो से रहित कर दिया—बाहर के हिस्से मे रहने वाले सब कौवे मार डाले । अथवा ऐसा होता ही है । कहा भी है —

जो मनुष्य आलस्य मे पडकर स्वच्छन्दता से बढते हुए शत्रु और रोग की उपेक्षा करता है—उसके रोकने की चेष्टा नही करता—वह क्रमश उसी (शत्रु अथवा रोग) से मारा जाता है ॥ २ ॥

तथा च—

जातमात्र न य' शत्रु व्याधिश्च प्रशम नयेत् ।
महाबलोऽपि तेनैव वृद्धि प्राप्य स हन्यते ॥ ३ ॥

जो मनुष्य शत्रु तथा रोग को उत्पन्न होते ही नष्ट नही करता महाबलवान् भी वह बढे हुए उस रोग व शत्रु से मारा जाता है (पाठान्तर मे) अत्यन्त पुष्ट अङ्गो वाला भी वह उससे मारा जाता है ॥ ३ ॥

अथान्येद्यु स वायसराज सर्वान्सचिवानाहूय प्रोवाच-भो ! उत्कट-स्तावदस्माक शत्रुरुद्यमसपन्नश्च कालविच्च नित्यमेव निशागमे समेत्या-स्मत्पक्षक्दन करोति । तत्कथमस्य प्रतिविधातव्यम् ? वय तावद्रात्रौ न पश्याम, न च दिवा दुर्गं विजानीमो येन गत्वा प्रहराम । तदत्र किं युज्यते सन्धि-विग्रह-याना-सन-सश्रय-द्वैधीभावाना मध्यात् । अथ ते प्रोचु —युक्त-मभिहित देवेन यदेप प्रश्न कृत । उक्त च—

अपृष्टेनापि वक्तव्य सचिवेनात्र किञ्चन ।
पृष्टेन त्वरितं वाच्य पथ्यञ्च प्रियमप्रियम् ॥ ४ ॥

अनन्तर एक दिन कौवो के राजा ने सब मन्त्रियो को बुलाकर कहा-हमारा शत्रु बलवान्, पुरुषार्थी और समयज्ञ है । वह प्रतिदिन ही रात्रि के प्रारम्भ मे आकर हमारे आदमियो को मारता है उसका क्या उपाय करना चाहिए ? हमलोग रात्रि मे देख नही सकते और न उसके दुर्ग को ही जानते है जिससे दिन मे जाकर उनको मारें, इसलिये सन्धि आदि ६ नीति के अङ्गो मे से यहाँ किसका उपयोग है--किसे काम मे लाना चाहिए ? उन लोगो ने कहा--आपने बहुत ठीक कहा जो यह बात पूछो । कहा भी है --

मन्त्री को चाहिए कि ऐसी दशा मे, बिना पूछे भी कुछ कहना चाहिए (उपदेश देना चाहिए) पूछने पर तो शीघ्र ही (समय नष्ट किये बिना ही) हितकारी बात कहनी चाहिए चाहे वह प्रिय हो या अप्रिय ॥ ४ ॥

यो न पृष्टो हित ब्रूते परिणामे सुखावहम् ।
मन्त्री च प्रियवक्ता च केवल स रिपु स्मृत ॥ ५ ॥

जो पूछने पर भी अन्त मे सुखदायक हित की बात नही कहता वह मन्त्री तथा केवल मितभाषी मनुष्य शत्रु कहा गया है ॥ ५ ॥

तस्मादेकान्तमासाद्य कार्यो मन्त्रो महीपते ! ।
येन तस्य वयं कुर्मो नियम कारण तथा ॥ ६ ॥

इसलिये, हे राजन् ! एकान्त मे विचार करना चाहिए जिससे हम लोग उसकी (शत्रुता के) कारण जान सकें और उसका निग्रह कर सकें ॥ ६ ॥

अथ स मेघवर्णोऽन्वयागतोज्जीवि-सञ्जीवि-अनुजीवि-प्रजीवि-चिरञ्जीविनाम्न । पञ्च सचिवान्प्रत्येक प्रष्टुमारब्ध । तत्रैतेषामादौ तावदुज्जीविन पृष्टवान्—'भद्र ! एव स्थिते किं मन्यते भवान् ?' स आह राजन् ! बलवता सह विग्रहो न कार्य । यत स बलवान्कालप्रहर्ता च तस्मात्सधेय'

उक्त च—

बलीयसि प्रणमता काले प्रहरतामपि ।
सम्पदो नावगच्छन्ति प्रतीपमिव निम्नगा ॥ ७ ॥

तब मेघवर्ण ने कुलक्रमागत उज्जीवि आदि ५ मन्त्रियो मे से प्रत्येक से पूछना

शुरू किया। पहिले उनमे से उज्जीवि से पूछा—भद्र! ऐसी दशा मे आप की क्या राय है? उसने कहा—राजन्! बलवान् के साथ युद्ध न करना चाहिए। चूंकि वह बलवान् और समय पर प्रहार करने वाला है इसलिये उसके साथ सन्धि करनी चाहिए। कहा भी है= उन पुरुषो की सम्पत्तियाँ, जो शत्रु के बलवान् होने पर उसको प्रणाम करते तथा समय पर—उसकी कोई कमजोरी पाकर—उस पर प्रहार भी करते है, उन को छोड कर नही जाती जैसे कि नदियाँ कभी उलटी नही बहती ॥ ७ ॥

सत्याढ्यो धार्मिकश्चार्यो भ्रातृसङ्घातवान् बली।
अनेकविजयी चैव सन्धेयः स रिपुर्भवेत् ॥ ८ ॥

सत्यवादी, धर्मात्मा, सज्जन, अनेक भाइयो वाला, बलवान् और अनेक युद्ध विजयी शत्रु सन्धि के योग्य होता है ॥ ८ ॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम्।
प्राणैः संरक्षितैः सर्वं यतो भवति रक्षितम् ॥ ९ ॥

जीवन मे सन्देह उपस्थित होने पर दुष्ट पुरुष के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए, क्योकि प्राणो की रक्षा होने पर सब की रक्षा हो जाती है ॥ ९ ॥

योऽनेकयुद्धविजयी स तेन विशेषात्सन्धेयः। उक्तं च--

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति।
तत्प्रभावेण तस्याशु वशं गच्छन्त्यरातयः ॥ १० ॥

अनेक युद्धो का विजेता नृपति जिसके साथ सन्धि द्वारा मित्रभाव को प्राप्त होता है उसके (बलवान् के साथ सन्धि करने वाले के शत्रु उसके (बलवान् राजा के) प्रभाव से शीघ्र ही वश मे हो जाते है ॥ १० ॥

सन्धिमिच्छेत्समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि।
न हि सांशयिकं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

चूंकि युद्ध में विजयप्राप्ति अनिश्चित होती है इसलिये समान बल वाले शत्रु के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिए क्योकि बृहस्पति ने कहा है कि संशययुक्त कार्य कभी न करना चाहिए ॥ ११ ॥

सन्दिग्धो विजयो युद्धे जनानामिह युद्ध्यताम्।
उपायत्रितयादूर्ध्वं तस्माद्युद्धं समाचरेत् ॥ १२ ॥

इस संसार में युद्ध करने वाले पुरुषों का विजय युद्ध में अनिश्चित होता है

इसलिये साम, दाम भेद नामक तीनो उपायो के अनन्तर (इनके विफल होने पर युद्ध करना चाहिए ॥ १२ ॥

असन्दधानो मानान्ध. समेनापि हतो भृशम् ।
आमकुम्भ इवान्येन करोत्युभयसक्षयम् ॥ १३ ॥

जो राजा अभिमान से अन्धा होकर दूसरे के साथ सन्धि नही करता वह समान बल वाले शत्रु से अच्छी तरह ताडित हो इस प्रकार दोनो का नाश कर देता है जैसे कि दो कच्चे घडे आपस मे टकरा कर एक दूसरे का नाश कर देता है ।

सम शक्तिमता युद्धमशक्तस्य हि मृत्यवे ।
दृषत्कुम्भ यथा भित्वा तावत्तिष्ठति शक्तिमान् ॥ १४ ॥

बलवान् पुरुष के साथ निर्बल पुरुष का युद्ध उस (दुर्बल) के नाश का ही कारण होता है जैसे कि पाषाण घडे को फोड कर स्वय निर्विकार ही रहता है इसी प्रकार समर्थ दुर्बल का नाश स्वय अक्षत शरीर ही रहता है ॥ १४ ॥

अन्यच्च—

भूमिर्मित्र हिरण्य वा विग्रहस्य फलत्रयम् ।
नास्त्येकमपि यद्येषा विग्रह न समाचरेत् ॥ १५ ॥

राज्य, मित्र और धन ये तीन युद्ध के लाभ हैं । यदि इनमे से एक भी न हो=एक के भी प्राप्त होने की आशा न हो—तो युद्ध न करें ॥ १५ ॥

खनन्नाखुबिलं सिंहः, पाषाणशकलाकुलम् ।
प्राप्नोति नखभङ्ग हि फलं वा मूषको भवेत् ॥ १६ ॥

यदि सिंह पत्थर के टुकडो से व्याप्त चूहे के बिल को खोदता है तब या तो उसके नाखून टूट जाते है और यदि कुछ मिलता भी है तो एक चूहा मात्र ॥१६॥

तस्मान्न स्यात्फलं यत्र पुष्ट युद्ध तु केवलम् ।
न हि तत्स्वयमुत्पाद्य कर्तव्यं न कथञ्चन ॥ १७ ॥

इसलिये जहाँ (जिस युद्ध मे) कोई लाभ न हो केवल युद्ध ही हो उसको स्वय अपनी ओर से कभी उत्पन्न न करना चाहिए (दूसरे से उत्पन्न होने पर) भी बचाना चाहिए ॥ १७ ॥

बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाश्रयेत् ।
वाञ्छन्नभ्रशिनीं लक्ष्मीं न भौजङ्गी कदाचन ॥ १८ ॥

स्थिर लक्ष्मी चाहने वाले मनुष्य को उचित है कि वह बलवान् शत्रु से

आक्रमण किये जाने पर वेंत का सा व्यवहार (जिस प्रकार तेज हवा चलने पर वेंत हवा की ओर झुक जाता है अतएव टूटता नही) करना चाहिए सर्प जैसा व्यवहार कदापि न करे ॥ १८ ॥

कुर्वन्हि वैतसी वृत्तिं प्राप्नोति महती श्रियम् ।
भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम् ॥ १९ ॥

वेंत सम्बन्धी व्यवहार (नम्रता) करता हुआ मनुष्य विपुल सम्पत्ति पाता है और सर्प की वृत्ति का आचरण करता हुआ केवल वध के योग्य होता है ॥ १९ ॥

कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारानपि मर्षयेत् ।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥ २० ॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि कूर्म के सङ्कोच को देखकर प्रहारो (आपत्तियो) का सहन करे और समय-समय पर कृष्ण सर्प के समान अभ्युत्थान करता रहे ॥२०॥

आगत विग्रह दृष्ट्वा[1] सुसाम्ना प्रशम नयेत् ।
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसा[2] न समुत्पतेत् ॥ २१ ॥

युद्ध को उपस्थित देख कर साम प्रयोग मे उसे शान्त कर देवे । विजय के अनिश्चित होने से (युद्ध में कभी पराजय भी होता है) युद्ध के लिए जल्दबाजी न करनी चाहिए ॥ २१ ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवात न हि घन कदाचिदुपसर्पति ॥ २२ ॥

बलवान् पुरुप के साथ युद्ध करना चाहिए ऐसा कोई नीतिशास्त्र का नियम नही है (अथवा) इस विपय मे कोई दृष्टान्त नही है। मेघ कभी भी वायु के प्रतिकूल नही चलता ॥ २२ ॥

एवमुज्जीवी साममन्त्र सन्धिकारक विज्ञप्तवान् । अथ तच्छ्रुत्वा सञ्जीविनमाह--भद्र ! तवाभिप्रायमपि श्रोतुमिच्छामि । स आह--देव ! न ममैतत्प्रतिभाति यच्छत्रुणा सह सधान क्रियते । उक्त च यत --

शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीय शमयत्येव पावकम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उज्जीवी ने सन्धि कराने वाले साममन्त्र की सलाह दी । अनन्तर

---

१ मत्वा २ रभस च समुत्सृजेत् ।

उसे सुन कर सजीवी से कहा—भद्र ! मैं तुम्हारी राय भी सुनना चाहता हूँ। उसने कहा—देव ! मुझे यह बात पसन्द नही जो शत्रु के साथ सन्धि की जावे । क्योंकि कहा भी है—

अच्छे प्रकार की गई भी सन्धि के द्वारा शत्रु के साथ मेल न करना चाहिए । जल गरम किया हुआ भी अग्नि को बुझा ही देता है ॥ २३ ॥

अपरच सक्रूरोऽत्यन्तलुब्धो धर्मरहितः । तत्त्वया विशेषान्न सन्धेय । उक्त च—

सत्यधर्मविहीनेन न सन्दध्यात्कथञ्चन ।
सुसन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥ २४ ॥

सत्यरूपी धर्म से रहित (मिथ्यावादी) पुरुष के साथ किसी प्रकार भी सन्धि न करनी चाहिए क्योकि (ऐसा पुरुप) अच्छे प्रकार सन्धि करके भी अपनी दुष्टता के कारण शीघ्र ही विकार को प्राप्त हो जाता है—बदल जाता है ॥ २४ ॥

तस्मात्तेन योद्धव्यमिति मे मति । उक्त च यत —

क्रूरो लुब्धोऽलसोऽसत्य प्रमादी भीरुरस्थिर ।
मूढो योधावमन्ता च सुखोच्छेद्यो भवेद्रिपुः ॥२५॥

इसलिये उसके साथ युद्ध करना चाहिए, यह मेरी राय है । कहा भी है— निर्दयी, लोभी, आलसी, झूठ बोलने वाला, असावधान, डरपोक, किसी बात पर दृढ न रहने वाला, मूर्ख और सिपाहियो का अपमान करनेवाला शत्रु आसानी से नष्ट किया जा सकता है ॥ २५ ॥

अपर तेन पराभूता वयम् , तद्यदि सन्धानकीर्तन करिष्यामस्तद्भूयोऽत्यन्त[1] कोप करिष्यति । उक्त च—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञ. कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥२६॥

दूसरी बात यह है कि उसने हमारा अपमान किया है, इसलिये यदि हम सन्धि की चर्चा करेंगे तो वह और भी अधिक क्रोध करेगा । कहा भी है—

चतुर्थ उपाय-दण्ड-से वश मे करने योग्य शत्रु के प्रति शान्ति की चर्चा अनुचित तरीका है, कौन समझदार (वैद्य) पसीने के द्वारा चिकित्सा करने योग्य नवीन ज्वर मे (रोगी को) स्नान कराता है ॥ २६ ॥

---

१ योऽपि काकविनाशम् ।

सामवादा· सकोपस्य शत्रो· प्रत्युत दीपिका· ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दव ॥२७॥

जिस प्रकार तपे हुए घी मे पडी हुई जल की बूंदें पडते ही उसे शान्त करने के वजाय और अधिक प्रज्वलित कर देतीं हं इसी तरह क्रुद्ध हुए शत्रु से (कहे हुए) शान्ति के वचन उसको और भी अधिक क्रुद्ध कर देते है ॥ २७ ॥

यश्चैतद्वदति रिपुर्बलवान् तदप्यकारणम् उक्त च यत —

प्रमाणाभ्यधिकस्यापि महत्सत्त्वमधिष्ठित: ।
पद मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिन. ॥२८॥

और जो यह कहते हैं कि शत्रु बलवान् ह, यह भी उचित हेतु नही है । कहा भी है क्योकि —

चित्तोत्साह से भरा हुआ सिह डीलडौल वाले मत्त हाथी के मस्तक पर पैर रखता है—उमको जीत लेता है ॥ २८ ॥

उत्साहशक्तिसम्पन्नो हन्याच्छत्रु लघुर्गुरुम् ।
यथा कण्ठीरवो नाग भारद्वाज· प्रचक्षते ॥२९॥

उत्साहशक्ति (कार्यसम्पादन मे दृढ प्रयत्नशील होना) से युक्ति छोटा (निर्बल) भी पुरुष वडे शत्रु को भी मार सकता है जैसे कि (हाथी की अपेक्षा छोटे शरीर वाला भी) सिंह हाथी को मार डालता है । ऐमा भारद्वाज कहते हैं ॥ २९ ॥

मायया शत्रवो वध्या अवध्या: स्युर्बलेन ये ।
यथा स्त्रीरूपमास्थाय हता भीमेन कीचक ॥ ३० ॥

जो शत्रु पराक्रम द्वारा न मारे जा मके उनको कपट नीति से मारना चाहिए । जैसे कि भीमसेन ने स्त्री वेश धारण कर कीचक को मारा था ॥ ३० ॥

तथा च—

मृत्योरिवोग्रदण्डस्य राज्ञो यान्ति वश द्विष ।
सर्वंसहन्तु मन्यन्ते तृणाय रिपवश्च तम् ॥ ३१ ॥

शत्रु यम के समान तीक्ष्णदण्ड वाले राजा के वश मे हो जाते हैं और वे ही (शत्रु) सब कुछ सहने वाले (अत्यन्त दयालु) राजा को तिनके के समान (अकिञ्चित्कर) समझते है ॥ ३१ ॥

न जातु शमन यस्य तेजस्तेजस्वितेजसाम् ।
वृथा जातेन कि तेन मातुर्यौवनहारिणा ॥ ३२ ॥

जिस पुरुष का तेज तेजस्वि पुरुषो के तेज को शान्त (दवा) नही करता, उस व्यर्थ उत्पन्न हुए (केवल) माता के यौवन का विनाश करने वाले पुरुष से क्या लाभ? कुछ भी नही ॥ ३२ ॥

या लक्ष्मीर्नानुलिप्ताङ्गी वैरिशोणितकुङ्कुमै ।
कान्ताऽपि मनस. प्रीति न सा धत्ते मनस्विनाम् ॥ ३३ ॥

जो लक्ष्मी, शत्रुओ के रुधिररूपी केसर से चिह्नित (जिसके अङ्ग लिप्त नही होते) नही होती वह मनोहर होने पर भी वीर पुरुषो के मन को आनन्दित नही करती ॥ ३३ ॥

रिपुरक्तेन संसिक्ता तत्स्त्रीनेत्राम्बुभिस्तथा ।
न भूमिर्यस्य भूपस्य का श्लाघा तस्य जीविते ॥ ३४ ॥

जिस राजा की भूमि शत्रुओ के रुधिर तथा उनकी स्त्रियो के आँसुओ (पति-पुत्रादि के मरने से शोक से उत्पन्न) से नही सीची जाती उसके जीवित रहने मे क्या प्रशसा है? कुछ भी नही उसका मरना ही अच्छा है ॥ ३४ ॥

एव सजीवि विग्रहमन्त्र विज्ञापयामास। अथ तच्छ्रुत्वाऽनुजीविनमपृच्छत्—'भद्र! त्वमपि स्वाभिप्राय निवेदय।' सोऽब्रवीत्—'देव! दुष्ट स बलाधिको निर्मर्यादश्च तत्तेन सह न सन्धिर्न विग्रहो युक्त। केवल मानमर्ह स्यात्। उक्त च—

बलोत्कटेन दुष्टेन मर्यादारहितेन च ।
न सन्धिविग्रहो नैव विना यान प्रशस्यते ॥ ३५ ॥

इस प्रकार सजीवी ने 'विग्रह' की सलाह दी। तब यह सुन, (मेघवर्ण ने) अनुजीवी से कहा—'भद्र! तुम भी अपना विचार प्रकट करो'। उसने कहा—'देव! वह (शत्रु) दुष्ट, बलवान् और शिष्टाचार रहित है। इसलिये उसके साथ सन्धि और विग्रह दोनो ही उचित नही है। केवल 'यान' ही उपयोगी हो सकता है। कहा भी है—

बल मे अधिक, दुष्ट और शिष्टाचार रहित (जो सन्धि आदि की उपेक्षा करता है) शत्रु के साथ सन्धि और युद्ध नही करना चाहिए (उसके साथ) यान के अतिरिक्त और कुछ उचित नही है। (बलवान् होने के कारण युद्ध ठीक नही तथा दुष्ट और मर्यादा रहित होने के कारण सन्धि उचित नही, सन्धि करने पर भी वह उसकी परवाह नही करता।) ॥ ३५ ॥

द्विधाकारं भवेद्यान भये प्राणार्थरक्षणाम् ।
एकमन्यज्जिगीषोश्च यात्रालक्षणमुच्यते ॥ ३६ ॥

यान दो प्रकार का होता है, एक (प्रथम) डर के समय प्राण और धन (कोष) की रक्षा करने वाला और दूसरा विजयार्थी राजा का शत्रु पर आक्रमण कहा जाता है। प्राणसकट के समय भाग जाना प्रथम यान कहाता है तथा अपने विजय की निश्चित सभावना होने पर शत्रु पर आक्रमण करना दूसरे प्रकार का यान है ॥ ३६ ॥

कार्तिके वाऽथ चैत्रे वा विजिगीषो. प्रशस्यते ।
यानमुत्कृष्टवीर्यस्य शत्रुदेशे न चान्यदा ॥ ३७ ॥

(शत्रु की अपेक्षा) अधिक बलशाली विजयार्थी राजा के लिये कार्तिक[1] और चैत्र मास मे, शत्रु देश मे जाना उचित कहा गया है, अन्य समय मे नही ॥ ३७ ॥

अवस्कन्दप्रदानस्य सर्वे कालाः प्रकीर्तिता ।
व्यसने वर्तमानस्य शत्रोश्छिद्रान्वितस्य च ॥ ३८ ॥

किसी विपत्ति मे फसे हुए तथा उसकी निर्बलता की दशा मे शत्रु पर आक्रमण करने के लिये सभी समय ठीक कहे गये ह[2] ॥ ३८ ॥

स्वस्थान सुदृढ कृत्वा शूरैश्चाप्तैर्महाबलै. ।
परदेशं ततो गच्छेत्प्रणिधिव्याप्तमग्रत. ॥ ३९ ॥

महाबली और विश्वस्त शूर पुरुषो के द्वारा अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध करके प्रथम से ही अपने गुप्तचरो से परिपूर्ण शत्रु-देश मे जावे ॥ ३९ ॥

---

१ कार्तिक तथा चैत्र मास यात्रा के लिये पसन्द किये गये हैं कि इन महीनो मे खेतो मे अन्न नही रहता जिससे उसके नाश का भय हो तथा इन मासो मे वर्षा का भी भय नही होता, रास्ते साफ हो जाते है। साथ ही गरमी व सरदी का भी आधिक्य नही होता जिससे योधाओ को कष्ट होने की सभावना हो। अन्य नीतिज्ञो ने मार्गशीर्ष व फाल्गुन मास भी 'यान' के लिये उपयुक्त माने हैं।

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रा महीपति ।
फाल्गुन वाथ चैत्र वा मासौ प्रति यथाबलम् । (मनु —७, १८२)

२ तथा च मनु —

अन्येष्वपि तु कालेषु, यदा पश्येद् ध्रुव जयम् ।
यदा यायाद्विगृह्यैव, व्यसने चोत्थिते रिपो ॥ (मनु ७।१८३)

अज्ञातवीवधासारतोयशस्यो व्रजेत्तु यः।
परराष्ट्रं न भूयः स स्वराष्ट्रमपि गच्छति॥ ४०॥

जो राजा (शत्रुदेश के) वीवध (धान्यादि की प्राप्ति) आसार (मित्रबल) जल और अन्न को बिना जाने हुए (विजय की इच्छा से) शत्रु-देश मे जाता है, वह फिर लौट कर अपने राज्य मे नही पहुँच पाता॥ ४०॥

ततो युक्त कर्तुमपसरणम्। अन्यच्च—

तत्र युक्त प्रभो! कर्तु द्वितीयं यानमेव च।
न विग्रहो न सन्धान बलिना तेन पापिना॥ ४१॥

इसलिये आपको यहाँ से भाग जाना ही उचित है। और भी—

हे प्रभो! उस बलवान् और दुष्ट शत्रु के साथ, न तो दूसरे प्रकार का यान, न युद्ध और न सन्धि ही करना उचित है॥ ४१॥

अपर कारणापेक्षयाऽपसरण क्रियते बुधैः। उक्त च—

यदपसरति मेषः कारण तत्प्रहर्तुं,
मृगपतिरपि कोपात्संकुचत्युत्पतिष्णुः।
हृदयनिहितभावा गूढमन्त्रप्रचाराः,
किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते॥ ४२॥

दूसरी बात यह है कि—कारणवश विद्वान् पुरुष भी अपसरण (यान, पलायन) करते है। कहा भी है—

मेंढ (युद्ध मे जो पीछे हटता है वह प्रहार करने के लिये करता है, सिंह भी गुस्से से (अपने शिकार पर) कूदते समय अपने अङ्गो को सिकोड लेता है। बुद्धिमान् पुरुष हृदय मे अपने भावो को छिपाये हुए तथा अपने विचार और चेष्टाओ को प्रकाशित न करते हुए (मान-अपमान आदि को) कुछ भी परवाह न कर समय की प्रतीक्षा करते हैं॥ ४२॥

अन्यच्च—

बलवन्त रिपु दृष्ट्वा देशत्याग करोति यः।
युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन् स मेदिनीम्॥ ४३॥

जो राजा शत्रु को बलवान् समझ कर देश को छोड देता है वह जीवित

१ 'बलोत्कटेन' आदि चार श्लोको में दूसरे प्रकार के यान का वर्णन है।

रह कर फिर भी युधिष्ठिर के समान भूमि (राज्य) को प्राप्त कर लेता है ॥४३॥

युध्यतेऽहङ्कृतिं कृत्वा दुर्बलो यो बलीयसा ।
स तस्य वाञ्छितं कुर्यादात्मनश्च कुलक्षयम् ॥ ४४ ॥

जो दुर्बल राजा अहङ्कार के वशीभूत हो बलवान् के साथ युद्ध करता है वह उसकी इच्छा को पूर्ण करता है और अपने कुल का नाश करता है ॥ ४४ ॥

तद्बलवताभियुक्तस्यापसरणसमयोऽयं न सन्धेर्विग्रहस्य च एवमनुजीविमन्त्रोऽपसरणस्य । अथ तस्य वचनमाकर्ण्य प्रजीविनमाह—'भद्र ! त्वमप्यात्मनोऽभिप्रायं वद ।' सोऽब्रवीत्—देव ! मम सन्धिविग्रहयानानि त्रीण्यपि न प्रतिभान्ति । विशेषतश्चासनं प्रतिभाति । उक्तं च—

नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति ।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते ॥ ४५ ॥

चूंकि हमारे ऊपर एक बलवान् शत्रु ने आक्रमण किया हुआ है अतः यह अपसरण का समय है न तो सन्धि और न विग्रह का ही समय है इस प्रकार अनुजीवि की राय अपसरण के विषय में रही ।

उसके वचन को सुनकर प्रजीवी से कहा—'भद्र ! तुम भी अपनी राय प्रकाशित करो ।' उसने कहा—देव ! मुझे तो सन्धि, विग्रह और यान तीनों ही पसन्द नहीं है मुझे तो आसन अच्छा (उचित) मालूम होता है । कहा भी है—

नाका अपने स्थान पर रह कर बड़े हाथी को भी खींच लेता है, परन्तु अपने स्थान से हटने पर कुत्ते से भी पराजित हो जाता है ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—

अभियुक्तो बलवता दुर्गे तिष्ठेत्प्रयत्नवान् ।
तत्रस्थः सुहृदाह्वानं प्रकुर्वीतात्ममुक्तये ॥ ४६ ॥

बलवान् शत्रु के द्वारा आक्रमण किये जाने पर राजा को चाहिए कि (अपने बचाव के लिये) यत्न करता हुआ किले में बैठ जावे और वहीं रहकर अपनी रक्षा के लिये मित्रों को बुलावे ॥ ४६ ॥

१ यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि—यद्यपि प्रत्येक वक्ता अपने के पूर्व वक्ता के प्रदर्शित नीतिमार्ग का निराकरण करता है अतः प्रजीवि को सन्ध्यादि तीनों ही नीतिमार्ग में दोष प्रकट करने चाहिए तथापि यान के समर्थन में सन्धि और विग्रह में दोष दिखा दिये गये हैं अतः केवल यान में दोष दिखाये गये हैं ।

योो रिपोरागम श्रुत्वा भयसत्रस्तमानसः ।
स्वस्थान हि त्यजेत्तत्र न तु भूयो विशेच्च स. ॥ ४७ ॥

जो मनुष्य शत्रु का आगमन सुनकर भयभीत हो अपना स्थान छोड देता है वह उस स्थान मे प्रविष्ट नही हो सकता ॥ ४७ ॥

दष्ट्राविरहित. सर्पो मदहीनो यथा गज· ।
स्थानहीनस्तथा राजा गम्य स्यात्सर्वजन्तुषु ॥ ४८ ॥

दात रहित सर्प और मदशून्य हाथी के समान स्थान से भ्रष्ट राजा को सब प्राणी वश मे कर लेते है ॥ ४८ ॥

निजस्थानस्थितोऽप्येक. शतं योद्धु सहेन्नर ।
शक्तानामपि शत्रूणा तस्मात्स्थानं न सन्त्यजेत् ॥ ४९ ॥

अपने स्थान मे स्थित अकेला भी पुरुष बलवान् १०० शत्रुओ के साथ युद्ध कर सकता है । इसलिए स्थान न छोडना चाहिए ॥ ४९ ॥

तस्माद्दुर्गं दृढ कृत्वा सुभटासारसयुतम् ।
प्राकारपरिखायुक्तं शस्त्रादिभिरलकृतम् ॥ ५० ॥
तिष्ठेन्मध्यगतो नित्य युद्धाय कृतनिश्चय· ।
जीवन्सप्राप्स्यति[3] राज्य, मृतो वा स्वर्गमेष्यति[4] ॥५१॥ (युग्मम्[5])

इसलिये, किले को खूब मजबूत करके, सिपाही और रसद (सामग्री) से भरकर, परकोटा तथा खाई से वेष्टित कर, शस्त्र आदि से सुसज्जित करके हमेशा युद्ध के लिये तैयार हो किले मे रहे। क्योकि यदि जीवित (विजय प्राप्त करके) रहेगा तो राज्य पावेगा और यदि मर गया तो स्वर्ग को जायगा ॥ ५०–५१ ॥

अन्यच्च—

बलिनाऽपि न [6]बाँध्यन्ते लघवोऽप्येकसंश्रया· ।
विपक्षेणाँपि मरुता यथैकस्थानवीरुधाः ॥ ५२ ॥

और भी एक स्थान मे रहने वाले दुर्बल मनुष्य भी बलवान् शत्रु के द्वारा भी पराजित नही किये जा सकते जैसे कि एक जगह पर उगी हुई लताएँ तेज वायु से भी नही उखाडी जा सकती ॥ ५२ ॥

---

१ वीवधामा० २ तिष्ठ ३ सि ४ सि ५ द्वाभ्या युग्ममिति प्रोक्त त्रिभि श्लोकैर्विशेपकम् । कलापक चतुर्भि· स्यात्तदूर्ध्वं कुलक स्मृतम् । ६ बध्यन्ते, साध्यन्ते । ७ प्रभञ्जनविपक्षेण यथैकस्था महीरुहा ।

तदेव सश्रय विना न कश्चित्प्रतीकारो भवति इति मेऽभिप्राय । एव चिरञ्जीविमन्त्र ।

अथैवमभिहिते स मेघवर्णो राजा चिरन्तन पितृसचिव दीर्घायुष सकल-नीतिशास्त्रपारङ्गत स्थिरजीविनामान प्रणम्य प्रोवाच--'तात ! यदेते मया पृष्टा सचिवास्तावदत्रस्थितस्यापि तव तत्परीक्षार्थम्, येन त्व सकल श्रुत्वा यदुचित तन्मे समादिशसि । तद्यद्युक्त भवति तत्समादेश्यम् । स आह–वत्स । सर्वैरप्येतैर्नीतिशास्त्राश्रयमुक्त सचिवै । तदुपयुज्यते स्वकालोचित सर्वमेव । परमेष द्वैधीभावस्य काल । उक्त च—

अविश्वासं सदा तिष्ठेत्सन्धिना विग्रहेण च ।
द्वैधीभाव समाश्रित्य पापशत्रौ बलीयसि ॥६१॥

इस प्रकार सश्रय के बिना कोई उपाय नही है । इसीलिये सश्रय करना चाहिए । यही मेरी राय है । यह चिरजीवि का विचार है ।

उनके ऐसा कहने पर राजा मेघवर्ण ने पुराने, पिता के मत्री, वृद्ध सम्पूर्ण नीतिशास्त्र को जानने वाले स्थिरजीवि नामक मत्री को प्रणाम कर कहा 'हे तात । आपके यहा उपस्थित होते हुए भी इन मन्त्रियो से पूछने का एकमात्र कारण है कि आप उनके (ज्ञान की) परीक्षा ले सकें (अथवा आप प्रकृत विषय पर अच्छी तरह विचार कर सकें) जिससे कि आप सब कुछ सुन कर उचित कर्तव्य की आज्ञा दें । इसलिए जो उचित हो वह आज्ञा दीजिये ।' उसने कहा—'हे वत्स ! इन मन्त्रियो ने नीतिशास्त्र के आधार पर ही कहा है जो अपने समय पर सभी उपयुक्त हो सकता है । परन्तु यह द्वैधीभाव का समय हे । कहा भी है—

दुष्ट शत्रु के बलवान् होने पर (नीतिज्ञ पुरुष को चाहिए कि) वह उसका विश्वास न करता हुआ, द्वैधीभाव (धोखेबाजी से शत्रु को सावधान न होने देने के लिये उसके साथ बाहर से मित्रता का व्यवहार करके अन्त में उसे नष्ट कर देना) के द्वारा अर्थात् कभी सन्धि और कभी युद्ध का अभिनय करता हुआ रहे ॥ ६१ ॥

तच्छत्रु विश्वास्यादिधस्तैर्लोभ दर्शयद्भि सुखेनोच्छिद्यते रिपु । उक्त च—

उच्छेद्यमपि विद्वासो वर्धयन्त्यरिमेकदा ।
गुडेन वर्धित. श्लेष्मा सुख वृद्धचा निपात्यते ॥६२॥

स्वय शत्रु का विश्वास न कर परन्तु उसको अपने ऊपर विश्वास दिलाकर और (नयी नयी) आशाएँ दिखाते हुए (बुद्धिमान्) शत्रु को आसानी से नष्ट कर देते हैं। कहा भी है—

नीतिनिपुण पुरुष विनाश के योग्य भी शत्रु को एक वार वढा देते हैं। गुड के द्वारा बढाया हुआ कफ (खासी) आसानी से नष्ट कर दिया जाना है॥ ६२॥

तथा च—

स्त्रीणा शत्रो कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणा विशेषत ।
यो भवेदेकभावोऽत्र न स जीवति मानव ॥६३॥

जो मनुष्य इस ससार में स्त्रियो, शत्रु, दुष्टमित्र और खास कर वेश्याओ के साथ निष्कपट व्यवहार करता है वह जीवित नही रहता॥ ६३॥

कृत्यं देवद्विजातीनामात्मनश्च गुरोस्तथा ।
एकभावेन कर्तव्य शेष द्वैधसमाश्रितम् ॥६४॥

देवता, ब्राह्मण, अपना और गुरु का कार्य निष्कपटभाव से करना चाहिए, शेष (मनुष्यो के) कार्य द्वैधीभाव से करने चाहिए॥ ६४॥

एको भाव सदा शस्तो यतीना भावितात्मनाम् ।
स्त्रीलुब्धाना न लोकाना विशेषेण महीभृताम् ॥६५॥

शुद्धान्त करण यति लोगो के साथ निष्कपट व्यवहार करना चाहिए, स्त्रीपरायण पुरुष और विशेषकर राजाओ के साथ एक भाव (शुद्ध भाव) से व्यवहार न करना चाहिए॥ ६५॥

तद् द्वैधीभाव सश्रितस्य तव स्वस्थाने वासो भविष्यति, लोभाश्रयाच्च शत्रुमुच्चाटयिष्यसि अपर-यदि किञ्चिच्छिद्र तस्य पश्यसि, तद्गत्वा व्यापादयिष्यसि। मेघवर्ण आह—'तात ! मया सोऽविदित सश्रय । तत्कथ तस्य छिद्र ज्ञास्यामि ?' स्थिरजीव्याह—वत्स ! न केवल स्थान, छिद्राण्यपि तस्य प्रकटीकरिष्यामि प्रणधिमि उक्त च—

गावो गन्धेन पश्यन्ति वेदै पश्यन्ति वै द्विजा ।
चारै पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जना ॥६६॥

इसलिये द्वैधीभाव को स्वीकार करने से तुम अपने स्थान पर भी वने रहोगे (तुमको अपना स्थान छोडने की आवश्यकता न होगी) और शत्रुको लुभाकर भगा

भी सकोगे। और, यदि उसकी कोई निर्बलता तुम्हे ज्ञात होगी तो तुम जाकर उसका नाश कर सकोगे। मेघवर्ण ने कहा—'हे तात' मुझे तो उसके स्थान का भी पता नही। फिर मैं उसकी कमजोरी कैसे जान सकूँगा ?' स्थिरजीवी ने कहा—वत्स ! मैं गुप्तचरो द्वारा केवल उसका स्थान ही नही प्रत्युत उसके छिद्र भी प्रकाशित करूँगा। कहा भी है —

गाय (आदि पशु) गन्ध-घ्राण-के द्वारा वस्तुओ का पता लगा लेते हैं। ब्राह्मण वेदो-शास्त्रो के द्वारा, राजा चरो से और साधारण अन्य लोग नेत्रो से देखते है ॥ ६६ ॥

उक्त चात्र विषये--

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषत ।
गुप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात् ॥६७॥

इस विषय मे कहा भी है —

जो राजा गुप्तचरो द्वारा अपने पक्षके और विशेषकर शत्रुपक्ष के तीर्थो (राजपुरुषो) को जानता है वह दुर्गति (सकट) को प्राप्त नही होता ॥ ६७ ॥

मेघवर्ण आह —'तात ! कानि तीर्थान्युच्यन्ते ? कतिसख्यानि च ? कीदृशा गुप्तचरा ? तत्सर्वं निवेद्यताम्' इति। स आह—अत्र विषये भगवता नारदेन युधिष्ठिर प्रोक्त, यच्छत्रुपक्षेऽष्टादशतीर्थानि, स्वपक्षे पञ्चदश। त्रिभिस्त्रिभिर्गुप्तचरैस्तानि ज्ञेयानि। तैर्ज्ञातै स्वपक्ष परपक्षश्च वश्यो भवति। उक्त च नारदेन युधिष्ठिर प्रति—

कच्चिदष्टदशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकै. ॥६८॥

मेघवर्ण बोला—'हे तात ! तीर्थ कौन कहलाते हैं ? और वे कितने है ? गुप्तचर कैसे होते है ? यह सब बताइये।' उसने कहा—इस विषय मे भगवान् नारद ने युधिष्ठिर से कहा है कि शत्रुपक्ष मे १८ और अपने पक्ष मे १५ तीर्थ होते हैं। तीन-तीन गुप्तचरो के द्वारा उनको जानना चाहिए। उनके जानने से अपना और शत्रु दोनो के पक्ष वश मे हो जाते हैं। नारद ने युधिष्ठिर से कहा है —

क्या तुम गुप्तवेशधारी तीन-तीन चरो के द्वारा शत्रुओ के १८ और अपने पक्ष के १५ तीर्थो को जानते हो। (मैं समझता हूँ कि तुम जानते हो।) ॥ ६८ ॥

तीर्थशब्देनायुक्तकर्माभिधीयते । तद्यदि तेषां कुत्सितं भवति तत्स्वामिनोऽभिघाताय, यदि प्रधानं भवति तद्वृद्धये स्यादिति । तद्यथा—मन्त्री, पुरोहितः, सेनापतिः, युवराजः, दौवारिकः, अन्तर्वासिकः, प्रशासकः, समाहर्तृ—सन्निधातृ-प्रदेष्टृ-ज्ञापकाः, साधनाध्यक्षः, गजाध्यक्षः, कोशाध्यक्षः, दुर्गपाल—करपाल—सीमापाल—प्रोत्कटभृत्याः । एषां भेदेन द्राग्रिपुः साध्यते । स्वपक्षे च देवी, जननी, कञ्चुकी, मालिकः, शय्यापालकः, स्पशाध्यक्षः, सांवत्सरिकः, भिषग्, जलवाहकः, ताम्बूलवाहकः, आचार्यः, अङ्गरक्षकः, स्थानचिन्तकः, छत्रधरः, विलासिनी । एषां वैरद्वारेण स्वपक्षे विघातः । तथा च—

वैद्यसांवत्सराचार्याः स्वपक्षेऽधिकृताश्चराः ।
तथाऽऽहितुण्डिकोन्मत्ताः सर्वं जानन्ति शत्रुषु ॥६९॥

तीर्थ शब्द से राजकार्य मे नियुक्त पुरुष अभिप्रेत है । यदि वह तीर्थ (राजपुरुष) शत्रुपक्ष में मिला हुआ विश्वासघाती हो तो स्वामी (राजा) के विनाश का कारण होता है और यदि वही श्रेष्ठ हो तो उन्नति का कारण होता है । वे तीर्थ ये हैं—(१) मन्त्री (२) पुरोहित (३) सेनापति (४) युवराज (५) द्वाररक्षक (६) अन्तःपुररक्षक (७) कुलेक्टर (८) मालगुजारी एकत्र करने वाला (९) पुरुषो का परिचय कराने वाला (१०) न्यायाध्यक्ष (जज) (११) प्रजा की सूचनाओ अथवा आवेदनपत्रो को राजा को बताने वाला (पेशकार) (१२) सेनाका मुख्य अधिपति (१३) हस्ति—विभाग का अध्यक्ष (१४) खजाञ्ची (१५) किले का अधिकारी (१६) टैक्स वसूल करने वाला (पाठान्तर मे जेलर, कैदखाने का मालिक) (१७) सीमाप्रदेश की रक्षा करने वाला (१८) प्रिय भृत्य । इनको अपनी ओर मिला लेने से शत्रु शीघ्र ही वश मे हो जाता है । अपने पक्ष मे (१) राजपत्नी (२) राजमाता (३) अन्तःपुर मे रहने वाला वृद्ध ब्राह्मण (४) माली (५) शय्यारक्षक (६) गुप्तचरो का अध्यक्ष (७) ज्योतिषी (८) वैद्य (९) जल लाने वाला (१०) पानदान ले चलने वाला (११) आचार्य (१२) अङ्गरक्षक (१३) निवासाध्यक्ष (राजमहल का रक्षक) (१४) छत्रधर (१५) वेश्या । इनकी शत्रुता के द्वारा अपने वर्ग का विनाश होता है ।

अपने पक्ष मे वैद्य, ज्योतिषी और गुरु को गुप्तचर कार्य मे नियुक्त करना

चाहिये। तथा सपेरे और उन्मत्त (पागल) का वेश धारण करने वाले पुरुष शत्रुओ के सब हालत को जानते हैं। (अत शत्रुपक्ष मे इन्हे नियुक्त करना चाहिए। वैद्य आदि सब जगह आसानी से जा सकते हैं। इसलिये इनको गुप्तचर बनाना कहा गया है। इसी प्रकार सपेरे आदि भी बिना किसी सन्देह के शत्रुपक्ष मे जा सकते है।) ॥ ६९ ॥

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्त प्रणिधय पदम्।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तल विद्विषदम्भस. ॥७०॥

जिस प्रकार कार्यचतुर कारीगर लोग घाटो मे उतर कर (प्रवेश कर) गहरे जल की भी थाह पा लेते है इसी तरह कार्य को समझने वाले गुप्तचर मन्त्री आदि १८ तीर्थो मे अपना स्थान करके–उनमे हिलमिल कर–शत्रु के कार्य को जानें ॥ ७० ॥

एव मन्त्रिवाक्यमाकर्ण्यात्रान्तरे मेघवर्ण आह––'तात ? अथ किंनिमित्तमेवविध प्राणान्तिक सदैव वायसोलूकाना वैरम् ?' स आह––'वत्स !

इस तरह के मन्त्री के वचन सुनकर बीच मे ही मेघवर्ण बोला––'हे तात ! कौवे और उल्लुओ का यह प्राण लेने वाला वैर किस कारण से हुआ ?' वह बोला–वत्स !

कदाचिद्धस-शुक-वक-कोकिल-चातक उलूक-मयूर-कपोत-पारावत-विष्किरप्रभृतय सर्वेऽपि पक्षिण समेत्य सोद्वेग मन्त्रयितुमारब्धा।' अहो अस्माक तावद्वैनतेयो राजा, स च वासुदेवभक्तो न कामपि चिन्तामस्माक करोति। तत् कि तेन वृथास्वामिना ? यो लुब्धकपाशैर्नित्य निबध्यमानाना न रक्षा विधत्ते। उक्त च––

यो न रक्षति वित्रस्तान् पीडयमानान् परै सदा।
जन्तून् पार्थिवरूपेण स कृतान्तो न सशय ॥७१॥

किसी समय हस, तोता, बगुला, कोयल, पपीहा, उल्लू, मोर, कबूतर, परेवा और कुक्कुट आदि सब पक्षी इकट्ठे होकर शोकाकुल चित्त से परस्पर सलाह करने लगे––'हमारे राजा वैनतेय हैं, वे नारायण के भक्त हैं, परन्तु हमारी कुछ भी खबर नही लेते। इसलिये उस नाममात्र के स्वामी से क्या लाभ ? जो शिकारियो के जाल मे फँसते हुए हम लोगो की रक्षा नही करते। कहा भी है––

जो राजा शत्रुओ से सताये जाते हुए अतएव सदा ही भयभीत रहने वाले

प्राणियो की—अपनी प्रजा की—रक्षा नही करता वह निस्सन्देह राजा के रूप मे यम ही है ॥ ७१ ॥

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेताः तत' प्रजा ।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥७२॥

यदि अच्छा मार्गदर्शक—सन्मार्ग मे चलाने वाला—राजा न हो तब प्रजाएँ इस प्रकार नष्ट हो जाती हैं जैसे कि नाविक के बिना समुद्र मे नौका डूब जाती है ॥

षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्ना नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥७३॥
अरक्षितार राजानं भार्या चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकाम च गोपाल वनकामं च नापितम् ॥७४॥ (युग्मम्)

समुद्र मे टूटी हुई नाव के समान मनुष्य इन ६ पुरुषो को छोड देवे। (१) अच्छी तरह न पढाने वाले आचार्य (२) स्वाध्याय न करने वाले पुरोहित (३) रक्षा न करने वाले राजा (४) कटुभाषिणी पत्नी (५) ग्राम—पसन्द ग्वाले और (६) जगल चाहने वाले नाई को ॥ ७३—७४ ॥

तत्, सचिन्त्यान्य कश्चिद्राजा विहङ्गमाना क्रियतामि'ति। अथ तैर्भद्राकारमुलूकमवलोक्य सर्वैरभिहितम्—'यदेष उलूको राजाऽस्माक भविष्यति। तदानीयन्ता नृपाभिषेकसम्बन्धिन सम्भारा' इति । अथ साधिते विविधतीर्थोदके, प्रगुणीकृतेऽष्टोत्तरशतमूलिकासङ्घाते प्रदत्ते सिंहासने, वर्तिते सप्तद्वीपसमुद्रभूधरविचित्रे धरित्रीमण्डले, प्रस्तारिते व्याघ्रचर्मणि आपूरितेषु हेमकुम्भेषु दीपेषु वाद्येषु च सज्जीकृतेषु दर्पणादिषु माङ्गल्यवस्तुषु, पठत्सु वन्दिमुख्येषु, वेदोच्चारणपरेषु सनुदितमुखेषु ब्राह्मणेषु, गीतपरे युवतिजने, आनीतायामग्रमहिष्या कृकालिकायाम्, उलूकोऽभिषेकार्थं यावत्सिंहासन उपविशति, तावत्कुतोऽपि वायस समायात सोऽचिन्तयत्—अहो ! किमेष सकलपक्षिसमागमो महोत्सवश्च ? अथ ते पक्षिणस्त दृष्ट्वा मिथ प्रोचु—पक्षिणा मध्ये वायसश्चतुर श्रूयते। उक्त च—

नराणा नापितो धूर्त' पक्षिणाञ्चैव वायसः ।
दंष्ट्रिणाञ्च शृगालस्तु श्वेतभिक्षुस्तपस्विनाम् ॥७५॥

१ 'सप्तद्वीपवतीधरित्रीमण्डले' इति पाठान्तरम् ।

इसलिये विचार कर किसी दूसरे को पक्षियो का राजा वन अनन्तर उलूक को सुरूपवान् समझ उन सब ने कहा कि--'यह राजा होगा। इसलिये राज्याभिषेकसबन्धी सब वस्तुएँ लानी चाहिए नाना पवित्र नदियो के जल लाने, १०८ जडी-बूटियो के सगह रखने, पृथ्वीमण्डल का एक ऐसा चित्र---जिसमे कि सात द्वीप, र सात पर्वत चित्रित किये गये हो---बनाने, व्याघ्रचर्म बिछाने, (जल स) सुवर्ण-कलशो, (तेल से) दीपको और (मुखवायु से) वाद्यो के भरने, दपण आदि माङ्गलिक वस्तुओ के तैयार करने, उत्तम चारणो से स्तुति, पाठ करने, मिल कर--एक स्वर से ब्राह्मणो के वेदपाठ करने, युवतियो के गीत गाने, कृकालिका नामक प्रधान रानी के लाये जाने पर जिस समय उलूक राज्याभिषेक के लिये सिंहासन पर बैठने लगा उसी समय कही से कौवा आ गया। वह सोचने लगा--ये सब पक्षी क्यो एकत्रित हुए हैं और यह उत्सव कैसा है? उन पक्षियो ने उसको देख कर आपस मे कहा---पक्षियो मे कौवा चतुर सुना जाता है। कहा भी है---

मनुष्यो मे नाई, पक्षियो मे काक, दाढ वालो मे सियार और तपस्वियो मे श्वेताम्बर (जैन) चतुर सुना जाता है ॥ ७५ ॥

तदस्यापि वचन ग्राह्यम् उक्त च--

बहुधा बहुभि सार्ध चिन्तिता सुनिरूपिता।
कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नया ॥७६॥

इसलिये इसका भी वचन सुनना चाहिए। कहा भी है --

विद्वानो से सोचे हुए, अनेक मनुष्यो के साथ मिल कर तरह-तरह से विचारे हुए और अच्छे प्रकार निश्चित किये हुए नीति-प्रयोग किसी प्रकार भी अन्यथा नही होते---निष्फल नही जाते ॥ ७६ ॥

अथ वायस समेत्य तानाह---अहो! किं महाजनसमागमोऽयं, परम-महोत्सवश्च। ते प्रोचु --भो! नास्ति कश्चिद्विहङ्गमाना राजा, तदस्योलूकस्य विहङ्गराज्याभिषेको निरूपितस्तिष्ठति समस्तपक्षिभि। तत्त्वमपि स्वमत देहि प्रस्तावे समागतोसि। अथाऽसौ काको विहस्याऽऽह-अहो! न युक्तमेतत्, यन्मयूर--हस-कोकिल-चक्रवाक-शुक-कारण्डव-हारीत सारसादिषु

पक्षिप्रधानेषु विद्यमानेषु दिवान्धस्यास्य करालवक्त्रस्याभिषेक क्रियते। तन्नैतन्मम मतम् । यत —

वक्रनास सुजिह्माक्ष क्रूरमप्रियदर्शनम् ।
अक्रुद्धस्येदृशं वक्त्र भवेत्क्रुद्धस्य कीदृशम् ॥७७॥

तब कौवा उनके पास जाकर बोला—इतने अधिक मनुष्य क्यो एकत्रित हुए हैं और यह उत्सव कैसा हो रहा है ? उन्होने कहा—भद्र ! पक्षियो का कोई राजा नही है । इसलिये सब पक्षियो ने इस उल्लू को पक्षियो का राजा निश्चय किया है । तुम भी अपनी राय दो, क्योकि समय पर आ गये हो । तब कौवे ने हँस कर कहा—यह ठीक नही है कि मोर, हंस, कोयल, चकवा, शुक, जलमुर्गा, हारिल, सारस आदि प्रधान-प्रधान पक्षियो के रहते हुए इस दिवान्ध, भयानक मुख वाले उल्लू का राज्याभिषेक करते हो । इसलिये मेरी यह राय नही है । क्योकि —

विना क्रोध किये हुए भी जब इसका मुख ऐसा विकृत है कि नाक टेढी, आँखें कोने मे घुसी हुई है, मुख से कठोरता प्रतीत होती है तथा देखने मे भी भद्दा मालूम पडता है, तब जब इसे क्रोध आता होगा तो कैसा होता होगा ॥ ७७ ॥

स्वभावरौद्रमत्युग्र क्रूरमप्रियवादिनम् ।
उलूकं नृपतिं कृत्वा का न सिद्धिर्भविष्यति ॥७८॥

स्वभाव से ही भयङ्कर, अत्यन्त क्रोधी, कठोर और अप्रियभाषी इस उल्लू को राजा बनाने से हमे क्या लाभ होगा ? कुछ भी नही ॥ ७८ ॥

अपर, वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेष दिवान्ध क्रियते राजा ? तद्यद्यपिगुणवान् भवति तथाऽप्येकस्मिन् स्वामिनि स्थिते नान्यो भूप प्रशस्यते ।

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुव ।
युगान्त इव भास्वन्तो बहवोऽत्र विपत्तये ॥७९॥

और भी जब कि गरुड राजा मौजूद ही हैं तब इस दिवान्ध को राजा क्यो बनाते हो ! क्योकि कोई गुणवान् ही क्यो न हो परन्तु एक स्वामी के रहते हुए दूसरा राजा अच्छा नही समझा जाता ।

एक ही प्रतापी राजा ससार का कल्याणकारी होता है । प्रलयकाल मे अनेक सूर्यो के समान इस लोक मे अनेक नृपति प्रजा के लिये विपत्ति के कारण होते हैं ॥

१ कल्पान्ते सप्त सूर्या प्रकाशन्ते भुवञ्चातितरा तापयन्तीति विष्णुपुराणसवाद , केचित् द्वादशादित्या उदयन्ते तदेति वर्णयन्ति ।

इसलिये विचार कर किसी दूसरे को पक्षियो का राजा बन अनन्तर उलूक को सुरूपवान् समझ उन सब ने कहा कि—'यह राजा होगा। इसलिये राज्याभिषेकसबन्धी सब वस्तुएँ लानी चाहिए नाना पवित्र नदियो के जल लाने, १०८ जडी-बूटियो के माह रखने, पृथ्वीमण्डल का एक ऐसा चित्र—जिसमे कि सात द्वीप, स मात पर्वत चित्रित किये गये हो—बनाने, व्याघ्रचर्म बिछाने, (जल से) सुवर्ण-कलशो, (तेल से) दीपको और (मुखवायु से) वाद्यो के भरने, दर्पण आदि माङ्गलिक वस्तुओ के तैयार करने, उत्तम चारणो से स्तुति, पाठ करने, मिल कर-एक स्वर से ब्राह्मणो के वेदपाठ करने, युवतियो के गीत गाने, कृकालिका नामक प्रधान रानी के लाये जाने पर जिस समय उलूक राज्याभिषेक के लिये सिंहासन पर बैठने लगा उसी समय कही से कौवा आ गया। वह सोचने लगा—ये सब पक्षी क्यो एकत्रित हुए हैं और यह उत्सव कैसा है? उन पक्षियो ने उसको देख कर आपस मे कहा—पक्षियो मे कौवा चतुर सुना जाता है। कहा भी है—

मनुष्यो मे नाई, पक्षियो मे काक, दाढ वालो मे सियार और तपस्वियो मे श्वेताम्बर (जैन) चतुर सुना जाता है॥ ७५॥

तदस्यापि वचन ग्राह्यम् उक्त च—

बहुधा बहुभि सार्ध चिन्तिता सुनिरूपिता।
कथञ्चिन्न विलीयन्ते विद्वद्भिश्चिन्तिता नया ॥७६॥

इसलिये इसका भी वचन सुनना चाहिए। कहा भी है —

विद्वानो से सोचे हुए, अनेक मनुष्यो के साथ मिल कर तरह-तरह से विचारे हुए और अच्छे प्रकार निश्चित किये हुए नीति-प्रयोग किसी प्रकार भी अन्यथा नही होते—निष्फल नही जाते॥ ७६॥

अथ वायस समेत्य तानाह—अहो! किं महाजनसमागमोऽय, परम-महोत्सवश्च। ते प्रोचु—भो! नास्ति कश्चिद्विहङ्गमाना राजा, तदस्योलूकस्य विहङ्गराज्याभिषेको निरूपितस्तिष्ठति समस्तपक्षिभि। तत्त्वमपि स्वमत देहि, प्रस्तावे समागतोसि। अथाऽसौ काको विहस्याऽह-अहो! न युक्तमेतत्, यन्मयूर—हस-कोकिल-चक्रवाक-शुक-कारण्डव-हारीत सारसादिपु

पक्षिप्रधानेषु विद्यमानेषु दिवान्धस्यास्य करालवक्त्रस्याभिषेक क्रियते ! तन्नैतन्मम मतम् । यत —

वक्रनास सुजिह्माक्ष क्रूरमप्रियदर्शनम् ।
अक्रुद्धस्येदृश वक्त्रं भवेत्क्रुद्धस्य कीदृशम् ॥७७॥

तब कौआ उनके पास जाकर बोला—इतने अधिक मनुष्य क्यो एकत्रित हुए है और यह उत्सव कैसा हो रहा है ? उन्होने कहा—भद्र ! पक्षियो का कोई राजा नही है । इसलिये सब पक्षियो ने इस उल्लू को पक्षियो का राजा निश्चय किया है । तुम भी अपनी राय दो, क्योकि समय पर आ गये हो । तब कौवे ने हँस कर कहा—यह ठीक नही है कि मोर, हँस, कोयल, चकवा, शुक, जलमुर्गा, हारिल, सारस आदि प्रधान-प्रधान पक्षियो के रहते हुए इस दिवान्ध, भयानक मुख वाले उल्लू का राज्याभिषेक करते हो । इसलिये मेरी यह राय नही है । क्योकि —

बिना क्रोध किये हुए भी जब इसका मुख ऐसा विकृत है कि नाक टेढी, आँखें कोने मे घुसी हुई है, मुख से कठोरता प्रतीत होती है तथा देखने मे भी भद्दा मालूम पडता है, तब जब इसे क्रोध आता होगा तो कैसा होता होगा ॥ ७७ ॥

स्वभावरौद्रमत्युग्र क्रूरमप्रियवादिनम् ।
उलूक नृपतिं कृत्वा का न सिद्धिर्भविष्यति ॥७८॥

स्वभाव से ही भयङ्कर, अत्यन्त क्रोधी, कठोर और अप्रियभाषी इस उल्लू को राजा बनाने से हमे क्या लाभ होगा ? कुछ भी नही ॥ ७८ ॥

अपर, वैनतेये स्वामिनि स्थिते किमेष दिवान्ध क्रियते राजा ? तद्यद्यपिगुणवान् भवति तथाऽप्येकस्मिन् स्वामिनि स्थिते नान्यो भूप प्रशस्यते ।

एक एव हितार्थाय तेजस्वी पार्थिवो भुव. ।
युगान्त इव भास्वन्तो बहवोऽत्र विपत्तये ॥७९॥

और भी जब कि गरुड राजा मौजूद ही हैं तब इस दिवान्ध को राजा क्यो बनाते हो ! क्योकि कोई गुणवान् ही क्यो न हो परन्तु एक स्वामी के रहते हुए दूसरा राजा अच्छा नही समझा जाता ।

एक ही प्रतापी राजा ससार का कल्याणकारी होता है । प्रलयकाल मे अनेक सूर्यो के समान इस लोक मे अनेक नृपति प्रजा के लिये विपत्ति के कारण होते है ॥

---

१ कल्पान्ते सप्त सूर्या प्रकाशन्ते भुवञ्चातितरा तापयन्तीति विष्णुपुराणसवाद , केचित् द्वादशादित्या उदयन्ते तदेति वर्णयन्ति ।

तत्तस्य नाम्नाऽपि यूय परेषामगम्या भविष्यथ। उक्त च—

गुरूणा नाममात्रेऽपि गृहीते स्वामिसम्भवे।
दुष्टाना पुरत क्षेम तत्क्षणादेव जायते ॥८०॥

उस (गरुड) के नाम से ही शत्रुओ से तुम लोग बचे रहोगे (शत्रुओ से अप्राप्य होगे)। कहा भी है —

दुष्टो के सामने स्वामी का गौरवपूर्ण नाम लेने पर (चाहे वह बलवान् क्यो न हो) उसी समय अपनी रक्षा (कल्याण) होता है ॥ ८० ॥

तथा च—

व्यपदेशेन महता सिद्धि सञ्जायते परा।
शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशका सुखम् ॥८१॥

पक्षिण ऊचु —'कथमेतत् ?' स आह—

जैसा कहा भी है —

बडे पुरुषो के नाम से ही बहुत लाभ होता है, चन्द्रमा के नाम से खरगोश सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ८१ ॥

पक्षियो ने पूछा—'यह कैसे ?' वह (कौवा) कहता है—

कथा १

कस्मिंश्चिद्वने चतुर्दन्तो नाम महागजो यूथाधिप प्रतिवसति स्म। तत्र कदाचिन्महत्यनावृष्टि सञ्जाता प्रभूतवर्षाणि यावत्। तया तडागह्रद-पल्वलसरासि शोषमुपगतानि। अथ तै समस्तगजै स गजराज प्रोक्त —'देव! पिपासाकुला गजकलभा मृतप्राया अपरे मृताश्च। तदन्विष्यता कश्चिज्ज-लाशयो यत्र जलपानेन स्वस्थता व्रजन्ति।' ततश्चिर ध्यात्वा तेनाभिहि-तम—'अस्ति महाह्रदो विविक्ते प्रदेशे स्थलमध्यगत पातालगगाजलेन सदैव पूर्ण। तत्तत्र गम्यताम् इति।' तथानुष्ठिते पञ्चरात्रमुपसर्पद्भि समासादितस्तै स ह्रद। तत्र स्वेच्छया जलमवगाह्यास्तमनवेलाया नि-ष्क्रान्ता। तस्य च ह्रदस्य समन्ताच्छशकबिलानि असख्यानि सुकोमलभूमौ तिष्ठन्ति। तान्यपि समस्तैरपि तैर्गजैरितस्ततो भ्रमद्भि परिभग्नानि। बहव शशका भग्नपादशिरोग्रीवा विहिता, केचिन्मृता, केचिज्जीवशेषा जाता। अथ गते तस्मिन् गजयूथे शशका सोद्वेगा गजपादक्षुण्णसमावासा केचिद्भग्नपादा, अन्ये जर्जरितकलेवरा रुधिरप्लुता, अन्ये हतशिशवो

बाष्पपिहितलोचना समेत्य मिथो मन्त्र चक्रु---'अहो विनष्टा वयम्, नित्य-मेवैतद्गजयूथमागमिष्यति यतो नान्यत्र जलमस्ति। तत्सर्वेषा नाशो भवि-ष्यति च--

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जन.॥८२॥

किसी वन मे चतुर्दन्त नाम का एक बडा भारी यूथाधिप हाथी रहता था। किसी समय उस वन मे बहुत वर्षों तक बडी भारी अनावृष्टि-वर्षाभाव-हो गई। जिससे तडाग, ह्रद, तलैया और तालाब सूख गये। इसके बाद उन सब हाथियो ने उस गजराज से कहा--'हे राजन्! बच्चे प्यास से व्याकुल हो मरणासन्न हो रहे हैं और बहुत से तो मर भी गये। इसलिये कोई तालाब तलाश कीजिये जिसमे जल पीकर (सब) स्वस्थ हो जावें।' तब कुछ देर तक सोच कर उसने कहा--'एकान्त स्थान मे जमीन मे खुदा हुआ हमेशा पाताल गगा से भरा हुआ एक तालाब है। इसलिये वहाँ चलना चाहिए।' ऐसा करने पर (चलने पर) पाँच रात तक चलते-चलते वे लोग उस तालाब पर पहुँचे। वहाँ इच्छानुकूल जल स्नान कर सायङ्काल के समय (तालाब से) निकले। उस तालाब के चारो ओर मुलायम जमीन मे सैकडो खरगोशो के बिल थे। इधर उधर घूमते हुए उन हाथियो ने उन (खरगोश) के बिलो को कुचल डाला। बहुत से खरगोशो के पैर, सिर और गर्दन टूट गए, कुछ मर गये और कुछ अधमरे हो गये। हाथियो के उस झुण्ड के चले जाने पर घबडाये हुए वे खरगोश जिनके कि निवासस्थान हाथियो के पैर से कुचल गये थे और जिनमे कुछ के पैर टूट गये थे, कुछ के शरीर क्षत-विक्षत (घायल) हो गये थे, कुछ रुधिर से भीगे हुए थे और कुछ रो रहे थे जिनके कि बच्चे मारे गये थे वे सब इकट्ठे होकर सलाह करने लगे---'हम तो मारे गये यह हाथियो का झुण्ड नित्य ही यहाँ आयेगा क्योकि और जगह जल नही है। इसलिये सब का नाश हो जायगा।' कहा भी है ---

हाथी छूता हुआ, साँप सूँघता हुआ, राजा हँसता हुआ और दुष्ट पुरुष आदर भाव दिखाता हुआ मारता है॥ ८२॥

तच्चिन्त्यता कश्चिदुपाय। तत्रैक प्रोवाच--'गम्यता देशत्यागेन, किम-न्यत्।' उक्त च मनुना व्यासेन च--

त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे चात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥८३॥

इसलिये कोई उपाय सोचिये। उनमे से एक (खरगोश) बोला —'देश त्यागकर चले चलो, और क्या उपाय है।' मनु और व्यास ने भी कहा है —वश की रक्षा के लिये एक मनुष्य को छोड दे, गाम के लिए कुल परित्याग कर दे, देश के लिये ग्राम छोड दे और अपने लिये पृथिवी का परित्याग कर दे ॥ ८३ ॥

क्षेम्या शस्यप्रदा नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥८४॥

अपनी रक्षा के लिये राजा को चाहिये कि बिना किसी प्रकार का सोच-विचार करते हुए, सुखदायिनी, धान्य उत्पन्न करने वाली तथा पशुओ की वृद्धि करने वाली भी भूमि को छोड दे ॥ ८४ ॥

आपदर्थे धन रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सतत रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥८५॥

विपत्ति के समय (आपत्ति दूर करने के लिये) धन-सचय करना चाहिए। (सचित किये हुए) धनो के द्वारा (धन व्यय करके भी) अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए तथा पत्नी और धन दोनो के द्वारा अथवा दोनो की उपेक्षा करके भी अपनी रक्षा हमेशा करनी चाहिए ॥ ८५ ॥

ततश्चान्ये प्रोचु –'भो ! पितृ पैतामह स्थान न शक्यते सहसा त्यक्तुम् । तत्क्रियता तेषा कृते काचिद्विभीषिका । यत्कथमपि दैवान्न समायान्ति । उक्त च—

निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फटा ।
विष भवतु मा वाऽस्तु फटाटोपो भयङ्कर ॥८६॥

तव औरो ने कहा–'ऐ ! वाप-दादाओ से (वशपरम्परा से) आया हुआ स्थान अकस्मात् नही छोडा जा सकता। इसलिये उनको कोई भय दिखाना चाहिए। कदाचित् इस रीति से हमारे सौभाग्यवश वे यहाँ न आवें।' कहा भी है —

विपरहित भी साप को अपना फण फैलाना चाहिए। विप हो वा न हो, फण फैलाना ही भयदायी होता है ॥ ८६ ॥

अथान्ये प्रोचु —यद्येव ततस्तेषा महद्विभीषिकास्थानमस्ति येन नागमिष्यन्ति। सा च चतुरदूतायत्ता विभीषिका। यतो विजयदत्तो नामास्मत्स्वामी शशकश्चन्द्रमण्डले निवसति, तत्प्रेष्यता कश्चिन्मिथ्यादूतो यूथाधिपसकाश यच्चन्द्रस्त्वामत्र ह्रद आगच्छन्त निषेधयति, यतोऽस्मत्परिग्रहोऽस्य समन्ताद्वसति। एवमभिहिते श्रद्धेयवचनात्कदापि निवर्तते। अथान्ये प्रोचु —यद्येव, तदस्ति लम्बकर्णो नाम शशक । स च वचन रचनाचतुरो दूतकर्मज्ञ । स तत्र प्रेष्यतामिति। उक्त च—

साकारो नि स्पृहो वाग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः।
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते ॥८७॥

तब, दूसरे लोग कहने लगे—अगर यह बात है तो उनके लिये एक बडा भारी भय का कारण हो सकता है जिससे वे लोग न आयेंगे। परन्तु वह एक चतुर दूत के अधीन है। (उसे एक चतुर दूत ही कर सकता है।) जो विजयदत्त नामक हमारा स्वामी चन्द्रमा मे रहता है, (उसी के आधार पर हमारा यह कपट उपाय अवलम्बित है) कोई बनावटी दूत गजाधिपति के पास भेजना चाहिए (और कहना चाहिए कि) चन्द्रमा तुम्हे इस तालाब मे आने का निषेध करता है। क्योकि हमारे (चन्द्रमा के) परिजन लोग इसके चारो ओर रहते है। ऐसा कहने पर कदाचित् श्रद्धेय (चन्द्रमा) के वचन होने के कारण वे लौट जावें (फिर यहाँ न आवें)। तब अन्यो ने कहा—यदि ऐसा ही है तो लम्बकर्ण नाम का एक खरगोश है। वह बोलने मे निपुण और दूत-कार्य को जानने वाला है उसे वहाँ भेजना चाहिए। कहा भी है—

सुन्दर, लोभरहित, भाषण-चतुर, अनेक विद्याओ मे निपुण और दूसरो के मन की बात समझने वाला पुरुष राजा के दूत-कार्य के लिये अभीष्ट होता है (राजा ऐसे पुरुष को दूत बनाना पसन्द करता है) ॥८७॥

अन्यच्च—

यो मूर्ख लौल्यसम्पन्न राजद्वारिकमाचरेत्।
मिथ्यावाद विशेषेण तस्य कार्यं न सिध्यति ॥८८॥

और भी —जो राजा मूर्ख, लोभी और विशेषकर मिथ्याभाषी पुरुष को दूत बना कर राज-दरबार मे भेजता है उसका कार्य सिद्ध नही होता। (क्योकि मूर्ख

तो अपना अभिप्राय ठीक ठीक प्रकाशित ही नही कर सकता और लोभी पुरुष लोभवश शत्रु से मिलकर अपने स्वामी को हानि पहुँचा देते है) ॥ ८८ ॥

तदन्विष्यता यद्यस्माद् व्यसनादात्मना सुनिर्मुक्ति । अथान्ये प्रोचु'--'अहो युक्तमेतत् । नान्य कश्चिदुपायोऽस्माक जीवितस्य । तथैव क्रियताम् ।'

अथ लम्बकर्णो गजयूथाधिपसमीपे निरूपितो गतश्च । तथानुष्ठिते लम्बकर्णोऽपि गजमार्गमासाद्यागम्य स्थलमारुह्य त गजमुवाच-'भो भो दुष्ट ! गज ! किमेव लीलया नि शकयाऽत्र चन्द्रह्लद आगच्छसि ? तन्नागन्तव्य निवर्त्यताम्' इति । तदाकर्ण्य विस्मितमना गज आह--'भो ! कस्त्वम् ?' स आह--अह लम्बकर्णो नाम शशकश्चन्द्रमण्डले वसामि । साम्प्रत भगवता चन्द्रमसा तव पार्श्वे प्रहितो दूत । जानात्येव भवान्, यथार्थवादिनो दूतस्य न दोष करणीय । दूतमुखा हि राजान सर्व एव । उक्त च—

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु बन्धुवर्गवधेष्वपि ।
परुषाण्यपि जल्पन्तो वध्या दूता न भूभुजा ॥८९॥

यदि आप लोग इस सकट से छूटना चाहे तो कोई दूत तलाश करें और लोग कहने लगे--'यह (उपाय) ठीक है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय हमारे जीने का नही है । ऐसा ही करना चाहिए ।'

अनन्तर लम्बकर्ण को यूथाधिपति के पास भेजना निश्चय किया गया और वह गया । तब लम्बकर्ण हाथी के रास्ते मे (जिस मार्ग से हाथी तालाब पर आते थे) एक ऐसे (ऊँचे) स्थान पर--जहाँ हाथी नही पहुँच सकता था--चढकर उससे बोला--'अरे दुष्ट गज ! क्यो तू इस चन्द्रह्रद पर इतनी असावधानी और निर्भयता से आता है । तुमको यहाँ नही आना चाहिए, लौट जाओ ।' यह सुन कर आश्चर्य मे पड कर वह बोला--तू कौन है ? उसने कहा--मैं लम्बकर्ण नाम का खरगोश चन्द्र-मण्डल मे रहता हूँ । इस समय भगवान् चन्द्रमा मुझ तेरे पास दूत बनाकर भेजा है । आप यह जानते है कि--यथार्थवादी (जैसा उसके स्वामी ने कहा है वैसा ही कहने वाले) दूत को दोष नही देना चाहिए । क्योकि सब ही राजा दूत-मुख होते हैं (दूत के द्वारा ही अपना सन्देश कहते हैं, यदि उनको ही मार दिया जाय तो एक का सन्देश दूसरे के पास पहुँच ही नही सकेगा) । कहा भी है --

तलवार आदि शस्त्रो के उठाये जाने पर, बन्धुओ के मर जाने पर भी, कठोर वचन कहने वाले भी दूतो को न मारना चाहिए ॥ ८९ ॥

तच्छ्रुत्वा स आह—'भो शशक ! तत्कथय भगवतश्चन्द्रमस सन्देशम्, येन सत्वर क्रियते'। स आह—'भवतातीतदिवसे यूथेन सहागच्छता प्रभूता शशका निपातिता, तत्किं न वेत्ति भवान्, यन्मम परिग्रहोऽयम्। तद्यदि जीवितेन ते प्रयोजन तदा केनापि प्रयोजनेनाऽप्यत्र ह्रदे नागन्तव्यमि'ति सन्देश। गज आह—'अथ क्व वर्तते भगवान् स्वामी चन्द्र।' स आह—'अत्र ह्रदे साम्प्रत शशकाना भवद्यूथमथिताना हतशेषाणा समाश्वासनाय समायातस्तिष्ठति। अह पुनस्तवान्तिक प्रेषित।' गज आह—'यद्येव तद्दर्शय मे त स्वामिन येन प्रणम्यान्यत्र गच्छामि।' शशक आह—'आगच्छ मया सहैकाकी येन दर्शयामि।' तथानुष्ठिते शशको निशासमये त ह्रदतीरे नीत्वा जलमध्ये स्थित चन्द्रबिम्बमदर्शयत्। आह च—'भो ! एष न स्वामी जलमध्ये समाधिस्थस्तिष्ठति तन्निभृत प्रणम्य व्रजेति, नो चेत्समाधिभङ्गभयात् भूयोऽपि प्रभूत कोप करिष्यति।' अथ गजोऽपि त्रस्तमनास्त प्रणम्य पुनर्गमनाय प्रस्थित। शशकाश्च तद्दिनादारभ्य सपरिवारा सुखेन स्वेषु स्थानेषु तिष्ठन्ति स्म। अतोऽह ब्रवीमि 'व्यपदेशेन महताम्' इति। अपि च—

क्षुद्रमलस कापुरुषं व्यसनिनमकृतज्ञं जीवितकाम ।
पृष्ठप्रलपनशील स्वामित्वेन नाभियोजयेत् ॥९०॥

यह सुन कर वह (गज) बोला—'शशक ! भगवान् चन्द्र का सन्देश कहिए जिससे कि शीघ्र ही उसका पालन किया जाय।' उसने कहा—(चन्द्रमा का यह सदेश है कि) कल अपने हाथियो के साथ आते हुए आपने बहुत से खरगोश मार डाले। क्या आप यह बात नही जानते कि ये लोग मेरे आश्रित हैं। अगर तुम जीना चाहो तो किसी भी काम से तुम इस तालाब पर न आना। गज ने कहा—'भगवान् स्वामी चन्द्र कहाँ है !' वह बोला—'इस समय वह आप के समूह से कुचले हुए परन्तु मरने से बचे हुए (खरगोशो को) तसल्ली देने के लिये इस तालाब मे आए हुए हैं और मुझे तुम्हारे पास भेजा है' गज ने कहा—'अच्छा, मुझे स्वामी के दर्शन कराओ जिससे (उन्हे) प्रणाम कर अन्यत्र चला जाऊँ।' खरगोश ने कहा—'मेरे साथ अकेले आओ तब (तुम्हे) दर्शन करा दूँ तब, खरगोश रात्रि के समय उस हाथी को तालाब के किनारे ले गया और पानी मे पडता हुआ चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब (परछाई) उसे दिखाया। और कहने लगा—

यह हमारे स्वामी जल मे ध्यानमग्न स्थित है इसलिये चुपचाप प्रणाम करके जल्दी चले जाओ नहीं तो समाधि के भङ्ग होने से फिर भी अधिक क्रोध करेंगे।' तब हाथी भी भयभीत होकर उसे प्रणाम कर जाने के लिये रवाना हो गया। खरगोश भी उसी दिन से परिवार सहित अपने स्थानो मे रहने लगे। इसलिये मैं कहता हूँ कि 'बडो का नाम लेने से' इत्यादि।

और भी—

जीवित रहने की इच्छा रखने वाले पुरुष को चाहिए कि नीच स्वभाव, आलसी, कायर या निन्द्य, मृगया आदि व्यसनो मे फँसे हुए, कृतघ्न, पीठ पीछे (परोक्ष मे) निन्दा करने वाले पुरुष को कभी भी अपना स्वामी न बनाये ॥९०॥

तथा च—

क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य न्यायान्वेषणतत्परौ।
उभावपि क्षयं प्राप्तौ पुरा शशकपिञ्जलौ ॥९१॥

ते प्रोचु —कथमेतत् ? स आह—

जैसे कहा भी है —

पहिले किसी समय न्याय की तलाश करने वाले शश और कपिञ्जल दोनो ही नीच विचारक पाकर नष्ट हो गये ॥ ९१ ॥

उन (पक्षियो) ने पूछा यह कैसे है ? वह (कौआ) बोला—

कथा २

कस्मिंश्चिद् वृक्षे पुराऽहमवसम्। तत्राधस्तात्कोटरे कपिञ्जलो नाम चटक प्रतिवसति स्म। अथ सदैवास्तमनवेलायामागतयोर्द्वयोरनेकसुभाषितगोष्ठ्या देवर्षिब्रह्मर्षिराजर्षिपुराणचरितकीर्तनेन च पर्यटनदृष्टानेककौतूहलप्रकथनेन च परमसुखमनुभवतो कालो व्रजति। अथ कदाचित्कपिञ्जल प्राणयात्रार्थमन्यैश्चटकै सहान्य पक्वशालिप्राय देशङ्गत। ततो यावन्निशासमयेऽपि नायातस्तावदह सोद्वेगमनास्तद्वियोगदु खितश्चिन्तितवान्—अहो किमद्य कपिञ्जलो नायात। किं केनापि पाशेन बद्ध ? आहोस्वित् केनापि पाशेन बद्ध ? सर्वथा यदि कुशली भवति तन्मा विना न तिष्ठति। एवं मे चिन्तयतो बहून्यहानि व्यतिक्रान्तानि। ततश्च

तत्र कोटरे कदाचिच्छीघ्रगो नाम शशकोऽस्तमनवेलायामागत्य प्रविष्ट । मयापि कपिञ्जलनिराशत्वेन न निवारित । अथान्यस्मिन्नहनि कपिञ्जल शालिभक्षणादतीव पीवरतनु स्वाश्रय स्मृत्वा भूयोऽप्यत्रैव समायात । अथवा साध्विद मुच्यते—

न तादृग्जायते सौख्यमपि स्वर्गे शरीरिणाम् ।
दारिद्र्येऽपि हि यादृक्स्यात्स्वदेशे स्वपुरे गृहे ॥ ९२ ॥

पहिले मैं किसी वृक्ष पर रहता था। वही पर नीचे के कोटर मे कपिञ्जल नाम का एक पक्षी रहता था। सायङ्काल के समय सदा ही हम दोनो जब आते थे तब तरह-तरह की मधुर बातचीत करते, देवर्षि, ब्रह्मर्षि और राजर्षियो के पुराणो मे वर्णित चरित्र कहते और घूमने के समय देखे हुए विचित्र वस्तुओ का वर्णन करते थे। इस प्रकार बडे आनन्द से हमारा समय बीतता था। एक समय कपिञ्जल भोजन की तलाश मे दूसरे चटको के साथ, पके हुए शालि धान्य से भरे हुए किसी दूसरे स्थान को चला गया। जब वह रात हो जाने पर भी नही आया तब मैं घबडाकर उसके वियोग दु ख से पीडित हो सोचने लगा—आज कपिञ्जल क्यो नही आया ? क्या किसी ने जाल मे बाँध लिया ? अथवा किसी ने मार डाला ? इस तरह सोचते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये। अनन्तर एक समय उसी कोटर मे शीघ्रग नाम का शशक सायङ्काल के समय आकर प्रविष्ट हुआ। मैं कपिञ्जल के विषय मे निराश हो चुका था। इसलिए मैंने भी नही रोका। इसके बाद एक दिन कपिञ्जल, अनाज खाने से मोटा ताजा होकर अपने स्थान को याद कर आया। यह ठीक ही कहा है —

देहधारियो को स्वर्ग मे भी वैसा सुख नही होता जैसा कि दरिद्रावस्था मे भी अपने देश, अपने नगर और अपने घर मे होता है ॥ ९२ ॥

अथाऽसौ कोटरान्तर्गत शशक दृष्ट्वा साक्षेपमाह 'भो शशक ! न त्वया सुन्दर कृत यन्ममावसथस्थाने प्रविष्टोऽसि। तच्छीघ्र निष्क्रम्यताम् ।' शशक आह—'न तवेद गृह, किन्तु ममैव ! तत्कि मिथ्या परुषाणि जल्पसि ।' उक्त च—

वापीकूपतडागानां देवालयकुजन्मनाम् ।
उत्सर्गात्परतः स्वाम्यमपि कर्तुं न शक्यते ॥ ९३ ॥

तब वह (कपिञ्जल) कोटर के अन्दर खरगोश को देखकर तिरस्कारपूर्वक

बोला 'हे शशक ! तुमने यह अच्छा नही किया कि जो तुम मेरे घर मे आ घुसे। इसलिये शीघ्र ही निकल जाओ।' शशक ने कहा—'यह घर तुम्हारा नही है किन्तु मेरा ही है फिर क्यो झूठे ही कठोर वचन कहते हो।' कहा भी है —

प्रतिष्ठा करने के बाद बावडी, कुआँ, तालाब तथा देवमन्दिर और वृक्ष इन वस्तुओ पर किसी का अधिकार नही रहता ॥ ९३ ॥

तथा च—

प्रत्यक्ष यस्य यद्भुक्त क्षेत्राद्य दश वत्सरान्।
तत्र भुक्ति प्रमाण स्याद् न साक्षी नाक्षराणि वा ॥ ९४ ॥

जैसे कहा भी है —

पहले जिसने दस वर्ष तक जिस क्षेत्र (खेत) का भोग किया है उसमे कोई साक्षी या हस्ताक्षर प्रमाण नही माना जाता है, केवल भोग प्रमाण होता है। क्षेत्र भोगनेवाले का ही माना जाता है ॥ ९४ ॥

मानुषाणामय न्यायो मुनिभि• परिकीर्तित ।
तिरश्चा च विहङ्गानां यावदेव समाश्रय ॥ ९५ ॥

मुनियो ने यह पूर्वोक्त निर्णयशैली मनुष्यो के सम्बन्ध मे कही है, पशु तथा पक्षियो को (किसी स्थान पर) तभी तक स्वत्व रहता है जब तक वे वहाँ रहते हैं।

'तन्ममैतद्गृहम्, न तवेति।' कपिञ्जल आह-'भो ! यदि स्मृति प्रमाणीकरोषि तदागच्छ मया सह येन स्मृतिपाठक पृष्ट्वा स यस्य ददाति स गृह्णातु।' तथानुष्ठिते मयापि चिन्तितम्-किमत्र भविष्यति ? मया द्रष्टव्योऽत्र न्याय। तत कौतुकादहमपि तावनुप्रस्थित। अत्रान्तरे तीक्ष्णदष्ट्रो नामारण्यमार्जारस्तयोर्विवाद श्रुत्वा मार्गासन्न नदीतटमासाद्य कृतकुशोपग्रहो निमीलितनयन ऊर्ध्वबाहुरर्धपादस्पृष्टभूमि श्रीसूर्याभिमुख इमा धर्मोपदेशनामकरोत्—अहो ! असारोऽय ससार। क्षणभङ्गुरा प्राणा। स्वप्नसदृश• प्रियसमागम। इन्द्रजालवत् कुटुम्बपरिग्रहोऽयम्, तद्धर्म मुक्त्वा नान्या गतिरस्ति। उक्त च—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वत ।
नित्य सन्निहितो मृत्यु कर्तव्यो धर्मसंग्रह ॥ ९६ ॥

इसलिये यह घर मेरा ही है न कि तुम्हारा।' कपिञ्जल ने कहा—'अगर तुम

धर्मशास्त्र को प्रमाण मानते हो तो मेरे साथ आओ किसी धर्मशास्त्री से पूछें, वह जिसको (यह वृक्ष कोटर) दे वही ले। ऐसा करने पर (जब वे दोनो चल दिये) मैंने सोचा—इस विषय में क्या होगा ? यह मुकदमा मुझे देखना चाहिए। तब कौतुकवश मैं भी उनके पीछे चल दिया। इसी समय तीक्ष्णदंष्ट्र नाम का जङ्गली बिलाव उनके इस झगडे को सुन कर मार्ग के पास वाली नदी के किनारे पर पहुँच, हाथ मे कुशा ले, आँख मीच, ऊपर को भुजा उठा, पैर के अग्रभाग से भूमि को छूता हुआ (खडा होकर), सूर्याभिमुख होकर यह (आगे वर्णित) धर्मोपदेश करने लगा—'ओह ! यह ससार असार है ! जीवन क्षणभङ्गुर है। प्रियो का समागम स्वप्न समान है। कुटुम्ब का परिपालन इन्द्रजाल (जादू) के सदृश झूठा है। इसलिये धर्म को छोडकर दूसरी गति नही है।' कहा भी है :—

शरीर नाशवान् है, धनसपत्ति हमेशा रहने वाली नही, मौत हर समय सिर पर खडी है इसलिये धर्म-सचय करना चाहिए ॥ ९६ ॥

यस्य धर्मविहीनानि दिनान्यायान्ति यान्ति च।
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥ ९७ ॥

जिस पुरुष के दिन, धर्मानुष्ठान के बिना आते और चले जाते है (व्यतीत होते हैं) वह लुहार की धौकनी के समान श्वास लेता हुआ भी जीवित नही है (उस मनुष्य को जीवित नही कह सकते) ॥ ९७ ॥

नाच्छादयति कौपीनं न दशमशकापहम्।
शुन. पुच्छमिव व्यर्थं पाण्डित्यं धर्मवर्जितम् ॥ ९८ ॥

जो (कुत्ते की पूँछ) न तो गुह्य अङ्ग को ढकनी और जो न मक्खी तथा मच्छर आदि को उडा ही सकती है ऐसी कुत्ते की पूँछ के समान धर्मशून्य शास्त्र-चातुर्य (जो न तो वैराग्य उत्पन्न कर कौपीन धारण करता (सन्यासी बनता) और न मच्छर आदि के समान मनोविकारो (काम आदि) को ही नष्ट कर सकता है) निष्फल ही है ॥ ९८ ॥

अन्यच्च—

पुलाका इव धान्येषु पूतिका इव पक्षिषु।
मशका इव मर्त्येषु येषां धर्मो न कारणम् ॥ ९९ ॥

जैसे धान्यो मे पुलाक, पक्षियो मे पूतिका (पतङ्ग) और प्राणियो मे मच्छर तुच्छ और निन्दनीय है उसी प्रकार धर्मविमुख मनुष्य तुच्छ और निन्दनीय है ।९९।

श्रेय· पुष्पफल वृक्षाद्दध्न. श्रेयो घृत स्मृतम् ।
श्रेयस्तैल च पिण्याकाच्छ्रेयान्धर्मस्तु मानुषात् ।। १०० ।।

वृक्ष की अपेक्षा फूल तथा फल श्रेष्ठ होते है, दही से घी उत्तम होता है, खली से तेल श्रेष्ठ है और मनुष्य-शरीर से धमकार्य श्रेष्ठ होते है ।। १०० ।।

सृष्टा मूत्रपुरीषार्थमाहाराय च केवलम् ।
धर्महीनाः परार्थाय पुरुषा पशवो यथा ।। १०१ ।।

धर्महीन पुरुष (जो धार्मिक कृत्यो का अनुष्ठान नही करते) जो केवल मल-मूत्र के त्याग और पेट भरने के लिये ही यत्न करते है वे पशुओ के समान अन्य पुरुषो का कार्य करने के लिये बनाये गये हैं ।। ०१ ।।

स्थैर्य सर्वेषु कृत्येषु शसन्ति नयपण्डिता ।
बह्वन्तराययुक्तस्य धर्मस्य त्वरिता गति ।। १०२ ।।

नीतिज्ञ पुरुष सब कार्यों मे स्थिरता (जल्दबाजी न करना) की प्रशसा करते है परन्तु अनेक विघ्नो से युक्त धर्म की चाल तेज है (अर्थात् धर्मकार्य शीघ्र कर कर डालने चाहिए) ।। १०२ ।।

सङ्क्षेपात्कथ्यते धर्मो जना । किं विस्तरेण व ।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम् ।। १०३ ।।

हे मनुष्यो ! सङक्षेप से तुम्हे धर्म का स्वरूप बताता हूँ, विस्तार से क्या लाभ ? परोपकार पुण्य और दूसरो को दुख देना ही पाप है ।। १०३ ।।

श्रूयतां धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।। १०४ ।।

धर्म का सार सुनो और सुनकर (हृदय मे) धारण करो, जो कार्य अपने लिये अहितकर प्रतीत हो उन्हे दूसरो के साथ भी मत करो । (अथवा-शास्त्रनिषिद्ध कार्य न तो अपने ही लिये करो और न दूसरो के लिये) ।। १०४ ।।

अथ तस्य ता धर्मोपदेशना श्रुत्वा शशक आह—'भो भो ! कपिञ्जल ! एट [illegible] धर्मवादी तिष्ठति । तदेन पृच्छाव ।' कपिञ्जल [illegible] मस्माक शत्रुभूत । तद् दूरे स्थित्वा पृच्छाव । [illegible] वेत ।' ततो दूरस्थौ तावूचतु—'भोस्तपस्विन् [illegible] गदो वर्तते । [illegible] र्गशास्त्रद्वारेणा-स्माक निर्ण [illegible] द [illegible] ाह—'भद्रौ ।

मामैव वदतम्, निवृत्तोऽहं नरकमार्गाद्धिंसाकर्मण अहिंसैव धर्ममार्ग ।'
उक्त च—

अहिंसापूर्वको धर्मो यस्मात्सद्भिरुदाहृतः ।
यूकामत्कुणदंशादींस्तस्मात्तानपि रक्षयेत् ॥ १०५ ॥
हिंसकान्यपि भूतानि यो हिंसति स निर्घृण ।
स याति नरक घोर किं पुनर्य. शुभानि च ॥ १०६ ॥

उनके इस धर्मोपदेश को सुनकर खरगोश बोला—'हे कपिञ्जल ! नदी के किनारे धर्मतत्त्व का निरूपण करने वाला यह तपस्वी खड़ा है । इसी से पूछें ।' कपिञ्जल बोला—'यह हमारा स्वभाव से ही शत्रु है । इसलिये दूर खड़े होकर पूछना चाहिए । कदाचित् (हमारे खाने के लोभ से) इसका व्रत-भङ्ग हो जावे ।' तब दूर खड़े हो उन्हो-(शशक तथा कपिञ्जल) ने कहा—'हे धर्मोपदेष्टा तपस्विन् ! हम दोनो का एक मुकदमा है, धर्मशास्त्रानुसार उसका निर्णय करो । जिसका पक्ष निर्बल हो (जो झूठा हो) उसे तुम खा जाना ।' वह बोला—'हे भद्र पुरुषो ! ऐसा मत कहो । मैं नरक के मार्ग वाला हिंसा कर्म को छोड़ चुका हूँ । क्योंकि अहिंसा ही धर्म का मार्ग है ।' कहा भी है :—

क्योकि धर्मवित् मनुष्यो ने धर्म को अहिंसामूलक कहा है । इसलिये अत्यन्त क्षुद्र (नीच) यूका, खटमल और डास आदि को भी न मारना चाहिए । जो मनुष्य हिंसक प्राणियो को भी मारता है वह निर्दयी कहलाता है और वह भीषण नरक को प्राप्त होता है और जो अहिंसक पशुओ को मारता है उसका तो कहना ही क्या है (वह तो घोर नरक को प्राप्त होता ही है ॥ १०५-१०६ ॥

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति, ते मूर्खा , परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति । तत्र किलैतदुक्तम्—'अजैर्यष्टव्यम् । अजा व्रीहयस्तावत्सप्त-वार्षिका. कथ्यन्ते न पुन पशुविशेष' उक्त च—

वृक्षांश्छित्त्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ।
यद्येव गम्यते स्वर्गे नरक केन गम्यते ॥ १०७ ॥

तन्नाहं भक्षयिष्यामि । पर जयपराजयनिर्णय करिष्यामि । किन्त्वहं वृद्धो दूरान्न यथावच्छृणोमि । एव ज्ञात्वा मम समीपवर्तिनौ भूत्वा ममाग्रे न्याय वदत, येन विज्ञाय, विवादपरमार्थं वचो वदतो मे परलोकबाधा न भवति ।

और, ये जो याज्ञिक लोग यज्ञ मे पशुओ को मारते है वे अत्यन्त मूर्ख हैं, क्योकि वे श्रुति का वास्तविक अर्थ नही समझते। वहां (श्रुति में) केवल यह कहा है कि 'अजो से यज्ञ करना चाहिए'। (वस्तुतः) सात वर्ष के पुराने यव 'अज' कहलाते हैं न कि पशु विशेष। कहा भी है -

वृक्ष काटकर, पशुओ को मार कर तथा (उनके) रुधिर से कीचड करके यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक पहुँचाने वाला कौन सा कर्म है ? ॥१०७॥

इसलिये मैं तुम्हे खाऊंगा नही, हाँ, तुम्हारी हार-जीत का निर्णय अवश्य करूँगा। परन्तु मैं वृद्ध होने के कारण दूर से ठीक-ठीक सुन नही पाता। इसलिये मेरे पास आकर, अपना विवाद पेश करो जिससे मैं (उसे) अच्छी तरह समझ कर ठीक-ठीक निर्णय कर सकूं ताकि मेरे परलोक-प्राप्ति मे कोई विघ्न न पडे।

उक्त च—

मानाद्वा यदि वा लोभात्क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते स याति नरक नरः॥ १०८॥

जो पुरुष अपना सम्मान स्थिर रखने के लिये अथवा लोभ से, किंवा क्रोध के वशीभूत हो अथवा (किसी के) भय से अपना निर्णय ठीक नही देता तो वह नरकगामी होता है॥ १०८॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतं कन्याऽनृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥ १०९॥

पशु के लिये झूठ बोलने मे पाँच (पुरुषो) को मारता है (पाँच पुरुषो की हत्या का फल पाता है) गौ के लिये झूठ बोलने मे दस को मारता है, कन्या के विषय मे मिथ्या भाषण करने पर सौ पुरुषो को मारता है और पुरुष के विषय मे झूठ बोलने पर १००० पुरुषो को मारता है॥ १०९॥

उपविष्ट सभामध्ये यो न वक्ति स्फुटं वच।
तस्माद् दूरेण स त्याज्यो न्यायो वा कीर्तयेदृतम्॥ ११०॥

जो मनुष्य न्यायसभा मे बैठ कर साफ-साफ नही बोलता (निर्भय हो अपना फैसला नही देता) ऐसे पुरुष को दूर से ही छोड देना चाहिए (न्यायासन से हटा देना चाहिए) क्योकि सत्य बोलना ही न्याय है। (यह राजा का कर्तव्य है कि बात का निरीक्षण करे)॥ ११०॥

तस्माद्विश्रब्धौ मम कर्णोपान्तिके स्फुटं निवेदयतम् ।' किं बहुना—तेन क्षुद्रेण तथा तौ तूर्णं विश्वासितौ यथा तस्योत्सङ्गवर्तिनौ जातौ । ततश्च तेनापि समकालमेवैकः पादान्तेनाक्रान्तोऽन्यो दंष्ट्राक्रकचेन च ततो गतप्राणौ भक्षिताविति । अतोऽहं ब्रवीमि—'क्षुद्रमर्थपतिं प्राप्य' इति ।

इसलिए नि शङ्क हो मेरे कान के पास आकर साफ-साफ कहो । अधिक क्या (कहा जाय)—उस पापी ने शीघ्र ही उनको ऐसा विश्वास दिला दिया कि वे उसकी गोद मे जा बैठे । तब उसने एक साथ ही एक को पैर के अग्रभाग से और दूसरे को आरे के समान (तेज) दांतो से पकड लिया । अनन्तर उन्हे मार कर खालिया । इसलिये मैं कहता हूँ—'नीच स्वामी को पाकर' इत्यादि ।

भवन्तोऽप्येनं दिवान्धं क्षुद्रमर्थपतिमासाद्य रात्र्यन्धाः सन्तः शशकपिञ्जलमार्गेण यास्यन्ति । एवं ज्ञात्वा यदुचितं तद्विधेयम् । अथ तस्य तद्वचनमाकर्ण्य 'साध्वनेनाभिहितमि' त्युक्त्वा 'भूयोऽपि पार्थिवार्थं समेत्य मन्त्रयिष्यामहे' इति ब्रुवाणाः सर्वे पक्षिणो यथाभिमतं जग्मुः । केवलमवशिष्टः भद्रासनोपविष्टोऽभिषेकाभिमुखो दिवान्धः कृकालिकया सहास्ते । आह च—कः कोऽत्र भोः ! किमद्यापि न क्रियते ममाभिषेकः ? इति श्रुत्वा कृकालिकयाऽभिहितम्—'भद्र ! कृतोऽयं विघ्नस्ते काकेन । गताश्च सर्वेऽपि विहगा यथेप्सितासु दिक्षु केवलमेकोऽयं वायसोऽवशिष्टः तिष्ठति केनापि कारणेन । तत्त्वरितमुत्तिष्ठ' येन त्वां स्वाश्रयं प्रापयामि । तच्छ्रुत्वा स विषादमुलूको वायसमाह—'भो भोः ! दुष्टात्मन् ! किं मया तेऽपकृतम् ? यद्राज्याभिषेको मे विघ्नितः तदद्यप्रभृति सान्वयमावयोर्वैरं संजातम् ।' उक्तं च—

आप लोग भी इस दिन मे अन्धे, नीच स्वामी को पाकर रात्रि मे अन्धे होने के कारण शशक और कपिञ्जल की गति पाओगे । यह समझ कर उचित कार्य करो । उसकी यह बात सुन कर 'इसने बहुत ठीक कहा है' यह कह कर सब पक्षी फिर किसी समय मिलकर राजा के विषय मे विचार करेंगे' ऐसा कहते हुए अपने-अपने स्थान को चले गये । वहाँ केवल कृकालिका के साथ राजसिंहासन पर बैठा हुआ उल्लू अपने अभिषेक की प्रतीक्षा करता रहा । वह बोला—यहाँ कौन है ? अब भी (इतना विलम्ब होने पर भी) मेरा अभिषेक क्यो नही करते ? यह सुन कृकालिका ने कहा'—तुम्हारे अभिषेक मे कौवे ने विघ्न डाल दिया । सब पक्षी इधर-उधर चले गये । केवल यह कौवा किसी कारण से बैठा है, इसलिये जल्दी

उठो' तुमको तुम्हारे स्थान पर पहुँचा दूँ। यह सुन उल्लू ने दुःखपूर्वक कौवे से कहा 'अरे दुष्ट ! मैंने तेरी क्या बुराई की है ? जो तूने मेरे राज्याभिषेक मे विघ्न डाला। इसलिये आज से हमारा-तुम्हारा वंश परम्परा तक वैर हो गया।' कहा भी है

रोहते सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना।
वचो दुरुक्तं बीभत्सं न प्ररोहति वाक्क्षतम् ॥ १११ ॥

बाणो से विद्ध अङ्ग आदि भर जाता है तलवार का घाव भी पूरा हो जाता है किन्तु वाणी से विद्ध (हृदय) कभी नही भरता इसलिये दुर्वाच्य और घृणास्पद वचन कभी न बोलना चाहिए ॥ ११ ॥

इत्येवमभिधाय, कृकालिकया सह स्वाश्रय गतः। अथ भयव्याकुलो वायसो व्यचिन्तयत्—अहो! अकारण वैरमासादित मया, किमिद व्याहृतम्। उक्त च —

अदेशकालज्ञमनायतिक्षमं यदप्रियं लाघवकारि चात्मनः।
योऽत्राब्रवीत्कारणवर्जितं वचो न तद्वचः स्याद्विषमेव तद्भवेत् ॥११२॥

यह कह कर (उल्लू) कृकालिका के साथ अपने स्थान को चला गया। अनन्तर भय से व्याकुल होकर कौवा सोचने लगा—ओह ! विना कारण ही मैंने वैर मोल ले लिया, यह मैंने क्या कह डाला। कहा भी है —

इस ससार मे जो मनुष्य बिना कारण ही, देश-काल के विरुद्ध, भविष्य मे दुःखदायी, अप्रिय और अपना ओछापन प्रकाशित करने वाला वचन बोलता है वह वचन नही है किन्तु वह विष ही होता है ॥ ११२ ॥

बलोपपन्नोऽपि हि बुद्धिमान्नरः, परं नयेन्न स्वयमेव वैरिताम्।
'भिषङ्ममास्ती'ति विचिन्त्य भक्षयेदकारणात् को हि विचक्षणो विषम्॥

बुद्धिमान् पुरुष बलवान् होने पर भी अपनी ओर से किसी के साथ शत्रुता पैदा न करे। कौन समझदार पुरुष (चिकित्सा के लिए) मेरे पास वैद्य है' यह समझ कर विना कारण ही विष खायगा ? ॥ ११३ ॥

परपरिवादः परिषदि न कथञ्चित्पण्डितेन वक्तव्यः।
सत्यमपि तन्न वाच्यं यदुक्तमसुखावहं भवति ॥११४॥

पण्डित को चाहिए कि सभा मे (दूसरो के सामने किसी की निन्दा न करे और वह सत्य भी न कहना चाहिए जो कहने पर दुखदायी हो (अप्रीतिकर हो)।११४।

सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारित स्वय च बुद्धया प्रविचारिताश्रयम् ।
करोति कार्यं खलु यः स बुद्धिमान् स एव लक्ष्म्या यशसा च भाजनम् ।११५।

वही पुरुष बुद्धिमान् है और वही ऐश्वर्य तथा कीर्ति का भागी होता है जो विश्वस्त मित्रो के द्वारा बार-बार विचार किये गये हुए और स्वय भी अपनी बुद्धि के अनुसार सावधानी के साथ सोचे हुए कार्य को करता है ॥ ११५ ॥

एव विचिन्त्य काकोऽपि प्रयात । तदाप्रभृत्यस्माभि सह कौशिकानामन्वयागत वैरमस्ति ।

मेघवर्ण आह—तात ! एवङ्गतेऽस्माभि किं क्रियेत ? स आह—'वत्स ! एवङ्गतेऽपि षाड्गुण्यादपर स्थूलोऽभिप्रायोऽस्ति । तमङ्गीकृत्य स्वयमेवाह तद्विजयाय यास्यामि । रिपून् वञ्चयित्वा वधिष्यामि ।' उक्त च—

बहुबुद्धिसमायुक्ताः सुविज्ञाना बलोत्कटान् ।
शक्ता वञ्चयितुं धूर्ता ब्राह्मण छागलादिव ॥ ११६ ॥

मेघवर्ण आह—कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्—

ऐसा सोचता हुआ कौवा भी चला गया । तब ही से हमारे साथ उल्लुओ का वशपरम्परा-गत वैर हो गया है ।

मेघवर्ण ने कहा—'हे तात ! ऐसी दशा मे हमे क्या करना चाहिए !' उसने कहा—'वत्स ! ऐसी दशा में भी सन्धि विग्रह आदि गुणो के अतिरिक्त एक अन्य शक्तिशाली उपाय सोचा है । उसी के सहारे मैं खुद ही उसके विजय के लिए जाऊँगा । शत्रु को धोखा देकर मारूँगा । कहा भी है —

तरह-तरह की बुद्धियो मे युक्त, लोकव्यवहार मे निपुण पुरुष बलवान् मनुष्यो को भी धोखा दे सकते हैं जैसे कि धूर्तों ने ब्राह्मण को बकरे से वञ्चित कर दिया ॥११६॥

मेघवर्ण ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा ३

कस्मिश्चिदधिष्ठाने मित्रशर्मा नाम ब्राह्मण , कृताग्निहोत्रपरिग्रह प्रतिवसति स्म । तेन कदाचिन्माघमासे सौम्यानिले प्रवाति, मेघाच्छादिते गगने, मन्द-मन्द प्रवर्षति पर्जन्ये, पशुप्रार्थनार्थ किञ्चिद्ग्रामान्तर गत्वा, कश्चिद्यजमानो याचित —'भो यजमान ! आगामिन्याममावास्यायामह यक्ष्यामि यज्ञम् तद् देहि मे पशुमेकम् ।' अथ तेन तस्य शास्त्रोक्त, पीवरतनु पशुः

प्रदत्त । सोऽपि त समर्थमितश्चेतश्च गच्छन्त विज्ञाय, स्कन्धे कृत्वा, सत्वरं स्वपुराभिमुख प्रतस्थे ।

किसी स्थान मे मित्रशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था, उसने अग्निहोत्र करने का नियम किया था । वह एक समय माघ महीने मे—जब कि ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी, आकाश मेघो से ढका हुआ था और धीमी-धीमी वर्षा पड रही थी—पशु की याचना के लिये किसी दूसरे ग्राम मे जाकर किसी यजमान से मागा (कहा—'हे यजमान ! मैं आगामी अमावसके दिन यज्ञ करूंगा । इसलिए मुझे एक पशु दो । उसने शास्त्र-विहित (जैसा कि शास्त्रो मे यज्ञ के लिए पशु बताया गया है ।) मोटा ताजा एक पशु (बकरा) उसे दिया । वह हृष्ट-पुष्ट होने कारण इधर-उधर भागता हुआ देखकर उसे अपने कन्धे पर रख जल्दी-जल्दी अपने गाँव की ओर चल पडा ।

अथ तस्य गच्छतो मार्गे त्रयो धूर्ता क्षुत्क्षामकण्ठा समुखा बभूवु । तैश्च तादृश पीवतरनु स्कन्ध आरूढमालोक्य, मिथोऽभिहितम्—'अहो ! अस्य पशोर्भक्षणादद्यतनीयो हिमपातो व्यर्थता नीयते । तदेन वञ्चयित्वा, पशुमादाय शीतत्राण कुर्म ।' अथ तेषामेकतमो वेशपरिवर्तन विधाय समुखो भूत्वाऽपमार्गेण तमाहिताग्निमूचे—'भो भो ! वालाग्निहोत्रिन् ! किमेव जनविरुद्ध हास्यकार्यमनुष्ठीयते । यदेष सारमेयोऽपवित्र स्कन्धाधिरूढो नीयते । उक्त च यत —

श्वानकुक्कुटचाण्डालाः समस्पर्शा. प्रकीर्तिता. ।
रासभोष्ट्रौ विशेषेण तस्मात्तान्नैव सस्पृशेत् ।। ११७ ।।

जब वह रास्ते मे जा रहा था तब भूख से व्याकुल तीन धूर्त उसके सामने पडे (सामने से आते हुए उसे मिले) । उन्होने ऐसा हृष्ट-पुष्ट शरीर (उस बकरे को) कन्धे पर चढा हुआ देखकर आपस मे कहा—'ओह ! इस पशु को खाकर आज के शीत से अपनी रक्षा करनी चाहिए (श०-आज का शीत व्यर्थ किया जावे) । इसलिये इसको धोखा देकर और पशु लेकर शीत से अपनी रक्षा करे । तब उनमे से एक अपना वेश बदल कर, बगल (पार्श्व) के रास्ते से सामने हो उस अग्निहोत्री से बोला—'अरे मूर्ख । अग्निहोत्री ! क्यो तुम लोकविरुद्ध ऐसा हँसी का काम करते हो जो इस (अपवित्र) कुत्ते को कन्धे पर चढा कर ले जा रहे हो । क्योकि कहा भी है —

कुत्ते और मुर्गे छूना, चाण्डाल (डोम, चमार आदि) को छूने के समान है, विशेषकर गदहे और ऊँट को छूना अपवित्र कहा गया है। इसलिये इनको नही छूना चाहिए ॥ ११७ ॥

ततश्च तेन कोपाभिभूतेनाभिहितम्--'अहो ! किमन्धो भवान् ? यत्पशु सारमेयत्वेन प्रतिपादयसि ! सोऽब्रवीत्---'ब्रह्मन् ! कोपस्त्वया न कार्य, यथेच्छ गम्यताम् ।' अथ यावत्किञ्चिदध्वनोऽन्तर गच्छति, तावद् द्वितीयो धूर्त' सम्मुखमभ्युपेत्य तमुवाच---भो' ! ब्रह्मन् ! कष्ट कष्टम्, यद्यपि वल्लभोऽय ते मृतवत्सस्तथापि स्कन्धमारोपयितुमयुक्तम् उक्त च यत.---

तिर्यञ्च मानुषं वापि यो मृत सस्पृशेत्कुधीः ।
पञ्चगव्येन शुद्धि. स्यात्तस्य चान्द्रायणेन वा ॥ ११८ ॥

तब उसने क्रुद्ध होकर कहा---'क्या तुम अन्धे हो ? जो पशु को कुत्ता बताते हो ।' उसने कहा---'ब्रह्मन् ! आप गुस्सा न करें, इच्छानुसार जाइये ।' वह कुछ ही दूर गया था कि दूसरा धूर्त सामने आकर बोला---'हे ब्रह्मन् ! बडे दु ख की बात है, यद्यपि यह मरा हुआ बछडा तुम्हारा प्यारा है तो भी इसे कन्धे पर चढाना उचित नही है । क्योकि कहा है ---

जो दुर्बुद्धि पुरुष मरे हुए पशु-पक्षी आदि अथवा मनुष्य को ही छूता है तो पञ्चगव्य अथवा चान्द्रायण (व्रत विशेष) से उसकी शुद्धि होती है ॥ ११८ ॥

अथासौ सकोपमिदमाह---'भो' किमन्धो भवान् ? यत्पशु मृतवत्स वदति ।' सोऽब्रवीत्---'भगवन् ! मा कोप कुरु, अज्ञानान्मयाभिहितम्, तत्त्वमात्मरुचि समाचर' इति । अथ यावत्स्तोक वनान्तर गच्छति ताव-त्तृतीयोऽन्यवेशधारी धूर्त समुख समुपेत्य तमुवाच---'भो' ! अयुक्तमेतत्, याव रासभ स्कन्धाधिरूढ नयसि, तत्त्यज्यतामेष । उक्त च---

य' स्पृशेद्रासभं मर्त्यो ज्ञानादज्ञानतोऽपि वा ।
सचैल स्नानमुद्दिष्ट तस्य पापप्रशान्तये ॥ ११९ ॥

तत्त्यजैन यावदन्य कश्चिन्न पश्यति ।'

तब वह (ब्राह्मण) क्रोधपूर्वक बोला---'क्या आप अन्धे हो जो पशु को मरा बछडा बताते हो ।' वह बोला---भगवन् ! क्रोध न कीजिये मैंने अज्ञानवश यह कह दिया आप अपना कार्य करें ।' अनन्तर जगल मे वह कुछ ही दूर आगे बढा था कि तीसरा धूर्त वेष बदल सामने आकर उससे बोला---'भो ! ब्राह्मण !

यह बहुत अनुचित है कि तुम गदहे को कन्धे पर चढा कर ले जा रहे हो, इसलिये इसको छोड दो। कहा भी है --

जो मनुष्य जानबूझ कर अथवा अनजाने मे गदहे को छूता है उसके पाप की शान्ति के लिए वस्त्र-सहित स्नान कहा गया है ॥ ११९ ॥

इसलिए इसे किसी के देखने से पूर्व ही छोड दो।'

अथासौ त पशु रासभ मन्यमानो भयाद् भूमौ प्रक्षिप्य स्वगृहमुद्दिश्य पलायितु प्रारब्ध। ततस्तेऽपि त्रयो मिलित्वा पशुमादाय यथेच्छ भक्षितुमारब्धा। अतोऽह ब्रवीमि--'बहुबुद्धिसमायुक्ता' इति।--

अथवा साध्विदमुच्यते--

अभिनवसेवकविनयैः प्राघुणिकोक्तैर्विलासिनीरुदितैः।
धूर्तजनवचननिकरैरिह कश्चिद् वञ्चितो नास्ति ॥ १२० ॥

तब वह उस पशु को रासभ समझता हुआ (जो कोई इसे देखता है वही अपवित्र जानवर बताता है अत यह अवश्य अपवित्रात्मा प्राणी है।) डर के कारण पृथ्वी पर उसे फेक कर अपने घर की ओर भागा। तब वे तीनो (धूर्त) मिल कर उस पशु को ले खाने लगे। इसलिए मैं कहता हूँ--'अनेक बुद्धि वाले' इत्यादि।

अथवा यह ठीक ही कहा है

इस ससार मे कोई मनुष्य ऐसा नही है जो नये भृत्य के नम्र-व्यवहारो, अतिथि के वचनो, सुन्दरियो के आँसुओ और दुष्टो के वचन जालो से न ठगा गया हो ॥ १२० ॥

किञ्च--दुर्बलैरपि बहुभि सह विरोधो न युक्त। उक्त च--

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जया हि महाजना।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्र भक्षयन्ति पिपीलिका ॥ १२१ ॥

मेघवर्ण आह--'कथमेतत् ?' स्थिरजीवी कथयति--

बहुत से (मिले हुए) मनुष्यो के साथ चाहे वे दुर्बल ही क्यो न हो विरोध करना उचित नही है। कहा भी है --

---

१ एतच्छ्लोकप्रनिपादितामिमा कथा क्वचिन्न दृश्यते युक्तञ्चैतत्। अस्या कथाया प्रकृतकथा (मुख्यकथा) नुपकारकत्वात्।

बहुत से मनुष्यो के साथ विरोध न करना चाहिए क्योंकि (मिले हुए) अनेक जन दुर्जय होते हैं जैसे चीटियाँ फुकारते हुए भी महासर्प को खा जाती है ।१२१।

मेघवर्ण ने कहा—यह कैसे ? स्थिरजीवी ने कहा ।

कथा ४

अस्ति कस्मिश्चिद्वल्मीके महाकाय कृष्णसर्पोऽतिदर्पो नाम । स कदाचिद्बिलानुसारिमार्गमुत्सृज्यान्येन लघुद्वारेण निष्क्रमितुमारब्ध । निष्क्रामतश्च तस्य महाकायत्वाद्दैववशतया लघुविवरत्वाच्च शरीरे व्रण समुत्पन्नः अथ व्रणशोणितगन्धानुसारिणीभि पिपीलिकाभि सर्वतो व्याप्तो व्याकुलीकृतश्च । कति व्यापादयति कति वा ताडयति ? अथ प्रभूतत्वाद्विस्तारितबहुव्रण क्षतसर्वाङ्गोऽतिदर्प पञ्चत्वमुपागत । अतोऽह ब्रवीमि 'बहवो न विरोद्धव्या ' इति ।

किसी वल्मीक मे बडे शरीर वाला अतिदर्प नाम का काला साप रहता था । एक समय वह बिल से निकलने के उत्तम मार्ग को छोड कर अन्य छोटे मार्ग से निकलने लगा । शरीर के बडा होने तथा बिल छोटा होने के कारण निकलते समय उसके शरीर मे घाव हो गया । घाव के रुधिर की गन्ध पाकर बहुत सी चीटियाँ चारो ओर से लिपट गईं और उन्होने उसे व्याकुल कर दिया । उसने कुछ चीटियो को मार डाला और कुछ को घायल कर दिया परन्तु (चींटियो के) अधिक होने के कारण उसका घाव बहुत बढ गया, उसका सारा शरीर रक्तमय हो गया (और अन्त मे) वह मर गया । इसलिए मैं कहता हूँ कि बहुतो के साथ विरोध नही करना चाहिए ।

'तदत्रास्ति मे किञ्चिद्वक्तव्यमेव । तदवधार्य यथोक्तमनुष्ठीयताम् ।' मेघवर्ण आह—'तत्समादेशय, तवादेशो नान्यथा कर्तव्य ।' स्थिरजीवी प्राह—'वत्स ! समाकर्णय तर्हि, सामादीनतिक्रम्य यो मया पञ्चम उपायो निरूपित. । तन्मा विपक्षभूत कृत्वातिनिष्ठुरवचनैर्निर्भर्त्स्य–यथा विपक्षप्रणिधीना प्रत्ययो भवति तथा समाहृतरुधिरैरालिप्यास्यैव न्यग्रोधस्याधस्तात्प्रक्षिप्य मा गम्यता पर्वतमृष्यमूक प्रति । तत्र सपरिवारस्तिष्ठ, यावदह समस्तान्सपत्नान्सुप्रणीतेन विधिना विश्वास्याभिमुखान्कृत्वा कृतार्थोज्ञातदुर्गमध्यो दिवसे तानन्धता प्राप्तांस्त्वा नीत्वा व्यापादयामि । ज्ञात मया सम्यक् नान्यथाऽस्माक सिद्धिरस्ति । यतो दुर्गमेतदपसाररहित केवल वधाय भविष्यति ।' उक्त च—

अपसारसमायुक्तं नयज्ञैर्दुर्गमुच्यते ।
अपसारपरित्यक्त दुर्गव्याजेन बन्धनम् ॥ १२२ ॥

'इस विषय मे मुझे कुछ कहना ही है। उसे समझ कर मेरे कथनानुसार काम करो।' मेघवर्ण ने कहा—'आज्ञा कीजिये, आपकी आज्ञा का उल्लघन नही किया जायगा।' स्थिरजीवी ने कहा 'हे वत्स! तो सुनो, मैंने साम आदि के अतिरिक्त एक पाँचवाँ उपाय निश्चय किया है। (वह यह है) मुझे अपना शत्रु समझ कर अतिकठोर वचनो से धमकाओ जिससे कि शत्रु के गुप्तचरो को विश्वास हो जाय, तथा कही से रुधिर लाकर मुझे उससे लिप्त कर दो और इस बड के नीचे डाल कर ऋष्यमूक पर्वत पर चले जाओ। जब तक सब शत्रुओ को उत्तम उपायो के द्वारा विश्वास दिला अपने अनुकूल बना कर काम पूरा न कर लूं तब तक परिवार सहित वही रहो। (वहाँ रह कर मैं) उनके किले का अन्दरूनी हाल जान कर दिन के समय जब कि वे अन्धे होगे तुम को ले जाकर उन्हे मार डालूंगा। मैंने खूब विचार कर समझ लिया है कि इसके सिवाय हम (किसी प्रकार से) सफलता प्राप्त नही कर सकते। निष्क्रमण मार्ग से रहित यह दुर्ग हमारे नाश का ही कारण होगा। कहा भी है —

नीतिज्ञ लोग निष्क्रमण मार्ग से युक्त (गुप्तद्वारयुक्त) दुर्ग को ही (उत्तम) दुर्ग कहते है। निष्क्रमण मार्ग से रहित दुर्ग दुर्ग के नाम से बन्धन ही है॥१२२॥

न च त्वया मदर्थे कृपा कार्या उक्त च—

अपि प्राणसमानिष्टान्पालितॉल्लालितानपि ।
भृत्यान्युद्धे समुत्पन्ने पश्येन्म्लानामिव स्रजम् ॥ १२३ ॥

और तुम मेरे ऊपर दया न करना। कहा भी है —

युद्ध काल उपस्थित होने पर प्राण-समान, प्रिय, पाले-पोसे भी भृत्यो को मुरझाई हुई माला के समान (राजा) समझे॥ १२३ ॥

तथा च—

प्राणवद्रक्षयेद् भृत्यान्स्वकायमिव पोषयेत् ।
सदैकदिवसस्यार्थे यत्र स्याद्रिपुसङ्गम ॥ १२४ ॥

जिस दिन शत्रु के साथ सामना करना पडेगा और युद्ध होगा उस दिन के लिए राजा को चाहिए कि भृत्यो की प्राणो के समान रक्षा करे और अपने शरीर के समान उनका पोषण करे॥ १२४ ॥

तत्त्वयाह नात्र विषये प्रतिषेधनीय । इत्युक्त्वा तेन सह शुष्ककलह कर्तुमारब्ध । अथान्ये तस्य भृत्या स्थिरजीविनमुच्छृङ्खलवचनैर्जल्पन्तमवलोक्य तस्य वधायोद्यता मेघवर्णेनाभिहिता —'अहो ! निवर्तध्व यूयम्, अहमेवास्य शत्रुपक्षपातिनो दुरात्मन स्वय निग्रह करिष्यामि ।' इत्यभिधाय, तस्योपरि समारुह्य, लघुभिश्चञ्चुप्रहारैस्त निहत्याहृतरुधिरेण प्लावयित्वा तदुपदिष्टमृष्यमूकपर्वत सपरिवारो गत । एतस्मिन्नन्तरे कृकालिकया द्विषत्प्रणिधीभूतया तत्सर्वं तदमात्यव्यसन मेघवर्णस्य गमन चोलूकराजाय निवेदित---यत्तवारि सप्रति भीत क्वचित्प्रचलित सपरिवार इति ।' अथोलूकाधिपस्तदाकर्ण्यास्तमनवेलाया सामात्य सपरिजनो वायसवधार्थं प्रचलित । प्राह च—'त्वर्यता त्वर्यता भीत शत्रु पलायनपर पुण्यैर्लभ्यते ।' उक्त च—

शत्रोः प्रचलने छिद्रमेकमन्यच्च सश्रयम् ।
कुर्वाणो जायते वश्यो व्यग्रत्वे राजसेविनाम् ॥ १२५ ॥

इसलिए तुम मुझे इस विषय मे मत रोको । यह कह कर उसके साथ बनावटी लडाई करने लगा । तब मेघवर्ण के अन्य भृत्य, स्थिरजीवी को उच्छृङ्खल बातें कहता हुआ देखकर उसके मारने के लिए तैयार हुए पर मेघवर्ण ने (उन्हे रोक कर) कहा—'तुम लोग रहने दो, इस शत्रु-पक्षपाती दुष्ट को मैं स्वय दण्ड दूंगा ।' यह कह कर उसके ऊपर चढ गया और चोचो से हलके हलके प्रहार करने लगा, तथा लाये हुए रुधिर से उसे भिगोकर उसके बताये हुए ऋष्यमूक पर्वत पर परिवार सहित चला गया । इधर शत्रुओ के गुप्तचर का काम करनेवाली कृकालिका ने यह सब उसके (मेघवर्ण) मन्त्री का सकट और मेघवर्ण का जाना उलूकराज से कहा कि तुम्हारा शत्रु इस समय भयभीत हो परिवार सहित कही चला गया । यह सुनकर उलूकराज सायङ्काल के समय मन्त्री और परिवार सहित कौवो को मारने के लिए रवाना हुआ । और (भृत्यो से) बोला—जल्दी करो, जल्दी करो, डरा हुआ शत्रु भागता हुआ बडे भाग्य से मिलता है । कहा भी है —

भागने के समय एक और नवीन स्थान पर वास करने के समय दूसरा छिद्र (अपनी कमजोरी) करता हुआ शत्रु (उस समय) राजभृत्यो के व्यग्र होने के कारण शत्रु के अधीन हो जाता है—शत्रु के हाथ पड जाता है ॥ १२५ ॥

एवं ब्रुवाण समन्तान्न्यग्रोधपादपमधः परिवेष्ट्य व्यवस्थित । यावन्न कश्चिद्वायसो दृश्यते, तावच्छाखाग्रमधिरूढो हृष्टमना, बन्दिभिरभिष्टूयमानोऽरिमर्दनस्तान्परिजनान्प्रोवाच—'अहो ! ज्ञायता तेषा मार्ग, कतमेन मार्गेण प्रनष्टा काका ? तद्यावन्न दुर्ग समाश्रयन्ति, तावदेव पृष्ठतो गत्वा व्यापाद्या भवन्ति । उक्त च—

वृतिमप्याश्रितः शत्रुरवध्य' स्याज्जिगीषुणा ।
किं पुन. सश्रितो दुर्ग सामग्र्या परया युतम् ॥ १२६ ॥

ऐसा कहता हुआ न्यग्रोध वृक्ष के निचले भाग की चारो ओर से घेर कर बैठ गया । जब कोई कौवा दिखाई न पडा तब अरिमर्दन प्रसन्न-चित्त हो शाखापर चढ गया, (उस समय) बन्दी लोग स्तुति करने लगे । तब वह अपने भृत्यो से बोला–उनके रास्ते का पता लगाओ, कौवे कौन से रास्ते से भागे हैं ? जब तक वे दुर्ग का आश्रय न लें तभी तक पीछे से जाकर मारे जा सकते है । कहा भी है —

वृति (खेत की बाड) का भी सहारा पाकर शत्रु अजेय हो जाता है फिर उत्तम युद्धसामग्री से सुसज्जित दुर्ग का आश्रय पाने पर तो कहना ही क्या है ? ॥१२६॥

अथैतस्मिन्प्रस्तावे स्थिरजीवी चिन्तयामास—'यदेतेऽस्मच्छत्रवोऽनुपलब्धास्मद्वृत्तान्ता यथागतमेव यान्ति ततो मया न किञ्चित्कृत भवति । उक्त च—

अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धिलक्षणम् ।
प्रारब्धस्यान्तगमन द्वितीयं बुद्धिलक्षणम् ॥ १२७ ॥

जब यह बात उपस्थित हुई तब स्थिरजीवी सोचने लगा—ये हमारे शत्रु हमारा समाचार न जानकर जैसे आये थे वैसे ही वापिस जा रहे हैं, तब मेरा तो काम कुछ भी न हुआ । कहा भी है —

कार्यो का प्रारम्भ ही न करना पहिली बुद्धिमानी है और आरम्भ किये हुए काम को अच्छी तरह समाप्त करना दूसरा बुद्धि का चिह्न है ॥ १२७ ॥

तद्वरमनारम्भो न चारम्भविघात, तदहमेताञ्छब्द सश्राव्यात्मान दर्शयामि' इति विचार्य मन्द मन्द शब्दमकरोत् । तच्छ्रुत्वा ते सकला अप्युलूकास्तद्वधाय प्रजग्मु. । अथ तेनोक्तम्—'अहो ! अह स्थिरजीवी नाम मेघवर्णस्य मन्त्री, मेघवर्णेनैवेदृशीमवस्था नीत, तन्निवेदयतात्मस्वामिने । तेन

सह बहु वक्तव्यमस्ति । अथ तैर्निवेदित. स उलूकराजो विस्मयाविष्टस्तत्क्षणात्तस्य सकाश गत्वा प्रोवाच—'भो भो ! किमेता दशा गतस्त्वम्, तत्कथ्यताम् ।' स्थिरजीवी प्राह—'देव ! श्रूयता तदवस्थाकारणम् । अतीतदिने स दुरात्मा मेघवर्णो युष्मद्व्यापादितप्रभूतवायसाना पीडया युष्माकमुपरि कोपशोकग्रस्तो युद्धार्थं प्रचलित आसीत् । ततो मयाऽभिहित 'स्वामिन् ! न युक्त भवतस्तदुपरि गन्तु, वलवन्त एते' वलहीनाश्च व ्म् ।' उक्त च—

बलीयसा हीनबलो विरोध, न भूतिकामो मनसाऽपि वाञ्छेत् ।
न वध्यते वेतसवृत्तिरत्र, व्यक्त प्रणाशोऽस्ति पतङ्गवृत्तेः ॥१२८॥

इसलिये किसी काम का आरम्भ न करना ही अच्छा लेकिन आरम्भ करके बीच मे ही छोड देना अच्छा नही । अत मैं शब्द करके अपने को इनके सामने प्रकट करूँ यह सोचकर उसने धीरे-धीरे शब्द किया । उस (शब्द) को सुनकर सब उल्लू उसे मारने के लिये दौडे । तब उस (स्थिरजीवी) ने कहा—मैं स्थिरजीवी नामक मेघवर्ण, का मन्त्री हूँ । मेघवर्ण ने ही मेरी यह दशा की है, अपने स्वामी से कहो मुझे उसके साथ बहुत बातचीत करनी है । उन्होने उलूकराज से कहा—उसे वडा आश्चर्य हुआ । वह तुरन्त उसके पास जाकर बोला—तेरी यह दशा कैसे हुई ? यह बताओ ।

स्थिरजीवी ने कहा—हे देव ! इस दशा का कारण सुनिये ! पिछले दिन वह दुष्ट मेघवर्ण आपके द्वारा मारे हुए अनेक कौवो की पीडा से आपके ऊपर क्रोध और शोक मे भर कर युद्ध के लिये चलने लगा । तब मैंने कहा—स्वामिन् ! आपका उसके ऊपर जाना उचित नही क्योकि वे बलवान् और हम निर्बल हैं । कहा भी है —

अपनी भलाई चाहने वाले दुर्बल पुरुष को चाहिए कि वह बलवान् के साथ मन से भी विरोध करने की इच्छा न करे, इस ससार मे बेंत की वृत्ति को धारण करने वाला (शत्रु के सामने नम्रता से व्यवहार करने वाला) नही मारा जाता परन्तु पतङ्ग के समान वृत्ति वाले (लालटैन पर गिरने वाले कीडो के समान वलवान् शत्रु पर आक्रमण करने वाले) का नाश अवश्यम्भावी है ॥ १२८ ॥

तत्तस्योपायनप्रदानेन सन्धिरेव युक्त । उक्त च—

वलवन्त रिपु दृष्ट्वा सर्वस्वमपि बुद्धिमान् ।
दत्त्वा हि रक्षयेत्प्राणान् रक्षितैस्तैर्धन पुनः ॥ १२९ ॥

इसलिए भेंट देकर उसके साथ सन्धि करना ही युक्त है। कहा भी है —
बुद्धिमान् पुरुष शत्रु को बलवान् समझकर अपना सब कुछ देकर भी प्राणो की रक्षा करे क्योकि प्राणो की रक्षा होने पर धन फिर भी मिल सकता है ॥ १२९ ॥

तच्छ्रुत्वा तेन दुर्जनकोपितेन त्वत्पक्षपातिन मामाशङ्कमानेनेमा दशा नीत । तत्तव पादौ साम्प्रत मे शरणम्। कि बहुना विज्ञप्तेन ? 'यावदह प्रचलितु शक्नोमि तावत्त्वा तस्यावास नीत्वा सर्ववायसक्षय विधास्यामि।' इति।

अथारिमर्दनस्तदाकर्ण्य पितृपितामहक्रमागतमन्त्रिभि सार्धं मन्त्रयाञ्चक्रे। तस्य च पञ्च मन्त्रिण, तद्यथा—रक्ताक्ष, क्रूराक्ष, दीप्ताक्ष, वक्रनास, प्राकारकर्णश्चेति। तत्रादौ रक्ताक्षमपृच्छत्—'भद्र ! एष तावत्तस्य रिपोर्मन्त्री मम हस्तगत तत् किं क्रियताम् ?' इति। रक्ताक्ष आह—देव ! किमत्र चिन्त्यते। अविचारितमय हन्तव्य। यत —

हीनः शत्रुर्निहन्तव्यो यावन्न बलवान्भवेत्।
प्राप्तस्वपौरुषबल पश्चाद्भवति दुर्जयः ॥ १३० ॥

दुष्टो ने मेरे ऊपर (पहिले से ही) उसे कुपित कर रक्खा था, यह सुन कर वह मुझे तुम्हारा पक्षपाती समझने लगा और उसी ने मेरी यह दशा की है। अब तो आपके चरण ही मेरी शरण (रक्षक) हैं। मैं अधिक क्या निवेदन करूँ ? जब तक मैं चलने मे समर्थ हूँ तब तक तुमको उसके स्थान पर ले जाकर सब कौवो का नाश करूँगा।"

अरिमर्दन यह सुन कर वशपरम्परा से प्राप्त अपने मन्त्रियो के साथ सलाह करने लगा। उसके पांच मन्त्री थे। उनके नाम ये है—रक्ताक्ष, क्रूराक्ष, दीप्ताक्ष, वक्रनास और प्राकारकर्ण। पहिले रक्ताक्ष से पूछा—'भद्र ! यह शत्रु का मन्त्री मेरे हाथ पड गया है, अब क्या करना चाहिए ?' रक्ताक्ष ने कहा—। इसमे सोचने की क्या बात है ? बिना विचारे इसे मार डालना चाहिए। क्योकि—

दुर्बल शत्रु को तभी मार डालना चाहिए जब तक वह बलवान् न हो क्योंकि अपने पुरुषार्थ का सहारा पाकर पीछे वह दुर्जय हो जाता है ॥ १३० ॥

किं च 'स्वयमुपागता श्रीस्त्यज्यमाना शपती'ति लोके प्रवाद उक्त च-

कालो हि सकृदभ्येति यन्नर कालकाङ्क्षिणम्।
दुर्लभ स पुनस्तेन कालकर्माऽचिकीर्षता ॥ १३१ ॥

और भी, लोक मे किंवदन्ती है कि स्वय आई हुई लक्ष्मी का यदि त्याग किया जाय तो वह शाप देती है । कहा भी है —

(अपनी उन्नति का) सुअवसर चाहने वाले पुरुष को (अपने जीवन मे) वह सुअवसर एक बार प्राप्त होता है । उस समय जो पुरुष काम करना नही चाहता वह फिर उसे प्राप्त नही होता ॥ १३१ ॥

श्रूयते च यथा—

चितिकां दीपितां पश्य फटां भग्नां ममैव च ।
मिन्नश्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्धते ॥ १३२ ॥

अरिमर्दन प्राह—'कथमेतत् ?' रक्ताक्ष कथयति—

जैसा कि सुना जाता है—

(हे विप्र !) जलती हुई चिता और घायल हुए मेरे फण को देखो जो प्रीति खण्डित होकर जोडी जाती है वह स्नेह प्रकट करने पर भी नही बढती ॥ १३२ ॥

अरिमर्दन ने कहा—'यह कैसे ?' रक्ताक्षने कहा—

कथा ५

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने हरिदत्तो नाम ब्राह्मण । तस्य च कृषि कुर्वत सदैव निष्फल कालोऽतिवर्तते । अथैकस्मिन्दिवसे स ब्राह्मण उष्णकालावसाने घर्मार्त्त स्वक्षेत्रमध्ये वृक्षच्छायाया प्रसुप्तोऽनतिदूरे वल्मीकोपरि प्रसारित बृहत्फटायुक्त भीषण भुजङ्ग दृष्ट्वा चिन्तयामास-'नूनमेषा क्षेत्रदेवता मया कदाचिदपि न पूजिता । तेनेद मे कृषिकर्म विफलीभवति । तदस्या अह् पूजामद्य करिष्यामि ।' इत्यवधार्य कुतोऽपि क्षीर याचित्वा शरावे निक्षिप्य वल्मीकान्तिकमुपगत्योवाच—'भो ! क्षेत्रपाल ! मयैतावन्त काल न ज्ञात यत्त्वमत्र वससि । तेन पूजा न कृता । तत्साम्प्रत क्षमस्वेति ।' एवमुक्त्वा दुग्ध च निवेद्य गृहाभिमुख प्रायात् । अथ प्रातर्यावदागत्य पश्यति तावद् दीनारमेक शरावे दृष्टवान् । एवञ्च प्रतिदिनमेकाकी समागत्य तस्मै क्षीर ददाति, एकैकञ्च दीनार गृह्णाति । अथैकस्मिन्दिवसे क्षीरनयनाय पुत्र निरूप्य ब्राह्मणो ग्रामान्तर जगाम । पुत्रोऽपि क्षीर तत्र नीत्वा सस्थाप्य च पुनर्गृह समायात । दिनान्तरे तत्र गत्वा दीनारक दृष्ट्वा गृहीत्वा च

चिन्तितवान् 'नूनं सौवर्णदीनारपूर्णो वल्मीकः। तदेनं हत्वा सर्वमेकवारं ग्रहीष्यामि' इत्येवं सम्प्रधार्यान्येद्युः क्षीरं ददता ब्राह्मणपुत्रेण सर्पो लगुडेन ताडितः। ततः कथमपि दैववशादमुक्तजीवित एव रोषात्तमेव तीव्रविषदशनैस्तथाऽदशत् यथा सद्यः पञ्चत्वमुपागतः। स्वजनैश्च नातिदूरे क्षेत्रस्य काष्ठसञ्चयैः संस्कृतः। अथ द्वितीयदिने तस्य पिता समायातः। स्वजनेभ्यः सुतविनाशकारणं श्रुत्वा तथैव समर्थितवान्। अब्रवीच्च–

भूतान् यो नानुगृह्णाति ह्यात्मनः शरणागतान्।
भूतार्थास्तस्य नश्यन्ति हंसाः पद्मवने यथा॥ १३३॥

पुरुषैरुक्तं–'कथमेतत् ?' ब्राह्मणः कथयति–

किसी गाँव में हरिदत्त नाम का ब्राह्मण रहता था। खेती करते हुए हमेशा ही उसका समय निष्फल जाता था (कृषि कार्य में उसे कभी भी लाभ न होता था)। एक दिन वह ब्राह्मण गरमी के अन्त में धूप से पीडित हो अपने खेत के बीच वृक्ष की छाया में लेटा था उसने पास में ही वल्मीक के ऊपर फन फैलाये हुए भयानक सर्प को देख कर विचार किया–'इस क्षेत्र–देवता की मैंने कभी पूजा नहीं की, इसी से खेती में मुझे लाभ नहीं होता। इसलिये आज मैं इसकी पूजा करूँगा।' यह निश्चय कर कहीं से दूध माँग लाया और उसे कसोरे में रख कर वल्मीक के पास जाकर बोला–'हे क्षेत्ररक्षक (क्षेत्राधिपते !) मुझे अब तक मालूम नहीं था कि तुम यहाँ रहते हो। इसलिये पूजा नहीं की अब रक्षा करो।' यह कह और दूध देकर अपने घर की ओर चला गया। जब वह प्रातःकाल आया तब उसने कसोरे में रक्खी हुई एक मोहर देखी। इसी प्रकार प्रतिदिन एकाकी आकर उसे दूध देता और एक-एक मोहर लेता था। एक दिन वल्मीक पर दूध ले जाने के लिये अपना पुत्र नियुक्त कर ब्राह्मण दूसरे ग्राम को गया। पुत्र भी दूध वहाँ ले जाकर और रख कर घर चला आया। दूसरे दिन वहाँ जाकर उसने एक मोहर देखी उसे लेकर वह सोचने लगा–'निश्चय ही यह वल्मीक सोने की मोहरों से भरा हुआ है। इसलिये इसे (सर्प को) मार कर सब एक ही बार ले लूं।' यह निश्चय कर प्रहार किया। भाग्यवश वह नहीं मरा, उसने क्रोध से तेज विषैले (विष से भरे हुए) दांतों से उसे ऐसा काटा कि वह तुरन्त मर गया। कुटुम्बी लोगों ने

क्षेत्र के पास ही लकडियो से उसका दाह-कर्म कर दिया । दूसरे दिन उसका बाप भी आ गया । घर के लोगो से पुत्र के विनाश का कारण सुन कर उसने भी उनका समर्थन किया (उसकी जिस प्रकार मृत्यु हुई वह उचित ही हुई, लोभ का फल ऐसा ही होता है), और कहा--

जो पुरुष अपनी शरण मे आये हुए प्राणियो पर दया नही करता उसके निश्चित अर्थ इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि पद्मसरोवर मे हस नष्ट हो गये ॥१३३॥

पुरुषो ने पूछा---'यह कैसे ?' ब्राह्मण ने कहा---

कथा ६

अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने चित्ररथो नाम राजा । तस्य योधै सुरक्ष्यमाण पद्मसरो नाम सरस्तिष्ठति तत्र च प्रभूता जाम्बूनदमया हसास्तिष्ठन्ति । षण्मासे षण्मासे पिच्छमेकैक परित्यजन्ति । अथ तत्र सरसि सौवर्णो बृहत्पक्षी समायात । तैश्चोक्त ---'अस्माक मध्ये त्वया न वस्तव्यम् । येन कारणेनास्माभि षण्मासान्ते पिच्छैकैकदान कृत्वा गृहीतमेतत्सर ।' एवञ्च कि बहुना, परस्पर द्वैधमुत्पन्नम् । स च राज्ञ शरण गतोऽब्रवीत्---'देव ! एते पक्षिण एव वदन्ति, यद् 'अस्माक राजा कि करिष्यति ? न कस्याप्यावास दद्म ।' मया चोक्त---'न शोभन युष्माभिरभिहितम् । अह गत्वा राज्ञे निवेदयिष्यामि । एव स्थिते देव प्रमाणम् ।' ततो राजा भृत्यानब्रवीत---'भो भो गच्छत, सर्वान्पक्षिणो गतासून् कृत्वा शीघ्रमानयत ।' राजादेशानन्तरमेव प्रचेलुस्ते । अथ लगुडहस्तान् राजपुरुषान्दृष्ट्वा तत्रैकेन पक्षिणा वृद्धेनोक्तम् भो ! स्वजना ! न शोभनमापतितम् । तत सर्वैरेकमतीभूयोत्पतितव्यम् ।' तैश्च तथाऽनुष्ठितम् । अतोऽह ब्रवीमि---'भूतान्यो नानुगृह्णाति । इति ।

किसी नगर मे चित्ररथ नामक राजा रहता था । उसका पद्मसर नाम का एक सरोवर था, सिपाही उसकी रक्षा किया करते थे । उसमे बहुत से सोने के हस रहते थे । वे छठे-छठे महीने (सोने का) एक-एक पख दिया करते । एक समय उस तालाब मे सोने का एक बडा पक्षी आया । उन्होने (सर मे रहने वाले पक्षियो ने) कहा---'तुम हमारे बीच मे मत रहो क्योकि हम लोगो ने हर छठे महीने एक-एक पिच्छ (पख) देकर यह तालाब ले लिया है ।' अधिक क्या ? इस

प्रकार उनमे झगडा उत्पन्न हो गया। उसने राजा के पास जाकर कहा--'हे राजन्! ये पक्षी कहते है कि राजा हमारा क्या करेगा? हम किसी को नही रहने देते।' मैंने कहा--'आप लोगो ने यह बात उचित नही कही, मैं राजा से जाकर निवेदन करूँगा। अब आप जैसा उचित समझें (वैसा किया जाय)।' तब राजा ने भृत्यो से कहा--'जाओ, सब पक्षियो को मार कर जल्दी ले आओ।' राजा की आज्ञा पाते ही वे चल पडे। लकडी हाथ मे लिये हुए राजपुरुषो को (आता हुआ) देख कर उनमे से एक वृद्ध पक्षी ने कहा--'स्वजनो! बडा अनर्थ उपस्थित हुआ, इसलिये सबको एक मत होकर (बिना किसी प्रकार का विवाद या विचार किये हुये) उड जाना चाहिए।' उन्होने वैसा ही किया। इसलिये मैं कहता हूँ--'जो प्राणियो पर दया नही करता।'

इत्युक्त्वा पुनरपि ब्राह्मण प्रत्यूषे क्षीर गृहीत्वा तत्र गत्वा तारस्वरेण सर्पमस्तौत्। तदा सर्पश्चिर वल्मीकद्वारान्तर्लीन एव ब्राह्मण प्रत्युवाच--'त्व लोभादत्रागत पुत्रशोकमपि विहाय। अत पर तव मम च प्रीतिर्नोचिता। तव पुत्रेण यौवनोन्मादेनाह ताडित. मया स दष्ट। कथ मया लगुडप्रहारो विस्मर्तव्य:, त्वया च पुत्रशोकदु ख कथ विस्मर्तव्यम्।' इत्युक्त्वा बहूमूल्य हीरकमणि तस्मै दत्वा--'अत. पर पुनस्त्वया मागन्तव्यम्' इति पुनरुक्त्वा विवरान्तर्गत। ब्राह्मणश्च मणि गृहीत्वा पुत्रबुद्धि निन्दन्स्वगृहमागत। अतोऽह ब्रवीमि--'चितिका दीपिता पश्य' इति। 'तदस्मिन्हतेऽयत्नादेव राज्यमकण्टक भवतो भवति।' तस्यैतद्वचन श्रुत्वा क्रूराक्ष पप्रच्छ--'भद्र! त्व तु किं मन्यसे?' सोऽब्रवीत्--'देव! निर्दयमेतद्यदनेनाभिहितम्।' यत्कारण शरणागतो न बध्यते सुष्ठु खल्विदमाख्यानम् -

श्रूयते हि कपोतेन शत्रु शरणमागत।
पूजितश्च यथान्याय स्वैश्च मासैर्निमन्त्रित ॥ १३४ ॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्--'कथमेतत्?' क्रूराक्ष कथयति--

यह कह कर फिर भी ब्राह्मण प्रात काल दूध लेकर वहाँ (वल्मीक पर) और ऊँचे स्वर से सर्प की स्तुति करने लगा। तब सर्प बहुत देर के बाद वल्मीक के द्वार के अन्दर छिपे हुए ही ब्राह्मण से बोला--'तू लोभवश पुत्रशोक भी छोड कर

यहाँ आया है। अब आगे से तुम्हारी और मेरी प्रीति उचित नही है। यौवन से उन्मत्त हो तेरे पुत्र ने मुझे मारा और मैंने उसे काटा। कैसे मैं दण्डे की चोट भूल सकता और तू पुत्रशोकजन्य दुःख कैसे भूल सकता है ?" यह कह, बहुमूल्य हीरा उसे देकर अब से यहाँ मत आना, ऐसा कह कर अपने बिल के अन्दर घुस गया। ब्राह्मण भी उस हीरा को लेकर पुत्र की बुद्धि की निन्दा करते हुए अपने घर गया। इसलिए मैं कहता हूँ—'जलती हुई चिता देखकर आदि। उसे मारने पर विना आयास ही आपका राज्य निष्कण्टक होगा। उसके वचन को सुनकर क्रूराक्षने पूछा—'हे भद्र ! तुम्हारा क्या विचार है ?' वह (क्रूराक्ष) बोला—'महाराज ! इसने तो निर्दयता की बात कही। क्योंकि शरणागत नही मारे जाते। यह सुन्दर कथा है —

सुना जाता है कि किसी कबूतरने शरणागत शत्रु की पूजा (सत्कार) की और अन्तमे अपने मास से उसकी क्षुधा शान्ति की ॥ १३४ ॥

अरिमर्दन बोला—'यह कैसे ?' क्रूराक्षने कहा—

कथा ७

कश्चित्क्षुद्रसमाचारः प्राणिना कालसन्निभः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १३५ ॥

एक घने वन मे कोई बहेलिया घूम रहा था जिसका व्यवहार बहुत नीच था, जो प्राणियो के लिये यम के समान और अत्यन्त क्रूर था ॥ १३५ ॥

नैव कश्चित्सुहृत्तस्य न सम्बन्धी न बान्धवः ।
स तैः सर्वैं परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १३६ ॥

उस निर्दय कार्य के कारण न तो उसका कोई मित्र था, न सम्बन्धी और न कोई बन्धु ही था। उन सबने उसको छोड दिया था ॥ १३६ ॥

अथवा—

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिनां प्राणनाशकाः ।
उद्वेजनीया भूताना व्याला इव भवन्ति ते ॥ १३७॥

जो मनुष्य कठोर, दुराचारी और प्राणियो के प्राण हरण करने वाले होते है वे प्राणियो के लिये लाभदायक होते हैं ॥ १३७ ॥

स पञ्जर पाशं च लगुड तथा।
नित्यमेव वन याति सर्वप्राणिविहिंसकः ॥ १३८ ॥

सब प्राणियो की हिंसा मे तत्पर वह व्याध पिंजडा, जाल (रस्सी) तथा दण्डा लेकर प्रतिदिन वन को जाया करता था ॥ १३८ ।

अन्येद्युर्भ्रमतस्तस्य वने कापि कपोतिका।
जाता हस्तगता तां स प्राक्षिपत्पञ्जरान्तरे ॥ १३९ ॥

एक दिन एक कबूतरी वन मे घूमते हुए उस व्याध के हाथ पड गई उसने उसे पिंजडे मे बन्द कर दिया ॥ १३९ ॥

अथ कृष्णा दिश. सर्वा वनस्थस्याभवन् घनैः।
वातवृष्टिश्च महतो क्षयकाल इवाभवत् ॥ १४० ॥

इसके अनन्तर जब कि वह वन मे घूम रहा था उसी समय सब दिशाएँ मेघो से काली हो गई—भर गई और प्रलयकाल के समान बडा भारी आँधी-पानी बरसने लगा ॥ १४० ॥

ततः स त्रस्तहृदयः कम्पमानो मुहुर्मुहु ।
अन्वेषयन्परित्राणमाससाद वनस्पतिम् ॥ १४१ ॥

अनन्तर वह व्याध भयभीत हुआ और बार-बार काँपता हुआ, अपनी रक्षा के लिये कोई आश्रय तलाश करते हुए एक महावृक्ष के पास पहुँचा ॥ १४१ ॥

मुहूर्तं पश्यते यावद्वियद् विमलतारकम्।
प्राप्य वृक्ष वदत्येव योऽत्र तिष्ठति कश्चन ॥ १४२ ॥

तस्याह शरणं प्राप्त· स परित्रातु मामिति।
शीतेन भिद्यमान च क्षुधया गतचेतनम् ॥ १४३ ॥ युग्मम्।

जब वह कुछ देर तक देखता रहा तभी आकाश मे तारे चमकने लगे (वर्षा और हवा रुक जाने के कारण आकाश निर्मल हो गया) तब वह वृक्ष के पास जाकर कहने लगा—'जो कोई भी (प्राणी) इस वनस्पति पर स्थित हो मैं उसी की शरण मे आया हूँ, वह शीत से पीडित और भूख से मूर्च्छितप्राय मेरी रक्षा करे' ॥ १४२–१४३ ॥

अथ तस्य तरो· स्कन्धे कपोत सुचिरोषित ।
भार्याविरहितस्तिष्ठन्विललाप सुदु खित ॥ १४४ ॥

उसी वृक्ष की एक शाखा पर कोई कबूतर बहुत दिनों से रहता था। वह (इस समय) पत्नी-वियोग से व्याकुल हो विलाप करने लगा ॥ १४४ ॥

वातवर्षो महानासीन्न चागच्छति मे प्रिया ।
तया विरहितं ह्येतच्छून्यमद्य गृहं मम ॥ १४५ ॥

वायुसहित बडी वर्षा हो रही थी और मेरी प्रियपत्नी आई नहीं (कहीं उसका कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया) उससे रहित आज मेरा यह घर सूना सा प्रतीत होता है ॥ १४५ ॥

पतिव्रता पतिप्राणा पत्युः प्रियहिते रता ।
यस्य स्यादीदृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १४६ ॥

साध्वी, प्राणों के समान पति को चाहने वाली और पति के प्रिय तथा हितकारी कार्य में तत्पर स्त्री जिस पुरुष की पत्नी हो वह पुरुष इस संसार में धन्य है ॥ १४६ ॥

'न गृहं गृहमि'त्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं हि गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ १४७ ॥

घर (मकान) को विद्वान् लोग घर नहीं कहते, पत्नी ही घर कहलाती है क्योंकि भार्या-शून्य गृह वन के समान होता है ॥ १४७ ॥

पञ्जरस्था ततः श्रुत्वा भर्तुर्दुःखान्वितं वचः ।
कपोतिका सुसन्तुष्टा वाक्यं चेदमथाऽऽह सा ॥ १४८ ॥

तब पींजडे में बैठी हुई कबूतरी पति के दुःखपूर्ण वचन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई और यह वचन कहने लगी ॥ १४८ ॥

'न सा स्त्री'त्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥१४९॥

जिस स्त्री पर पति प्रसन्न नहीं होता उसे स्त्री नहीं मानना चाहिए। पति के प्रसन्न होने पर स्त्रियों के सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

दावाग्निना विदग्धेव सपुष्पस्तबका लता ।
भस्मीभवतु सा नारी यस्यां भर्ता न तुष्यति ॥ १५० ॥

जिस स्त्री पर पति की प्रीति नहीं वह स्त्री वन की अग्नि से फूलों के गुच्छों के सहित जली हुई लता के समान भस्म हो जावे ॥ १५० ॥

मितं ददाति हि पिता मित भ्राता मित सुत. ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ १५१ ॥

पिता, भाई और पुत्र ये सब स्त्रियो को परिमित (सुख और धन) ही देते हैं परन्तु अपरिमित (धन और सुख) के देने वाले पति की कौन स्त्री पूजा नही करेगी ॥ १५१ ॥

पुनश्चाब्रवीत्---

शृणुष्वावहित. कान्त ! यत्ते वक्ष्याम्यह हितम् ।
प्राणैरपि त्वया नित्य सरक्ष्य: शरणागत ॥ १५२ ॥

हे प्रिय ! तुम्हारा हितकारी वचन जो मैं कह रही हूँ उसे तुम सावधान होकर सुनो। शरण मे आए हुए जन की रक्षा तुम्हे अपने प्राण देकर भी करनी चाहिए।१५२।

एष शाकुनिक शेते तवावासं समाश्रितः ।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ॥१५३॥

सर्दी और भूख से पीडित यह व्याध तेरे घर आकर जमीन पर पडा है तुम इसकी पूजा करो ॥ १५३ ॥

श्रूयते च---

य. सायमतिथिं प्राप्त यथाशक्ति न पूजयेत् ।
तस्यासौ दुष्कृत दत्वा सुकृतं चापकर्षति ॥ १५४ ॥

जो मनुष्य सायङ्काल के समय घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार नही करता वह उसको अपना पाप देकर उसका पुण्य ले लेता है ॥ १५४ ॥

मा चास्मै त्व कृथा द्वेष बद्धाऽनेनेति मत्प्रिया ।
स्वकृतैरेव बद्धाऽह प्राक्तनैः कर्मबन्धनै ॥ १५५ ॥

और, तुम इस पर द्वेष मत करो कि इसने मेरी प्रिया को बाँधा है, क्योकि मैं तो अपने ही पूर्व किये हुए कर्मरूपी पापो से बँधी हूँ ॥ १५५ ॥

दारिद्र्यरोगदु खानि बन्धनव्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ॥ १५६ ॥

दरिद्रता, बीमारी और दु ख तथा पाश आदि मे बँधना और विपत्तियां, ये सब प्राणियो को अपने अपराध (दोष) रूपी वृक्ष के फल भोगने पडते हैं ॥१५६॥

तस्मात्त्वं द्वेषमुत्सृज्य मद्बन्धनसमुद्भवम् ।
धर्मे मन समाधाय पूजयैन यथाविधि ॥ १५७ ॥

इसलिये तुम मेरे बन्धन मे पडने के कारण उत्पन्न द्वेष छोडकर और अपने कर्तव्य मे मन लगाकर इस व्याध की शास्त्रानुसार पूजा करो ॥ १५७ ॥

तस्यास्तद्वचन श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
उपगम्य ततोऽधृष्टः कपोत प्राह लुब्धकम् ॥ १५८ ॥

अनन्तर अपनी पत्नी कपोती के धर्म और युक्ति से परिपूर्ण उस वचन को सुनकर वह कबूतर व्याध के पास आ नम्रतापूर्वक बोला ॥ १५८ ॥

भद्र ! सुस्वागत तेऽस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते ।
सन्तापश्च न कर्तव्य. स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ १५९ ॥

हे भद्र ! आपका स्वागत हो, आप कहे, मैं आपका क्या कार्य करूँ, आप अपने मन मे खेद न करें, आप अपने ही घर मे स्थित है ॥ १५९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच विहङ्गमम् ।
कपोत ! खलु शीत मे हिमत्राणं विधीयताम् ॥ १६० ॥

उसका यह वचन सुन वह व्याध पक्षी से बोला—हे कपोत ! मुझे सर्दी सता रही है अत शीत से मेरी रक्षा करो ॥ १६० ॥

स गत्वाऽङ्गारकं नीत्वा पातयामास पावकम् ।
तत॰ शुष्केषु पर्णेषु तमाशु समदीपयत् ॥ १६१ ॥

तब वह कबूतर कही जाकर एक अगारा ले आया और उसने सूखे पत्तो पर उसे डाल दिया और शीघ्र ही प्रज्वलित कर दिया ॥ १६१ ॥

सुसन्दीप्त तत कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
प्रतापयस्व विश्रब्ध स्वगात्राण्यत्र निर्भय. ॥ १६२ ॥

अनन्तर अग्नि को अच्छी तरह प्रदीप्त कर उस कपोत ने अतिथि से कहा— हे अतिथे ! तुम निर्भय हो अच्छी तरह अपने अङ्ग को सेको ॥ १६२ ॥

उद्गतेन च जीवामो वय सर्वे वनौकसः ।
न चास्ति विभवः कश्चिन्नाशये येन ते क्षुधम् ॥ १६३ ॥

हम सब वनवासी दैवयोग से प्राप्त वस्तु पर निर्भर रहते हैं इसलिये मेरे पास कुछ सम्पत्ति नही है जिससे तुम्हारी भूख मिटा सकूं ॥ १६३ ॥

सहस्र भरते कश्चिच्छतमन्यो दशापर॰ ।
मम त्वकृतपुण्यस्य क्षुद्रस्यात्माऽपि दुर्भर. ॥ १६४ ॥

कोई पुरुष हजार, कोई सौ और कोई दस प्राणियो का पालन करता है । मैंने

कोई पुण्य कार्य नही किया इसलिये मैं ऐसा अभागा हूँ कि अपना पेट भी मुश्किल से भर पाता हूँ ॥ १६४ ॥

एकस्याप्यतिथेरन्न यः प्रदातु न शक्तिमान् ।
तस्यानेकपरिक्लेशे गृहे किं वसतः फलम् ? ॥ १६५ ॥

जो पुरुष एक भी अतिथि को भोजन देने की शक्ति नही रखता, उस पुरुष के अनेक दु खो से परिपूर्ण घर मे रहने से क्या लाभ ? ॥ ६५ ॥

तत्तथा साधयाम्येतच्छरीर दु:खजीवितम् ।
यथा भूयो न वक्ष्यामि 'नास्ती'त्यर्थिसमागमे ॥ १६६ ॥

इसलिये दु खपरिपूर्ण इस शरीर को ऐसा कर दूं (नष्ट कर दूं) जिससे फिर कभी याचको के आने पर 'नही हैं' ऐसा न कहूँ ॥ १६६ ॥

स निनिन्द किलात्मान न तु त लुब्धक पुन. ।
उवाच तर्पयिष्ये त्वा मुहूर्तं प्रतिपालय ॥ १६७ ॥

उस कबूतर ने अपनी ही निन्दा की (अतिथि को भोजन न दे सकने के कारण) परन्तु (स्त्री को पकडने पर भी) उस व्याध की निन्दा न की। तुम थोडी देर प्रतीक्षा करो मैं तुम्हे तृप्त करूंगा ॥ १६७ ॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
तमग्निं संपरिक्रम्य प्रविवेश स्ववेश्मवत् ॥ १६८ ॥

धर्मात्मा वह कबूतर ऐसा कह कर प्रसन्न मनसे उस अग्नि की प्रदक्षिणा कर अपने घर के समान उसमे प्रविष्ट हुआ ॥ १६८ ॥

ततस्त लुब्धको दृष्ट्वा कृपया पीडितो भृशम् ।
कपोतमग्नौ पतित वाक्यमेतदभाषत ॥ १६९ ॥

अनन्तर अग्नि मे गिरा हुआ उस कबूतर को देखकर व्याध को उस पर बडी दया आई और वह यह कहने लगा ॥ १६९ ॥

य करोति नर पाप न तस्यात्मा ध्रुव प्रिय ।
आत्मना हि कृत पापमात्मनैव हि भुज्यते ॥ १७० ॥

जो मनुष्य पाप करता है निश्चय ही उसे अपनी आत्मा प्रिय नही है क्योकि स्वय किया हुआ पाप स्वय ही भोगना पडता है। (पाप का फल हमेशा दु ख ही होता है और दु ख कोई भोगना नही चाहता, यदि आत्मा प्रिय हो तो उसे दु ख भोगने का साधन क्यो उपस्थित करे) ॥ १७० ॥

सोऽहं पापमतिश्चैव पापकर्मरत. सदा ।
पतिष्यामि महाघोरे नरके नात्र सशयः ॥ १७१ ॥

दुष्ट बुद्धि और सदा दुष्कर्म मे फंसा हुआ मैं महाभयङ्कर नरक में गिरूंगा इस मे जरा भी सन्देह नही है ॥ १७१ ॥

नूनं मम नृशंसस्य प्रत्यादर्शः सुदर्शितः ।
प्रयच्छता स्वमासानि कपोतेन महात्मना ॥ १७२ ॥

निश्चय ही इस महात्मा कपोत ने अपना मास (मुझे) देते हुए मुझ निर्दयी के सामने (दया) एक अच्छा उदाहरण उपस्थित किया ॥ १७२ ॥

अद्य प्रभृति देहं स्व सर्वभोगविवर्जितम् ।
तोय स्वल्प यथा ग्रीष्मः शोषयिष्यामहं पुनः ॥ १७३ ॥

आज से मैं भी सब प्रकार के सुख भोग छोड कर अपने शरीर को इस प्रकार सुखा दूंगा जैसे कि ग्रीष्म ऋतु थोडे पानी को सुखा देती है ॥ १७३ ॥

शीतवातातपसह' कृशाङ्गो मलिनस्तथा ।
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये धर्ममुत्तमम् ॥ १७४ ॥

अब मैं सर्दी, वायु और गरमी सहता हुआ, शरीर को कृश करके अपने देह की स्वच्छता की भी परवाह न करके नाना प्रकार के उपवासो द्वारा धर्म का पालन करूंगा ॥ १७४ ॥

ततो यष्टि शलाका च जालक पञ्जर तथा ।
बभञ्ज लुब्धको दीना कापोतीञ्च मुमोच ताम् ॥ १७५ ॥

अपना विचार स्थिर करके उस बहेलिया ने लाठी, शलाका, जाल तथा पीजरा तोड दिया और उस दीन कबूतरी को भी छोड दिया ॥ १७५ ॥

लुब्धकेन ततो मुक्ता दृष्ट्वाऽग्नौ पतित पतिम् ।
कपोती विललापार्त्ता शोकसन्तप्तमानसा ॥ १७६ ॥

अनन्तर जब बहेलिया ने उस कबूतरी को छोड दिया तब अग्नि मे पडे हुए पति को देख, दु खी हो शोक के कारण व्याकुल मन से विलाप करने लगी ॥१७६॥

न कार्यमद्य मे नाथ ! जीवितेन त्वया विना ।
दीनाया पतिहीनाया कि नार्या जीविते फलम् ॥ १७७ ॥

हे स्वामिन् ! आज आपके बिना मेरे जीने का कोई फल नही है क्योकि पति से वियुक्त अत एव दीन स्त्री के प्राणधारक से क्या लाभ है ? ॥ १७७ ॥

मानो दर्पस्त्वहंकारः कुल पूजा च बन्धुषु ।
दासभृत्यजनेष्वाज्ञा वैधव्येन प्रणश्यति ॥ १७८ ॥

वैधव्य से स्त्रियो का मानसिक तेज (तेजस्विता), (धनादि का) गर्व, उत्तम वश में उत्पन्न होना, कुटुम्बिजनो का (अपने प्रति) आदरभाव और नौकर-चाकरो पर प्रभुत्व यह सब कुछ नष्ट हो जाता है ॥ १७८ ॥

एव विलप्य बहुश. कृपण भृशदु खिता ।
पतिव्रता सुसन्दीप्त तमेवाग्नि विवेश सा ॥ १७९ ॥

अत्यन्त दु खित पतिव्रता वह कपोती इस प्रकार बारबार दीनतापूर्वक विलाप करके जलती हुई उसी अग्नि मे प्रविष्ट हो गई ॥ १७९ ॥

ततो दिव्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिता ।
भर्तारं सा विमानस्थं ददर्श स्वं कपोतिका ॥ १८० ॥

अनन्तर उस कबूतरी ने दिव्य वस्त्र धारण कर और मनोहर भूषणो से अलङ्कृत हो विमान मे बैठे हुए अपने पति को देखा ॥ १८० ॥

सोऽपि दिव्यतनुर्भूत्वा यथार्थमिदमब्रवीत् ।
अहो मामनुगच्छन्त्या कृत साधु शुभे ! त्वया ॥ १८१ ॥

यह कबूतर भी दिव्य शरीर धारण करके शास्त्रानुसारी यह वचन कहने लगा—हे शुभे ! तुमने मेरा अनुसरण करते हुए बहुत अच्छा किया ॥ १८१ ॥

तिस्त्र कोटयोऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे ।
तावत्काल वसेत्स्वर्गे भर्तार याऽनुगच्छति ॥ १८२ ॥

जो स्त्री (मृत) पति का अनुसरण करती है वह साढे तीन करोड जितने कि मनुष्य शरीर मे रोम (बाल) है उतने समय (वर्ष) तक स्वर्ग मे रहती है ॥१८२॥

कपोतदेह सूर्यास्ते प्रत्यह सुखमन्वभूत् ।
कपोतदेहवत्सासीत् प्राक्पुण्यप्रभव हितम् ॥ १८३ ॥

वह दिव्य शरीरधारी कपोत सूर्यास्त होने पर रात्रि मे (भी) प्रतिदिन आनन्द भोगता था और वह कबूतरी भी अपने पति के समान सुख भोगने लगी क्योकि उन दोनो को वह दिव्य शरीर पूर्वजन्म के पुण्यो के प्रभाव से मिला था ॥१८३॥

हर्षाविष्टस्ततो व्याधो विवेश च वन घनम् ।
प्राणिहिंसां परित्यज्य बहुनिर्वेदवान् भृशम् ॥ १८४ ॥

अनन्तर प्रसन्नचित्त वह व्याध (ससार के प्रति) अत्यन्त विरक्त हो प्राणि-हिंसा छोडकर (तप करने के लिये) घने वन मे प्रविष्ट हुआ ॥ १८४ ॥

तत्र दावानल दृष्ट्वा विवेश विरताशयः ।
निर्दग्धकल्मषो भूत्वा स्वर्गसौख्यमवाप्तवान् ॥ १८५ ॥

उस व्याध की सब वासनाए (इच्छाए) निवृत्त हो चुकी थी अत वह उस वन मे दावानल देख उसमे प्रविष्ट हो गया और सब पापो से मुक्त हो स्वर्ग का आनन्द भोगने लगा ॥ १८५ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'श्रूयते हि कपोतेन' इत्यादि ।

तच्छ्रुत्वारिमर्दनो दीप्ताक्ष पृष्टवान्—'एवमवस्थिते किं भवान् मन्यते ?' सोऽब्रवीत्—'देव ! न हन्तव्य एवायम् ।

इसलिए मैं कहता हूं—'सुना जाता है कि कबूतर ने' इत्यादि ।

यह सुनकर अरिमर्दन ने दीप्ताक्ष से पूछा—'ऐसी दशा मे आपका क्या मत है ?' उसने कहा—'देव ! यह मारने योग्य नही है ।'

यत —

या ममोद्विजते नित्यं सा ममाद्याऽवगूहते ।
प्रियकारक ! भद्रन्ते यन्ममाऽस्ति हरस्व तत् ॥ १८६ ॥

क्योंकि—जो मुझे दु खित करती थी (वृद्धपति होने के कारण घृणा करती थी और कभी मुझसे अच्छी तरह बोलती भी नही) वह आज मुझे (तुम्हारे भय के कारण) इस प्रकार गाढ आलिङ्गन कर रही है । इसलिये हे प्रिय करने वाले (चोर !) जो वस्तु मेरे घर मे है उन सबको चुरा ले जाओ और तुम्हारा कल्याण हो ॥ १८६ ॥

चौरेण चाऽप्युक्तम्—

हर्तव्य ते न पश्यामि हर्तव्यं चेद्भविष्यति ।
पुनरप्यागमिष्यामि यदीयं नाऽवगूहते ॥ १८७ ॥

यह सुनकर चोरने भी कहा —

(हे सेठ जी !) इस समय आपके घर मे चुराने योग्य कोई वस्तु नही देखता हूं । जब तुम्हारे घर मे चुराने योग्य वस्तु होगी तो मैं उसे चुराने के लिये फिर

चाय तौर्न्निप्रक्तोऽस्माकमेव पुष्टये भविष्यति तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेति अनेन कारणेनायमवध्य इति ।'

एतदाकर्ण्यारिमर्दनोऽन्य सचिव वक्रनास पप्रच्छ---'भद्र ! साम्प्रतमेव स्थिते किं करणीयमिति ?'--सोऽब्रवीत्-'देव ! अवध्योऽयम् ।' यत --

शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्त परस्परम् ।
चौरेण जीवित दत्त राक्षसेन तु गोयुगम् ।। १९० ।।

अरिमर्दन प्राह--'कथमेतत् ?' वक्रनास कथयति--

इसलिये उपकारी चोर की भी मगल-कामना की जाती है फिर शरणागत का तो कहना ही क्या है ? दूसरी बात यह भी है कि वे कुपित होगे तो हमारा ही लाभदायक होगा और उनके छिद्रो (कमजोरियो) का भी हमे ज्ञान होगा। इसलिये यह अवध्य ही है।'

यह सुन अरिर्दन ने दूसरे वक्रनास नामक मन्त्री से पूछा-'भद्र ! ऐसी दशा मे क्या करना चाहिए ?' वह बोला---हे देव ! यह अवध्य है' क्योंकि--

परस्पर विवाद करते हुए शत्रु भी हितकारी होते है जैसे चोर ने जीवन दान दिया और राक्षस ने दो बैल बचाये ।। १९० ।।

अरिमर्दन ने पूछा--'यह कैसे ?' वक्रनास ने कहा--

कथा ६

अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मण, प्रतिग्रहधन, सतत विशिष्टवस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बूलादिभोगपरिवर्जित, प्ररूढकेशश्मश्रुनखरोमोपचित, शीतोष्णवातवर्षादिभि परिशोषितशरीर तस्य च केनापि यजमानेनानुकम्पया शिशुगोयुग दत्तम् । ब्राह्मणेन च बालभावादारभ्य याचितघृततैलयवसादिभि सवर्ध्य सुपुष्ट कृतम् । तच्च दृष्ट्वा सहसैव कश्चिच्चौरश्चिन्तितवान्--'अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि, इति निश्चित्य निशाया बन्धनपाश गृहीत्वा, यावत्प्रस्थितस्तावदर्धमार्गे प्रविरलतीक्ष्णदन्तपक्तिरुन्नतनासावश, प्रकटरक्तान्तनयन उपचितस्नायुसन्ततनतगात्र शुष्ककपोल सुहुतहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीर कश्चिद् दृष्ट । दृष्ट्वा च त तीव्रभयत्रस्तोऽपि चौरोऽब्रवीत्--'को भवान्' इति । स आह--

'सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः । भवानप्यात्मानं निवेदयतु ।' सोऽब्रवीत्--'अहं क्रूरकर्मा चौरो दरिद्रब्राह्मणस्य गोयुगं हर्तुं प्रस्थितोऽस्मि ।' अथ जातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्--'भद्र ! षष्ठाह्नकालिकोऽहम् ।' अतस्तमेव ब्राह्मणमद्य भक्षयिष्यामि, तत्सुन्दरमिदम्, एककार्यविवावाम् ।' अथ तौ तत्र गत्वैकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ। प्रसुप्ते च ब्राह्मणे तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्--'भद्र ! नैष न्यायो यतो गोयुगे मयाऽपहृते पश्चात्त्वमेनं ब्राह्मणं भक्षय।' सोऽब्रवीत्--'कदाचिदयं ब्राह्मणो गोशब्देन बुध्येत तदाऽनर्थकोऽयं ममारम्भः स्यात् ।' चौरोऽप्यब्रवीत्--'तवापि यदि भक्षणायोपस्थितस्य एकोऽप्यन्तरायः स्यात्, तदाऽहमपि न शक्नोमि गोयुगमपहर्तुम् । अतः प्रथमं मयापहृते गोयुगे पश्चात्त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः ।' इत्थं चाहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैधे प्रतिरववशाद् ब्राह्मणो जजागार। अथ तं चौरोऽब्रवीत्--'ब्राह्मण। त्वामेवायं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति' इति। राक्षसोऽप्याह--'ब्राह्मण ! चौरोऽयं गोयुगं तेऽपहर्तुमिच्छति ।' एवं श्रुत्वोत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वेष्टदेवतामन्त्रध्यानेनात्मानं राक्षसाद्, उद्गूर्णलगुडेन च चौराद् गोयुगं ररक्ष । अतोऽहं ब्रवीमि--'शत्रवोऽपि हितायैव' इति ।

किसी स्थान मे द्रोण नाम का एक गरीब ब्राह्मण रहता था, दान लेना ही उसकी जीविका थी ! उसे कभी भी उत्तम उत्तम वस्त्र, उबटन आदि लेपन द्रव्य, सुगन्धित (इत्र आदि) वस्तु, मालाएँ और पान आदि भोगने के लिये न मिलते थे । बढ़े हुए बाल, दाढी, मूँछ, नाखून और रोमो (शरीर के बाल) से उसका शरीर भर गया था तथा सर्दी, गरमी, हवा और वर्षादि के सहन करने से उसका देह कृश हो गया था । किसी यजमान ने कृपा कर उसे दो बछडे दिये । ब्राह्मण ने उन्हे मागे हुए घी, तैल और घास आदि के द्वारा खूब हृष्ट-पुष्ट कर लिया । उन (बछडो) पर दृष्टि पडते ही किसी चोर ने सोचा--'मैं इस ब्राह्मण के इन बछडो को चुराऊँगा' यह निश्चय कर रात्रि के समय हाथ मे बाँधने की रस्सी लेकर चल पडा । आधी दूर ही पहुँचा था कि उसे रास्ते मे कोई (मनुष्य) मिला । उसके नोकीले दातो की पंक्ति अधिक घनी न थी । उसकी नाक ऊँची थी'

चाय तौर्ग्निप्रक्तृतोऽस्माकमेव पुष्टये भविष्यति तदीयरन्ध्रदर्शनाय चेति अनेन कारणेनायमवध्य इति ।'

एतदाकर्ण्यारिमर्दनोऽन्य सचिव वक्रनास पप्रच्छ--'भद्र ! साम्प्रतमेव स्थिते किं करणीयमिति ?'--सोऽब्रवीत्–'देव ! अवध्योऽयम् ।' यत --

शत्रवोऽपि हितायैव विवदन्त परस्परम् ।
चौरेण जीवित दत्त राक्षसेन तु गोयुगम् ॥ १९० ॥

अरिमर्दन प्राह--'कथमेतत् ?' वक्रनास कथयति--

इसलिये उपकारी चोर की भी मगल-कामना की जाती है फिर शरणागत का तो कहना ही क्या है ? दूसरी बात यह भी है कि वे कुपित होगे तो हमारा ही लाभदायक होगा और उनके छिद्रो (कमजोरियो) का भी हमे ज्ञान होगा। इसलिये यह अवध्य ही है।'

यह सुन अरिर्दन ने दूसरे वक्रनास नामक मन्त्री से पूछा-'भद्र। ऐसी दशा मे क्या करना चाहिए ?' वह बोला--हे देव ! यह अवध्य है' क्योंकि---

परस्पर विवाद करते हुए शत्रु भी हितकारी होते है जैसे चोर ने जीवन दान दिया और राक्षस ने दो बैल बचाये ॥ १९० ॥

अरिमर्दन ने पूछा--'यह कैसे ?' वक्रनास ने कहा--

कथा ६

अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने दरिद्रो द्रोणनामा ब्राह्मण, प्रतिग्रहधन, सतत विशिष्टवस्त्रानुलेपनगन्धमाल्यालङ्कारताम्बूलादिभोगपरिवर्जित, प्ररूढकेशश्मश्रुनखरोमोपचित, शीतोष्णवातवर्षादिभि परिशोषितशरीर तस्य च केनापि यजमानेनानुकम्पया शिशुगोयुग दत्तम् । ब्राह्मणेन च बालभावादारभ्य याचितघृततैल्यवसादिभि सवर्ध्य सुपुष्ट कृतम् । तच्च दृष्ट्वा सहसैव कश्चिच्चौरश्चिन्तितवान्---'अहमस्य ब्राह्मणस्य गोयुगमिदमपहरिष्यामि, इति निश्चित्य निशाया बन्धनपाश गृहीत्वा, यावत्प्रस्थितस्तावदर्धमार्गे प्रविरलतीक्ष्णदन्तपक्तिरुन्नतनासावश, प्रकटरक्तान्तनयन उपचितस्नायुसन्ततनतगात्र. शुष्ककपोल सुहुतहुतवहपिङ्गलश्मश्रुकेशशरीर कश्चिद् दृष्ट । दृष्ट्वा च त तीव्रभयत्रस्तोऽपि चौरोऽब्रवीत्---'को भवान्' इति । स आह--

'सत्यवचनोऽहं ब्रह्मराक्षसः । भवानप्यात्मानं निवेदयतु ।' सोऽब्रवीत्—'अहं क्रूरकर्मा चौरो दरिद्रब्राह्मणस्य गोयुगं हर्तुं प्रस्थितोऽस्मि ।' अथ जातप्रत्ययो राक्षसोऽब्रवीत्—'भद्र ! षष्ठाह्नकालिकोऽहम् ।' अतस्तमेव ब्राह्मणमद्य भक्षयिष्यामि, तत्सुन्दरमिदम्, एककार्यविवावाम् ।' अथ तौ तत्र गत्वैकान्ते कालमन्वेषयन्तौ स्थितौ । प्रसुप्ते च ब्राह्मणे तद्भक्षणार्थं प्रस्थितं राक्षसं दृष्ट्वा चौरोऽब्रवीत्—'भद्र ! नैष न्यायो यतो गोयुगे मयाऽपहृते पश्चात्त्वमेनं ब्राह्मणं भक्षय ।' सोऽब्रवीत्—'कदाचिदयं ब्राह्मणो गोशब्देन बुध्येत तदाऽनर्थकोऽयं ममारम्भः स्यात् ।' चौरोऽप्यब्रवीत्—'तवापि यदि भक्षणायोपस्थितस्य एकोऽप्यन्तरायः स्यात्, तदाऽहमपि न शक्नोमि गोयुगमपहर्तुम् । अतः प्रथमं मयापहृते गोयुगे पश्चात्त्वया ब्राह्मणो भक्षयितव्यः ।' इत्थं चाहमहमिकया तयोर्विवदतोः समुत्पन्ने द्वैधे प्रतिरववशाद् ब्राह्मणो जजागार । अथ तं चौरोऽब्रवीत्—'ब्राह्मण ! त्वामेवायं राक्षसो भक्षयितुमिच्छति' इति । राक्षसोऽप्याह—'ब्राह्मण ! चौरोऽयं गोयुगं तेऽपहर्तुमिच्छति ।' एवं श्रुत्वोत्थाय ब्राह्मणः सावधानो भूत्वेष्टदेवतामन्त्रध्यानेनात्मानं राक्षसाद्, उद्गूर्णलगुडेन च चौराद् गोयुगं ररक्ष । अतोऽहं ब्रवीमि—'शत्रवोऽपि हितायैव' इति ।

किसी स्थान मे द्रोण नाम का एक गरीब ब्राह्मण रहता था, दान लेना ही उसकी जीविका थी । उसे कभी भी उत्तम-उत्तम वस्त्र, उबटन आदि लेपन द्रव्य, सुगन्धित (इत्र आदि) वस्तु, मालाएँ और पान आदि भोगने के लिये न मिलते थे । बढ़े हुए बाल, दाढी, मूँछ, नाखून और रोमो (शरीर के बाल) से उसका शरीर भर गया था तथा सर्दी, गरमी, हवा और वर्षादि के सहन करने से उसका देह कृश हो गया था । किसी यजमान ने कृपा कर उसे दो बछडे दिये । ब्राह्मण ने उन्हे मांगे हुए घी, तैल और घास आदि के द्वारा खूब हृष्ट-पुष्ट कर लिया । उन (बछडो) पर दृष्टि पडते ही किसी चोर ने सोचा—'मैं इस ब्राह्मण के इन बछडो को चुराऊँगा' यह निश्चय कर रात्रि के समय हाथ मे बाँधने की रस्सी लेकर चल पडा । आधी दूर ही पहुँचा था कि उसे रास्ते मे कोई (मनुष्य) मिला । उसके नोकीले दाँतो की पंक्ति अधिक घनी न थी । उसकी नाक ऊँची थी ।

नेत्रो के किनारे लाल चमकते हुए थे, कृश होने के कारण शरीर की नसें बाहर निकली हुई थी, शरीर झुक रहा था, गाल बैठे हुए थे, उसके शरीर मे दाढी और सिर के बाल जलती हुई अग्नि के समान पीले थे। उसको देख कर यद्यपि चोर बहुत डर गया था तो भी बोला—'आप कौन है।' उसने कहा—'मैं सत्यवचन नामक ब्रह्मराक्षस हूँ। आप भी अपना परिचय दें (श॰ आप भी अपने को बतावें)।' वह बोला—'मैं कठोर कर्म करने वाला चोर हूँ। एक गरीब ब्राह्मण के दो बछडे चुराने के लिए जा रहा हूँ।' तब विश्वस्त हो राक्षस ने कहा—'मेरा दिन के छठें भाग (सायङ्काल) मे भोजन करने का नियम है (पाठान्तर मे दो दिन भोजन न करके तीसरे दिन के सायङ्काल के समय भोजन करने वाला। दिन मे दो समय भोजन करने के होते है। इसलिये छठा समय तीसरे दिन का सायङ्काल होगा) अत आज उसी ब्राह्मण को खाऊँगा। इसलिये यह बहुत अच्छा हुआ कि (दोनो साथ ही चल रहे हैं क्योकि) हम दोनो का कार्य समान ही है। अनन्तर वे दोनो वहाँ (ब्राह्मण के घर) जाकर सुअवसर की प्रतीक्षा करते हुए एकान्त मे खडे हो गये। ब्राह्मण के सो जाने पर जब राक्षस उसे खाने चला तब चोर ने कहा—'यह उचित नही है, पहिले मैं जब बछडो को ले जाऊँ तब तुम इस ब्राह्मण को खाना।' उसने कहा—'अगर यह ब्राह्मण बछडो के शब्द से जाग गया तो मेरा यह उद्योग निष्फल हो जायगा।' चोर ने कहा—'तुम्हारे भी खाने के बीच मे अगर कोई विघ्न उपस्थित हो गया तो मै भी इन बछडो को नही चुरा सकता। इसलिये प्रथम मेरे बछडो के ले जाने पर पीछे तुम ब्राह्मण को खाना।' इस प्रकार अहमहमिकापूर्वक जब वे विवाद करते हुए लडने लगे तब उनके शोर के कारण ब्राह्मण जाग गया। उससे चोर ने कहा—'हे ब्राह्मण! यह राक्षस तुम्हे ही खाना चाहता है।' राक्षस ने भी कहा—'हे ब्राह्मण। यह चोर तुम्हारे बछडे को चुराना चाहता है।' यह सुन कर ब्राह्मण उठ कर सावधान हो गया और उसने इष्टदेवता तथा मन्त्रों के ध्यान से अपने को राक्षस से बचा लिया तथा दण्डे से अपने बछडो को चोर से बचा लिया। इसलिये मैं कहता हूँ—'शत्रु भी हितकारी होते हैं' इत्यादि।

अथ तस्य वचनमवधार्यारिमर्दन पुनरपि प्राकारकर्णमपृच्छत्—'कथय, किमत्र मन्यते भवान्?' सोऽब्रवीत्—देव! अवध्य एवायम्, यतो नेनानेन कदाचित्परस्परप्रीत्या काल सुखेन गच्छति।' उक्त च—

परस्परस्य मर्माणि ये न रक्षन्ति जन्तवः ।
त एव निधनं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत् ॥ १९१ ॥

अरिमर्दनोऽब्रवीत्--'कथमेतत् ?' प्राकारकर्णः कथयति--

उसका वचन सुन कर अरिमर्दन ने फिर भी, प्राकारकर्ण से पूछा--'कहिये, इस विषय मे आपका क्या मत है ?' उसने कहा--'देव ! यह अवध्य ही है क्योंकि यह सम्भव है कि कदाचित् इसकी रक्षा करने से आपस मे प्रीतिपूर्वक समय व्यतीत होने लगे ।' कहा भी है --

जो प्राणी एक दूसरे की गोप्य बातो की रक्षा नही करते वे लोग ही वल्मीक के अन्दर मे स्थित सर्पों के समान मृत्यु को प्राप्त होते है ॥ १९१ ॥

अरिमर्दन ने पूछा--'यह कैसे ?' प्राकारकर्ण ने कहा--

कथा १०

अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे देवशक्तिर्नाम राजा । तस्य च पुत्रो जठरवल्मीकाश्रयेणोरगेण प्रतिदिनं प्रत्यङ्गं क्षीयते । अनेकोपचारैः सद्वैद्यैः सच्छास्त्रोपदिष्टौषधयुक्त्याऽपि चिकित्स्यमानो न स्वास्थ्यमेति । अथासौ राजपुत्रो निर्वेदाद्देशान्तरं गतः । कस्मिंश्चिन्नगरे भिक्षाटनं कृत्वा महति देवालये कालं यापयति । अथ तत्र नगरे वलिर्नाम राजाऽऽस्ते । तस्य च द्वे दुहितरौ यौवनस्थे तिष्ठतः । ते च प्रतिदिवसमादित्योदये पितुः पादान्तिकमागत्य नमस्कारं चक्रतुः । तत्र चैकाऽब्रवीत्--'विजयस्व महाराज ! यस्य प्रसादात्सर्वं सुखं लभ्यते ।' द्वितीया तु--'विहितं भुङ्क्ष्व महाराज !' इति ब्रवीति । तच्छ्रुत्वा प्रकुपितो राजाऽब्रवीत्--'भो मन्त्रिणः ! एनां दुष्टभाषिणीं कुमारिकां कस्यचिद्वैदेशिकस्य प्रयच्छत तेन निजविहितमियमेव भुङ्क्ते ।' अथ 'तथा' इति प्रतिपद्याल्पपरिवारा सा कुमारिका मन्त्रिभिस्तस्य देवकुलाश्रितराजपुत्रस्य प्रतिपादिता । साऽपि प्रहृष्टमनसा तं पतिं देववत्प्रतिपद्यादाय चान्यविषयं गता । ततः कस्मिंश्चिद् दूरतरनगरप्रदेशे तडागतटे राजपुत्रमावासरक्षार्थं निरूप्य स्वयं च घृततैललवणतण्डुलादिक्रयनिमित्तं सपरिवारा गता । कृत्वा च क्रयविक्रयं यावदागच्छति तावत्स राजपुत्रो वल्मीकोपरि कृतमूर्धा प्रसुप्तः । तस्य च मुखाद्भुजगः फणां निष्कास्य वायुमश्नाति । तत्रैव च वल्मीकेऽपरः सर्पो निष्क्रम्य तथैवा-

सीत् । अथ तयो परस्परदर्शनेन क्रोधसरक्तलोचनयोर्मध्याद्वल्मीकस्थेन सर्पेणोक्तम्––'भो भो ! दुरात्मन् ! कथ सुन्दरसर्वाङ्ग राजपुत्रमित्थ कदर्थयसि ?' मुखस्थोऽहिरब्रवीत्––'भो भो ! त्वयाऽपि दुरात्मनाऽस्य वल्मीकस्य मध्ये कथमिद दूषित हाटकपूर्णं कलशयुगलम्' इत्येव परस्परस्य मर्माण्युद्घाटितवन्तौ। पुनर्वल्मीकस्थोऽहिरब्रवीत्––'भो ! दुरात्मन् ! भेषजमिद ते किं कोऽपि न जानाति यज्जीर्णोत्कालितकाञ्जिकाराजिकापानेन भवान्विनाशमुपयाति ।' अथोदरस्थोऽहिरब्रवीत्––'तवाऽप्येतद्भेषज किं कश्चिदपि न वेत्ति यदुष्णतैलेन महोष्णोदकेन वा तव विनाश स्यादि' ति । एव च सा राजकन्या विटपान्तरिता तयो परस्परालापान्मर्मभयानाकर्ण्य तथैवानुष्ठितवती । विधायाव्यङ्ग नीरोग भर्त्तार निधिं च परममासाद्य स्वदेशाभिमुख प्रायात् । पितृमातृस्वजनै प्रतिपूजिता विहितोपभोग प्राप्य सुखेनावस्थिता । अतोऽहब्रवीमि––'परस्परस्य मर्माणि, इति ।

किसी नगर मे देवशक्ति नाम का राजा रहता था । उसका एक पुत्र था जिसके पेटरूपी वमई मे एक साप रहता था जिसके कारण उसका प्रतिदिन प्रत्येक अग क्षीण होता जाता था । अच्छे वैद्यो द्वारा अनेक तरह से आयुर्वेदादि उत्तम शास्त्रो मे निर्दिष्ट औषधियो का प्रयोग करके चिकित्सा किये जाने पर भी वह स्वस्थ न हुआ । तब वह राजपुत्र विरक्त हो दूसरे देश को चला गया । वह किसी नगर मे भीख माग कर एक बडे मन्दिर मे समय विताने लगा । उस शहर मे बलि नाम का राजा रहता था । उसकी दो युवती लडकियाँ थी । वे प्रतिदिन सूर्योदय के समय पिता के पास आकर प्रणाम किया करती थी । उस समय उनमे से एक कहती थी––'हे महाराज ! आप की विजय हो जिनकी कृपा से सब प्रकार का सुख मिलता है ।' और दूसरी––'हे महाराज ! अपने किये हुए को भोगो' कहा करती थी । यह सुन कर राजा क्रुद्ध होकर बोला––'हे मन्त्रियो ! कटु भाषण करने वाली इस लडकी को किसी विदेशी को दे दो जिससे यही अपने किये हुए को भोगे ।' तब मन्त्रियो ने 'बहुत अच्छा' कह कर थोडे से परिवार के साथ उस कुमारी को देवकुल मे रहने वाले उस राजपुत्र को सौप दिया । वह (कुमारी) भी प्रसन्न-चित्त से उस पति को देवता के समान मान कर अपने साथ दूसरे देश

को ले गई। वहाँ किसी अत्यन्त दूर शहर में तालाब के किनारे राजपुत्र को स्थान की रक्षा करने के लिये नियुक्त कर स्वय घी, तेल, नमक, चावल आदि खरीदने को परिवार सहित गई। जब तक वह खरीद-बेचकर लौटी तब तक इधर वह राजपुत्र बमई (वल्मीक) ऊपर सिर रखकर सो गया। एक सर्प उसके मुख से फन निकाल कर वायु-सेवन करने लगा। (उसी समय) वल्मीक से दूसरा साप निकल कर उसी तरह (वायु सेवन करने लगा)। एक दूसरे को देखने से उन दोनो के नेत्र लाल हो गये, वल्मीकस्थ सर्प ने कहा--'अरे दुष्ट! सर्वाङ्ग-सुन्दर इस राजपुत्र को इस तरह क्यो पीडित करता है।' मुख-स्थित सर्प बोला--'रे दुरात्मन्। तूने भी इस वल्मीक मे रखे हुए और सुवर्ण से भरे हुए इन दो कलशो को क्यो दूषित कर रखा है।' इस तरह उन दोनो ने एक दूसरे की गोप्य बातें प्रकाशित कर दी। वल्मीक-स्थित साप फिर कहने लगा--'अरे दुष्ट। क्या कोई भी तुम्हारी यह दवाई नही जानता कि पुरानी और उबाली हुई काजी के साथ राई पिलाने से तुम्हारा विनाश होता है।' इस पर पेट मे स्थित सर्प ने कहा--'क्या तुम्हारी भी इस दवाई को कोई नही जानता कि खौलते हुए तेल या अत्यन्त गरम पानी मे तुम्हारी मृत्यु होती है।' पेडो की आड मे छिपी हुई राज-कन्या ने एक दूसरे के मर्म को प्रकाशित करने वाली उनकी बातचीत सुनकर वैसा ही किया। इसके अनन्तर वह राजकन्या अपने पति को पूर्णाङ्ग और नीरोग करके तथा बडा भारी खजाना पाकर अपने देश को चली गई। तब माता, पिता और बन्धुगणो से सम्मानित होकर अपने कर्मफल को भोगती हुई सुख से रहने लगी। इसलिये मैं कहता हूँ--'जो एक दूसरे की गुप्त बातो की रक्षा नही करते' इत्यादि।

तच्च श्रुत्वा स्वयमरिर्दनोऽप्येव समर्थितवान्। तथा चानुष्ठित। दृष्ट्वान्त-र्लीन विहस्य रक्ताक्ष पुनरब्रवीत्--'कष्टम्, विनाशितोऽग्र भवद्भिरन्यायेन स्वामी।' उक्त च--

यह सुन कर स्वय अरिमर्दन ने भी इसी बात का (शरणागत की रक्षा का) ही अनुमोदन किया। जब रक्ताक्ष ने देखा कि ऐसा ही किया जा रहा है तब कुछ अन्दर ही अन्दर हँस कर कहा--'बडे दु ख की बात है कि आप लोगो ने अनीति-पूर्वक हमारे प्रभु का विनाश कर दिया। कहा भी है --

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्याना तु विमानना ।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्ष मरण भयम् ॥ १९२ ॥

जिस देश वा नगर मे दुर्जनो का आदर और सज्जनो का तिरस्कार किया जाता है वहाँ दुर्भिक्ष, मृत्यु और भय ये तीन प्रवृत्त होते है ॥ १९२ ॥

तथा च--

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्ख साम्ना प्रशाम्यति ।
रथकार स्वका भार्या सजारा शिरसाऽवहत् ॥ १९३ ॥

मन्त्रिण प्राहु --'कथमेतत् ?' रक्ताक्ष कथयति--

और भी--प्रत्यक्ष (सामने) पाप करने पर भी मूर्ख मधुर वचन से (प्रमाण देकर उसको विश्वास दिलाने से) शान्त हो जाता है, जैसे रथकार (कारीगर) ने (जार 'यार' के साथ सोई हुई अपनी स्त्री को देखकर भो उसके प्रमाण पर विश्वास कर) जार के सहित अपनी स्त्री को शिर पर लेकर गांव भर घुमाया ॥ १९३ ॥

मन्त्रियो ने पूछा --'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा --

कथा ११

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने वीरवरो नाम रथकार ।तस्य भार्या कामदमनी । सा पुश्चली जनापवादसयुक्ता । सोऽपि तस्या परीक्षणार्थं व्यचिन्तयत्--'अथ मयाऽस्या परीक्षण कर्तव्यम् ।' उक्त यत --

किसी नगर मे वीरवर नामक रथकार (बढई) रहता था । उसकी कामदमनी नाम की अत्यन्त कामासक्त स्त्री थी । वह बहुत व्यभिचारिणी थी और (गांव भर) उसकी निन्दा हो चुकी थी । उस (वीरवर) ने भी उसकी परीक्षा लेने का विचार किया --'यह बात झूठ है या सच–इसकी परीक्षा मुझे करनी चाहिए ।' क्योंकि कहा भी है --

यदि स्यात्पावक शीत प्रोष्णो वा शशलाञ्छन ।
स्त्रीणा तदा सतीत्व स्याद्यदि स्याद् दुर्जनो हित ॥१९४॥

यदि अग्नि ठण्डा हो अथवा चन्द्रमा गर्म हो और दुर्जन हितकारी हो तो स्त्रियो का सतीत्व रह सकता है ॥ १९४ ॥

जानामि चैना लोकवचनादसतीम् । उक्त च--

यच्च वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्ट न च सश्रुतम् ।
तत्सर्व वेत्ति लोकोऽय यत्स्याद् ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ १९५ ॥

लोगो के कथनानुसार यह व्यभिचारिणी है। कहा भी है —

जो बाते और शास्त्रो मे भी नही देखी गई और न सुनी गई उन सब बातो को लोग जानते है चाहे वे ब्रह्माण्ड के किसी कोने मे भी क्यो न हो ॥ १९५ ॥

एव सप्रधार्य भार्यामवोचत्—'प्रिये। प्रभातेऽह ग्रामान्तर यास्यामि। तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति। तत्त्वया किमपि पाथेयं मम योग्य विधेयम्।' सापि तद्वचन श्रुत्वा हर्षितचित्ता, औत्सुक्यात्सर्वकार्याणि सत्यज्य सिद्धमन्न घृतशर्कराप्रायमकरोत्।

यह विचार कर अपनी स्त्री से कहा—'हे प्रिये! कल सवेरे मैं दूसरे गाँव को जाऊँगा। वहाँ कुछ दिन लगेंगे। इसलिये तुम कुछ मेरे योग्य पाथेय (कलेवा) बना दो।' वह (व्यभिचारिणी स्त्री) उसके वचन को सुनकर प्रसन्न हुई, और उसने अत्यन्त उत्सुकता से सब गृहकार्य को छोडकर घी और चीनी डालकर उत्तम सिद्धान्न (मालपूआ आदि) बना दिया।

अथवा साध्विदमुच्यते—

दुर्दिवसे घनतिमिरे वर्षति जलदे महाटवीप्रभृतौ।
पत्युर्विदेशगमने परमसुख जघनचपलाया ॥ १९६ ॥

अथवा यह ठीक ही कहा है —

जब दिन मेघाच्छन्न हो, अन्धकार छा गया हो, मेघ घनघोर बरस रहा हो, घोर वन हो (शून्य स्थान और गृह हो) और पति परदेश गया हो तब व्यभिचारिणी स्त्रियो को अत्यन्त आनन्द होता है। (उस समय व्यभिचारिणी स्त्रियाँ बहुत प्रसन्न होती है।) ९६ ॥

अथासौ प्रत्यूषे उत्थाय स्वगृहान्निर्गत सापि त प्रस्थित विज्ञाय प्रहसितवदनाङ्गसस्कार कुर्वाणा कथञ्चित्त दिवसमत्यवाहयत। अथ पूर्वपरिचितविटगृहे गत्वा त प्रत्युक्तवती—'स दुरात्मा मे पतिर्ग्रामान्तर गत। तत्त्वयाऽस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम्।'

वह (रथकार) सवेरे उठकर घर से निकल गया। वह भी पति को परदेश गया समझ कर हँसती हुई स्नान और शृङ्गार से शरीर सजाकर किसी प्रकार दिन को बिताई। उसके बाद (शाम को) अपने यार के पास जाकर उससे कहने लगी—'वह दुष्ट मेरा पति परदेश गया है। इसलिये सब के सो जाने पर (रात मे) हमारे घर आ जाना।'

तथानुष्ठिते स रथकारोऽरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगृहेऽपद्वारेण प्रविश्य शय्याधस्तले निभृतो भूत्वा स्थित । एतस्मिन्नन्तरे स देवदत्त समागत्य तत्र शयने उपविष्ट । दृष्ट्वा रोषाविष्टचित्तो रथकारो व्यचिन्तयत्-- 'किमेनमुत्थाय हन्मि ? अथवा हेल्यैव प्रसुप्तौ द्वावप्येतौ व्यापादयामि ? पर पश्यामि तावदस्याश्चेष्टित, शृणोमि चानेन सहालापान् ।'

यह कहकर वह अपने घर लौट आई। वह रथकार भी वन मे दिन बिताकर सायकाल अपने घर के पीछे से घुस कर खटिया के नीचे छिपकर बैठ गया। रात होने पर उस स्त्री का जार आकर उसी शय्या पर बैठा। उसे देखकर रथकार ने अत्यन्त क्रोधित होते हुए विचार किया--'क्या मैं उठकर इस (दुष्ट) को अभी मार डालूँ ? अथवा जब ये दोनो सो जायँ तब एक साथ दोनो को मारें। किन्तु इसकी चेष्टा को देख लें और इसके साथ किस प्रकार बातचीत करती है उसे भी सुन लें।'

अत्रान्तरे सा गृहद्वार निभृत पिधाय शयनतलमारुढा। तस्यास्तत्रारोहयन्त्या रथकारशरीरे पादो विलग्न । तत सा व्यचिन्तयत्--'नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम् । तत स्त्रीचरित्रविज्ञान किमपि करोमि ।'

उसकी वह स्त्री गृह का द्वार धीरे से बन्द कर जार के सोये हुए शय्या पर चढ गयी। जब वह व्यभिचारिणी शय्या पर चढ रही थी। उसका पैर रथकार के शरीर से लग गया। तब उसने सोचा--'निश्चय ही इस दुष्ट रथकार ने मेरी परीक्षा की है। इसलिये मैं भी स्त्रीचरित्र की विशेषता दिखाती हूँ।'

एव तस्याश्चिन्तयन्त्या स देवदत्त स्पर्शोत्सुको बभूव। अथ तया कृताञ्जलिपुटयाऽभिहित--'भो महानुभाव ? न मे शरीर त्वया स्पर्शनीय यतोऽह पतिव्रता महासती च। न चेच्छाप दत्त्वा त्वा भस्मसात्करिष्यामि।' स आह--'यद्येव तर्हि त्वया किमहमाहूत ?' साऽब्रवीत्--'भो ! शृणुष्वैकाग्रमना --

वह स्त्री इस प्रकार चिन्ता कर रही थी कि उसका जार देवदत्त आलिङ्गनादि करने को उत्सुक हुआ (उसके शरीर पर यह आलिङ्गनादि करने के लिये हाथ बढाया और छेड-छाड करने लगा।) तब उस (रथकार) की स्त्री ने हाथ जोड कर कहा --'हे महानुभाव ? मेरे शरीर को तुम मत छुओ, क्योकि मैं पतिव्रता और

सच्ची सती हूँ । यदि हठ से तुम छुओगे तो मैं शाप दे दूंगी, तुम भस्म हो जाओगे ।' वह (जार) बोला--'यदि ऐसा रहा तो मुझे क्यो बुलाई ?' वह कहती है --'मेरी बात को एकाग्र होकर सुनो --

अहमद्य प्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतन गता तत्राकस्मात्खे वाणी सञ्जाता--'पुत्रि ! किं करोमि ? भक्तासि मे त्व, पर षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद्विधवा भविष्यसि ।'

आज मैं सबेरे चण्डिका देवी के दर्शन के लिये गयी थी । वहाँ एकाएक आकाशवाणी हुई--'हे पुत्रि ! क्या कहूँ ? तुम मेरी बहुत भक्ता हो, परन्तु दैव-सयोग से ६ महीने के अन्दर ही तुम विधवा हो जाओगी ।'

ततो मयाभिहित--'भगवति ! यथा त्वमापद वेत्सि, तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि । तदस्ति कश्चिदुपायो येन मे पति शतसवत्सरजीवी भवति ?' ततस्तयाऽभिहित--'वत्से ! सन्नपि नास्ति, यतस्त्वाऽऽयत्त स प्रतीकार ।' तच्छ्रुत्वा मयाभिहित--'देवि ! यदि तन्मम प्राणैर्भवति तदादेशय येन करोमि ।'

मैंने देवी से कहा--'हे भगवति ! जैसे आप विपत्ति को जानती है वैसे इसका प्रतीकार भी अवश्य जानती हैं । कोई ऐसा उपाय है कि जिससे मेरे पति सौ वर्ष तक जीते रहे ?' तब उन्होने कहा--'हे पुत्रि ! उपाय है किन्तु वह नही के समान है । क्योकि वह उपाय तुम्हारे ही अधीन है ।' यह सुनकर मैंने कहा--'हे देवि ! यदि उपाय है तो उसे बता दीजिये । मैं उसे प्राण लगाकर भी करूँगी ।

अथ देव्याभिहित--यद्यद्य परपुरुषेण सहैकस्मिञ्छयने समारुह्यालिङ्गन करोषि तत्तत्र भर्तृसक्तोऽपमृत्युस्तस्य सञ्चरति । भर्तापि तेन पुनर्वर्षशत जीवति । तेन त्व मयाऽभ्यर्थित । तद्यत्किञ्चित्कर्तुमनास्तत्कुरुष्व । न हि देवतावचनमन्यथा भविष्यतीति निश्चय ।' ततोऽन्तर्हासविकासमुख स तदुचितमाचचार ।

तब देवी जी ने कहा--'यदि आज पर पुरुष के साथ एक ही शय्या पर बैठ कर आलिङ्गनादि करेगी तो तुम्हारे पति की अपमृत्यु नाश हो जायेगी । तुम्हारे पति भी सौ वर्ष तक जीवित रहेगे । इसलिये मैंने तुम्हे बुलाया है । अब तुम्हे जो कुछ करने की इच्छा है उसे करो । देवी का वचन अन्यथा नही हो सकता है--

यह मेरा निश्चय है। तब उस (जार) ने स्त्री का चरित्र जानकर मन ही मन हँसते हुए प्रसन्नतापूर्वक कामोचित आलिङ्गन-चुम्बन आदि कार्य किया।

सोऽपि रथकारो मूर्खस्तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाञ्चिततनु शय्याधस्तलान्निष्क्रम्य तामुवाच--'साधु पतिव्रते! साधु कुलनन्दिनि!! अह दुर्जनवचनशङ्कितहृदयस्त्वत्परीक्षानिमित्त ग्रामान्तरव्याज कृत्वा खट्वाधस्तले निभृत लीन। तदेहि--आलिङ्ग माम्। त्व स्वभर्तृभक्ताना मुख्या नारीणा, तदेव ब्रह्मव्रत परसङ्गेऽपि पालितवती। 'यदायुर्वृद्धिकृतेऽपमृत्युविनाशार्थञ्च त्वमेव कृतवती।' तामेवमुक्त्वा सस्नेहमालिङ्गितवान्।'

वह मूर्ख रथकार उसकी स्त्रीचातुरी से युक्त वचन सुन कर रोमाञ्चित होते हुए शय्या के नीचे से निकल कर उस व्यभिचारिणी स्त्री से कहा --'हे पतिव्रते! तुम धन्य हो! कुल को आनन्द देने वाली! तुम धन्य हो!! मैं दुष्ट के वचनो से शङ्कित होकर तुम्हारी परीक्षा करने के लिये परदेश जाने का छल कर शय्या के नीचे छिपा हुआ था। इसलिये आओ, मुझे आलिङ्गन करो। तुम अपने पति मे भक्ति रखने वाली स्त्रियो मे मुख्य हो क्योकि दूसरे के साथ एक शय्या पर सोकर भी तुमने अपना पातिव्रत धर्म का पालन किया है। 'मेरी अकालमृत्यु का नाश और आयु की वृद्धि के लिये तुमने यह कठिन काम (परपुरुष से आलिङ्गन आदि काम) किया। 'ऐसा कहकर उस मूर्ख ने प्रेमपूर्वक उसका आलिङ्गन किया।'

स्वस्कन्धे तामारोप्य तामपि देवदत्तमुवाच--'भो महानुभाव! मत्पुण्यैस्त्वमिहाऽऽगत। त्वत्प्रसादान्मया प्राप्त वर्षशतप्रमाणमायु। तत्त्वमपि मामालिङ्ग्य मत्स्कन्धे समारोह' इति जल्पन्ननिच्छन्तमपि देवदत्तमालिङ्ग्य बलात्स्वकीयस्कन्धे आरोपितवान्।

ततश्च नृत्य कृत्वा 'हे ब्रह्मव्रतधराणा धुरीण! त्वयाऽपि मय्युपकृतम्'-इत्याद्युक्त्वा स्कन्धादुत्तार्य यत्र यत्र स्वजनगृहद्वारादिषु बभ्राम तत्र तत्र तयोरुभयोरपि तद्गुणवर्णनमकरोत्। अतोऽह ब्रवीमि--'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे' इति।

अपने कन्धे पर अपनी व्यभिचारिणी स्त्री को लेकर उस देवदत्त (जार) से कहा--'हे महानुभाव! मेरे भाग्य से आप यहाँ आये है। आपके प्रसाद से ही मैंने सौ वर्ष का जीवन प्राप्त किया। इसलिये आप भी मुझे आलिङ्गन करें और मेरे कन्धे पर बैठें। यह कहते हुए इच्छा नही करने वाले देवदत्त को आलिङ्गन

करके जबर्दस्ती कन्धे पर बैठा लिया। तब नाच कर 'हे ब्रह्मव्रत (परोपकार व्रत) धारण करने वालो मे श्रेष्ठ ! आपने भी मेरा उपकार किया है। यह कह कर कन्धे से उतार कर जहाँ-जहाँ अपने स्वजनो के घर के दरवाजे पर गया वहाँ-वहाँ उन दोनो का गुणवर्णन करता रहा।

इसलिये मैं कहता हूँ कि—'प्रत्यक्ष पाप करने पर भी' (पृ ७०)।

तत्सर्वथा मूलोत्खाता वय विनष्टा स्म । सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

मित्ररूपा हि रिपव सम्भाव्यन्ते विचक्षणै ।
ये हित वाक्यमुत्सृज्य विपरीतोपसेविन ॥ १९७ ॥

इस (आप लोगो की मूर्खता) से हम सब मूल से ही नष्ट हो जायेंगे। यह ठीक ही कहा है—

जो मनुष्य हितवचन न कहकर अहित का उपदेश करते हैं। (अथवा जो मनुष्य भलाई की बात पर ध्यान न देकर उसके विपरीत ही आचरण करते है।), विज्ञ पुरुष निश्चय ही उनको मित्ररूपधारी शत्रु समझते हैं ॥ १९७ ॥

तथा च—

सन्तोऽप्यर्था विनश्यन्ति देशकालविरोधिन. ।
अप्राज्ञान्मन्त्रिण प्राप्य तम सूर्योदये यथा ॥ १९८ ॥

राजनीति मे दुर्बुद्धि (अपढ) मन्त्रियो को पाकर देश और काल के विरुद्ध आचारण करने वाले राजा के विद्यमान भी अर्थ (धनादि पदार्थ) इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे कि सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥ १९८ ॥

ततस्तद्वचोऽनादृत्य सर्वे ते स्थिरजीविनमुत्क्षिप्य स्वदुर्गमानेतुमारब्धा । अथानीयमान स्थिरजीव्याह-'देव ! अद्याकिञ्चित्करेणैतदवस्थेन किं मयोपसगृहीतेन ? यत्कारणमिच्छामि दीप्त वह्निमनुप्रवेष्टुम् । तदर्हसि मामग्निप्रदानेन समुद्धर्तुम् ।' अथ रक्ताक्षस्यान्तर्गतभाव ज्ञात्वाऽऽह— 'किमर्थमग्निपतनमिच्छसि ?' सोऽब्रवीत्—'अह तावद्युष्मदर्थमिमापदं मेघवर्णेन प्रापित । तदिच्छामि तेषा वैरयातनार्थमुलूकत्वमिति । तच्च श्रुत्वा राजनीतिकुशलो रक्ताक्ष प्राह—'भद्र ! कुटिलस्त्व कृतकवचनचतुरश्च । तावदुलूकयोनिगतोऽपि स्वकीयामेव वायसयोनिं बहु मन्यसे । श्रूयते चैतदाख्यानकम् ।

अनन्तर उस (रक्ताक्ष) के बात न मान कर वे सब स्थिरजीवी को उठा-

कर अपने दुर्ग मे लाने लगे। तब लाये हुए स्थिरजीवी ने कहा—हे देव ? आज इस अवस्था मे पडा हुआ मैं कुछ भी (आप की भलाई) नही कर सकता फिर मेरे सग्रह करने से आप को क्या लाभ ? इसलिये जलती हुई अग्नि मे प्रवेश करना चाहता हूँ—मरना चाहता हूँ इसलिये अग्निप्रदान करके (भस्म करके) मुझे (दुखो से) छुडाइये। तब रक्ताक्ष उसके आन्तरिक भावो को समझ कर बोला— 'तू किसलिये अग्नि मे गिरना चाहता है।' उसने कहा—'आप लोगो के कारण ही मेघवर्ण ने मेरी यह दशा की है। इसलिये उससे अपने वैर का बदला लेने के लिये मैं उलूक होना चाहता हूँ।' यह सुन कर राजनीति-कुशल रक्ताक्ष ने कहा— 'भद्र ! तुम कुटिल तथा बनावटी बातो के कहने मे बडे चतुर हो, तुम उलूकयोनि को प्राप्त होकर भी अपनी वायस-जाति का ही आदर करोगे। इस विषय मे यह उपाख्यान सुना जाता है —

सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य पर्जन्य मारुत गिरिम्।
स्वजाति मूषिका प्राप्ता स्वजातिर्दुरतिक्रमा ॥ १९९ ॥

मन्त्रिण प्रोचु —कथमेतत् ? रक्ताक्ष कथयति—

एक मूषिका (चुहिया) सूर्य, मेघ, वायु और पर्वत को पति न बना कर अपनी जाति को प्राप्त हुई, अपनी जाति का छोडना अत्यन्त कठिन होता है ॥१९९॥

मन्त्रियो ने पूछा —'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा —

कथा ११

अस्ति कस्मिश्चिदधिष्ठाने शालङ्कायनो नाम तपोधनो जाह्नव्या स्नानार्थं गत। तस्य च सूर्योपस्थान कुर्वतस्तत्र प्रदेशे मूषिका काचित्खरतरनखाग्रपुटेन श्येनेन गृहीता। दृष्ट्वा स मुनि करुणार्द्रहृदयो 'मुञ्च मुञ्चे' ति कुर्वाणस्तस्योपरि पाषाणखण्ड प्राक्षिपत्। सोऽपि पाषाणखण्डप्रहारव्याकुलेन्द्रियो भ्रष्टमूषिको भूमौ निपपात मूषिकाऽपि भयत्रस्ता कर्तव्यमजानती 'रक्ष रक्षे' ति जल्पन्ती मुनिचरणान्तिकमुपाविशत् श्येनेनापि चेतना लब्ध्वा मुनिरुक्त —'भद्रो मुने। न युक्तमनुष्ठित भवता यदह पाषाणेन ताडित। कि त्वमधर्मान्न बिभेषि ? तत्समर्पय ममैना मूषिकाम्।

१ अस्या कथाया पूर्वभागो भिन्नोऽप्युपलभ्यते। तन्त्रान्ते निवेशित तत्रैव द्रष्टव्य। पुस्तकद्वये चैषा कथा चतुर्थतन्त्र उपलभ्यते नत्विह प्रकरणसङ्गत्याऽस्माभिरिहैवोपनिवेशिता।

नो चेत्प्रभूत पातकमवाप्स्यसि ।' इति ब्रुवाण श्येन प्रोवाच स-'भो विहङ्गाधम ! रक्षणीय प्राणिना प्राणा, दण्डनीया दुष्टा, सम्माननीया साधव, पूजनीया गुरव, स्तुत्या देवा तत्किमसम्बद्ध प्रजल्पसि ।' श्येन आह--'मुने ! न त्व सूक्ष्मधर्मं वेत्सि । इह हि सर्वेषा प्राणिना विधिना सृष्टि कुर्वताहारोऽपि विनिर्मित । ततो यथा भवतामन्न तथाऽस्माक मूषिकादयो विहिता । तत्स्वाहारकाङ्क्षिण मा किं दूषयसि ? उक्त च--

किसी स्थान मे शालङ्कायन नाम का एक तपस्वी (रहता था वह एक समय) गगा मे स्नान करने गया । जब कि सूर्य की पूजा कर रहा था उस समय उसी स्थान मे (उसके पास गगा के किनारे) कोई चुहिया तेज पञ्जों (नाखूनो) वाले बाज से पकडी गयी । उसको देख कर मुनि का हृदय दया से परिपूर्ण हो गया, छोड, 'छोड' ऐसा कहते हुए उस (मुनि) ने उसके (बाज के) ऊपर एक पत्थर का टुकडा फेंका । वह बाज पत्थर के टुकडे की चोट से व्याकुल हो गया, मूषिका उससे छूट गई और वह स्वय भी पृथ्वी पर गिर पडा । तब भयभीत हुई वह चुहिया किकर्तव्यविमूढ होकर 'बचाओ, बचाओ' ऐसा कहती हुई मुनि के चरणो के पास आकर बैठ गई । बाज ने होश मे आकर मुनि से कहा--'हे मुने ? मुझे पत्थर से मार कर आपने उचित नही किया क्या आप अधर्म से नही डरते ? यह मूषिका मुझे सौंप दें, नही तो आप को बडा भारी पाप होगा ।' यह सुनकर मुनि ने कहा--'अरे नीच पक्षी ! प्राणियो के प्राणो की रक्षा करनी चाहिए । दुष्टो को दण्ड देना चाहिए, सज्जनो का आदर, गुरुओ का सत्कार और देवताओ की स्तुति करनी चाहिए फिर तू क्यो अनर्गल (बेतुकी) बातें करता है ।' श्येन ने कहा--'मुने । आप धर्म की बारीकी नही समझते । इस ससार मे प्राणियो की रचना करते हुए ब्रह्मा ने उनका भोजन भी बनाया है । जिस प्रकार आप लोगो के लिये अन्न, उसी प्रकार हम लोगों के लिये चूहे आदि बनाये है । इसलिये अपना भोजन चाहने वाले मुझ पर क्यो दोष लगाते हैं । 'कहा भी है'--

यद्यस्य विहित भोज्य न तत्तस्य प्रदुष्यति ।
अभक्ष्ये बहुदोष स्यात् तस्मात्कार्यो न व्यत्यय ॥ २०० ॥

जिसके लिये जो वस्तु भोजनरूप से निर्दिष्ट की गई है उसके खाने पर उसे कोई पाप नही होता किन्तु अभक्ष्य वस्तु के खाने मे बहुत पाप होता है इसलिये इसमे परिवर्तन नही करना चाहिए ॥ २०० ॥

भक्ष्य यथा द्विजातीना मद्यपाना यथा हवि ।
अभक्ष्य भक्ष्यतामेति तथाऽन्येषामपि द्विज ! ॥ २०१ ॥

जिस तरह मद्य पीने वालो की पय सुरा ब्राह्मणादि के लिये पेय (पीने योग्य) नही और जिस तरह ब्राह्मणादि का भोज्य (हवि यज्ञशेष) मद्य पीने वालो के लिये अभक्ष्य होता है, इसी तरह अन्य प्राणियो के भक्ष्याभक्ष्य की व्यवस्था जाननी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु एक के लिये भक्ष्य हो सकती है वह दूसरे के लिये अभक्ष्य भी हो सकती है ॥ २०१ ॥

भक्ष्य भक्षयता श्रेयो अभक्ष्यन्तु महदघम् ।
तत्कथ मा वृथाचार ! त्व दण्डयितुमर्हसि ॥ २०२ ॥

भक्ष्य का ही भक्षण करने वाले महापुण्य और अभक्ष्य भक्षण करने वाले को महापाप होता है। इसलिये व्यर्थ ही आचार (दिखाने वाले) ब्राह्मण। तुम मुझे कैसे दण्ड दे सकते हो ॥ २०२ ॥

अपर मुनीना न चैषधर्मो यतस्तैर्दृष्ट श्रुतमश्रुतमलौल्यत्वमशत्रुत्व प्रशस्यते। उक्त च––

सम शत्रौ च मित्रे च समलोष्टाश्मकाञ्चन ।
सुहृन्मित्रे ह्युदासीनो मध्यस्थो द्वेष्यबन्धुषु ॥ २०३ ॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।
साधूना निरवद्याना सदाचारविचारिणाम् ॥
योगी युञ्जीत सततमात्मान रहसि स्थित. ॥ २०४ ॥

और भी, मुनियो का यह (दूसरो को मारना) धर्म नही है। क्योकि उनके लिये देखा हुआ न देखे हुए के तथा सुना हुआ न सुने हुए के बराबर होता है और उनको लालच तथा शत्रुभाव उचित नही है। कहा भी है ––

निष्पाप और सदाचार का पालन करने वाले साधु पुरुषो मे वही पुरुष श्रेष्ठ समझा जाता है जो शत्रु और मित्र मे तथा मिट्टी के ढेले, पाषाण और सोने मे जिसका समान भाव हो, सुहृत (स्वभाव से ही हितैषी) और मित्र (स्नेहवश उपकार करने वाले) मे उदासीन, घृणा के योग्य तथा कुटुम्बियो मे एकभाव, सज्जन तथा पापियो को समान समझने वाला हो। योग मे लगे हुए पुरुष को चाहिए कि एकान्त मे बैठकर सदा मन को वश मे करे ॥ २०३–२०४ ॥

तत्त्वमनेन कर्मणा भ्रष्टतपा सञ्जातः । उक्तं च—

मुञ्च मुञ्च पतत्येको मा मुञ्चेति द्वितीयकः ।
उभयोः पतनं दृष्ट्वा मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ २०५ ॥

शालङ्कायन आह—कथमेतत् ? श्येन आह—

इसलिये आप इस कार्य को करके अपने तप से भ्रष्ट हो गये (तुम्हारा तप नष्ट हो गया) । कहा भी है—

'छोडो, छोडो' ऐसा कहता हुआ अपने तप प्रभाव से भ्रष्ट हुआ और दूसरा 'मत छोडो' ऐसा कहने से भ्रष्ट हुआ, उन दोनो का पतन (तपोविनाश) देखकर तीसरे ने सर्वकार्य सिद्ध करने वाला मौन धारण कर लिया ॥ २०५ ॥

शालङ्कायनने पूछा —'यह कैसे ?' श्येन ने कहा —

कथा १२

कस्मिंश्चिन्नदीतटे एकत-द्वित-त्रिताभिधानास्त्रयोऽपि भ्रातरो मुनयस्तपः कुर्वन्ति । तेषाञ्च तपःप्रभावादाकाशस्था धौतपोतिका निरालम्बा जलार्द्राभूस्पर्शनभयेन स्नानसमये तिष्ठन्ति । अथान्येद्युर्मयेव काचिन्मण्डूकिका केनापि गृध्रेण बलेन नीता । अथ तां गृहीतां विलोक्य तेषां ज्येष्ठेन करुणार्द्रहृदयेन भवतेव व्याहृतम् 'मुञ्च, मुञ्चे'ति । अत्रान्तरे तस्य धौतपोतिकाकाशाद् भूमौ पतिता । तां पतितां दृष्ट्वा द्वितीयेन तद्भयार्तेन 'मा मुञ्चे' त्यभिहितं यावत्तस्यापि पपात । ततस्तृतीयो द्वयोरपि धौतपोतिका भूमौ पतितां दृष्ट्वा तूष्णीं बभूव । अतोऽहं ब्रवीमि—मुञ्च मुञ्च पतत्येक' इत्यादि ।

किसी नदी-तट पर एकत, द्वित और त्रित नामक तीन भाई मुनि तप करते थे, उनके तप प्रभाव के कारण स्नान के समय (उनके) धुले हुए गीले वस्त्र पृथ्वी के छूने के भय से विना सहारे ही आकाश में टँगे रहते थे । एक दिन जिस प्रकार (इस मूषिका को पकडा) इसी तरह गिद्ध ने एक मेढकी को जबरदस्ती पकड ली । उसको पकडा हुआ देखकर उनमे सबसे ज्येष्ठ ने करुणा से कातर-हृदय हो आपके समान 'छोडो, छोडो' कहा । इसी समय उसका वस्त्र पृथ्वी पर गिर पडा । उसको गिरता देख दूसरा अपने वस्त्र के गिरने के भय से व्याकुल हो गया और ज्यो ही उसने 'मत छोड' ऐसा कहा त्यो ही उसका भी

वस्त्र गिर गया । तब तीसरा उन दोनो के वस्त्रो को गिरा हुआ देख कर चुप हो गया । इसलिये मैं कहता हूँ 'एक मुञ्च मुञ्च कहने से गिरता हैं' इत्यादि ।

तच्छ्रुत्वा मुनिर्विहस्याह--'भो मूर्ख ! विहङ्गम ! कृतयुगे धर्म स आसीत् । यत कृतयुगे पापालापतोऽपि पाप जायते तेन धौतपोतिके पतिते अशिष्टालापेन न सदपवचनदोषत । एष पुन कलियुग । अत्र सर्वोऽपि पापात्मा । तत्कर्म कृत विना पाप न लगति ।' उक्त च--

> सचरन्तीह पापानि युगेष्वन्येषु देहिनाम् ।
> कलौ तु पापसयुक्ते य करोति स लिप्यते ॥ २०६ ॥

यह सुन, मुनि ने हँसकर कहा--'अरे मूर्ख पक्षी ! सत्ययुग मे यह धर्म था क्योकि सत्ययुग मे पापी पुरुपो के साथ वातचीत करने से भी पाप होता था । इसीलिये अशिष्ट (दुष्ट) गृध्र के साथ वार्तालाप करने से धौतवस्त्र गिर पडे । यह तो कलियुग है । इसमे सभी मनुष्य (प्राणी) स्वभाव से ही पापी होते है । इसलिये (वस्तुत) पापकर्म किये विना पाप नही लगता ।' कहा भी है --

इस ससार मे कलि के अतिरिक्त अन्य (सत्य आदि) युगो मे पाप एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को लगता है परन्तु पाप से परिपूर्ण कलियुग मे तो जो कर्म करता है उसी को पाप लगता है ॥ २०६ ॥

उक्त च--

> आसनाच्छयनाद्यानात्सगतेश्चापि भोजनात् ।
> कृते सचरते पाप तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ २०७ ॥

कृतयुग मे पाप जल मे तेल विन्दु के समान (पापी पुरुप के साथ) बैठने, सोने, जाने, साथ रहने और भोजन करने से लगता था ॥ २०७ ॥

तत्कि वृथा प्रलपितेन ? गच्छ त्वम् नो चेच्छापयिष्यामि । अथ गते श्येने मूषिकया स मुनिरभिहित --'भगवन् ? नय मा स्वाश्रमम् । नो चेदन्यो दुष्टपक्षी मा व्यापादयिष्यति, तदह तत्रैवाश्रमे त्वद्दत्तान्नाहार-मुष्ट्या काल नेष्यामि ।' सोऽपि दाक्षिण्यवान् सकरुणो व्यचिन्तयत्--'कथ मया मूषिका हस्ते धृत्वा नेया जनहास्यकारिणी, तदेना कुमारिका कृत्वा नयामि ।' एव सा कन्यका कृता । तथाऽनुष्ठिते कन्यासहित मुनिमवलोक्य पत्नी पप्रच्छ--'भगवन् ? कुत इय कन्या ? ।' स आह--'एषा मूषिका श्येन-भयाच्छरणार्थिनी कन्यारूपेण तव गृहमानीता । तत्त्वया यत्नेन रक्षणीया ।

भूयोऽप्येना मूषिका करिष्यामि।' सा प्राह--भगवन् ! मैव कार्षीः । अस्यास्त्वं धर्मपिता ।' उक्त च--

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥ २०८ ॥

इसलिये व्यर्थ बकवाद करने से क्या लाभ ? तुम चले जाओ, नही तो शाप दे दूँगा। अनन्तर श्येन के चले जाने पर मूषिका ने मुनि से कहा--'भगवन्। मुझे अपने स्थान पर ले चलो, नहीं तो अन्य दुष्ट पक्षी मुझे मार डालेगा। इसलिये मैं वही तुम्हारे स्थान पर ही तुम्हारे दिये हुए मुष्टि-परिमित अन्न से अपना समय बिता दूँगी। उदारचेता मुनि ने करुणापूर्वक विचार किया-'इस चुहिया को हाथ में रखकर मैं कैसे ले जाऊँ ? इसमें मनुष्य हँसी करेंगे, इसलिये इसे लडकी बनाकर ले चलूँ।' तब उसको लडकी बना दिया। ऐसा करने पर (मूपिका को लडकी बनाकर ले जाने पर) कन्या-सहित मुनि को देखकर पत्नी ने पूछा---'भगवन् ! यह लडकी कहाँ से मिली ?' उसने कहा-'बाज के डर से रक्षा चाहने वाली इस मूषिका को कन्या बनाकर तुम्हारे घर लाया हूँ। तुम यत्नपूर्वक इसकी रक्षा करना। इसको मैं फिर भी मूषिका बना दूँगा।' उसने कहा---'भगवन् ! ऐसा न कीजिये। तुम इसके धर्मपिता हो।' कहा भी है-

पैदा करने वाला, उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत) करने वाला, विद्याप्रदान करने वाला, अन्नदाता और भय से रक्षा करने वाला ये पाँच पिता माने गये हैं॥

तत्त्वयाऽस्याः प्राणाः प्रदत्ताः। अपरं ममाप्यपत्यं नास्ति। तस्मादेषा मम सुता भविष्यति। तथाऽनुष्ठिते सा कन्या शुक्लपक्षचन्द्रकलिकेव नित्यं वृद्धिं प्राप्नोति। साऽपि तस्य मुनेः शुश्रूषां कुर्वती सपत्नीकस्य यौवनमाश्रयात्। अथ तां यौवनोन्मुखीमवलोक्य शालङ्कायनः स्वपत्नीमुवाच---'प्रिये यौवनोन्मुखी वर्तते इयं कन्या। अनर्हा सा साम्प्रतं मद्गृहवासस्य।' उक्त च---

अनूढा मन्दिरे यस्य रजः प्राप्नोति कन्यका।
पतन्ति पितरस्तस्य स्वर्गस्था अपि तैर्गुणैः ॥ २०९ ॥

तुमने इसको प्राण प्रदान दिया है। दूसरी बात यह कि मेरी कोई सन्तान भी नहीं है। इसलिये यह मेरी पुत्री होकर रहेगी। ऐसा करने पर वह कन्या

शुक्लपक्ष की चन्द्र-कला के समान दिन दिन बढने लगी। वह कन्या पत्नी सहित मुनि की सेवा करती हुई शीघ्र ही युवावस्था को प्राप्त हुई। अनन्तर कन्या को युवती होते देख शालङ्कायन ने पत्नी से कहा--प्रिये ! यह कन्या युवावस्था को प्राप्त हो रही है, अब यह हमारे घर रहने योग्य नही है। कहा भी है --

जिस पुरुष के घर कन्या अविवाहित रहकर रजस्वला होती है, स्वर्ग को प्राप्त हुए भी उसके पितृ-गण (बाप, दादा आदि) विवाह से पूर्व ही रजस्वला होने से उत्पन्न अधर्म आदि गुणो (दोषो) के कारण स्वर्ग से च्युत हो जाते है॥

वर वरयते कन्या माता वित्त पिता श्रुतम्।
बान्धवा कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जना ॥ २१० ॥

(विवाह के समय) कन्या उत्तम पति चाहती है, माता धन देखती है, पिता (दामाद की) विद्या पर ध्यान देता है, बन्धु लोग खानदान देखते है और अन्य (बाराती लोग) स्वादिष्ट भोजन ही चाहते है ॥ २१० ॥

तथा च--

यावन्न लज्जते कन्या यावत्क्रीडति पासुना।
यावत्तिष्ठति गोमार्गे तावत्कन्या विवाहयेत् ॥ २११ ॥

जब तक कन्या लजाती नही, जब तक धूल के साथ खेले और जब तक गौओ के मार्ग मे घूमे तभी तक उसका विवाह कर देना चाहिए ॥ २११ ॥

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठभ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरक यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वलाम् ॥ २१२ ॥

रजस्वला कन्या को देखने से माता, पिता और ज्येष्ठ भ्राता ये तीनो नरक-भागी होते हैं ॥ २१२ ॥

तथा च--

कुल च शीलञ्च सनाथता च विद्या च वित्त च वपुर्वयश्च।
एतान्गुणान्सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधै शेषमचिन्तनीयम् ॥२१३॥

उत्तम वश, सत्स्वभाव, पितादि रक्षक का जीवित होना, धन, रूप अथवा शरीर-सगठन और आयु इन सात गुणो की अच्छे प्रकार परीक्षा करके विद्वान् पुरुषो को कन्या का विवाह कर देना चाहिये, इसके अतिरिक्त अन्य किसी बात के विचार करने की आवश्यकता नही है ॥ २१३ ॥

तद्यद्यस्या रोचते तद्भगवन्तमादित्यमाकार्य तस्मै प्रयच्छामि उक्तं च—

अनिष्टः कन्यकाया यो वरो रूपान्वितोऽपि यः ।
यदि स्यात्तस्य नो देया कन्या श्रेयोऽभिवाञ्छता ।। २१४ ।।

इसलिये यदि यह चाहे तो मै भगवान् सूर्य को बुलाकर उन्हे दे सकता हूं । कहा भी है —

भविष्य मे (परिणाम मे) सुख चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह उस पुरुष को अपनी कन्या न दे जिसे कन्या पसन्द न करे, वह सुन्दर ही क्यो न हो ।।२१४।।

सा प्राह—'को दोषोऽत्र विषये । एवं क्रियताम् ।' अथ मुनिना रविराहूत । वेदमन्त्रामन्त्रणप्रभावात्तत्क्षणादेवाभ्युपगम्यादित्य प्रोवाच—'भगवन् ! वद द्रुत, किमर्थमहमाहूत ?' स आह—'एषा मदीया कन्यका तिष्ठति । यद्येषा त्वा वृणोति तर्ह्युद्वहस्व' इति । एवमुक्त्वा भगवाँस्तस्या दर्शित, प्रोवाच—'पुत्रि ! किं तव रोचत एष भगवाँस्त्रैलोक्यदीप ।' सा प्राह—'तात ! अतिदहनात्मकोऽय, नाहमेनमभिलषामि । अस्मादपि य उत्कृष्टतर स आहूयताम् ।' अथ तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य भास्वरोऽपि तां मूषिका विदित्वा नि स्पृहस्तमुवाच—'भगवन् ! अस्ति ममाप्यधिको मेघो येनाच्छादितस्य मे नामाऽपि न ज्ञायते, अथ मुनिना मेघमप्याहूय कन्याभिहिता—'एष ते रोचते ?' सा प्राह— कृष्णवर्णोऽयं जडात्मा च, तदस्मादन्यस्य कस्यचित्प्रधानस्य मा प्रयच्छ ।' अथ मुनिना मेघोऽपि पृष्ट —'भो ! त्वत्तोऽप्यधिक कोऽप्यस्ति ?' स आह—'मत्तोऽप्यधिकोऽस्ति वायु । वायुना हतोऽहं सहस्रधा यामि ।' तच्छ्रुत्वा मुनिना वायुराहूत , आह च—'पुत्रिके किमेष वायुस्ते विवाहाय उत्तम प्रतिभाति ?' सा आह—'प्रबलोऽप्ययं ! चञ्चल तदभ्यधिक । कश्चिच्चदाहूयताम् ।' मुनिराह—'भो वायो ! त्वत्तोऽप्यधिकोऽस्ति कश्चित् ?' स आह—मत्तोऽप्यधिकोऽस्ति पर्वतो येन सस्तभ्य बलवानप्यहं ध्रिये ।' अथ मुनि पर्वतमाहूय कन्याया अदर्शयत्—'पुत्रिके ! त्वामस्मै प्रयच्छामि ?' स आह—'तात ! कठिनात्मकोऽयं स्तब्धश्च । तदन्यस्मै देहि माम् ।' अथ स मुनिना पृष्ट —'यद्भो पर्वतराज ! त्वत्तोऽप्यधिक कश्चिदस्ति ?' स आह—'सन्ति मत्तोऽप्यधिका मूषका , ये मद्देहं बलात्सर्वतो भेदयन्ति ।' तदाकर्ण्य मुनिर्मूषिकमाहूय तस्या

अदर्शयत्--'पुत्रिके ! एष ते प्रतिभाति मूपकराजो येन यथोचित्त-मनुष्ठीयते ।' साऽपि त दृष्ट्वा स्वजातीय एप इति मन्यमाना पुलकोद्भूषितशरीरा प्रोवाच--'तात ! मा मूषिका कृत्वाऽस्मै प्रयच्छ येन स्वजातिविहित गृहधर्ममनुतिष्ठामि ।' तच्छ्रुत्वा तेन स्त्रीधर्मविचक्षणेन ता मूपिका कृत्वा मूषकाय प्रदत्ता । अतोऽह ब्रवीमि सूर्यं भर्तारमुत्सृज्य' इत्यादि ।

वह बोली--'इसमे क्या हानि है ? (कुछ हानि नही) ऐसा कर लीजिये । तब मुनि ने सूर्य को बुलाया । वेदमन्त्रो द्वारा आह्वान के प्रभाव मे उसी क्षण आकर सूर्य ने कहा--भगवन् । जल्दी कहिये मुझे क्यो बुलाया है ? उसने कहा--'यह मेरी लडकी खडी है, यदि यह तुम्हे पसन्द करे तो इसके साथ विवाह कर लो ।' यह कह कर उसे भगवान् दिखाते हुए अपनी पुत्री से कहा --'क्या तुम्हे यह त्रैलोक्य-प्रकाशक भगवान् सूर्य पसन्द है ?' कहा--'पिता यह अत्यन्त उष्ण है, मैं इसे नही चाहती, इससे भी यदि कोई श्रेष्ठ हो तो उसे बुलाओ ।' उसका यह वचन सुनकर भगवान् सूर्य ने भी उसे मूषिका समझ कर विरक्त हो कहा--' भगवन् । मुझसे भी श्रेष्ठ मेघ है जिससे ढके जाने पर मेरा नाम भी नही जाना जाता है । (मेरा अस्तित्व भी मिट सा जाता है ।) अनन्तर मुनिने मेघ को बुलाकर कन्या से कहा--'पुत्रि ! क्या तुम्हे यह पसन्द है ?' उसने कहा--यह काला तथा मूर्ख है (और जलस्वरूप है)। इसलिये इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे को मुझे दो ।' तब मुनि ने मेघ से पूछा--तुमसे भी कोई श्रेष्ठ है ?' उसने कहा--'वायु मुझसे भी श्रेष्ठ है, वायु से ताडित होकर मैं छिन्न-भिन्न हो जाता हू ।' यह सुन कर मुनि ने वायु को बुलाया और पुत्री से कहा--'पुत्रि ! क्या तुम्हे विवाह के लिये यह वायु अच्छा लगता है ?' उसने कहा--'यह बलवान् होते हुए भी चञ्चल है । इससे भी किसी उत्तम को बुलाओ ।' मुनि ने कहा--'हे वायो ! तुमसे भी कोई श्रेष्ठ है ?' वह बोला--'मुझसे भी पर्वत उत्तम है जिससे रुककर बलवान् होता हुआ भी मैं आगे नही बढ सकता । (जहाँ का तहाँ खडा रह जाता) हूँ ।' तब मुनिने पर्वत को बुलाकर कन्या को दिखाया--'पुत्रि ! तुम्हे मैं इसे दे दूँ ?' उसने कहा--'यह अत्यन्त कठोर और निश्चल है । इसलिये मुझे किसी अन्य को दो ।' तब मुनि ने उससे पूछा--'हे पर्वतराज ! तुम से भी कोई श्रेष्ठ है ?' उसने कहा--'मुझसे भी श्रेष्ठ चूहे हैं जो जबर्दस्ती मेरे शरीर को विदीर्ण कर देते हैं ।' यह सुनकर मुनि ने मूपकराज को बुलाकर उसे दिखाया--'पुत्र ! यह

मूषकराज क्या तुम्हे पसन्द है ? जिससे यथायोग्य कार्य किया जाय । (तुम्हें मूषिका बनाकर इसे दे दिया जाय ।)' वह भी उसको देखकर उसे अपनी जाति का समझती हुई अत्यन्त प्रसन्न हुई, उसका शरीर रोमाञ्च से सुशोभित हो गया, वह बोली--'हे तात ! मुझे मूषिका बनाकर इसे सौंप दो जिससे अपनी जाति-समुचित गृहस्थधर्मका पालन करूँ ।' यह सुनकर स्त्री-धर्म को जाननेवाले मुनि ने उसे मूषिका बनाकर मूषक को सौंप दिया । इसलिये मैं कहता हूँ--'सूर्य पति को छोड कर' इत्यादि ।

अथ रक्ताक्षवचनमादृत्य तैं स्ववंशविनाशाय स स्वदुर्गमुपनीत । नीयमानश्चान्तर्लीनमवहस्य स्थिरजीवीव्यचिन्तयत् --

हन्यतामिति येनोक्त स्वामिनो हितवादिना ।
स एवैकोऽत्र सर्वेषा नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ २१५ ॥

अनन्तर रक्ताक्ष की बात पर ध्यान न देकर अपने कुल का नाश करने के लिये वे लोग उसे (स्थिरजीवि को) अपने दुर्ग मे ले गये । ले जाये जाते हुए स्थिरजीवी ने अन्दर ही अन्दर हँस कर विचार किया --

स्वामी की भलाई की बात कहने वाला जिस (रक्ताक्ष) ने कहा था कि 'इसे मार डालो' वह एक ही इन सब मे नीतिशास्त्र के वास्तविक अभिप्राय को समझता है ॥ २१५॥

तद्यदि तस्य वचनमकरिष्यन्नेते, ततो न स्वल्पोऽप्यनर्थोऽभविष्यदेतेषाम् । अथ दुर्गद्वार प्राप्यारिमर्दनोऽब्रवीत् भो भो ? हितैषिणोऽस्य स्थिरजीविनो यथासमीहित स्थान प्रयच्छत ।' तच्च श्रुत्वा स्थिरजीवी व्यचिन्तयत्--'मया तावदेतेषा वधोपायश्चिन्तनीय स मया मध्यस्थेन न साध्यते । यतो मदीयमिङ्गितादिक विचारयन्तस्तेऽपि सावधाना भविष्यन्ति । तद्दुर्गद्वारमधिश्रितोऽभिप्रेत साधयामि ।' इति निश्चित्योलूकपतिमाह--'देव ! युक्तमिद यत्स्वामिना प्रोक्तम्, परमहमपि नीतिज्ञस्तेऽहितश्च । यद्यप्यनुरक्त शुचिस्तथापि दुर्गमध्ये आवासो नार्ह । तदहमत्रैव दुर्गद्वारस्थ प्रत्यह भवत्पादपद्मरज पवित्रीकृततनु सेवा करिष्यामि ।' 'तथा' इति प्रतिपन्ने प्रतिदिनमुलूकपतिसेवकास्ते प्रकाममाहार कृत्वोलूकराजादेशात्प्रकृष्टमासाहार स्थिरजीविने प्रयच्छन्ति । अथ कतिपयैरेवाहोभिर्मयूर इव स बलवान् सवृत । अथ रक्ताक्ष स्थिरजीविन पोष्यमाण दृष्ट्वा

सविस्मयो मन्त्रिजन राजान च प्रत्याह—'अहो मूर्खोऽय मन्त्रिजनो भवाँश्चेत्येवमहमवगच्छामि ।' उक्त च—

पूर्व तावदह मूर्खो द्वितीय पाशबन्धक ।
ततो राजा च मन्त्री च सर्व वै मूर्खमण्डलम् ॥ २१६ ॥

ते प्राहु —'कथमेतत् ?' रक्ताक्ष कथयति—

अगर ये रक्ताक्ष के कथनानुसार चलते तो इनकी कुछ भी हानि न होती। दुर्ग-द्वार पर पहुँच कर अरिमर्दन ने कहा-'ओह ! हमारे हितैषी इस स्थिरजीवी को इसकी इच्छानुसार स्थान दो।' यह सुन स्थिरजीवी सोचने लगा—'मुझे इनके नाश का उपाय सोचना है परन्तु दुर्ग के अन्दर रहते हुए मैं उसे ठीक-ठीक नही कर सकता क्योकि मेरी चेष्टाओ को देखकर ये लोग सावधान हो जायेंगे। इसलिये दुर्गद्वार पर रहकर अपना मतलव (काम) सिद्ध करूँ।' यह निश्चय कर उलूक राज से बोला—'देव ! आपने जो कहा बिलकुल ठीक है परन्तु मैं भी नीतिज्ञ और तुम्हारा (स्वभाव से) शत्रु हूँ। यद्यपि यह ठीक है कि मैं आपका भक्त तथा ईमानदार हूँ तो भी दुर्ग के बीच मे मेरा रहना उचित नही है। इसलिये मैं यही दुर्ग-द्वार पर रहते हुए प्रतिदिन आपके चरण-कमलो की धूलि से अपने शरीर को पवित्र करता हुआ आपकी सेवा करूंगा। 'बहुत अच्छा' कह कर उलूकराज के स्वीकार कर लेने पर, उसकी आज्ञा से उलूक-पति के सेवक उत्तम उत्तम भोजन बनाकर स्थिरजीवी को देने लगे। कुछ ही दिन मे वह (स्थिरजीवी) मयूर के समान बलवान् हो गया। रक्ताक्ष ने स्थिरजीवी को पुष्ट होता देखकर राजा और मन्त्रियो से आश्चर्यपूर्वक कहा—'मैं समझता हूँ कि ये मन्त्री लोग और आप मूर्ख ही है।' कहा भी है —

पहिले तो मैं ही मूर्ख, दूसरा व्याध्र मूर्ख है, फिर राजा और मन्त्री मूर्ख है। इस तरह यहाँ सब मूर्खो की ही मण्डली स्थित है॥ २१६ ॥

उन्होंने पूछा—'यह कैसे ?' रक्ताक्ष ने कहा—

कथा १३

अस्ति कस्मिश्चित्पर्वतैकदेशे महान् वृक्ष । तत्र च सिन्धुकनामा कोऽपि पक्षी प्रतिवसति स्म। तस्य पुरीषे सुवर्णमुत्पद्यते। अथ कदाचित्तमुद्दिश्य व्याध कोऽपि समाययौ । स च पक्षी तदग्रत एव पुरीषमुत्ससर्ज। अथ पातसमकालमेव तत्सुवर्णीभूत दृष्ट्वा व्याधो विस्मयगमत्—'अहो मम

शिशुकालादारभ्य शकुनिबन्धव्यसनिनोऽशीतिवर्षाणि समभूवन, न च कदाचित्पक्षिपुरीषे सुवर्णं दृष्टम्' इति विचिन्त्य तत्र वृक्षे पाशं बबन्ध। अथासावपि पक्षी मूर्खस्तत्रैव विश्वस्तचित्तो यथापूर्वमुपविष्टस्तत्कालमेव पाशेन बद्धः। व्याधस्तु तं पाशादुन्मुच्य पञ्जरके संस्थाप्य निजावासं नीतवान्। अथ चिन्तयामास—'किमनेन सापायेन पक्षिणाहं करिष्यामि? यदि कदाचित्कोऽप्ययमुमीदृशं ज्ञात्वा राज्ञे निवेदयिष्यति तन्नूनं प्राणसंशयो मे भवेत्, अतः स्वयमेव पक्षिणं राज्ञे निवेदयामि' इति विचार्य तथैवानुष्ठितवान्।

अथ राजाऽपि तं पक्षिणं दृष्ट्वा विकसितनयनवदनकमलः परां तुष्टिमुपगतः। प्राह चैव—हहो रक्षापुरुषाः! एनं पक्षिणं यत्नेन रक्षत। अशनपानादिकं चास्य यथेच्छं प्रयच्छत।' अथ मन्त्रिणाभिहितम्— 'किमनेनाश्रद्धेयव्याधवचनमात्रपरिगृहीतेनाण्डजेन? किं कदाचित्पक्षीपुरीषे सुवर्णं सम्भवति? तन्मुच्यतां पञ्जरबन्धनादयं पक्षी।' इति मन्त्रिवचनाद्राज्ञा मोचितोऽसौ पक्ष्युन्नतद्वारतोरणे समुपविश्य सुवर्णमयीं विष्ठां विधाय 'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति श्लोकं पठित्वा यथासुखमाकाशमार्गेण प्रायात्। अतोऽहं ब्रवीमि—'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इति।

किसी पर्वत के एक भाग में एक बड़ा वृक्ष था। वहाँ सिन्धुक नामक कोई पक्षी रहता था। उसकी बीट में सुवर्ण पैदा हुआ करता था। किसी समय कोई शिकारी उसके पास आया। पक्षी ने उसके सामने ही बीट को, गिरने के साथ ही उसे सुवर्ण में परिवर्तित होता देख व्याध को आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—'ओह! बचपन से ही पक्षियों को पकड़ने में आसक्त मेरे ८० वर्ष व्यतीत हो गये परन्तु कभी भी मैंने पक्षी की बीट में सुवर्ण नहीं देखा।' यह विचार कर उस वृक्ष पर उसने जाल लगा दिया। वह मूर्ख पक्षी भी विश्वस्त-चित्त से पहिले की ही तरह बैठा रहा। उसी समय पाश में बंधा गया। व्याध पाश से खोल कर और उसे पिंजरे में बन्द कर अपने घर ले गया। तब वह सोचने लगा—विपत्ति में फँसाने वाला इस पक्षी को लेकर मैं क्या करूँगा? यदि कोई इसकी यह विशेषता जान कर राजा को सूचित कर देगा तो निश्चय ही मेरा प्राण संशय में पड़ जायगा। इसलिये मैं स्वयं ही इस पक्षी को राजा की भेंट कर दूँ (श० सूचित कर दूँ)' यह विचार कर उसने वैसा ही किया।

उस पक्षी को देख कर राजा के नेत्र और मुखरूपी कमल खिल गये और वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे कहने लगे—'राजपुरुषो! यत्नपूर्वक इस पक्षी की रक्षा करो, खाने पीने की वस्तुएँ इच्छानुसार दो।' तब मन्त्री ने कहा—'केवल विश्वास के अयोग्य इस व्याध के वचन पर विश्वास कर इस पक्षी के पकडने से क्या लाभ? क्या कभी पक्षी के मल मे भी सुवर्ण हो सकता है? इसलिये इसे पिंजरे से मुक्त कर दो।' मन्त्री के इस कथन के अनुसार राजा ने उसे छोड दिया। छूटते ही वह दरवाजे के ऊँचे तोरण द्वार पर जा बैठा और सुवर्णरूपी बीट करके 'पूर्वं तावदहं मूर्खः' इत्यादि श्लोक पढ कर इच्छानुसार आकाश मे उड गया। इसलिये मैं कहता हूँ—'पहिले मैं मूर्ख' इत्यादि।

अथ ते पुनरपि प्रतिकुलदैवतया हितमपि रक्ताक्षवचनमादृत्य भूयस्त प्रभूतमासादिविविधाहारेण पोषयामासु। अथ रक्ताक्ष स्ववर्गमाहूय रह प्रोवाच—'अहो! एतावदेवास्मत्भूपते कुशल दुर्गञ्च, तदुपदिष्ट मया यत्कुलक्रमागत सचिवोऽभिधत्ते। तद्वयमन्यत्पर्वतदुर्ग सम्प्रति समाश्रयाम। उक्त च यत—

अनागत य कुरुते स शोभते, स शोच्यते यो न करोत्यनागतम्।
वनेऽत्रसस्थस्य समागता जरा, बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता॥२१७॥

ते प्रोचु—कथमेतत्?' रक्ताक्ष कथयति—

फिर भी वे (उलूक) दैव के प्रतिकूल होने के कारण हितकारी भी रक्ताक्ष का वचन न मान कर मास आदि तरह-तरह के भोजनो से स्थिरजीवी का पोषण करने लगे। तब रक्ताक्ष ने अपने लोगो को एकान्त मे बुला कर कहा—'हमारे इस राजा की इतना ही (इस समय तक ही) कुशलता थी और अभी तक ही दुर्ग सुरक्षित था।' एक कुलक्रमागत मन्त्री को जो कहना चाहिए वह मैं कह चुका (श०—उपदेश दे चुका)। अब हम किसी दूसरे पर्वतरूपी दुर्ग मे जाकर रहेंगे। क्योकि कहा भी है—

जो मनुष्य आने वाले (दुःख का प्रतिकार) को सोचता है वही शोभा पाता है (सुख से रहता है) और जो आने वाले विपत्ति का पूर्व से ही प्रतिकार नही सोचता वह पछताता है। इस वन मे रहते हुए मेरा बुढापा आ गया परन्तु बिल की आवाज मैंने कभी नही सुनी॥ २१७॥

उन्होने पूछा—'यह कैसे?' रक्ताक्ष ने कहा—

कथा ५

कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे खरनखरो नाम सिंहः प्रतिवसति स्म। स कदाचिदितश्चेतश्च परिभ्रमन्क्षुत्क्षामकण्ठो न किञ्चिदपि सत्त्वमाससाद। ततश्चास्तमनसमये महतीं गिरिगुहामासाद्य प्रविष्टश्चिन्तयामास—'नूनमेतस्या गुहाया रात्रौ केनापि सत्त्वेनागन्तव्यम्, तन्निभृतो भूत्वा तिष्ठामि।' एतस्मिन्नन्तरे तत्स्वामी दधिपुच्छो नाम शृगालः समायातः स च यावत् पश्यति तावत्सिंहपदपद्धतिर्गुहायां प्रविष्टा, न च निष्क्रान्ता इति दृष्टवान्। ततश्चाचिन्तयत्—'अहो विनष्टोऽस्मि, नूनमस्यान्तर्गतेन सिंहेन भाव्यम्, तत्किं करोमि? कथं ज्ञास्यामि?' एवं विचिन्त्य द्वारस्थः फूत्कर्तुमारब्धः—'अहो बिल!' 'अहो बिल!' इत्युक्त्वा तूष्णीम्भूय भूयोऽपि तथैव प्रत्यभाषत—'भो! किं न स्मरसि, यन्मया त्वया सह समयः कृतोऽस्ति, यन्मया बाह्यात्समागतेन त्वं वक्तव्यः, त्वया चाहमाकारणीय इति? तद्यदि मां नाह्वयसि ततोऽहं द्वितीयं बिलं यास्यामि।' अथ तच्छ्रुत्वा सिंहश्चिन्तितवान्—'नूनमेषा गुहाऽस्य समागतस्य सदा समाह्वानं करोति, परमद्य मद्भयान्न किंचिद्ब्रूते।' अथवा साध्विदमुच्यते—

> भयसन्त्रस्तमनसां हस्तपादादिकाः क्रियाः।
> प्रवर्तन्ते न वाणी च वेपथुश्चाधिको भवेत् ॥ २१८ ॥

किसी वन में खरनखर (तीक्ष्ण नाखून वाला) नाम का सिंह रहता था। एक समय वह भूख से व्याकुल हो (शिकार की तलाश में) इधर-उधर भटकता रहा परन्तु उसे कोई जानवर न मिला। तब सायङ्काल के समय एक बड़ी गुफा के पास पहुँच उसमें प्रविष्ट होकर सोचने लगा—'निश्चय ही रात्रि में कोई जानवर यहां आयेगा। इसलिये चुपचाप यहाँ बैठ जाऊँ।' इसी समय उस गुफा का स्वामी दधिपुच्छ नामक शृगाल आया। उसने आकर देखा कि सिंह के पदचिह्न गुहा में प्रविष्ट हुए हैं (अन्दर जाने के सिंह के निशान हैं) परन्तु निकलने का नहीं (निकलते समय के पदचिह्न नहीं है)। तब वह सोचने लगा-'ओह! मैं तो मारा गया, निश्चय ही इस (गुहा) के अन्दर सिंह है। अब मैं क्या करूँ? कैसे (ठीक-ठीक बात) जानूं?' यह सोच कर द्वार पर खड़े होकर वह पुकारने लगा—'अये बिल, अये बिल।' यह कह कर और कुछ देर चुप रहकर फिर उसी तरह कहने लगा—

'हे बिल। क्या तुझे याद नही कि मैंने तेरे साथ निश्चय किया हुआ है कि बाहर से आकर मैं तुझे पुकारूँगा और तू मुझे बुलाया करोगे। यदि तुम मुझे उत्तर नही देते हो तो मै दूसरे बिल मे चला जाऊँगा।' यह सुन सिंह ने सोचा--'सम्भवत यह गुफा इसके आने पर सदा ही इसे बुलाती ह परन्तु आज मेरे भय से नही बुलाती। अथवा यह ठीक कहा है --

भयभीत हुए पुरुषो के मन, हाथ पैर और वाणी काम नही करता और उनके शरीर मे कपकपी अधिक होती है ॥ २१८ ॥

तदहमस्याह्वान करोमि येन तदनुसारेण प्रविष्टोऽत्र मे भोज्यता याम्यति। एव सम्प्रधार्य सिंहस्तस्याह्वानमकरोत्। अथ सिंहशब्देन सा गुहा प्रतिरवसम्पूर्णा अन्यानपि दूरस्थानरण्यजीवांस्त्रासयामास। शृगालोऽपि पलायमान इम श्लोकमपठत्--'अनागत य कुरुते स शोभते' इत्यादि

इसलिये मै इसे बुलाऊँ जिससे उनके अनुसार यह अन्दर आकर मेरा भोजन बन जावे मैं इसे खा लूं। यह निश्चय कर सिंह ने उसे बुलाया। अनन्तर सिंह के शब्द की प्रतिध्वनि से परिपूर्ण उस गुफा ने दूरवर्ती भी वन्य-पशुओ को भयभीत कर दिया। भागते हुए शृगाल ने यह श्लोक पढा--'अनागत' इत्यादि।

तदेव मत्वा युष्माभिर्मया सह गन्तव्यमिति।' एवमभिधायात्मानुयायिपरिवारानुगतो दूरदेशान्तर रक्ताक्षो जगाम।

अथ रक्ताक्षे गते स्थिरजीव्यतिहृष्टमना व्यचिन्तयत्--'अहो! कल्याणमस्माक मुपस्थित, यद्रक्ताक्षो गत स दीर्घदर्शी एते च मूढमनस। ततो मम सुखघात्या सञ्जाता। उक्तञ्च यत --

न दीर्घदर्शिनो यस्य मन्त्रिण स्युर्महीपते।
क्रमायाता ध्रुव तस्य न चिरात्स्यात्परिक्षय ॥ २१९ ॥

इसलिये यह समझकर तुम लोगो को मेरे साथ चलना चाहिए। यह कह कर अपने अनुचर तथा परिवार के साथ ले रक्ताक्ष दूर देश चला गया।

तब रक्ताक्ष के चले जाने पर स्थिरजीवी प्रसन्न मन हो सोचने लगा-रक्ताक्ष का चला जाना हमारे लिये अत्यन्त ही लाभदायक है। क्योकि वह दीर्घदर्शी (विचारशील) था और ये मूर्ख है। अत्र मै इन्हे आसानी से ही नष्ट कर दूंगा। क्योकि कहा भी है --

जिस राजा के मन्त्री वंशपरम्परागत हितैषी और दूरदर्शी नहीं होते उसका शीघ्र ही नाश हो जाता है—यह बात सत्य है ॥ २१९ ॥

अथवा साध्विदमुच्यते—

मन्त्रिरूपा हि रिपवः संभाव्यास्ते विचक्षणैः ।
ये सन्तः नयमुत्सृज्य सेवन्ते प्रतिलोमतः ॥ २२० ॥

अथवा यह ठीक ही कहा है —

जो मन्त्री उत्तम नीतिमार्ग को छोडकर उलटी नीति से काम लेते है, विद्वानो को समझने चाहिए कि वे मन्त्री-रूपधारी शत्रु ही है ॥ २२० ॥

एवं विचिन्त्य स्वकुलाय एकैका वनकाष्ठिका गुहाप्रदीपनार्थं दिने-दिने प्रक्षिपति । न च ते मूर्खा उलूका विजानन्ति, यदेष कुलायमस्मद्दाहाय वृद्धिं नयति । अथवा साध्विदमुच्यते—

अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
शुभं वेत्त्यशुभं पापं भद्रं दैवहतो नरः ॥ २२१ ॥

यह सोच कर (स्थिरजीवी) गुहा को जलाने के लिये प्रतिदिन एक एक जंगली लकडी अपने घोसले मे डालने लगा । वे मूर्ख उलूक उसे नही समझ पाते थे कि यह हमे भस्म करने के लिये घोसले को बढा रहा है । अथवा यह ठीक ही कहा है —

दुर्भाग्य से मारा गया पुरुष शत्रु को मित्र समझता है और मित्र से द्वेष करता है तथा उसे दुःख देता है, पुण्य को पाप और पाप को पुण्य समझता है ॥२२१॥

अथ कुलायव्याजेन दुर्गद्वारे कृते काष्ठनिचये, सञ्जाते सूर्योदये, अन्धतां प्राप्तेषूलूकेषु सत्सु स्थिरजीवी शीघ्रमृष्यमूकं गत्वा मेघवर्णमाह 'स्वामिन् ! दाहसाध्या कृता रिपुगुहा, तत्सपरिवारः समेत्यैकैकां वनकाष्ठिकां ज्वलन्तीं गृहीत्वा गुहाद्वारेऽस्मत्कुलाये प्रक्षिप, येन सर्वे शत्रवः कुम्भीपाकनरकप्रायेण दुःखेन म्रियन्ते । तच्छ्रुत्वा प्रहृष्टो मेघवर्ण आह—'तात ! कथयात्मवृत्तान्तम्, चिराद्द्य दृष्टोऽसि ।' स आह—'वत्स ! नायं कथनस्य कालः । यतः कदाचित्तस्य रिपोः कश्चित्प्रणिधिर्ममेहागमनं निवेदयिष्यति । यज्ज्ञानादन्धोऽन्यत्रापसरणं करिष्यति । तत्त्वर्यताम् । उक्तं च—

शीघ्रकृत्येषु कार्येषु विलम्बयति यो नरः ।
तत्कृत्यं देवतास्तस्य कोपाद्विघ्नन्त्यसंशयम् ॥ २२२ ॥

अनन्तर जब (स्थिरजीवि) घोसला बनाने के बहाने दरवाजे पर लकडियाँ इकट्ठी कर चुका तब वह एक दिन सूर्योदय के समय उल्लुओ के अन्धे होने पर ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर मेघवर्ण से बोला---'स्वामिन् ! शत्रुओ की गुफा जलाने योग्य कर दी है, इसलिये परिवार सहित चल कर जलती हुई वन-लकडी लेकर गुहा-द्वार पर हमारे घोसले में डाल दो जिससे सब शत्रु कुम्भीपाक नामक नरक के समान दु ख भोग कर मर जायें ।' यह सुन कर प्रसन्न हो मेघवर्ण ने कहा--- 'हे तात (मान्य) ? अपना समाचार कहिए, बहुत दिनो के बाद आज दिखाई पडे हो ।' उसने कहा---'वत्स ? यह कहने का समय नही है क्योकि यदि कदाचित् उस शत्रु के किसी गुप्तचर ने मेरा यहा आना उससे सूचित कर दिया तो वह अन्धा (उलूकराज) कही दूसरे जगह चला जायगा । इसलिये शीघ्रता करें । कहा भी है ---

जो मनुष्य शीघ्र करने योग्य कार्यो मे भी देर लगाता है उसके उस कार्य को देवता लोग भी क्रुद्ध होकर नष्ट कर देते है ॥ २२२ ॥

तथा च---

यस्य यस्य हि कार्यस्य फलितस्य विशेषत ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य काल॰ पिबति तत्फलम् ॥ २२३ ॥

और भी---शीघ्र न किये जाने वाले जिस किसी भी कार्य के (साधारणतया सब ही कार्यो के) विशेषत फलोन्मुख (जिसका परिणाम शीघ्र ही उत्पन्न होने वाला है) कार्य के फल को समय पी लेता है (नष्ट कर देता है) ॥ २२३ ॥

तद्‌गुहायामायातस्य ते हतशत्रो सर्व सविस्तर निर्व्याकुलतया कथयिष्यामि अथाऽसौ तद्वचनमाकर्ण्य सपरिजन एकैका ज्वलन्ती वनकाष्ठिका चञ्च्वग्रेण गृहीत्वा तद्‌गुहाद्वार प्राप्य स्थिरजीविकुलाये प्राक्षिपत् । तत सर्वे ते दिवान्धा रक्ताक्षवाक्यानि स्मरन्तो द्वारस्यावृतत्वादनिस्सरन्तो गुहामध्ये कुम्भीपाकन्यायमापन्ना मृताश्च । एव शत्रून् नि शेषता नीत्वा भूयोऽपि मेघवर्णस्तदेव न्यग्रोध पादपदुर्गं जगाम । तत सिंहासनस्थो भूत्वा सभामध्ये प्रमुदितमना स्थिरजीविनमपृच्छत---'तात ! कथ त्वया शत्रुमध्ये गतेन एतावत्पर्यन्त कालो नीत ? तदत्र कौतुकमस्माक वर्तते, तत्कथ्यताम् । यत ---

वरमग्नौ प्रदीप्ते तु प्रपात पुण्यकर्मणाम् ।
न चारिजनससर्गो मुहूर्तमपि सेवितः ॥ २२४ ॥

इसलिये शत्रुओ का नाश करके जब तुम गुहा मे लौट आओगे तब सब बातें 'ति शक्र ही विस्तारपूर्वक कहूगा । तब वह मेघवर्ण उसके वचन सुनकर परिवार सहित जलती हुई एक एक लकडी चोच के अग्रभाग से पकड कर उलूकों के गुहा द्वार पर पहुँचा और उसने स्थिरजीवी के घोसले मे उन्हे डाल दिया । तब वे दिवान्ध उल्लूक रक्ताक्ष को बातें याद करने लगे परन्तु द्वार के बन्द होने के कारण बाहर न निकल सके और वही कुम्हार के आग मे घडो के समान अन्दर-अन्दर जल कर भस्म हो गये । इस प्रकार शत्रुओ को समूल नष्ट कर फिर मेघवर्ण उसी न्यग्रोध वृक्षरूपी दुर्ग मे जा पहुँचा । तब सिंहासन पर बैठकर सभा मे (सब के समक्ष) प्रसन्नचित्त हो मेघवर्ण ने स्थिरजीवी से पूछा—'हे तात ! तुमने शत्रुओ के बीच मे रहकर इतना समय किस प्रकार व्यतीत किया, इस विषय मे हम लोगो को बहुत ही कुतूहल (जानने की इच्छा) है । इसलिये कहिये क्योकि—

साधुचरित्र पुरुषो के लिये जलती हुई अग्नि मे गिरना अच्छा परन्तु क्षणभर के लिये भी किया हुआ शत्रुजनो का ससर्ग अच्छा नही ॥२२४॥

तदाकर्ण्य स्थिरजीव्याह—'भद्र ! आगामिफलवाञ्छया कष्टमपि सेवको न जानाति । उक्त च यत —

कार्यस्यापेक्षया भुक्त विषमप्यमृतायते ।
सर्वेषा प्राणिनामेव नात्र कार्या विचारणा ॥ २२५ ॥

यह सुन स्थिरजीवी ने कहा—'भद्र ! भविष्य मे मिलने वाले फल की इच्छा से सेवक जन कष्ट को भी कुछ नही समझता । जैसे कहा भी है —

किसी कार्य विशेष की इच्छा से खाया हुआ विष भी सब ही प्राणियो को अमृत के समान काम देता है इस विषय मे विचार करने की आवश्यकता नही है ॥

उपनतभयैर्यो यो मार्गो हितार्थकरो भवेत्,
स स निपुणया बुद्धया सेव्यो महान् कृपणोऽपि वा ।
करिकरनिभौ ज्याघाताङ्कौ महास्त्रविशारदौ,
रचितावलयै स्त्रीवद्बद्धौ करौ हि किरीटिना ॥२२६॥

विपत्ति मे फँसे हुए पुरुषो को चाहिए कि वे चतुर बुद्धि द्वारा अपनी भलाई करने वाले जिस किसी भी उपाय का अवलम्बन करे चाहे वह (उपाय) उत्तम

अथवा नीच ही क्यो न हो। अर्जुन ने हाथी के सूड के तुल्य (लम्बे और मोटे) धनुष की प्रत्यञ्चा की रगड से जिनमे चिह्न पड गये थे और जो शत्रु-पराजयादि-महान् कार्यो के करने मे समर्थ थे ऐसे अपनी भुजाओ को स्त्री के समान कडो से विभूषित किया था ॥ २२६ ॥

शक्तेनापि सता जनेन विदुषा कालान्तरापेक्षिणा,
वस्तव्य खलु वाक्यवज्रविषमे क्षुद्रेऽपि पापे जने।
दर्वीव्यग्रकरेण धूममलिनेनायासयुक्तेन च,
भीमेनातिबलेन मत्स्यभवने कि नोषित सूदवत् ॥२२७॥

शक्तिशाली भी समझदार पुरुष को चाहिए कि वह उत्तम (अपने अभ्युदय) करने वाले समय की प्रतीक्षा करता हुआ, वज्रतुल्य कठोर वचन बोलने वाले पापी और नीच-स्वभाव के भी पुरुष के पास रहे। (देखो) अत्यन्त बलवान् [भी]मसेन विराट-गृह मे चमचा हाथ मे लिये हुए, धूम से मलिन कष्टप्रद कर्म मे युक्त हो कर रसोइये के समान क्या नही रहे थे ? ॥ २२७ ॥

यद्वा तद्वा विषमपतित. साधु वा गर्हित वा
कालापेक्षी हृदयनिहित बुद्धिमान् कर्म कुर्यात्।
किं गाण्डीवस्फुरदुरुगुणास्फालनक्रूरपाणि-
र्नासील्लीलानटनविलसन्मेखली सव्यसाची ॥२२८॥

विपत्तिग्रस्त बुद्धिमान् पुरुष अच्छे समय की प्रतीक्षा करता हुआ अपना [निश्चि]त (सकल्पित) कार्य करता रहे चाहे वह अच्छा हो या बुरा (देखो) [जिन्हो]ने गाण्डीव धनुप की चमकदार बडी प्रत्यञ्चा के बार-बार खीचने से जिसके [हाथ]र कठोर हो गये है ऐसे अर्जुन क्या (विराट-गृह मे) विलासपूर्वक नाचने मे [अप]नी मेखला को चमकाते हुए नही रहे अपितु रहे ही अर्थात् उन्होने भी स्त्रीवेष [धार]ण कर स्त्रियोचित कर्म करते हुए अपना व्यतीत किया ॥ २२८ ॥

सिद्धि प्रार्थयता जनेन विदुषा तेजो निगृह्य स्वक,
सत्त्वोत्साहवतापि दैवविधिषु स्थैर्यं प्रकार्य क्रमात्।
देवेन्द्रद्रविणेश्वरान्तकसमैरप्यन्वितो भ्रातृभि,
किं क्लिष्ट सुचिरं विराटभवने श्रीमान्न धर्मात्मज ॥२२९॥

हृदय से अपने कार्य की सफलता चाहने वाले विद्वान् पुरुष को चाहिए कि

वह बलवान् और उत्साही होते हुए भी अपना तेज छिपाकर–प्रकाशित न करके भाग्य की दुर्घटनाओ मे धैर्य धारण करे। (देखो) स्वय राजलक्ष्मी से सपन्न तथा इन्द्र, कुबेर और यम–सदृश भाइयो के साथ रहते हुए भी युधिष्ठिर महाराज ने क्या विराट के घर चिरकाल तक कष्ट नही भोगा ? किन्तु भोगा ही ॥२२९॥

रूपाभिजनसम्पन्नौ माद्रीपुत्रौ बलान्वितौ ।
गोकर्मरक्षाव्यापारे विराटप्रेष्यताङ्गतौ ॥ २३० ॥

सुन्दर तथा सत्कुलोत्पन्न और बलवान् माद्री–पुत्र (नकुल तथा सहदेव) गौवो की सेवा तथा रक्षा कर्म मे नियुक्त होकर विराट के सेवक बने ॥ २३० ॥

रूपेणाप्रतिमेन यौवनगुणै. श्रेष्ठे कुले जन्मना,
कान्त्या श्रीरिव याऽत्र सापि विदशा कालक्रमादागता ।
सैरन्ध्रीति सगर्वित युवतिभिः साक्षेपमाख्यातया,
द्रौपद्या ननु मत्स्यराजभवने घृष्ट न कि चन्दनम् ? ॥२३१॥

इस ससार मे जो द्रौपदी अनुपम सौन्दर्य, तारुण्य, उत्तम कुल मे जन्म और अपने लावण्य के कारण लक्ष्मी के समान थी वह भी बुरा समय आने पर, दुर्दशा को प्राप्त हुई। (देखो) युवतियो द्वारा अहङ्कारपूर्वक तिरस्कार के कारण 'सैरन्ध्री' इस नाम से पुकारी जाती हुई उस द्रौपदी ने विराट के घर क्या चन्दन नही घिसा ? ॥ २३१ ॥

मेघवर्ण आह—'तात ! असिधाराव्रतमिद मन्ये यदरिणा सह सवास. ।' सोऽब्रवीत्—'देव । एवमेतत्, पर न तादृङ्मूर्खसमागम क्वापि मया दृष्ट, न च महाप्रज्ञमनेकशास्त्रेष्वप्रतिमबुद्धि रक्ताक्ष विना धीमान् । यत्कारण तेन मदीय यथावस्थितत चित्त ज्ञातम् । ये पुनरन्ये मन्त्रिणस्ते महामूर्खा मन्त्रिमात्रव्यपदेशोपजीविनोऽतत्त्वकुशला, यैरिदमपि न ज्ञातम् । यत.—

अरितोऽभ्यागतो भृत्यो दुष्टस्तत्सगतत्पर. ।
अपसर्पसधर्मत्वान्नित्योद्वेगी च दूषित. ॥ २३२ ॥

इस प्रकार स्थिरजीवी की बातें सुनकर मेघवर्ण ने कहा—'हे तात शत्रु के साथ निवास करना असि (तलवार) की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान ही कठिन कार्य है।' यह सुन स्थिरजीवी ने कहा—'देव । आपने जो कहा वह बहुत अच्छा है। किन्तु मैंने कही भी ऐसा मूर्ख–समुदाय और अत्यन्त बुद्धिमान् तथा

अनेक शास्त्रों में अप्रतिहत बुद्धिवाला, रक्ताक्ष मन्त्री के समान बुद्धिमान् एक दूरदर्शी मन्त्री भी आज तक कही नही देखा था। जो कि उसने मेरे हृदय मे स्थित अभिप्राय को यथार्थ जान लिया। और जो मन्त्री हैं वे अत्यन्त मूर्ख है, क्योंकि वे केवल मन्त्री नामधारण कर अपनी जीविका चलाने वाले हैं--कार्य करने मे कुशल नही हैं। जो कि उन्होने यह बात भी नही जानी' कि --

शत्रु के देश से (लड कर अथवा भाग कर) आया हुआ भृत्य (नौकर) दुष्ट होता है--सदा शत्रु के पक्ष मे रहने के कारण शत्रुपक्ष का हो जाता है और उसमे सदा गुप्तचर होने की सम्भावना रहती है। ऐसे भृत्य से उद्वेग और भय सदा बना रहता है। इसलिये ऐसे भृत्यो पर कभी विश्वास नही करना चाहिये और न रखना चाहिये ॥ २३२ ॥

आसने शयने याने पानभोजनवस्तुषु।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रमत्तेषु प्रहरन्त्यरयोऽरिषु ॥ २२३ ॥

शत्रु अपने शत्रुओ को बैठने, सोने, चलने और खाने-पीने के समय असावधान देख कर उन पर आक्रमण करते है ॥ २३३ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन त्रिवर्गनिलय बुधः।
आत्मानमादृतो रक्षेत् प्रमादाद्धि विनश्यति ॥ २३४ ॥

इसलिये विद्वान् पुरुष धर्म--अर्थ--काम के आधारभूत अपने आपको बडे यत्न से सब प्रकार के उपायो द्वारा बचावे क्योंकि असावधानी से मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥

साधु चेदमुच्यते--

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुज न रोगा दुर्मन्त्रिण कमुपयान्ति न नीतिदोषा।
क श्रीर्न दर्पयति क न निहन्ति मृत्यु क स्वीकृता न विषया परिपीडयन्ति॥

यह ठीक ही कहा है, कुपथ्य भोजन करने वाले किस पुरुष को रोग पीडित नही करते ? किस दुष्ट मन्त्री को नीतिसंबन्धी दोष प्राप्त नही होते ? अर्थात् क्या अनीतिकुशल मन्त्री नीति संबन्धी भूलें नही करता ? ऐश्वर्य किसको अहङ्कारी नही बनाता। भोगे जाने वाले विषय (स्त्री आदि) किसको सन्तप्त नही करते किन्तु ? सबको ही पीडित करते है ॥

लुब्धस्य नश्यति यश पिशुनस्य मैत्री नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्म'।
विद्याफल व्यसनिन कृपणस्य सौख्य राज्य प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य॥

लोभी पुरुष की कीर्ति, चुगलखोर की मित्रता, यज्ञादि क्रियाओ के न करने

वाले पुरुष का वंश, धनोपार्जन मे फँसे हुए जन का धर्म, द्यूतादि मे फँसे हुए का विद्याफल, कृपण का सुख और असावधान मन्त्री वाले राजा का राज्य नष्ट हो जाता है ॥ २३६ ॥

तद्राजन्! 'असिधाराव्रत मयाचरितमरिससर्गादि'ति यद्भवतोक्त, तन्मया साक्षादेवानुभूतम् । उक्त च—

तो हे राजन्! शत्रुओ का सग करके मैंने 'असिधारा व्रत' का आचरण किया, जो आप ने कहा था उसे मैंने साक्षात् ही अनुभूत किया, कहा भी है—

अपमान पुरस्कृत्य मान कृत्वा तु पृष्ठतः ।
स्वार्थमभ्युद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ २३७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष अपमान स्वीकार करके तथा मान की परवाह न कर अपना कार्य सिद्ध करे क्योकि अपने कार्य की हानि करना मूर्खता है ॥ २३७ ॥

स्कन्धेनापि वहेच्छत्रु कालमासाद्य बुद्धिमान् ।
महता कृष्णसर्पेण मण्डूका बहवो हताः ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण आह—'कथमेतत् ?' स्थिरजीवी कथयति—

समय आने पर बुद्धिमान् मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि के लिए शत्रु को अपने कन्धे पर बैठा कर भी घुमावें । मण्डूको को अपनी पीठ पर बैठा घुमाता हुआ वह कृष्ण सर्प हजारो मेढको को खा गया था ॥ २३८ ॥

मेघवर्ण ने पूछा—'यह कैसे ?' स्थिरजीवी ने कहा—

कथा १५

अस्ति वरुणाद्रिसमीप एकस्मिन् प्रदेशे परिणतवया मन्दविषो नाम कृष्णसर्प । स एव चित्ते सचिन्तितवान्—'कथ नाम मया सुखोपाय-वृत्त्या वर्तितव्यमिति ।' ततो बहुमण्डूक ह्रदमुपगम्य धृतिपरीतमिवात्मान दर्शितवान् ।

अथ तथा स्थिते स उदकप्रान्तगतेनैकेन मण्डूकेन पृष्ट—'मम ! किमद्य यथापूर्वमाहारार्थ न विहरसि ?'

सोऽब्रवीत् 'भद्र ! कुतो मे मन्दभाग्यस्याहाराभिलाष ? यत्कारणमद्य रात्रौ प्रदोष एव मयाहारार्थं विहरमाणेन दृष्ट एको मण्डूक । तद्ग्रहणार्थं

मया क्रम सज्जित । सोऽपि मा दृष्ट्वा मृत्युभयेन स्वाध्यायप्रसक्ताना ब्राह्मणानामन्तरमपक्रान्तो न विभावितो मया क्वापि गत । तत्सादृश्यमोहित-चित्तेन मया कस्यचिद् ब्राह्मणस्य सूनोर्ह्रदतटजलान्तस्थोऽङ्गुष्ठो दष्ट । ततोऽसौ सपदि पञ्चत्वमुपागत ।

अथ तस्य पित्रा दु खितेनाह शप्तो यथा-दुरात्मन् ! त्वया निरपराधो मत्सुतो दष्ट । तदनेन दोषेण त्व मण्डूकाना वाहन भविष्यसि, तत्प्रसाद-लब्धजीविकया वर्तिष्यते' इति । ततोऽह युष्माक वाहनार्थमागतोऽस्मि ।'

अस्ताचल के पास एक स्थान मे वृद्ध मन्दविष नाम का सर्प रहता था। उसने मन मे विचार किया—'मैं किस प्रकार आसानी से जीविका प्राप्त करूँ ?' तब वह (कदाचित्) मण्डूको से परिपूर्ण तालाब के पास पहुँच कर अपने को वैराग्ययुक्त सा प्रदर्शित करता हुआ (बैठ गया)। उस दशा मे बैठे हुए उससे जल के किनारे पर स्थित एक मेढक ने पूछा—'हे मामा। भोजन के लिये आज पहिले के समान क्यो यत्न नही करते ?' उसने कहा—'हे भद्र ! मुझ अभागे को भोजन की इच्छा कैसे हो सकती है ? क्योकि (उसका कारण यह है) आज रात्रि मे सायङ्काल के ही समय भोजन की तलाश मे घूमते हुए मैंने एक मेढक देखा। उसे पकडने के लिये मैंने क्रम बांधा (मैं तैयार हुआ)। वह भी मुझे देख कर मृत्यु के डर से वेदपाठ करने वाले ब्राह्मणो के बीच मे घुस गया और मुझे मालूम न पडा कि वह कहाँ गया।' उसकी (मेढक की) समानता के कारण धोखे मे पड कर मैंने तालाब के तीर-जल मे स्थित किसी ब्राह्मण-पुत्र का अगूठा डस लिया। वह तुरन्त ही मर गया।' तब, उसके पिता ने दु खित हो मुझे शाप दिया कि—'अरे दुष्ट ! तूने निरपराध ही मेरे पुत्र को डसा है, इसलिये तू इसी अपराध के कारण मेढको का वाहन सवारी होगा। और उनकी कृपा से ही तेरी जीविका चलेगी—तुझे भोजन मिलेगा।' इसलिये मैं तुम्हारी सवारी के लिये आया हूँ।

तेन च सर्वमण्डूकानामिदमावेदितम्। ततस्तै प्रहृष्टमनोभि सर्वैरेव गत्वा जलपादनाम्नो दर्दुरराजस्य विज्ञप्तम्। अथाऽसावपि मन्त्रिपरि-वृतोऽत्यद्भुतमिदमिति मन्यमानो ससभ्रम ह्रदादुत्तीर्य मन्दविषस्य फणिन' फणाप्रदेशमधिरूढ । शेषा अपि यथाज्येष्ठ तत्पृष्ठोपरि समारुरुहु ।

किं वहुना--परिद्रुतस्थानमप्राप्तवन्तस्तस्यानुपद धावन्ति । मन्दविषोऽपि तेषा तुष्ट्यर्थमनेकप्रकारान् गतिविशेषानदर्शयत् । अथ जलपादो लब्धसुखस्तमाह-

न तथा करिणा यान तुरगेण रथेन वा ।
नरयानेन वा यान यथा मन्दविषेण मे ॥ २३९ ॥

उसने सब मेढको से यह सूचित कर दिया । तव प्रसन्न-चित्त उन सव ने मेढको के राजा जलपाद से जाकर कहा । वह भी यह अत्यन्त अद्‌भुत बात है ऐसा समझता हुआ मन्त्रि-सहित तालाव से निकल कर मन्दविष सर्प के फन पर चढ गया । शेष मेंढक भी छोटे वडे अनुसार उसकी पीठ पर चढ गये । अधिक क्या--जिनको ऊपर स्थान न मिला वे उसके पीछे ही दौडने लगे । उनकी प्रसन्नता के लिये मन्दविष ने भी अनेक प्रकार की चालें दिखलाईं । तव जलपाद ने सुख पाकर उससे कहा--

जैसा इस मन्दविष सर्प से (पर) चलना मुझे सुखदायी मालूम पडता है वैसा न तो हाथी, न घोडा, न रथ और न शिविका से ही चलना सुख-प्रद मालूम होता है ॥ २३९ ॥

अथान्येद्युर्मन्दविषछद्मना मन्द मन्द विसर्पति । तच्च दृष्ट्वा जलपादोऽब्रवीत्--'भद्र ! मन्दविष ! यथापूर्वं किमद्य साधु नोह्यते ?' मन्दविषोऽब्रवीत्--देव ! अद्याहारवैकल्यान्न मे वोढु शक्तिरस्ति ।' अथाऽसावब्रवीत्--भद्र ! भक्षय क्षुद्रमण्डूकान् ।' तच्छ्रुत्वा प्रहर्षितसर्वगात्रो मन्दविष' ससभ्रममब्रवीत्--'ममायमेव विप्रशापोऽस्ति । तत्तावानेनानुज्ञावचनेन प्रीतोऽस्मि ।' ततोऽसौ नैरन्तर्येण मण्डूकान् भक्षयन् कतिपयैरेवाहोभिर्बलवान् संवृत्त । प्रहृष्टश्चान्तर्लीनमवहस्येदमब्रवीत्--

मण्डूका विविधा ह्येते छलपूर्वोपसाधिताः ।
कियन्त कालमक्षीणा भवेयु' खादिता मम ॥ २४० ॥

तव एक दिन मन्दविष छल से (वहाना करके) धीरे धीरे चलने लगा । यह देखकर जलपाद वोला--'भद्र मन्दविष ! आज पहिले के समान अच्छी तरह क्यो नहीं ले चलते ?' मन्दविष ने कहा--देव ! भोजन न मिलने से मेरे अन्दर आज ले चलने की शक्ति नहीं है ।' तव वह वोला--'भद्र ! छोटे मेढको को खालो ।' यह सुनकर मन्दविष के सब अङ्ग (प्रसन्नता से) खिल उठे और वह

प्रसन्न हो कहने लगा—'मुझे ब्राह्मण का यही शाप है कि (मण्डूको की कृपा से ही तुम्हारी जीविका होगी ।) तुम्हारी इस आज्ञा से मैं प्रसन्न हुआ ।' अनन्तर वह (मन्दविष) निरन्तर मेढको को खाता हुआ कुछ ही दिनो मे बलवान् हो गया । (तब) प्रसन्न हो अन्दर ही अन्दर हँसकर कहने लगा—

कपट से वश मे किये हुए तरह-तरह के ये मेढक मेरे खाने पर कब तक समाप्त न होगे ? अर्थात् कुछ ही दिनो मे समाप्त हो जायेंगे ॥ २४० ॥

जलपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्त किमपि नावबुध्यते। अत्रान्तरेऽन्यो महाकाय कृष्णसर्पस्तमुद्देश समायात त च मण्डूकैर्वाह्यमान दृष्ट्वा विस्मयमगमत् । आह च—'वयस्य ! यदस्माकमशन तै कथ वाह्यसे । विरुद्धमेतत् ।' मन्दविषोऽब्रवीत्—

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरै. ।
किञ्चित्काल प्रतीक्षेऽह घृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥ २४१ ॥

सोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' मन्दविष कथयति—

मन्दविष ने जलपाद के मन को अपने कृत्रिम (बनावटी) वचनो से ऐसा मुग्ध (वश मे) कर लिया था कि वह कुछ भी नही समझ पाता था । इसी अवसर पर एक बडा भारी काला साँप उस स्थान पर आया । वह उसको (मेढको को) ढोता हुआ देख कर आश्चर्य मे पड गया और कहने लगा—'मित्र ! जो हमारे भोजन हैं उन्ही की सवारी क्यो बने हो (उन्ही को क्यो ढोते हो) यह बात तो (बिलकुल) उलटी है ।' मन्दविष बोला—

मैं यह सब समझता हूँ कि मेढको की सवारी क्यो बना हूँ, घृत से अन्धे हुए ब्राह्मण के समान मैं कुछ समय की प्रतीक्षा (इन्तजार) कर रहा हूँ ॥ २४१ ॥

वह (आगन्तुक सर्प) बोला—'यह कैसे ?' मन्दविष बोला—

कथा १६

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मण । तस्य भार्या पुश्चल्यन्यासक्तमना अजस्र विटायसखण्डघृतान् घृतपूरान् कृत्वा भर्तुश्चौरिकया प्रयच्छति । अथ कदाचिद्भर्ता दृष्ट्वाऽब्रवीत्—'भद्रे ! किमेतत्परिपच्यते ? कुत्र वाऽजस्र नयसीदम् ? तत्कथय सत्यम् ।' सा चोत्पन्नप्रतिभाकृतकवचनैर्भर्तारमब्रवीत्—'अस्त्यत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतन

तत्राहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यविशेषांश्चापूर्वान्नयामि।' अथ तत्पश्यता गृहीत्वा तत्सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे। यत्कारणं देव्या निवेदितेनानेन मदीयो भर्त्तैवं मंस्यते यत् 'मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान्नित्यमेव नयतीति।' अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्यामवतीर्य यावत्स्नानं करोति तावत्तद्भर्तापि मार्गान्तरेणागत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्योऽवतस्थे।

किसी स्थान मे (नगर मे) यज्ञदत्त नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी, जो कि व्यभिचारिणी और परपुरुष मे अनुरक्त थी, सदा ही घृत और खाड सहित घृतपूर (घेवर) बनाकर अपने जार को दिया करती थी। एक दिन उसके पति ने देख कर कहा—'भद्रे! तुम यह क्या बना रही हो और सदा कहाँ ले जाया करती हो? सच-सच कहो।' उसे (स्त्री को) तत्क्षण बुद्धि उत्पन्न हुई, वह कल्पित (बनावटी) वचनो से पति से कहने लगी—'यहाँ के समीप ही भगवती देवी का मंदिर है। वहाँ मैं उपवास (व्रत) करके बलि (देवता की भेंट) और नये-नये खाद्यपदार्थ ले जाती हूँ।' तब उसके सामने ही वह सब (भोज्य वस्तु) लेकर देवी के मन्दिर की ओर रवाना हुई। उसका मतलब यह था (उसने मन मे सोचा) इन सब वस्तुओ को देवी को भेंट करने से मेरा पति समझे 'जो कि मेरी ब्राह्मणी (भार्या) प्रतिदिन ही देवी के लिये खाद्य पदार्थ ले जाती है।' तब देवी के मन्दिर मे जाकर स्नान के लिये नदी मे प्रविष्ट हो, जब तक वह स्नान करती रही तब तक उसका पति दूसरे मार्ग से आकर देवी (मूर्ति) के पीछे छिप कर खडा हो गया।

अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानानुलेपनमाल्यधूपबलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्—'भगवति! केन प्रकारेण मम भर्त्तान्धो भविष्यति?' तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद—'यदि त्वमजस्रं घृतपूरादिभक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि' ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति।' सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ। अथान्येद्युर्ब्राह्मणेनाभिहितम्—'भद्रे! नाहं सुतरां पश्यामि।' तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया 'देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः' इति।

अनन्तर वह ब्राह्मणी स्नान कर देवी के मन्दिर मे आकर देवी को स्नान करा,

प्रसन्न हो कहने लगा—'मुझे ब्राह्मण का यही शाप है कि (मण्डूको की कृपा से ही तुम्हारी जीविका होगी ।) तुम्हारी इस आज्ञा से मैं प्रसन्न हुआ ।' अनन्तर वह (मन्दविष) निरन्तर मेढको को खाता हुआ कुछ ही दिनो मे बलवान् हो गया । (तब) प्रसन्न हो अन्दर ही अन्दर हँसकर कहने लगा—

कपट से वश मे किये हुए तरह-तरह के ये मेढक मेरे खाने पर कब तक समाप्त न होगे ? अर्थात् कुछ ही दिनो मे समाप्त हो जायेंगे ॥ २४० ॥

जलपादोऽपि मन्दविषेण कृतकवचनव्यामोहितचित्त किमपि नावबुध्यते । अत्रान्तरेऽन्यो महाकाय कृष्णसर्पस्तमुद्देश समायात त च मण्डूकैर्वाह्यमान दृष्ट्वा विस्मयमगमत् । आह च—'वयस्य ! यदस्माकमशन तै कथ वाह्यसे । विरुद्धमेतत् ।' मन्दविषोऽब्रवीत्—

सर्वमेतद्विजानामि यथा वाह्योऽस्मि दर्दुरै. ।
किञ्चित्काल प्रतीक्षेऽहं घृतान्धो ब्राह्मणो यथा ॥ २४१ ॥

सोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' मन्दविष कथयति—

मन्दविष ने जलपाद के मन को अपने कृत्रिम (बनावटी) वचनो से ऐसा मुग्ध (वश मे) कर लिया था कि वह कुछ भी नही समझ पाता था । इसी अवसर पर एक बडा भारी काला साँप उस स्थान पर आया । वह उसको (मेढको को) ढोता हुआ देख कर आश्चर्य मे पड गया और कहने लगा—'मित्र ! जो हमारे भोजन है उन्ही की सवारी क्यो बने हो (उन्ही को क्यो ढोते हो) यह बात तो (बिलकुल) उलटी है ।' मन्दविष बोला—

मैं यह सब समझता हूँ कि मेढको की सवारी क्यो बना हूँ, घृत से अन्धे हुए ब्राह्मण के समान मैं कुछ समय की प्रतीक्षा (इन्तजार) कर रहा हूँ ॥ २४१ ॥

वह (आगन्तुक सर्प) बोला—'यह कैसे ?' मन्दविष बोला—

कथा १६

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने यज्ञदत्तो नाम ब्राह्मण । तस्य भार्या पुंश्चल्यन्यासक्तमना अजस्र विटायसखण्डघृतान् घृतपूरान् कृत्वा भर्तुश्चौरिकया प्रयच्छति । अथ कदाचिद्भर्ता दृष्ट्वाऽब्रवीत्—'भद्रे ! किमेतत्परिपच्यते ? कुत्र वाऽजस्र नयसीदम् ? तत्कथय सत्यम् ।' सा चोत्पन्नप्रतिभाकृतकवचनैर्भर्तारमब्रवीत्—'अस्त्यत्र नातिदूरे भगवत्या देव्या आयतनम् ।

तत्राहमुपोषिता सती बलिं भक्ष्यविशेषांश्चापूर्वान्नयामि।' अथ तत्पश्यता गृहीत्वा तत्सकलं देव्यायतनाभिमुखी प्रतस्थे। यत्कारणं देव्या निवेदितेनानेन मदीयो भर्त्तैवं मंस्यते यत् 'मम ब्राह्मणी भगवत्याः कृते भक्ष्यविशेषान्नित्यमेव नयतीति।' अथ देव्यायतने गत्वा स्नानार्थं नद्यामवतीर्य यावत्स्नानं करोति तावत्तद्भर्त्तापि मार्गान्तरेणागत्य देव्याः पृष्ठतोऽदृश्योऽवतस्थे।

किसी स्थान मे (नगर मे) यज्ञदत्त नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी, जो कि व्यभिचारिणी और परपुरुष मे अनुरक्त थी, सदा ही घृत और खाड सहित घृतपूर (घेवर) बनाकर अपने जार को दिया करती थी। एक दिन उसके पति ने देख कर कहा--'भद्रे! तुम यह क्या बना रही हो और सदा कहाँ ले जाया करती हो? सच-सच कहो।' उसे (स्त्री को) तत्क्षण बुद्धि उत्पन्न हुई, वह कल्पित (बनावटी) वचनो से पति से कहने लगी--'यहाँ के समीप ही भगवती देवी का मन्दिर है। वहाँ मैं उपवास (व्रत) करके बलि (देवता की भेंट) और नये-नये खाद्यपदार्थ ले जाती हूँ।' तब उसके सामने ही वह सब (भोज्य वस्तु) लेकर देवी के मन्दिर की ओर रवाना हुई। उसका मतलब यह था (उसने मन मे सोचा) इन सब वस्तुओ को देवी को भेंट करने से मेरा पति समझे 'जो कि मेरी ब्राह्मणी (भार्या) प्रतिदिन ही देवी के लिये खाद्य पदार्थ ले जाती है।' तब देवी के मन्दिर मे जाकर स्नान के लिये नदी मे प्रविष्ट हो, जब तक वह स्नान करती रही तब तक उसका पति दूसरे मार्ग से आकर देवी (मूर्ति) के पीछे छिप कर खडा हो गया।

अथ सा ब्राह्मणी स्नात्वा देव्यायतनमागत्य स्नानानुलेपनमाल्यधूपबलिक्रियादिकं कृत्वा देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्--'भगवति! केन प्रकारेण मम भर्त्तान्धो भविष्यति?' तच्छ्रुत्वा स्वरभेदेन देवीपृष्ठस्थितो ब्राह्मणो जगाद--'यदि त्वमजस्रं घृतपूरादिभक्ष्यं तस्मै भर्त्रे प्रयच्छसि' ततः शीघ्रमन्धो भविष्यति।' सा तु बन्धकी कृतकवचनवञ्चितमानसा तस्मै ब्राह्मणाय तदेव नित्यं प्रददौ। अथान्येद्युर्ब्राह्मणेनाभिहितम्--'भद्रे! नाहं सुतरां पश्यामि।' तच्छ्रुत्वा चिन्तितमनया 'देव्याः प्रसादोऽयं प्राप्तः' इति।

अनन्तर वह ब्राह्मणी स्नान कर देवी के मन्दिर मे आकर देवी को स्नान करा,

चन्दन लगा, माला पहरा, धूपबत्ती जला और बलि चढाकर देवी को प्रणाम कर कहने लगी-'भगवति। मेरा पति किम प्रकार अन्धा होगा ?' यह सुन कर देवी के पीछे खडे हुए ब्राह्मण ने आवाज बदल कर कहा--'यदि तू प्रतिदिन घेवर आदि भक्ष्य वस्तु पति को देगी तो वह शीघ्र ही अन्धा हो जायगा।' कृत्रिम वचनो से जिसका मन धोखे मे पड गया है ऐसी वह कुल्टा उस ब्राह्मण को वही वस्तु नित्य प्रति देने लगी। एक दिन ब्राह्मण ने कहा--'भद्रे! मुझे बिलकुल ही नही दीखता।' यह सुन उसने सोचा—'देवी की कृपा का यह फल है।'

अथ तस्या 'हृदयवल्लभो विटरतत्सकाशम्'-'अन्धीभूतोऽय ब्राह्मण कि मम करिष्यती'ति नि शङ्क प्रतिदिनमभ्येति। अथाऽन्येद्युस्त प्रविशन्तमभ्याशगत दृष्टवा, केशैर्गृहीत्वा, लगुडपार्ष्णिप्रभृतिप्रहारैस्तावदताडयत् यावदसौ पञ्चत्वमाप। तामपि दुष्टपत्नी विछिन्ननासिका कृत्वा विससर्ज। अतोऽह ब्रवीमि--'सर्वमेतद्विजानामि' इति।

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनमव्हस्य पुनरपि 'मण्डूका विविधा ह्येते' इति तमेवमब्रवीत्। अथ जलपादस्तच्छ्रुत्वा सुतरा व्यग्रहृदय 'किमनेनाभिहितम्' इति सम्यग् नावगम्य तमपृच्छत्--'भद्र! कि त्वयाऽभिहितमिद विरुद्ध वच ?' अथासावाकारप्रच्छादनार्थं 'न किंचित्' इत्यब्रवीत्। तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जलपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धि नावबुध्यते। कि बहुना--तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता, यथा बीजमात्रमपि नावशिष्टम्। अतोऽह ब्रवीमि--'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुम्' इत्यादि।

अनन्तर उस ब्राह्मणी का प्रिय जार यह समझ कर कि 'यह अन्धा ब्राह्मण मेरा क्या करेगा' प्रतिदिन उस ब्राह्मणी के पास आने लगा। एक दिन प्रविष्ट होते हुए उसको (विट को) अपने पास ही देख कर, केशो को पकड कर ब्राह्मण ने दण्डे और लातो (पार्ष्णि) द्वारा इतना मारा कि वह वही मर गया। और उस दुष्ट पत्नी की नाक काट कर निकाल दिया। इसलिये मैं कहता हूँ--'यह सब जानता हूँ' इत्यादि।

मन्दविष ने अन्दर ही अन्दर हँस कर तरह तरह के ये मेढक' इत्यादि फिर भी उससे कहा। यह सुनकर जलपाद अत्यन्त घबडा गया और 'इसने यह क्या कहा ?' यह अच्छी तरह न समझ कर उससे पूछने लगा--'भद्र! तुमने यह

उलटी क्या बात कही ?' उसने भी अपना अभिप्राय छिपाने की इच्छा से कहा कि—'कुछ नही' । (मन्दविष की) बनावटी बातों से भ्रान्त-चित्त जलपाद उसके (मन्दविष के) दुष्टाशय को नही समझ पाता था । अधिक क्या—उसने यहाँ तक सब मेढकों को खा लिया कि बीजमात्र भी न छोडा । इसलिये कहता हूँ—'शत्रु को भी कन्धे पर धारण करे' इत्यादि ।

अथ राजन् ! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहतास्तथा मयाऽपि सर्वे वैरिण ।

साधु चेदमुच्यते—

वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षति ।
समूलोन्मूलनं कुर्याद्वायुर्यो मृदुशीतल. ॥ २४२ ॥

हे राजन् ! जिस तरह मन्दविष ने अपने बुद्धि-बल से सब मेढक नष्ट कर दिये वैसे ही मैंने भी सब शत्रु नष्ट कर दिये है । यह ठीक ही कहा है —

वन मे जलती हुई अग्नि वृक्षादिक को जलाती हुई भी उनकी जडो को भस्म नही करती (जिससे वे फिर हरे हो जाते है), परन्तु मन्द-मन्द चलती हुई पाले से भरी हुई हवा जडसहित नष्ट कर देती है (वे फिर हरे नही हो पाते) ॥२४२॥

मेघवर्ण आह—'तात ! सत्यमेवैतत् । ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्ध न त्यजन्ति ।' उक्त च यत —

महत्वमेतन्महता नयालङ्कारधारिणाम् ।
न मुञ्चन्ति यदारब्ध कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये ॥ २४३ ॥

मेघवर्ण ने कहा—'तात । यह सत्य ही है (जो आपने कहा), जो महापुरुष (महाधीर) होते है वे विपत्ति मे फँस कर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को नही छोडते ।' क्योकि कहा भी है —

नीतिरूपी भूषण धारण करने वाले (नीतिनिपुण) महापुरुषो का यही बड़प्पन है कि वे विपत्तिजनक सकट (अथवा अत्यन्त कष्ट-प्रद विपत्ति) पडने पर भी प्रारम्भ किये कार्य को नही छोडते ॥ २४३ ॥

तथा च—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥

चन्दन लगा, माला पहरा, धूपवत्ती जला और वलि चढाकर देवी को प्रणाम कर कहने लगी–'भगवति। मेरा पति किस प्रकार अन्धा होगा ?' यह सुन कर देवी के पीछे खडे हुए ब्राह्मण ने आवाज बदल कर कहा––'यदि तू प्रतिदिन घेवर आदि भक्ष्य वस्तु पति को देगी तो वह शीघ्र ही अन्धा हो जायगा।' कृत्रिम वचनो से जिसका मन धोखे मे पड गया है ऐसी वह कुल्टा उस ब्राह्मण को वही वस्तु नित्य प्रति देने लगी। एक दिन ब्राह्मण ने कहा––'भद्रे! मुझे बिलकुल ही नही दीखता।' यह सुन उसने सोचा––'देवी की कृपा का यह फल है।'

अथ तस्या 'हृदयवल्लभो विटरतत्सकाशम्'–'अन्धीभूतोऽय ब्राह्मण कि मम करिष्यती'ति नि शङ्क प्रतिदिनमभ्येति। अथाऽन्येद्युस्त प्रविशन्तमभ्याशगत दृष्टवा, केशैर्गृहीत्वा, लगुडपार्ष्णिप्रभृतिप्रहारैरतावदताडयत् यावदसौ पञ्चत्वमाप। तामपि दुष्टपत्नी विछिन्ननासिका कृत्वा विससर्ज। अतोऽह ब्रवीमि––'सर्वमेतद्विजानामि' इति।

अथ मन्दविषोऽन्तर्लीनमवहस्य पुनरपि 'मण्डूका विविधा ह्येते' इति तमेवमब्रवीत्। अथ जलपादस्तच्छ्रुत्वा सुतरा व्यग्रहृदय 'किमनेनाभिहितम्' इति सम्यग् नावगम्य तमपृच्छत्––'भद्र! किं त्वयाऽभिहितमिद विरुद्ध वच ?' अथासावाकारप्रच्छादनार्थं 'न किंचित्' इत्यब्रवीत्। तथैव कृतकवचनव्यामोहितचित्तो जलपादस्तस्य दुष्टाभिसन्धि नाऽवबुध्यते। किं वहुना––तथा तेन सर्वेऽपि भक्षिता, यथा वीजमात्रमपि नावशिष्टम्। अतोऽह ब्रवीमि––'स्कन्धेनापि वहेच्छत्रुम्' इत्यादि।

अनन्तर उस ब्राह्मणी का प्रिय जार यह समझ कर कि 'यह अन्धा ब्राह्मण मेरा क्या करेगा' प्रतिदिन उस ब्राह्मणी के पास आने लगा। एक दिन प्रविष्ट होते हुए उसको (विट को) अपने पास ही देख कर, केशो को पकड कर ब्राह्मण ने दण्डे और लातो (पार्ष्णि) द्वारा इतना मारा कि वह वही मर गया। और उस दुष्ट पत्नी की नाक काट कर निकाल दिया। इसलिये मैं कहता हूँ––'यह सब जानता हूँ' इत्यादि।

मन्दविष ने अन्दर ही अन्दर हँस कर तरह तरह के ये मेढक' इत्यादि फिर भी उससे कहा। यह सुनकर जलपाद अत्यन्त घबडा गया और 'इसने यह क्या कहा ?' यह अच्छी तरह न समझ कर उससे पूछने लगा––'भद्र! तमने यह

उलटी क्या बात कही ?' उसने भी अपना अभिप्राय छिपाने की इच्छा से कहा कि—'कुछ नहीं'। (मन्दविष की) बनावटी बातों से भ्रान्त-चित्त जलपाद उसके (मन्दविष के) दुष्टाशय को नहीं समझ पाता था। अधिक क्या—उसने यहाँ तक सब मेढकों को खा लिया कि बीजमात्र भी न छोडा। इसलिये कहता हूँ—'शत्रु को भी कन्धे पर धारण करे' इत्यादि।

अथ राजन् ! यथा मन्दविषेण बुद्धिबलेन मण्डूका निहतास्तथा मयाऽपि सर्वे वैरिणः।

साधु चेदमुच्यते—

वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन्मूलानि रक्षति।
समूलोन्मूलनं कुर्याद्वायुर्यो मृदुशीतलः ॥ २४२ ॥

हे राजन् ! जिस तरह मन्दविष ने अपने बुद्धि-बल से सब मेढक नष्ट कर दिये वैसे ही मैंने भी सब शत्रु नष्ट कर दिये हैं। यह ठीक ही कहा है —

वन में जलती हुई अग्नि वृक्षादिक को जलाती हुई भी उनकी जडों को भस्म नहीं करती (जिससे वे फिर हरे हो जाते हैं), परन्तु मन्द-मन्द चलती हुई पाले से भरी हुई हवा जडसहित नष्ट कर देती है (वे फिर हरे नहीं हो पाते) ॥२४२॥

मेघवर्ण आह—'तात ! सत्यमेवैतत्। ये महात्मानो भवन्ति ते महासत्त्वा आपद्गता अपि प्रारब्धं न त्यजन्ति।' उक्तं च यतः—

महत्त्वमेतन्महतां नयालङ्कारधारिणाम्।
न मुञ्चन्ति यदारब्धं कृच्छ्रेऽपि व्यसनोदये ॥ २४३ ॥

मेघवर्ण ने कहा—'तात ! यह सत्य ही है (जो आपने कहा), जो महापुरुष (महाधीर) होते हैं वे विपत्ति में फँस कर भी प्रारम्भ किये हुए कार्य को नहीं छोडते।' क्योंकि कहा भी है —

नीतिरूपी भूषण धारण करने वाले (नीतिनिपुण) महापुरुषों का यही बडप्पन है कि वे विपत्तिजनक संकट (अथवा अत्यन्त कष्ट-प्रद विपत्ति) पडने पर भी प्रारम्भ किये कार्य को नहीं छोडते ॥ २४३ ॥

तथा च—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥

जैसे किसी ने कहा भी है कि —जो नीच, क्षुद्र तथा पामरजन होते है वे विघ्नो के भय के किसी कार्य को प्रारम्भ ही नही करते और मध्यम श्रेणी के जो लोग होते है वे प्रारम्भ तो करते हैं किन्तु विघ्न आने पर मध्य ही मे छोड देते हैं। किन्तु उत्तम कोटि के जो पुरुष होते है वे हजारो प्रकार के विघ्न-बाधायें उपस्थित होने पर भी, प्रारम्भ किये हुए कर्म को कभी भी नही छोडते ॥२४४॥

तत्कृत निष्कण्टक मम राज्य शत्रून्नि शेषता नयता त्वया। अथवा युक्तमेतन्नयवेदिनाम्। उक्त च यत्––

ऋणशेषश्चाग्निशेष शत्रुशेष तथैव च।
व्याधिशेष च नि शेष कृत्वा प्राज्ञो न सीदति ॥ २४५ ॥

शत्रुओ का समूल नाश करते हुए आपने मेरा राज्य निष्कण्टक बना दिया है। अथवा नीतिज्ञो के लिये यह उचित ही है। क्योकि कहा भी है —

ऋण, अग्नि, शत्रु तथा बीमारी के अवशिष्ट भाग को नि शेष (समूल नष्ट) करके बुद्धिमान् पुरुष दु ख नही पाता ॥ २४५ ॥

सोऽब्रवीत्––'देव! भाग्यवान् त्वमेवासि, यस्यारब्ध सर्वमेव ससिद्धयति। तन्न केवल शौर्यं कृत्य साधयति, किन्तु प्रज्ञया यत्क्रियते तदेव विजयाय भवति।' उक्त च––

शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति प्रज्ञाहतास्तु रिपव सुहता भवन्ति।
शस्त्र निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेक प्रज्ञा कुल च विभवञ्च यशश्च हन्ति ॥

तब स्थिरजीवी ने कहा—'हे महाराज! आप ही बडे भाग्यवान् हैं, जिनका प्रारम्भ किया हुआ कार्य अपने आप पूरा हो रहा है। अत हे महाराज! केवल शूर-वीरता से ही कार्य की सिद्धि नही होती है। कहा भी है —

शस्त्रो से मारे गये शत्रु नही मरते, किन्तु बुद्धि से मारे गये शत्रु ही वस्तुत मारे जाते हैं क्योकि शस्त्रो से एक ही शत्रु का शरीर काटा जा सकता है और बुद्धि की चतुराई से शत्रु का वंश, वैभव, यश कीर्ति आदि सभी नष्ट हो जाते है ॥

तदेव प्रज्ञापुरुषकाराभ्या युक्तस्यायत्नेन कार्यसिद्धय सम्भवन्ति। उक्त च––

प्रसरति मति· कार्यारम्भे दृढीभवति स्मृति ,
स्वयमुपनयन्नर्थान् मन्त्रो न गच्छति विप्लवम् ।
स्फुरति सफलस्तर्कश्चित्त समुन्नतिमश्नुते,
भवति च रति श्लाघ्ये कृत्ये नरस्य भविष्यत· ॥२४७॥

इसीलिये वुद्धि तथा पराक्रम दोनो से युक्त पुरुष के कार्यों की सिद्धि तो विना प्रयत्न के अनायास ही हो जाती है। कहा भी है —

जब किसी मनुष्य का अभ्युदय उपस्थित होता है तव उसकी वुद्धि कार्य के आरम्भ मे विस्तृत हो जाती है (कार्य की सव दशाओ को समझने के योग्य हो जाती है) स्मरणशक्ति पुष्ट हो जाती है, किया हुआ विचार (आश्रितनीति) स्वय ही अर्थो (कार्य फलो) को देता हुआ निष्फल नही होता, सफल (फलप्रद) विचारशक्ति, चित्त मे उत्साह तथा प्रशसनीय कार्य मे अनुराग उत्पन्न हो जाता है॥

तथा च नयत्यागशौर्यसम्पन्ने पुरुषे राज्यमिति । उक्त च--

त्यागिनि शूरे विदुषि च ससर्गरुचिर्जनो गुणी भवति ।
गुणवति धन धनाच्छ्रीः श्रीमत्याज्ञा ततो राज्यम् ॥ २४८ ॥

और भी–जो पुरुष नीति, उपाय, त्याग और पराक्रम से युक्त होता है उसी को राज्य प्राप्त होता है। कहा भी है —

दानी, शूर और विद्वान् पुरुष के सत्सग मे रुचि रखने वाला मनुष्य गुणवान् हो जाता है, गुणवान् पुरुष को धन प्राप्त होता है, धन की प्राप्ति से प्रभुत्व मिलता है, प्रभुत्ववान् पुरुष की आज्ञा सर्वत्र चलती है, व्यवहृत (बेरोक-टोक चलने वाली) आज्ञा से राज्य वन जाता है ॥ २४८ ॥

मेघवर्ण आह--'नूनं सद्य फलानि नीतिशास्त्राणि यत्त्वयानुकृत्येनानुप्रविश्यारिमर्दन सपरिजनो नि शेषित ।' स्थिरजीव्याह--

तीक्ष्णोपायप्राप्तिगम्योऽपि योऽर्थस्तस्याप्यादौ सश्रय· साधु युक्त· ।
उत्तुङ्गाग्र सारभूतो वनाना मान्याऽभ्यर्च्य छिद्यते पादपेन्द्र· ॥२४९॥

तब वह मेघवर्ण (काकराज) ने कहा--'अवश्यमेव नीतिशास्त्र सद्य फल देने वाले होते है। क्योकि तुमने शत्रु के अनुकूल होकर और उससे मेलजोल करके मेरे उम अरिमर्दन शत्रु को वात की वात मे परिजन सहित नष्ट कर दिया। यह सुनकर स्थिरजीवी कहने लगा —

कठोर उपायो द्वारा जो वस्तु प्राप्त करने योग्य हो (वहाँ भी) पहिले (तीक्ष्ण उपाय प्रयोग करने से पूर्व) उस वस्तु का सश्रय करना चाहिए--उसे अपना बना लेना चाहिए। (देखो) ऊँचे शिखर वाला, वनो का सार, महावृक्ष सत्कार और पूजा करके काटा जाता है ॥ २४९ ॥

अथवा स्वामिन् ! किं तेनाभिहितेन, यदनन्तरकाले क्रियारहितमसुख-साध्य वा भवति। साधु चेदमुच्यते--

अनिश्चितैरध्यवसायभीरुभि पदे पदे दोषशतानुदर्शिभि ।
फलैर्विसवादमुपागता गिरः प्रयान्ति लोके परिहासवस्तुताम् ॥२५०॥

हे स्वामिन् ! उस बात के कहने से ही क्या लाभ ? जो बाद मे की न जा सके अथवा जो अत्यन्त कष्ट से की जा सके। यह ठीक ही कहा है --

अस्थिरबुद्धि, उद्योग (परिश्रम) से डरने वाले, पद पद मे सब जगह सैकडो दोष देखने वाले पुरुषो के वचन फलानुसारी न होकर (उल्टे फलो द्वारा) ससार मे मजाक के विषय बन जाते है--मनुष्य उसकी हँसी उडाते है ॥ २५० ॥

न च लघुष्वपि कर्तव्येषु धीमद्भिरनादर कर्तव्य । यत --

शक्ष्यामि कर्तुमिदमल्पमयत्नसाध्यमत्रादर ' क इति कृत्यमुपेक्षमाणा ।
केचित्प्रमत्तमनस परितापदु खमापत्प्रसङ्गसुलभ पुरुषा प्रयान्ति ॥

बुद्धिमान् पुरुषो को साधारण कार्यो मे भी बेपरवाही न करनी चाहिए। क्योकि --

कुछ असावधान पुरुष इस कार्य को मैं कर सकता हूँ, यह मामूली काम है, यह विना परिश्रम ही हो सकता है, इसमे यत्न करने की क्या आवश्यकता है, इस प्रकार विचार कर कार्य की उपेक्षा करने वाले विपत्ति पडने से अनायासलभ्य (जिसका प्राप्त होना बहुत मामूली बात है) पश्चात्तापजनित दु ख भोगते है ॥२५१॥

तदद्य जितारेर्मद्विभोर्यथापूर्वं निद्रालाभो भविष्यति। उच्यते चैतत्--

नि सर्पे बद्धसर्पे वा भवने सुप्यते सुखम् ।
सदा दृष्टभुजङ्गे तु निद्रा दु खेन लभ्यते ॥ २५२ ॥

आज शत्रुविजयी मेरे प्रभु (आप मेघवर्ण) को पहिले के समान निद्रा आयेगी। यह कहा भी है --

सर्परहित अथवा बँधा हुआ है सर्प जिसमे ऐसे भवन मे आराम से नींद

आती है, लेकिन जिस घर में सदा ही सर्प दिखाई पडता हो, उसमे बडी कठिनता से नीद आती है ॥ २५२ ॥

तथा च--

विस्तीर्णव्यवसायसाध्यमहता स्निग्धोपयुक्ताशिषा,
कार्याणा नयसाहसोन्नतिमतामिच्छापदारोहिणाम् ।
मानोत्सेकपराक्रमव्यसनिन. पार न यावद्गता:,
साऽमर्षे हृदयेऽवकाशविषया तावत्कथ निर्वृतिः ? ॥ २५३ ॥

आत्मसम्मान, अहङ्कार और पराक्रम मे आसक्त पुरुष महान् परिश्रम से सिद्ध होने वाले अतएव महत्त्वपूर्ण (न कि मामूली) हितैषी बन्धुओ से मङ्गलकामना किये जाने वाले, नीति, उत्साह और उन्नतियुक्त कार्यों के अन्त को जब तक प्राप्त नही होते--ऐसे कार्यों को जब तक पूरा नही कर लेते--तब तक उद्विग्न हृदय मे अवकाश-कार्यावसान-मे प्राप्त होने वाला (रिक्त स्थान मे रहने वाला) सुखी कैसे रह सकता है ? कार्य की समाप्ति से पूर्व महान् पुरुष कभी सुखी नही होते ॥ २५३ ॥

तदवसितकार्यारम्भस्य विश्राम्यतीव मे हृदयम् । तदिदमधुनानिहत-कण्टक राज्य प्रजापालनतत्परो भूत्वा पुत्रपौत्रादिक्रमेणाचलच्छत्रासनश्री चिर भुङ्क्ष्व । अपि च--

प्रजा न रञ्जयेद्यस्तु राजा रक्षादिभिर्गुणै· ।
अजागलस्तनस्येव तस्य राज्य निरर्थकम् ॥ २५४ ॥

मेरा प्रारब्ध कार्य (सफलतापूर्वक) समाप्त हो चुका है अत मेरा हृदय अब विश्राम सा करना चाहता है--अब मैं राज्य कार्य छोडकर विश्राम करना चाहता हूँ । अत्र तुम प्रजापालन मे तत्पर होकर यह निष्कण्टक राज्य चिरकाल तक भोगो, पुत्रपौत्रादि क्रम से-वशपरम्परासे तुम्हारा छत्र, आसन और राजलक्ष्मी अचल हो ।

जो राजा पालन आदि गुणो द्वारा प्रजा को प्रसन्न नही करता उसका राज्य बकरी के गले की स्तन की आभा के समान निरर्थक ॥ २५४ ॥

गुणेषु रागो व्यसनेष्वनादरो, रति सुभृत्येषु च यस्य भूपते ।
चिर स भुङ्क्ते चलचामराशुका, सितातपत्राभरणा नृपश्रियम् ॥२५५॥

जिस राजा की शूरता आदि गुणो मे प्रीति, द्यूत आदि व्यसनो (बुरी आदतो) मे अप्रीति और योग्य सेवको मे स्नेह होता है वह राजा चिरकाल तक चञ्चल (हिलती हुई) चामररूपी वस्त्र वाली तथा छत्ररूपी भूषण से सुशोभित राजलक्ष्मी को भोगता है ॥ २५५ ॥

न च त्वया 'प्राप्तराज्योऽहमि'ति मत्वा श्रीमदेनात्मा व्यसयितव्य । यत्कारणम्, 'चला हि राज्ञो विभूतय वंशारोहणवद्राज्यलक्ष्मीदुरारोहा, क्षणविनिपातरता, प्रयत्नशतैरपि धार्यमाणा दुर्धरा, प्रशस्ताराधिताऽप्यन्ते विप्रलम्भिनी, वानरजातिरिव विद्रुतानेकचित्ता, पद्मपत्रमिवाघटितसंश्लेषा, पवनगतिरिवातिचपला, अनार्यसङ्गतिरिवाऽस्थिरा, आशीविष इव दुरुपचारा, सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्तरागा, जलबुद्बुदावलीव स्वभावभङ्गुरा, शरीरप्रकृतिरिव कृतघ्ना, स्वप्नलब्धद्रव्यराशिरिव क्षणदृष्टनष्टा । अपि च--

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव बुद्धिर्व्यसनेषु योज्या ।
घटा हि राज्ञामभिषेककाले सहाम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥२५६॥

किञ्च, तुम्हे 'मुझे राज्य मिल गया है' यह समझ कर ऐश्वर्यमद मे अपने आपको व्यसनो मे नही फँसाना चाहिए । क्योकि राजा का ऐश्वर्यमद अत्यन्त चञ्चल होता है । राजलक्ष्मी बास पर चढने के समान दुरारोह होती है, क्षणभर मे ही पारे की तरह नष्ट हो जाती है । सैकडो प्रयत्नो द्वारा धारण करने पर भी मुश्किल से धारण होती है, अच्छे प्रकार सेवन किये जाने पर भी अन्त मे धोखा देती है, एक ही विषय (जगह) मे जिसका चित्त स्थिर नही रहता ऐसी वानर जाति के समान लक्ष्मी अनेक पुरुषो के चित्तो को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, कमलपत्र पर जल के समान किसी से सम्पर्क नही रखती, वायु की गति की तरह अत्यन्त चञ्चल होती है, दुष्टो की प्रीति के समान अस्थिर, जिस प्रकार सर्प के पास जाना कष्टप्रद है उसी तरह इसका सेवन भी दु खदायी होता है । सायङ्कालीन मेघपक्ति के समान यह अल्पकाल ही किसी से अनुराग रखती है (सन्ध्याकलीन मेघो मे भी अल्पकाल ही लालिमा रहती है), जल के बबूलो की तरह यह स्वभाव से ही विनष्ट होने वाली है, सर्प के स्वभाव के समान यह कृतघ्न होती है तथा स्वप्न मे पाई हुई धनराशि के समान क्षण मे दिखाई पडती और क्षण मे नष्ट हो जाती है ।

और भी--जिस समय राजाओ का अभिषेक किया जाता है उसी समय उनको समझ लेना चाहिए कि 'हमारे ऊपर विपत्तियां अवश्य पडेंगी' । राजाओ के अभिषेक (स्नान) समय मानो घडे के जल के साथ-साथ उनके सिर पर विपत्तियाँ भी गिराते हैं ॥ २५६ ॥

न च कश्चिदनधिगमनीयो नामाऽस्त्यापदाम् । उक्त च---

रामस्य व्रजन, बलेर्नियमन, पाण्डोः सुताना वन,
वृष्णीना निधन, नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रशनम् ।
नाटचाचार्यकमर्जुनस्य, पतन सचिन्त्य लङ्केश्वरे,
सर्व कालवशाज्जनोऽत्र सहते, कः क परित्रायते ॥ २५७ ॥

और इस ससार मे कोई भी नही है जिसके ऊपर विपत्ति नही आ सकती हो । कहा भी है ---

श्रीरामचन्द्र का वन जाने, दैत्यराज बलि के बन्धन मे पडने, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरादि के वनवास, यादवो के विनाश, राजा नल के राज्य से भ्रष्ट होने, अर्जुन के नाटचाचार्य पद को ग्रहण करने और लङ्काधिपति रावण के पतन को विचार कर (यह मालूम पडता है कि) मनुष्य सब कुछ कालवश सहन करता है, इस ससार मे कौन किसकी रक्षा करता है ? ॥ २५७ ॥

क्व स दशरथ स्वर्गे भूत्वा महेन्द्रसुहृद्गत ?
क्व स जलनिधेर्वेला बद्ध्वा नृप सगरस्तथा ।
क्व स करतलाज्जातो वैन्य क्व सूर्यतनुर्मनु,
ननु बलवता कालेनैते प्रबोध्य निमीलिता ॥ २५८ ॥

जो राजा दशरथ देवेन्द्र के सखा बन कर स्वर्गलोक मे पहुँचे थे वे अब कहाँ है ? वह राजा सगर, जिसने समुद्र की वेला--तटभूमि को बाँध लिया था--समुद्रपर्यन्त राज्य किया था कहाँ गया ? करतल (हथेली) के मलने से उत्पन्न पृथु महाराज कहाँ गये ? सूर्यपुत्र मनु कहाँ हैं ? इसमे कोई सन्देह नही, इन सब को प्रबल काल ने उत्पन्न कर नष्ट कर दिया ॥ २५८ ॥

मान्धाता क्व गतस्त्रिलोकविजयी राजा, क्व सत्यव्रत,
देवाना नृपतिर्गत क्व नहुष, सच्छास्त्रवान् केशव ।
मन्यन्ते सरथा सकुञ्जरवरा शक्रासनाध्यासिनः,
कालेनैव महात्मना त्वनुकृता कालेन निर्वासिताः ॥२५९॥

त्रिभुवन विजयी राजा माधाता कहाँ गये । सत्यव्रत का पालन करने वाले महात्मा युधिष्ठिर कहाँ है ? देवताओ के राजा--इन्द्र पदवी प्राप्त करने वाला--राजा नहुष कहाँ चला गया (गीतादि) सच्छास्त्रोपदेष्टा केशव कहाँ गये ? प्रबल काल ने रथ और हाथियो सहित, इन्द्रासन पर बैठने वाले इन सब को बनाया और उसी ने इन को यहाँ से निकाल दिया--नष्ट कर दिया ॥ २५९ ॥

अपि च--

स च नृपतिस्ते सचिवास्ता. प्रमदास्तानि काननवनानि ।
स च ते च ताश्च तानि च कृतान्तदृष्टानि नष्टानि ॥२६०॥

और भी--वे राजा, वे मन्त्री, वे रमणियाँ, वे उपवन और वन वे राजादि सब वस्तुएँ काल की दृष्टि मे पड कर नष्ट हो गये ॥ २६० ॥

एव मत्त-करि-कर्ण-चञ्चला राज्यलक्ष्मीमवाप्य न्यायैकनिष्ठो भूत्वोपभुङ्क्ष्व ।

हे महाराज ! इस प्रकार यह राज्यलक्ष्मी तो मत्त हाथी के कानो की तरह ही अत्यन्त चञ्चल है । इसको पाकर गर्वित होना व्यर्थ है । इसलिये आप इस लक्ष्मी को पाकर नीतिमार्ग से चलते हुए इसका उपभोग कीजिए ।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रके काकोलूकीय

नाम तृतीय तन्त्रम् ।



॥ श्री. ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१७

श्रीविष्णुशर्मप्रणीतं

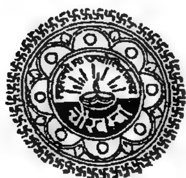
प तन्त्र-लब्धप्रणाशम्

'सर ।' हिन्दी टीकोपेतम्

(चतुर्थं तन्त्रम्)

टीकाकार

० गोकुलदास गुप्त बी० ए०



चौखम् विद्याभवन, वाराणसी-१

१९७५

प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज, वाराणसी

संस्करण चतुर्थ वि० संवत् २०३२

मूल्य : २-००

Post Box No 69,

Chowk, Varanasi-1 (India)

1970

Phone 63076

॥ श्रीः ॥

प   न्त्रम्

(चतुर्थं तन्त्रम्)

अथ लब्धप्रणाशम्

अथेदमारभ्यते लब्धप्रणाश नाम चतुर्थं तन्त्रम्। यस्यायमादिमः श्लोक —

'लब्धप्रणाश' नामक चतुर्थ तन्त्र प्रारम्भ किया जाता है। जिसका यह (वक्ष्यमाण) प्रथम श्लोक है—

समुत्पन्नेषु कार्येषु बुद्धिर्यस्य न हीयते।
स एव दुर्गं तरति जलस्थो वानरो यथा ॥ १ ॥

उपस्थित कार्यों में जिस पुरुष की बुद्धि लुप्त नहीं होती—जो संकट में भी धैर्यपूर्वक अपना कर्तव्य स्थिर कर सकता है—वही पुरुष, जल में स्थित वानर को तरह सकटों को पार कर सकता है—दु खों से छूट सकता है ॥ १ ॥

तद्यथानुश्रूयते—

जैसा कि सुना जाता है—कहानी इस प्रकार प्रारम्भ होती है—

कथा १

अस्ति कस्मिंश्चित्समुद्रोपकण्ठे महाञ्जम्बूपादप. सदाफल'। तत्र च रक्तमुखो नाम वानर प्रतिवसति स्म। तत्र च तस्य तरोरध' कदाचित्करालमुखो नाम मकर समुद्रसलिलान्निष्क्रम्य सुकोमलवालुकासनाथे तीरोपान्ते न्यविशत। ततश्च रक्तमुखेन स प्रोक्त—'भो., भवान्समभ्यागतोऽतिथि। तद्भक्षयतु मया दत्तान्यमृततुल्यानि जम्बूफलानि। उक्त च—

किसी समुद्र तोर पर सदा फलनेवाला एक जामुन का वृक्ष था। उस पर रक्तमुख नामक वानर रहा करता था। किसी समय उस वृक्ष के नीचे कोमल रेत से

पूर्ण तट पर करालमुख नाम का मकर समुद्र-जल से निकल कर आ बैठा। रक्तमुख ने उससे कहा—आप हमारे प्रिय अतिथि हैं इसलिये अमृततुल्य (अमृत के समान स्वादिष्ट) जम्बूफल आपके भेंट हैं, आप इन्हें खाइये। कहा भी है—

प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खो वा यदि पण्डित ।
वैश्वदेवान्तमापन्न सोऽतिथि स्वर्गसक्रम· ॥ २ ॥

'जो अतिथि चाहे वह प्रिय हो अथवा शत्रु, मूर्ख या पण्डित हो वैश्वदेव (बलिवैश्वदेव नामक एक यज्ञविशेष, जिसमें तैयार हुए भोजन से सब देवताओं को बलि दी जाती है) के अन्त में उपस्थित हो जाय तो वह (गृहस्थ को) स्वर्ग पहुँचाता है ॥ २ ॥

न पृच्छेच्चरण गोत्र न च विद्या कुल न च ।
अतिथि वैश्वदेवान्ते श्राद्धे च मनुरब्रवीत् ॥ ३ ॥

बलिवैश्वदेव कर्म के अन्त में तथा श्राद्ध में समुपस्थित अतिथि से उसका चरण (शाखा), गोत्र, विद्या (वेद-वेदाग का अध्ययन) और कुछ न पूछे। ऐसा मनु महाराज ने कहा है ॥ ३ ॥

दूरमार्गश्रमश्रान्त वैश्वदेवान्तमागतम् ।
अतिथिं पूजयेद्यस्तु स याति परमा गतिम् ॥ ४ ॥

जो मनुष्य लम्बा रास्ता तय करने के श्रम से थके हुए और बलिवैश्वदेव कर्म की समाप्ति पर उपस्थित अतिथि का सत्कार करता है वह श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अपूजितोऽतिथिर्यस्य गृहाद्याति विनिश्वसन् ।
गच्छन्ति विमुखास्तस्य पितृभि सह देवता ॥ ५ ॥'

जिस पुरुष के घर से अतिथि आदर न पाकर अतएव (अपना अपमान स्मरण कर) लम्बी सास लेता हुआ वापस चला जाता है उस पुरुष के देवता पितरों के साथ मुख फेरकर चले जाते हैं ॥ ५ ॥'

एवमुक्त्वा तस्मै जम्बूफलानि ददौ । सोऽपि तानि भक्षयित्वा तेन सह चिर गोष्ठीसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वभवनमगात् । एव नित्यमेव तौ वानरमकरौ जम्बूच्छायास्थितौ विविधशास्त्रगोष्ठ्या काल नयन्तौ सुखेन तिष्ठत । सोऽपि मकरो भक्षितशेषाणि जम्बूफलानि गृह गत्वा स्वपत्न्यै प्रयच्छति । अथान्यतमे दिवसे तया स पृष्ट —'नाथ, क्वैवविधान्यमृत-

फलानि प्राप्नोषि।' स आह—'भद्रे ममास्ति परमसुहृद्रक्तमुखो नाम वानरः। स प्रीतिपूर्वमिमानि फलानि प्रयच्छति।' अथ तयाभिहितम्—'यः सदैवामृतप्रायाणीदृशानि फलानि भक्षयति, तस्य हृदयममृतमयं भविष्यति। तद्यदि भार्यया ते प्रयोजनम्, ततस्तस्य हृदयं मह्यं प्रयच्छ। येन तद्भक्षयित्वा जरामरणरहिता त्वया सह भोगान्भुनज्मि।' स आह—'भद्रे, मा मैवं वद। यतः स प्रतिपन्नोऽस्माकं भ्राता। अपरं फलदाता। ततो व्यापादयितुं न शक्यते। तत्त्यजैनं मिथ्याग्रहणम्। उक्तं च—

यह कहकर उसने (वानर ने) उसे (मकर को) जम्बूफल दिये। वह भी उन्हें खाकर उसके साथ बहुत देर तक वार्तालाप का आनन्द उठाकर फिर अपने र चला गया। वे वानर और मगर इस प्रकार प्रतिदिन ही जम्बू वृक्ष की छाया में बैठकर भिन्न-भिन्न शास्त्रों की चर्चा से समय बिताते हुए सुखपूर्वक रहते थे। और वह मगर बचे हुए जम्बूफल घर जाकर अपनी पत्नी को दिया करता था। एक दिन उसकी पत्नी ने उससे (मगर से) पूछा नाथ! ऐसे अमृततुल्य फल तुम कहा पाते हो? उसने कहा भद्रे! रक्तमुख नाम का वानर मेरा परम मित्र है, वही प्रेमपूर्वक ये फल दिया करता है। तब उसने कहा—जो सदा ही ऐसे अमृत समान फल खाता है, उसका हृदय अवश्य ही अमृतमय होगा। इसलिये अगर तुम्हें मुझ पत्नी से कुछ काम है—यदि तुम मुझे अपनी पत्नी रखना चाहते हो तो उसका हृदय मुझे (लाकर) दो, जिससे उसे खाकर बुढ़ापे और मृत्यु से मुक्त हो तुम्हारे साथ भोग भोगू। उसने कहा—भद्रे! ऐसा मत कहो क्योंकि हमने उसे अपना भाई स्वीकार किया है। दूसरी बात यह भी है कि वह मेरा फलदाता है और उसे हम मार नहीं सकते। अतः यह असंभव हठ छोड दो। कहा भी है—

एकः प्रसूयते माता द्वितीयं वाक्प्रसूयते।
वाग्जातमधिकं प्रोचुः सोदर्यादपि बन्धुवत्॥ ६॥

एक बन्धु को माता उत्पन्न करती है और दूसरे को वाणी (सम्भाषण)। पण्डित लोग उन दोनों में सम्भाषण से उत्पन्न बन्धु को सोदर भाई से भी प्रिय बताते हैं॥

अथ मकर्याह—'त्वया कदाचिदपि मम वचनं नान्यथा कृतम्। तन्नूनं सा वानरी भविष्यति, यतस्तस्या अनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि। तत्त्वं ज्ञातो मया सम्यक्। यतः—

तब मकरी ने कहा—'तुमने कभी भी मेरी बात नहीं टाली। तब निश्चय ही वह वानरी है क्योंकि उसी के प्रेम के कारण तुम सारा दिन वही (उसी के पास) बिताते हो, मैंने तुम्हें अच्छी तरह समझ लिया है—तुम्हारे मानसिक भाव मैंने खूब जान लिये हैं। क्योंकि—

साह्लादं वचनं प्रयच्छसि न मे नो वाञ्छितं किंचन

प्राय प्रोच्छ्वसिषि द्रुत हुतवहज्वालासम रात्रिषु।

कण्ठाश्लेषपरिग्रहे शिथिलता यन्नादराच्चुम्बसे

तत्ते धूर्त्त हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममेवापरा' ॥ ७ ॥

मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत नहीं करते और न मेरी किसी इच्छा को ही पूर्ण करते हो। रात्रियों में प्राय अग्निशिखा के समान (उष्ण) लम्बी सास लेते हो। कण्ठग्रहपूर्वक आलिङ्गन में तुम्हें जरा भी उत्सुकता नही और न प्रेम से चुम्बन ही करते हो, हे धूर्त्त! इस सबका कारण यही है कि तुम्हारे हृदय में मेरे अतिरिक्त कोई दूसरी ही प्यारी विराजमान है ॥ ७ ॥'

सोऽपि पत्न्या' पादोपसग्रह कृत्वाङ्कोपरि निधाय तस्या कोपकोटि-मापन्नाया सुदीनमुवाच—

वह (मगर) अत्यन्त कुपित हुई अपनी पत्नी के चरण पकड़कर और उसे गोद में बैठाकर दीनतापूर्वक कहने लगा—

मयि ते पादपतिते किंकरत्वमुपागते।

त्व प्राणवल्लभे कस्मात्कोपने कोपमेष्यसि ॥ ८ ॥

हे कोपशीले! प्राणप्रिये! जब कि मैं तुम्हारे चरणों में पड़ा हुआ हूँ और दास के समान तुम्हारी आज्ञा पालन करने के लिये उद्यत हूँ फिर अन्य कौन कारण है जिसके (वशीभूत हो) तुम क्रोध करोगी। (तुम्हे क्रोध छोड देना चाहिए) ॥ ८ ॥

सापि तद्वचनमाकर्ण्याश्रुप्लुतमुखी तमुवाच—

वह (मगरी) भी आँखों में आँसू भरकर बोली—

सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त कान्ता

सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या।

अस्माकमस्ति न कथचिदिहावकाश-

स्तस्मात्कृत चरणपातविडम्बनाभि ॥ ९ ॥

हे वञ्चक ! तुम्हारे मन में बनावटी (न कि मेरे समान वास्तविक) प्रेम से मनोहर प्रतीत होनेवाली वही प्रिया विराजमान है जिसके ऊपर तुम सैकड़ों मनसूबे बाधा करते हो इसलिए वहाँ (तुम्हारे हृदय में) हमारे लिये स्थान कहाँ ? (हमारे ऊपर तुम्हारा कुछ भी प्रेम नहीं) अतएव पैरों पर गिरकर धोखा देने से क्या लाभ ? ॥ ९ ॥

अपर सा यदि तव वल्लभा न भवति, तत्किं मया भणितेऽपि तां न व्यापादयसि । अथ यदि स वानरस्तत्कस्तेन सह तव स्नेहः । तत्किं-बहुना । यदि तस्य हृदयं न भक्ष्यामि, तन्मया प्रायोपवेशनं कृतं विद्धि । एवं तस्यास्तन्निश्चयं ज्ञात्वा चिन्ताव्याकुलितहृदयः स प्रोवाच । अथवा साध्विदमुच्यते—

दूसरी बात यह भी है कि—यदि वह तुम्हारी प्रिया नहीं है तो मेरे कहने पर भी उसे क्यों नहीं मारते ? और यदि वह वानर है तो तुम्हारा उसके साथ स्नेह कैसा ? अधिक क्या, अगर उसका हृदय मुझे खाने के लिये न मिलेगा तो निश्चय समझ लो कि मैं प्रायोपवेशन (मरने के लिये भूख हड़ताल) करूंगी। उसका यह निश्चय जानकर वह (मगर) चिन्ता से (इस अवस्था में क्या करना चाहिये ऐसी) व्याकुल मन हो कहने लगा । अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणां कर्कटस्य च ।
एको ग्रहस्तु मीनानां नीलीमद्यपयोस्तथा ॥ १० ॥

वज्रलेप मूर्ख अर्थात् महामूर्ख, स्त्री, कॅकडा, मछली, नील रंग तथा मद्यपायी की पकड़ प्रबल होती है ॥ १० ॥

'तत्किं करोमि । कथं स मे वध्यो भवति ।' इति विचिन्त्य वानर-पार्श्वमगमत् । वानरोऽपि चिरादायान्तं तं सोद्वेगमवलोक्य प्रोवाच— 'भो मित्र, किमद्य चिरवेलायां समायातोऽसि । कस्मात्साह्लादं नालपसि । न सुभाषितानि पठसि ।' स आह—'मित्र, अहं तव भ्रातृजायया निष्ठुर-तरैर्वाक्यैरभिहितः—'भो कृतघ्न, मा मे त्वं स्वमुखं दर्शय, यतस्त्वं प्रतिदिनं मित्रमुपजीवसि । न च तस्य पुनः प्रत्युपकारं गृहदर्शनमात्रेणापि करोषि । तत्ते प्रायश्चित्तमपि नास्ति । उक्तं च—

'क्या करूं ? कैसे उसे मार सकूंगा' इत्यादि बातें सोचता हुआ वह वानर के पास गया । वानर भी उसको देर से आया हुआ और घबड़ाया हुआ देखकर

तब मकरी ने कहा—'तुमने कभी भी मेरी बात नहीं टाली। तब निश्चय ही वह वानरी है क्योंकि उसी के प्रेम के कारण तुम सारा दिन वहीं (उसी के पास) बिताते हो, मैंने तुम्हे अच्छी तरह समझ लिया है—तुम्हारे मानसिक भाव मैंने खूब जान लिये हैं। क्योंकि—

साह्लाद वचन प्रयच्छसि न मे नो वाञ्छित किंचन
प्राय प्रोच्छ्वसिपि द्रुत हुतवहज्वालासम रात्रिपु।
कण्ठाश्लेषपरिग्रहे शिथिलता यन्नादराच्चुम्बसे
तत्ते धूर्त्त हृदि स्थिता प्रियतमा काचिन्ममेवापरा' ॥ ७ ॥

मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत नहीं करते और न मेरी किसी इच्छा को ही पूर्ण करते हो। रात्रियों में प्राय अग्निशिखा के समान (उष्ण) लम्बी सास लेते हो। कण्ठग्रहपूर्वक आलिङ्गन में तुम्हें जरा भी उत्सुकता नहीं और न प्रेम से चुम्बन ही करते हो, हे धूर्त्त ! इस सबका कारण यही है कि तुम्हारे हृदय में मेरे अतिरिक्त कोई दूसरी ही प्यारी विराजमान है ॥ ७ ॥'

सोऽपि पत्न्या पादोपसग्रह कृत्वाङ्कोपरि निधाय तस्या कोपकोटिमापन्नाया सुदीनमुवाच—

वह (मगर) अत्यन्त कुपित हुई अपनी पत्नी के चरण पकड़कर और उसे गोद में बैठाकर दीनतापूर्वक कहने लगा—

मयि ते पादपतिते किंकरत्वमुपागते।
त्व प्राणवल्लभे कस्मात्कोपने कोपमेष्यसि ॥ ८ ॥

हे कोपशीले ! प्राणप्रिये ! जब कि मैं तुम्हारे चरणों में पड़ा हुआ हूं और दास के समान तुम्हारी आज्ञा पालन करने के लिये उद्यत हूं फिर अन्य कौन कारण है जिसके (वशीभूत हो) तुम क्रोध करोगी ! (तुम्हे क्रोध छोड देना चाहिए) ॥ ८ ॥

सापि तद्वचनमाकर्ण्याश्रुप्लुतमुखी तमुवाच—

वह (मगरी) भी आंखों में आँसू भरकर बोली—

सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमभावरम्या।
अस्माकमस्ति न कथचिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृत चरणपातविडम्बनाभि ॥ ९ ॥

हे वञ्चक ! तुम्हारे मन में बनावटी (न कि मेरे समान वास्तविक) प्रेम से मनोहर प्रतीत होनेवाली वही प्रिया विराजमान है जिसके ऊपर तुम सैकड़ों मनसूबे बाधा करते हो इसलिए वहाँ (तुम्हारे हृदय में) हमारे लिये स्थान कहाँ ? (हमारे ऊपर तुम्हारा कुछ भी प्रेम नही) अतएव पैरा पर गिरकर धोखा देने से क्या लाभ ? ॥ ९ ॥

अपर सा यदि तव वल्लभा न भवति, तत्किं मया भणितेऽपि ता न व्यापादयसि। अथ यदि स वानरस्तत्कस्तेन सह तव स्नेह । तत्किं-बहुना। यदि तस्य हृदय न भक्षयामि, तन्मया प्रायोपवेशन कृत विद्धि। एव तस्यास्तन्निश्चय ज्ञात्वा चिन्ताव्याकुलितहृदय स प्रोवाच । अथवा साध्विदमुच्यते—

दूसरी बात यह भी है कि—यदि वह तुम्हारी प्रिया नही है तो मेरे कहने पर भी उसे क्यों नहीं मारते ? और यदि वह वानर है तो तुम्हारा उसके साथ स्नेह कैसा ? अधिक क्या, अगर उसका हृदय मुझे खाने के लिये न मिलेगा तो निश्चय समझ लो कि मैं प्रायोपवेशन (मरने के लिये भूख हड़ताल) करूंगी। उसका यह निश्चय जानकर वह (मगर) चिन्ता से (इस अवस्था में क्या करना चाहिये ऐसी) व्याकुल मन हो कहने लगा। अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

वज्रलेपस्य मूर्खस्य नारीणा कर्कटस्य च।
एको ग्रहस्तु मीनाना नीलोमद्यपयोस्तथा ॥ १० ॥

वज्रलेप मूर्ख अर्थात् महामूर्ख, स्त्री, केंकड़ा, मछली, नील रंग तथा मद्यपायी की पकड़ प्रबल होती है ॥ १० ॥

'तत्कि करोमि। कथ स मे वध्यो भवति।' इति विचिन्त्य वानर-पार्श्वमगमत् । वानरोऽपि चिरादायान्त त सोद्वेगमवलोक्य प्रोवाच—'भो मित्र, किमद्य चिरवेलाया समायातोऽसि। कस्मात्साह्लाद नालपसि। न सुभाषितानि पठसि।' स आह—'मित्र, अह तव भ्रातृजायया निष्ठुर-तरैर्वाक्यैरभिहित —'भो कृतघ्न, मा मे त्व स्वमुख दर्शय, यतस्त्व प्रतिदिन मित्रमुपजीवसि। न च तस्य पुन प्रत्युपकार गृहदर्शनमात्रेणापि करोषि। तत्ते प्रायश्चित्तमपि नास्ति। उक्तं च—

'क्या करूं ? कैसे उसे मार सकूंगा' इत्यादि बातें सोचता हुआ वह वानर के पास गया। वानर भी उसको देर से आया हुआ और घबड़ाया हुआ देखकर

बोला—'मित्र ! आज आने में देर क्यों हुई ? आनन्दपूर्वक बातचीत क्यों नहीं करते ? सूक्तिया (उत्तम-उत्तम वचन) क्यों नहीं सुनाते ?' वह बोला—'मित्र ! आज तुम्हारी भौजाई (मेरी पत्नी) ने मुझसे कडे शब्दों में कहा कि—'अरे कृतघ्न ! मेरे सामने अपना मुख मत दिखा, क्योंकि तू नित्य ही मित्र के दिये हुए फलादि खाकर आता है परन्तु अपना घर दिखलाने मात्र से भी उसका प्रत्युपकार नहीं करता। तेरा प्रायश्चित्त भी नहीं है। कहा भी है—

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते शठे।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥ ११ ॥

ब्रह्महत्या करने वाले, मद्य पीनेवाले चोर तथा अपना व्रत-भङ्ग करने वाले के लिये साधु पुरुष (स्मृतिकारों) ने प्रायश्चित्त कहा है परन्तु कृतघ्न के लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया ॥ ११ ॥

तत्त्व मम देवर गृहीत्वाद्य प्रत्युपकारार्थं गृहमानय। नो चेत्त्वया सह मे परलोके दर्शनम्' इति । तदहं तयैव प्रोक्तस्तव सकाशमागतः। तदद्य तया सह त्वदर्थे कलहायतो ममेयती वेला विलग्ना। तदागच्छ मे गृहम्। तव भ्रातृपत्नी रचितचतुष्का प्रगुणितवस्त्रमणिमाणिक्याद्युचिताभरणा द्वारदेशबद्धवन्दनमाला सोत्कण्ठा तिष्ठति । मर्कट आह—'भो मित्र, युक्तमभिहितं मद्भ्रातृपत्न्या। उक्तं च—

इसलिये, आज तू प्रत्युपकार के लिये मेरे देवर को लेकर घर आ। नहीं तो परलोक में ही मेरा दर्शन करेगा (मैं प्राणत्याग कर दूँगी)।' उसके ऐसा कहने से तुम्हारे पास आया हूँ। इसलिये तुम्हारे विषय में उसके साथ वाद-विवाद करते हुए मुझे इतनी देर हो गई। अब मेरे घर चलो, तुम्हारी भौजाई चौक बनाकर (दक्षिण में यह रिवाज है कि जब कोई मान्य अतिथि घर आता है तब उसके सत्कार के लिये खडिया अथवा पिसे हुए एक प्रकार के सफेद चूर्ण से दरवाजे पर तथा भोजनस्थान पर भाति-भाति की रेखाएं खींचते हैं उसे चौक कहते है वही यहा 'चतुष्क' शब्द से अभिप्रेत है), उत्तम-उत्तम वस्त्र तथा मोती, मूगा आदि समयोचित भूषण-धारण कर तथा दरवाजे पर वदनवार बाधकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।' वानर बोला—'मित्र ! तुम्हारी स्त्री ने ठीक ही कहा है। क्योंकि कहा भी है—

वर्जयेत्कौलिकाकारं मित्रं प्राज्ञतरो नरः।
आत्मनः संमुखं नित्यं य आकर्षति लोलुपः॥ १२॥

जो लोभी मनुष्य, अपने मित्र की धनादि वस्तु अपनी ओर खींचता है (स्वयं ले लेना चाहता है) बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि तन्तुवाय-तुल्य ऐसे मित्र को छोड़ देवे (तन्तुवाय-जुलाहा भी डोरों को यन्त्र द्वारा अपनी ओर खींचा करता है)॥ १२॥

तथा च—ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥ १३॥

और भी—स्नेही पुरुष (मित्र) को अपनी वस्तु देना, उससे लेना, अपनी गोप्य बात कहना और उससे पूछना, भोजन करना और उसे भोजन कराना छः प्रीति के चिह्न हैं॥ १३॥

'परं वयं वनचराः, युष्मदीयं च जलान्ते गृहम्। तत्कथं शक्यते तत्र गन्तुम्। तस्मात्तामपि मे भ्रातृपत्नीमत्रानय येन प्रणम्य तस्या आशीर्वादं गृह्णामि।' स आह—'भो मित्र, अस्ति समुद्रान्तरे सुरम्ये पुलिनप्रदेशेऽस्मद्गृहम्। तन्मम पृष्ठमारूढः सुखेनाकृतभयो गच्छ।' सोऽपि तच्छ्रुत्वा सानन्दमाह—'भद्र, यद्येवं तत्किं विलम्ब्यते। त्वर्यताम्। एषोऽहं तव पृष्ठमारूढः।' तथानुष्ठितेऽगाधे जलधौ गच्छन्तं मकरमालोक्य भयत्रस्तमना वानरः प्रोवाच—'भ्रातः शनैः शनैर्गम्यताम्। जलकल्लोलैः प्लाव्यते मे शरीरम्।' तदाकर्ण्य मकरश्चिन्तयामास—'असावगाधं जलं प्राप्तो मे वशः सञ्जातः। मत्पृष्ठगतस्तिलमात्रमपि चलितुं न शक्नोति। तस्मात्कथयाम्यस्य निजाभिप्रायम्, येनाभीष्टदेवतास्मरणं करोति।' आह च—'मित्र, त्वं मया वधाय समानीतो भार्यावाक्येन विश्वास्य। तत्स्मर्यतामभीष्टदेवता।' स आह—'भ्रातः, किं मया तस्यास्तवापि चापकृतं येन मे वधोपायश्चिन्तितः।' मकर आह—'भोः, तस्यास्तावत्तव हृदयस्यामृतमयफलरसास्वादनमृष्टस्य भक्षणे दोहदः सञ्जातः। तेनैतदनुष्ठितम्।' प्रत्युत्पन्नमतिर्वानर आह—'भद्र, यद्येवं तत्किं त्वया मम तत्रैव न व्याहृतम्। येन स्वहृदयं जम्बूकोटरे सदैव मया सुगुप्तं कृतम्, तद्भ्रातृपत्न्या अर्पयामि। त्वयाहं शून्यहृदयोऽत्र कस्मादानीतः।' तदाकर्ण्य मकरः सानन्दमाह—'भद्र-

यद्येव तदर्पय मे हृदयम् । येन सा दुष्टपत्नी तद्भक्षयित्वानशनादुत्तिष्ठति । अहं त्वा तमेव जम्बूपादप प्रापयामि ।' एवमुक्त्वा निवर्त्य जम्बूतलमगात् । वानरोऽपि कथमपि जल्पितविविधदेवतोपचारपूजस्तीरमासादितवान् । ततश्च दीर्घतरचङ्क्रमणेन तमेव जम्बूपादपमारूढश्चिन्तयामास—'अहो, लब्धास्तावत्प्राण । अथवा साध्विदमुच्यते—

लेकिन हम वन में रहने वाले हैं और तुम्हारा घर जल में है । इसलिये हम कैसे जा सकते हैं ? अत हमारी भौजाई को भी यही ले आओ जिससे उन्हें प्रणाम कर उनका आशीर्वाद ग्रहण करें ।' उसने कहा—'मित्र ! हमारा घर समुद्रतल में मनोहर वालुकामय तट पर है । अत मेरी पीठ पर चढकर निर्भय पूर्वक चलो ।' यह सुन वानर ने आनन्दपूर्वक कहा—'भद्र ! यदि यह बात है तो फिर देर क्यो ? जल्दी करो, लो यह मैं तुम्हारी पीठ पर चढ गया ।' ऐसा करने पर मकर को अगाध समुद्र में जाता हुआ देखकर वानर भयभीत हो कहने लगा—'भाई ! धीरे-धीरे चलो, महातरङ्गें मेरे शरीर को डुबा रही हैं ।' यह सुन मगर सोचने लगा—'इस समय अगाध जल में पहुँचा हुआ यह वानर मेरे अधीन है, मेरी पीठ से तिलमात्र भी इधर-उधर नहीं हो सकता इसलिये इससे अपना अभिप्राय कह देना चाहिए जिससे यह अपने इष्टदेव का स्मरण कर ले ।' और (यह सोचकर) बोला—'पत्नी के कहने से मैं तुम्हें विश्वास दिलाकर मारने के लिये लाया हूँ ।' उसने कहा—'भाई ! मैंने, उसकी या तुम्हारी क्या बुराई की है जिसके कारण तुमने मुझे मारने का उपाय किया है ।' मगर ने कहा—'हे मित्र ! उसकी (मेरी पत्नी की) अमृततुल्य फलों के रसास्वाद से स्वादिष्ट तुम्हारा हृदय खाने की इच्छा हुई है, इसी कारण यह किया गया है ।' तब प्रत्युत्पन्नमति (समय पर जिसको उपाय सूझ सके) वानर ने कहा—'भद्र ! यदि यह बात थी तो तुमने मुझ से वहीं क्यों न कहा, मैं सदा ही अपना हृदय जम्बू-कोटर में सुरक्षित रखता हूँ, उसे भौजाई को दे देता, तुम हृदयरहित मुझको क्यों लाये ?' यह सुन, मगर ने सानन्द कहा—'भद्र ! अगर यह बात है तो अपना हृदय मुझे दो जिससे कि वह दुष्ट स्त्री, उसे खाकर अनशन व्रत का परित्याग करे (अनशन से उठे)। मैं तुम्हे, उसी जामुन के वृक्षपर पहुँचाये देता हूँ ।' यह कह लौटकर उसी जम्बू वृक्ष के नीचे गया । वानर भी

भाँति भाँति के द्रव्यों से अपने अभीष्ट देवताओं की पूजा का सङ्कल्प करता हुआ किसी प्रकार किनारे पर पहुँच गया। और एक लम्बी छलाग से जम्बू वृक्ष पर चढ सोचने लगा—'चलो, प्राण तो पा लिये—बच गये। अथवा यह ठीक ही कहा है—

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्तेऽपि न विश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ १४ ॥

अविश्वास के योग्य पुरुष का (कभी) विश्वास न करना चाहिए तथा विश्वासी का भी (अधिक) विश्वास न करना चाहिए। विश्वास के कारण उत्पन्न हुआ भय जड़ें भी काट देता है—सर्वथा नाश कर देता है, जिससे फिर उन्नति करने की कोई आशा नहीं रहती ॥ १४ ॥

तन्ममैतदद्य पुनर्जन्मदिनमिव सजातम्।' इति चिन्तयमान मकर आह—'भो मित्र, अर्पय तद्धृदय यथा ते भ्रातृपत्नी भक्षयित्वानशनादुत्तिष्ठति।' अथ विहस्य निर्भर्त्सयन्वानरस्तमाह—'धिग्धिङ्मूर्ख विश्वासघातक, किं कस्यचिद्धृदयद्वय भवति। तदाशु गम्यता जम्बूवृक्षस्याधस्तान्न भूयोऽपि त्वयात्रागन्तव्यम्। उक्त च यत —

आज मेरा यह पुनर्जन्म हुआ है (आज मानो मेरा दूसरा जन्मदिवस है)।' इस प्रकार सोचते हुए (वानर से) मगर ने कहा—'हे मित्र! अपना हृदय लाओ, जिससे तुम्हारी भौजाई अनशन से उठे।' तब हसकर उसे धमकाते हुए वानर ने कहा—'मूर्ख, विश्वासघातिन्! तुझे धिक्कार है, क्या किसी के दो हृदय हुआ करते हैं? जल्दी चले जाओ। इस जामुन के पेड के नीचे फिर कभी मत आना। कहा भी है—

सकृद्दुष्ट च यो मित्र पुन सधातुमिच्छति।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ १५ ॥

जो मनुष्य एक बार अपराध करने पर भी मित्र से फिर मेल करना चाहता है वह उसी तरह मृत्यु को प्राप्त होता है, जिस तरह कि खचरी (गदहे से घोडी की सन्तान) गर्भधारण कर मृत्यु को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥'

तच्छ्रुत्वा मकर सविलक्ष चिन्तितवान्—'अहो, मयातिमूढेन किमस्य स्वचित्ताभिप्रायो निवेदित, तद्यद्यसौ पुनरपि कथचिद्विश्वास गच्छति, तद्भूयोऽपि विश्वासयामि।' आह च—'मित्र, हास्येन मया

तेऽभिप्रायो लब्ध'। तस्या न किंचित्तव हृदयेन प्रयोजनम्। तदा गच्छ प्राघुणिकन्यायेनास्मद्गृहम्। तव भ्रातृपत्नी सोत्कण्ठा वर्तते।' वानर आह—'भो दुष्ट, गम्यताम्। अधुना नाहमागमिष्यामि। उक्त च—

यह सुनकर मगर भौचक्का सा हो सोचने लगा—'मैं महामूर्ख हूँ, मैंने क्यों अपना अभिप्राय इससे कह दिया। अगर यह फिर भी किसी प्रकार विश्वास कर सके तो विश्वास दिलाऊ।' और बोला—'मित्र! मजाक से मैंने तुम्हारा हृदय-भाव लिया था (तुम मुझ पर विश्वास करते हो या नहीं यह जानना चाहता था) उसे तुम्हारे हृदय से कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए अतिथि रूप से हमारे घर चलो तुम्हारी भौजाई तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो रही है।' वानर ने कहा—'अरे दुष्ट! चले जाओ, अब मैं नहीं आऊगा। कहा भी है—

बुभुक्षित कि न करोति पाप क्षीणा जना निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य न गङ्गदत्त. पुनरेति कूपम् ॥१६॥'

भूखा मनुष्य कौन सा पाप नही करता? (भूख मिटाने के लिए सब ही पाप करने को उद्यत हो जाता है), दरिद्र पुरुष निर्दयी होते हैं। हे भद्रे! प्रियदर्शन (सर्पविशेष) से जाकर कहो कि गङ्गदत्त फिर कुए में नही आता ॥ १६ ॥'

मकर आह—'कथमेतत्।' स आह—

मगर ने कहा—'यह कैसे?' उसने (वानर ने) कहा—

कथा २

कस्मिंश्चित्कूपे गङ्गदत्तो नाम मण्डूकराज प्रतिवसति स्म। स कदाचिद्दायादैरुद्वेजितोऽरघट्टघटीमारुह्य निष्क्रान्त'। अथ तेन चिन्तितम्—'यत्कथ तेषा दायादाना मया प्रत्यपकार कर्तव्य। उक्त च—

किसी कुए में गङ्गदत्त नामक मेढकों का राजा रहा करता था। एक बार वह, बन्धुओं से पीडित होकर अरहट के सहारे (कुए से) बाहर निकला। उसने सोचा कि किस प्रकार इन कुटुम्बियों से बदला लू। कहा भी है—

आपदि येनापकृत येन च हसित दशासु विषमासु।
अपकृत्य तयोरुभयो पुनरपि जात नर मन्ये ॥ १७ ॥'

जिस मनुष्य ने, विपत्ति के समय बुराई की हो और जिसने दुरवस्था के समय उपहास (मजाक) किया हो, इन दोनों से जिस मनुष्य ने बदला चुका लिया हो उसे मै दुबारा पैदा हुआ समझता हूँ ॥ १७ ॥'

एवं चिन्तयन्बिले प्रविशन्त कृष्णसर्पमपश्यत्। त दृष्ट्वा भूयोऽप्य-चिन्तयत्—'यदेन तत्र कूपे नीत्वा सकलदायादानामुच्छेद करोमि। उक्त च—

ऐसा विचार करते समय बिल में घुसते हुए एक कृष्णसर्प को देखा। उसे देखकर पुन सोचने लगा—'(अहो!) इसी सर्प को उस कुए में ले जाकर अपने सभी दायादों का नाश क्यों न कर दूं। क्योंकि कहा भी है—

शत्रुभिर्योजयेच्छत्रु बलिना बलवत्तरम्।
स्वकार्याय यतो न स्यात्काचित्पीडात्र तत्क्षये ॥ १८ ॥

अपना कार्य सिद्ध करने के लिये शत्रु को शत्रु के साथ तथा बलवान को उससे भी अधिक बलवान् के साथ भिडा देवे। क्योंकि उन दोनों का नाश होने पर किसी प्रकार का दु ख नहीं होता, प्रत्युत सुख ही होता है ॥ १८ ॥

तथा च—शत्रुमुन्मूलयेत्प्राज्ञस्तीक्ष्ण तीक्ष्णेन शत्रुणा।
व्यथाकर सुखार्थाय कण्टकेनैव कण्टकम् ॥ १९ ॥'

और भी—नीतिज्ञ पुरुष, अपने सुख के लिये पैने काटे से शरीर में लगे हुए काटे के समान क्लेशप्रद बलवान् शत्रु को, बलवान् शत्रु से समूल नष्ट करा दे ॥ १९ ॥'

एव स विभाव्य बिलद्वार गत्वा तमाहूतवान्—'एह्येहि प्रियदर्शन, एहि।' तच्छ्रुत्वा सर्पश्चिन्तयामास—'य एवं मामाह्वयति, स स्वजातीयो न भवति। यतो नैषा सर्पवाणी। अन्येन केनापि सह मम मर्त्यलोके सधान नास्ति। तदत्रैव दुर्गे स्थितस्तावद्वेद्मि कोऽय भविष्यति। उक्त च—

यह विचार कर वह (मेढक) बिल के पास पहुँच उसे (सर्प को) पुकारने लगा—'आओ, आओ प्रियदर्शन! आओ।' यह सुन सर्प सोचने लगा—'मुझे बुलाने वाला यह (व्यक्ति) अपनी जाति का तो है नहीं, क्योंकि यह सर्प की आवाज नहीं है और न इस ससार में किसी दूसरे के साथ मेरा मेल ही है इसलिये इस बिल में ही रहकर देखूँ कि यह कौन है? कहा भी है—

यस्य न ज्ञायते शील न कुल न च सश्रय।
न तेन सगतिं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २० ॥

जिस पुरुष का स्वभाव, कुल और निवासस्थान ज्ञात न हो उसके साथ संगति न करे, ऐसा बृहस्पति ने कहा है ॥ २० ॥

कदाचित्कोऽपि मन्त्रवाद्यौषधचतुरो वा मामाहूय बन्धने क्षिपति। अथवा कश्चित्पुरुषो वैरमाश्रित्य कस्यचिद्भक्षणार्थे मामाह्वयति।' आह च—'भो' को भवान्'। स आह—'अहं गङ्गदत्तो नाम मण्डूकाधिपतिस्त्वत्सकाशे मैत्र्यर्थमभ्यागतः।' तच्छ्रुत्वा सर्प आह—'भो, अश्रद्धेयमेतत् यत्तृणानां वह्निना सह सङ्गमः। उक्तं च—

कदाचित्, कोई मन्त्र पढनेवाला (मन्त्र पढकर सर्प को वश में करनेवाला) अथवा औषध-निपुण पुरुष, मुझ (सर्प) को बुलाकर बन्धन में डाल देता है। अथवा कोई पुरुष शत्रुता के कारण किसी के खाने (काटने) के लिये मुझे बुलाता है।' (यह सोचकर) बोला—'तुम कौन हो ?' उसने कहा—'मैं गङ्गदत्त नाम का मेंढकों का राजा हूँ, और मित्रता के लिये (तुम्हारे साथ मित्रता करने के लिये) आया हूँ।' यह सुन सर्प ने कहा—तिनकों का आग के साथ एकत्रित होना' विश्वास के योग्य नहीं अर्थात् जिस प्रकार आग और तिनकों का मेल नहीं हो सकता उसी प्रकार तुम्हारी और हमारी मित्रता भी असम्भव है। अतः तुम्हारा मेरे पास मित्रता के लिये आना भी विश्वासयोग्य नहीं हो सकता। कहा भी है—

यो यस्य जायते वध्यः स स्वप्नेऽपि कथंचन।
न तत्समीपमभ्येति तत्किमेवं प्रजल्पसि ॥ २१ ॥'

जो जिसका बध्य (मारने योग्य, भक्ष्य) होता है वह स्वप्न में भी किसी प्रकार उसके पास नहीं जाता, फिर क्यों तू ऐसा कहता है ॥ २१ ॥'

गङ्गदत्त आह—'भो, सत्यमेतत्। स्वभाववैरी त्वमस्माकम्। परं परपरिभवात्प्राप्तोऽहं ते सकाशम्। उक्तं च—

गङ्गदत्त ने कहा—'हे सर्प ' यह बात सच है कि तुम हमारे स्वभाव से ही शत्रु हो, परन्तु मैं दूसरों के साथ अपमानित हो तुम्हारे पास आया हूँ ? कहा भी है—

सर्वनाशे च संजाते प्राणानामपि संशये।
अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत्प्राणान्धनानि च ॥ २२ ॥'

धन-जनादि सर्वस्व की तथा प्राणों की रक्षा भी जब सन्दिग्ध हो जावे तब शत्रु को भी प्रणाम करके प्राण और धनादि की रक्षा करनी चाहिये ॥ २२ ॥'

सर्प आह—'कथय कस्मात्ते परिभव.।' स आह—'दायादेभ्य ।'

सोऽप्याह—'क ते आश्रयो वाप्या कूपे तडागे ह्रदे वा। तत्कथय स्वाश्रयम्।' तेनोक्तम्—'पाषाणचयनिबद्ध कूपे ।' सर्प आह—'अहो, अपदा वयम्। तन्नास्ति तत्र मे प्रवेश । प्रविष्टस्य च स्थान नास्ति। यत्र स्थितस्तव दायादान्व्यापादयामि। तद् गम्यताम्। उक्त च—

सर्प ने कहा—'कहो, तुम्हारा अपमान करने वाला कौन है?' उसने कहा—'कुटुम्बी लोग।' वह बोला—'तुम्हारा निवासस्थान कहाँ है? बावली में, कुए में, तालाब अथवा महासरोवर (ह्रद=अगाधजल तालाब, कुण्डा) में? अपना स्थान बताओ।' उसने कहा—'पत्थरों के समूह से बने हुए कुए में।' सर्प ने कहा—'अहो, हम चरण हीन हैं, इसलिए मैं उसमें प्रविष्ट नहीं हो सकता और यदि किसी प्रकार प्रविष्ट हो भी जाऊ तो वहाँ (मेरे लिए उपयुक्त) स्थान नहीं है जहा बैठकर तुम्हारे कुटुम्बियों को मार सकूं? इसलिये चले जाओ। कहा भी है—

यच्छक्य ग्रसितु यस्य ग्रस्त परिणमेच्च यत्।
हित च परिणामे यत्तदाद्य भूतिमिच्छता' ॥ २३ ॥

जो भोज्य वस्तु खाई जा सके, खाने पर जो अच्छी तरह पच सके और जो पचने पर लाभकारी हो, अपनी भलाई चाहनेवाले पुरुष को चाहिए कि वही वस्तु खावे ॥ २३ ॥'

गङ्गदत्त आह—'भो, समागच्छ त्वम्। अह सुखोपायेन तत्र तव प्रवेश कारयिष्यामि। तथा तस्य मध्ये जलोपान्ते रम्यतर कोटरमस्ति। तत्र स्थितस्त्व लीलया दायादान्व्यापादयिष्यसि।' तच् श्रुत्वा सर्पो व्यचिन्तयत्—'अह तावत्परिणतवया, कदाचित्कथञ्चिन्मूषकमेक प्राप्नोमि। तत्सुखावहो जीवनोपायोऽयमनेन कुलाङ्गारेण मे दर्शित। तद्गत्वा तान्मण्डूकान्भक्षयामि' इति। अथवा साध्विदमुच्यते—

गङ्गदत्त ने कहा—'तुम आओ, मैं बडे आसानी से तुमको वहा प्रविष्ट करा दूगा और कुऐ के अन्दर जल के पास एक सुदर बिल है, उसमें रहकर तुम आसानी से मेरे कुटुम्बियों को मार सकोगे।' यह सुन सर्प सोचने लगा—'मै वृद्ध हो गया हूँ, कभी कभी बडी कठिनता से एकाध चूहा पा जाता हूँ, यह अच्छा ही हुआ कि इस कुलाङ्गार (कुल-कलङ्क) ने मुझे यह सरल जीविका का ढङ्ग बता

दिया, इसलिये जाकर उन मेढकों को खाऊं। अथवा यह ठीक ही कहा है—

योहि प्राणपरिक्षीणः सहायपरिवर्जितः।
स हि सर्वसुखोपायां वृत्तिमारचयेद् बुधः'॥ २४॥

जो मनुष्य, शक्तिहीन हो चुका हो और जिसके सहायक भी न हों, यदि वह समझदार हो तो सब प्रकार के सुख देने वाली जीविका की तलाश करे॥ २४॥'

एवं विचिन्त्य तमाह—'भो गङ्गदत्त, यद्येवं तदग्रे भव। येन तत्र गच्छावः।' गङ्गदत्त आह—'भो प्रियदर्शन, अहं त्वां सुखोपायेन तत्र नेष्यामि, स्थानं च दर्शयिष्यामि। परं त्वयास्मत्परिजनो रक्षणीयः। केवलं यानहं तव दर्शयिष्यामि त एव भक्षणीयाः' इति। सर्प आह—'साम्प्रतं त्वं मे मित्रं जातम्। तन्न भेतव्यम्। तव वचनेन भक्षणीयास्ते दायादाः।' एवमुक्त्वा बिलान्निष्क्रम्य तमालिङ्गय च तेनैव सह प्रस्थितः। अथ कूपमासाद्यारघट्टघटिकामार्गेण सर्पस्तेनात्मना स्वालयं नीतः। ततश्च गङ्गदत्तेन कृष्णसर्पं कोटरे धृत्वा दर्शितास्ते दायादाः। ते च तेन शनैः शनैर्भक्षिताः। अथ मण्डूकाभावे सर्पेणाभिहितम्—'भद्र, निःशेषितास्ते रिपवः। यत्प्रयच्छान्यन्मे किञ्चिद्भोजनम्। यतोऽहं त्वयात्रानीतः।' गङ्गदत्त आह—'भद्र, कृतं त्वया मित्रकृत्यम्। तत्साम्प्रतमनेनैव घटिकायन्त्रमार्गेण गम्यताम्' इति। सर्प आह—'भो गङ्गदत्त! न सम्यगभिहितं त्वया। कथमहं तत्र गच्छामि। मदीयबिलदुर्गमन्येन रुद्धं भविष्यति। तस्मादत्रस्थस्य मे मण्डूकमेकैकं स्ववर्गीयं प्रयच्छ। नो चेत्सर्वानपि भक्षयिष्यामि' इति। तच्छ्रुत्वा गङ्गदत्तो व्याकुलमना व्यचिन्तयत्—'अहो, किमेतन्मया कृतं सर्पमानयता। तद्यदि निषेधयिष्यामि तत्सर्वानपि भक्षयिष्यति। अथवा युक्तमुच्यते—

सर्प ने यह (पूर्वोक्त) सोचकर उससे (गङ्गदत्त से) कहा—'हे गङ्गदत्त! यह बात है तो आगे होओ जिससे वहां (तुम्हारे स्थान पर) चलें।' गङ्गदत्त ने कहा—'हे प्रियदर्शन! मैं, तुम्हें वहां सरलता से ले चलूंगा और स्थान (रहने योग्य अनुकूल स्थान) भी दिखा दूंगा परन्तु तुम, हमारे कुटुम्बियों को बचाना—न खाना। जिनको मैं दिखाऊं केवल उन्हें ही खाना।' सर्प बोला—'अब तुम मेरे मित्र हो गये हो, इसलिये डरो मत। तुम्हारे कथनानुसार ही मैं तुम्हारे कुटुम्बियों को खाऊंगा (जिन्हें तुम बताओगे उन्हें ही खाऊंगा)।' यह कहकर

और बिल से निकल उसको आलिङ्गन किया और उसी के साथ चल पडा। अनन्तर कुएँ के पास पहुँचकर, ढेंकुली के मार्ग से वह सर्प को अपने स्थान में ले गया। तब गङ्गदत्त ने उस कृष्णसर्प को घोसले में ठहरा कर शत्रु-दायादों को दिखा दिया। और उसने धीरे-धीरे उन सबको खा लिया। अनन्तर मेढकों के (गङ्गदत्त के दायादों के) समाप्त हो जाने पर सर्प ने कहा—'भद्र! तुम्हारे सब शत्रु समाप्त कर दिये, अब मुझे और कोई भोजन दो, क्योंकि तुम ही मुझे यहा लाये हो।' गङ्गदत्त ने कहा—'भद्र! तुमने मित्र का कार्य पूरा कर दिया (जो एक मित्र को करना चाहिये) इसलिए, अब इसी घटिका-यन्त्र मार्ग से चले जाओ।' सर्प ने कहा—'गङ्गदत्त! तुमने यह बात ठीक नहीं कही। मैं वहा कैसे जाऊं? मेरा बिलरूपी दुर्ग दूसरे ने घेर लिया होगा। इसलिये यही रहते हुए मुझे अपने वर्ग का एक-एक मण्डूक (प्रतिदिन) दिया करो, नही तो मै सबको ही खा जाऊंगा।' यह सुनकर गङ्गदत्त घबडाकर सोचने लगा—'सर्प को लाकर मैंने यह क्या किया? (बहुत बुरा किया) अब यदि मैं निषेध करता हूँ तो सबको खा जायगा। अथवा ठीक ही कहा है—

योऽमित्र कुरुते मित्र वीर्याभ्यधिकमात्मन।
स करोति न सन्देह स्वय हि विषभक्षणम्॥ २५॥

जो मनुष्य अपने से अधिक बलशाली शत्रु को मित्र बनाता है तो इसमें जरा भी सन्देह नही कि वह स्वयं ही विष खाता है॥ २५॥

तत्प्रयच्छाम्यस्यैकैक प्रतिदिनं सुहृदम्। उक्त च—

इसलिये इसे एक एक कुटुम्बी (मेढक) प्रतिदिन दिया करूं। कहा भी है—

सर्वस्वहरणे युक्त शत्रु बुद्धियुता नरा।
तोषयन्त्यल्पदानेन वाडव सागरो यथा॥ २६॥

जिस तरह समुद्र बडवानल को थोडा सा जल देकर अपनी रक्षा करता है उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष सर्वस्व का हरण करने में तत्पर शत्रु को थोडा बहुत देकर भी प्रसन्न कर लेते हैं॥ २६॥

तथा च—

यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानो बलीयसा यच्छति नैव साम्ना।
प्रयच्छते नैव च दर्श्यमान खारीं स चूर्णस्य पुनर्ददाति॥२७॥

और भी—जो दुर्वल मनुष्य बलवान पुरुष से शान्तिपूर्वक मागने पर थोडी सी भी वस्तु नहीं देता और दिखलाई देनेवाली छोटी भी वस्तु उसे नही देता वही फिर (जबर्दस्ती छीनने पर) खारी (१० सेर) परिमित आटा दे देता है ॥२७॥

तथा च—सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः।
अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुस्तर ॥ २८ ॥

और भी—बुद्धिमान् पुरुष सर्वनाश उपस्थित होने पर आधा छोड देता है और आधे से अपना काम करता है क्योंकि सर्व-नाश असह्य होता है ॥ २८ ॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नर ।
एतदेव हि पाण्डित्य यत्स्वल्पाद् भूरिरक्षणम् ॥ २९ ॥'

बुद्धिमान् पुरुष थोडे के लिये बहुत का नाश न करे । क्योंकि थोडा देकर अधिक की रक्षा करना ही चातुर्य है ॥ २९ ॥'

एव निश्चित्य नित्यमेकैकमादिशति । सोऽपि त भक्षयित्वा तस्य परोक्षेऽन्यानपि भक्षयति । अथवा साध्विदमुच्यते—

ऐसा विचार कर गगदत्त प्रतिदिन १–१ मेढक देने लगा । वह सर्प उसे खाकर परोक्ष में अन्यान्य मेढकों को भी खा जाता था । अथवा ठीक ही कहा है—

'यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्र तत्रोपविश्यते ।
एव चलितवित्तस्तु वित्तशेष न रक्षति ॥ ३० ॥'

जिस प्रकार मलिन वस्त्रधारी पुरुष जहाँ-तहाँ (धूलि आदि में भी) बैठ जाता है इसी प्रकार किसी सदाचार से भ्रष्ट हुआ पुरुष अन्य आचारों की भी परवा नहीं करता सब प्रकार के दुराचारों में प्रवृत्त हो जाता है ॥ ३० ॥'

अथान्यदिने तेनापरान्मण्डूकान्भक्षयित्वा गङ्गदत्तसुतो यमुनादत्तो भक्षित । त भक्षित मत्वा गङ्गदत्तस्तारस्वरेण धिग्धिक्प्रलापपर कथचिदपि न विरराम । तत स्वपत्न्याभिहित —

जब दूसरे दिन वह सर्प अन्य मेढकों को खाकर गंगदत्त के पुत्र यमुनादत्त को भी खा गया । तब उसको खाया हुआ समझ कर गगदत्त जोर-जोर से अपने को धिक्कारता हुआ कुछ क्षण के लिये भी शान्त नहीं हुआ तब उसकी पत्नी ने कहा—

'किं क्रन्दसि दुराक्रन्द स्वपक्षक्षयकारक ।
स्वपक्षस्य क्षये जाते को नस्त्राता भविष्यति' ॥ ३१ ॥

हे व्यर्थ रोदन करने वाले और अपने वर्ग का नाश करने वाले (मूर्ख) तू क्यो रोता है ? (अब तेरे रोने से क्या लाभ ?) अपने पक्ष का नाश होने पर हमारी रक्षा कौन करेगा ? अर्थात् कोई नही अत विनाश अवश्यम्भावी है ॥ ३१ ॥

तदद्यापि विचिन्त्यतामात्मना निष्क्रमणम्, अस्य वधोपाय च।' अथ गच्छता कालेन सकलमपि कवलित मण्डूककुलम्। केवलमेको गङ्गदत्तस्तिष्ठति। तत प्रियदर्शनेन भणितम्—'भो गङ्गदत्त, बुभुक्षितोऽहम्। नि शेषिता सर्वे मण्डूका । तद्दीयता मे किंचिद्भोजन यतोऽह त्वयात्रानीत ।' स आह—'भो मित्र, न त्वयात्र विषये मयावस्थितेन कापि चिन्ता कार्या। तद्यदि मा प्रेषयति ततोऽन्यकूपस्थानपि मण्डूकान्विश्वास्यात्रानयामि।' स आह—'मम तावत्त्वमभक्ष्यो भ्रातृस्थाने। तद्यद्येव करोषि तत्साप्रत पितृस्थाने भवसि। तदेव क्रियताम्' इति। सोऽपि तदाकर्ण्यारघट्टघटिकामाश्रित्य विविधदेवतोपकल्पितपूजोपयाचितस्तत्कूपाद्विनिष्क्रान्त । प्रियदर्शनोऽपि तदाकाङ्क्षया तत्रस्थ प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति। अथ चिरादनागते गङ्गदत्ते प्रियदर्शनोऽन्यकोटरनिवासिनी गोधामुवाच—भद्रे, क्रियता स्तोक साहाय्यम्। यतिश्चरपरिचितस्ते गङ्गदत्त । तद् गत्वा तत्सकाश कुत्रचिज्जलाशयेऽन्विष्य मम सदेश कथय। येनागम्यतामेकाकिनापि भवता द्रुततर यद्यन्ये मण्डूका नागच्छन्ति। अह त्वया विना नात्र वस्तु शक्नोमि। तथा यद्यह तव विरुद्धमाचरामि तत्सुकृतमन्तरे मया विधृतम्।' गोधापि तद्वचनाद् गङ्गदत्त द्रुततरमन्विष्याह—'भद्र गङ्गदत्त, स तव सुहृत्प्रियदर्शनस्तव मार्ग समीक्षमाणस्तिष्ठति। तच्छीघ्रमागम्यताम्' इति। अपर च तेन तव विरूपकरणे सुकृतमन्तरे धृतम्। तन्नि शङ्केन मनसा समागम्यताम्। तदाकर्ण्य गङ्गदत्त आह—

इसलिये अब भी अपने (यहाँ से) निकलने और इसके मारने का उपाय सोचो। कुछ समय मे (सर्प ने) सब मेढक खा लिये केवल गङ्गदत्त अकेला बच रहा। तब प्रियदर्शन (सर्प) ने कहा—हे गङ्गदत्त। मैं भूखा हूँ, सब मण्डूक समाप्त हो चुके हैं। इसलिये मुझे कुछ भोजन दो क्योकि तुम ही मुझे यहाँ लाये हो। उसने कहा—मित्र ! मेरे रहते हुए इस विषय मे तुम्हे कोई चिन्ता न करनी चाहिए। यदि तुम मुझे भेजो तो दूसरे कुओ मे रहने वाले मेढको को विश्वास दिलाकर (बहकाकर) यहाँ ले आऊँ। उसने कहा—तुम

मेरे भाई-तुल्य हो, इसलिए तुम्हे मैं नही खा सकता और अगर ऐसा करो तो फिर पितृतुल्य हो जाओ इसलिये ऐसा करो। वह भी अरहट के सहारे, अनेक देवी-देवताओ की पूजा और भेट की मनौती मनाता हुआ उस कुएँ से निकला। प्रियदर्शन भी, अन्य कुओ मे रहने वाले मण्डूको को खाने की इच्छा से वही रहकर उसकी (गङ्गदत्त की) प्रतीक्षा करने लगा। अनन्तर, बहुत काल बाद भी जब गङ्गदत्त न लौटा तब उसने दूसरे बिल मे रहनेवाली गोह से कहा—हे भद्रे ! थोडी सी सहायता करो। गङ्गदत्त से तुम्हारा चिरकाल का परिचय है इसलिये किसी जलाशय (तालाब आदि) मे उसे तलाश करके मेरा सदेश उससे कहो—यदि अन्य मेढक नही आते तो तुम अकेले ही जल्दी चले आओ। मैं तुम्हारे बिना यहाँ नही रह सकता, और यदि तुम्हारे विरुद्ध मैं कोई कार्य करूँ तो मेरा पुण्य नष्ट हो जाय (अपने दोनो के बीच मैं अपना पुण्य रखता हूँ, यह एक प्रकार की शपथ है)। गोह भी उसके (प्रियदर्शन) कहने से गङ्गदत्त को शीघ्र ही तलाश करके उससे बोली—'भद्र गङ्गदत्त ! वह तुम्हारा मित्र प्रियदर्शन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है इसलिए जल्दी आओ। और तुम्हारे विरुद्धाचरण न करने के लिए उसने अपना धर्म बीच मे रख दिया है, अत नि शक मन से आओ।' यह सुनकर गङ्गदत्त ने कहा—

बुभुक्षित किं न करोति पाप क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।
आख्याहि भद्रे प्रियदर्शनस्य न गङ्गदत्त पुनरेति कूपम् ॥ ३२ ॥

'भूखा क्या पाप नही करता' इत्यादि। (अनुवाद कथारभ मे देखिये)

एवमुक्त्वा स ता विसर्जयामास।

ऐसा कहकर उसने उसको बिदा कर दिया।

तद्भो दुष्टजलचर, अहमपि गङ्गदत्त इव त्वद्गृहे न कथचिदपि यास्यामि। तच्छ्रुत्वा मकर आह—'भो मित्र, नैतद्युज्यते। सर्वथैव मे कृतघ्नतादोषमपनय मद्गृहागमनेन। अथवात्राहमनशनात्प्राणत्याग तवोपरि करिष्यामि।' वानर आह—'मूढ, किमह लम्बकर्णो मूर्ख। दृष्ट्वापायोऽपि स्वयमेव तत्र गत्वात्मान व्यापादयामि।

हे दुष्ट जलचर ! गङ्गदत्त के समान मैं भी किसी प्रकार तुम्हारे घर नही जाऊँगा। यह सुन मकर ने कहा—मित्र ! यह बात ठीक ननो है, मेरे घर चलकर मेरे ऊपर से कृतघ्नता का लाञ्छन मिटाओ (यहाँ मकर का आशय यह है—मेरी बातो से तुमने मुझे कृतघ्न समझ लिया है, मैं उसे दूर करना

चाहता हूँ, परन्तु वह तभी सम्भव है जब तुम मेरे साथ चलो और कुशल-पूर्वक लौट आओ, मकर फिर बन्दर को अपने कब्जे मे लाना चाहता है) अन्यथा मैं यही तुम्हारे ऊपर निराहार रहकर प्राण त्याग दूँगा। वानर ने कहा—मूर्ख! क्या मैं लम्बकर्ण गदहा हूँ जो अपना नाश (नाशसाधन) देखकर भी फिर वही जाकर मरूँ।

'आगतश्च गतश्चैव दृष्ट्वा सिंहपराक्रमम् ।
अकर्णहृदयो मूर्खो यो गत्वा पुनरागत' ॥ ३३ ॥

(सिंह के पास) आया और सिंह का पराक्रम देखकर चला भी गया, परन्तु चूँकि वह मूर्ख कान और हृदय से रहित था (न तो सुनने के लिये कान थे और न विचारने के लिए दिमाग ही था) इसलिए वह मारा गया ॥३३॥

मकर आह—'भद्र, स को लम्बकर्णः । कथं दृष्टापायोऽपि मृतः ।' तन्मे निवेद्यताम् ।' वानर आह

मकर ने कहा—'भद्र ! वह लम्बकर्ण कौन था ? नाश देखकर भी कैसे मरा ? यह सब मुझसे कहो।' वानर ने कहा—

कथा

कस्मिश्चिद्वनोद्देशे करालकेसरो नाम सिंह प्रतिवसति स्म। तस्य च धूसरको नाम शृगाल सदैवानुयायी परिचारकोऽस्ति। अथ कदाचित्तस्य हस्तिना सह युध्यमानस्य शरीरे गुरुतरा प्रहारा संजाता, ये पदमेकमपि चलितु न शक्नोति। तस्याचलनाच्च धूसरक क्षुत्क्षामकण्ठो दौर्बल्य गत। अन्यस्मिन्नहनि तमवोचत्—स्वामिन्, बुभुक्षया पीडितोऽहम्। पदात्पदमपि चलितु न शक्नोमि। तत्कथ ते शुश्रूषां करोमि।' सिंह आह—'भो, गच्छ। अन्वेषय किंचित्सत्त्वम्, येनेमामवस्था गतोऽपि व्यापादयामि।' तदाकर्ण्य शृगालोऽन्वेषयन्कञ्चित्समीपवर्तिन ग्राममासादितवान्। तत्र लम्बकर्णो नाम गर्दभस्तडागोपान्ते प्रविरलदूर्वाङ्कुरान्कृच्छ्रादास्वादयन्दृष्ट। ततश्च समीपवर्तिना भूत्वा तेनाभिहित—'माम, नमस्कारोऽयं मदीय सम्भाव्यताम्। चिराद् दृष्टोऽसि। तत्कथय किमेव दुर्बलता गत।' स आह—'भो भगिनीपुत्र, किं कथयामि। रजकोऽतिनिर्दयोऽतिभारेण मां पीडयति। घासमुष्टिमपि न प्रयच्छति। केवलं दूर्वाङ्कुरान्धूलिमिश्रितान्भक्षयामि। तत्कुतो मे

शरीरे पुष्टि ।' शृगाल आह—'माम, यद्येव तदस्ति मरकतसदृशशष्पप्रायो नदीसनाथो रमणीयतर प्रदेश । तत्रागत्य मया सहसुभाषितगोष्ठीसुखमनुभवस्तिष्ठ ।' लम्बकर्ण आह—भो भगिनीसुत, युक्तमुक्त भवता । पर वय ग्राम्या पशवोऽप्यचारण वध्या । तत्कि तेन भव्यप्रदेशेन ।' शृगाल आह—माम, मैव वद । मद्भुजपञ्जरपरिरक्षित. स देश । तत्रास्ति न कश्चिदपरस्य तत्र प्रवेश । परमनेनैव दोषेण रजककदर्थितास्तत्र तिस्रो रासभ्योऽनाथा. सान्त । ताश्च पुष्टिमापन्ना यौवनोत्कटा इद मामूचु.—'यदि त्वमस्माक सत्यो म तुलस्तदा किंचिद्ग्रामान्तर गत्वास्मद्योग्य कश्चित्पतिमानय । तदर्थे त्वामह तत्र नयामि ।' अथ शृगालवचनानि श्रुत्वा कामपीडिताङ्गस्तमवोचत्—'भद्र' यद्येव तदग्रे भव, येनागच्छामि ।' अथवा साध्विदमुच्यते—

कथा इस प्रकार है—किसी वन मे (वनस्थान मे) करालकेशर नाम का सिंह रहता था । हमेशा साथ रहनेवाला धूसरक नाम का एक शृगाल उसका सेवक था । एक समय हाथी के साथ युद्ध करते हुए उस (सिंह) के शरीर मे बडे-बडे घाव हो गये, जिनके कारण वह एक पग भी नही चल सकता था, उसके न चलने से धूसरक भूख से पीडित हो कृश हो गया । एक दिन उसने सिंह से कहा—स्वामिन् ! मैं भूख से पीडित हूँ, एक पग भी नही चल सकता, आपकी सेवा कैसे करूँ । सिंह ने कहा—अच्छा जाओ, कोई पशु तलाश करो, जिससे इस दशा मे भी उसे मारूँ । यह सुनकर शृगाल तलाश करता हुआ पास के किसी ग्राम मे पहुँचा । वहाँ उसन देखा कि तालाब के किनारे पर लम्बकर्ण नाम का गदहा छीदी-छादी दूब के अकुर बडी कठिनता से खा रहा है । तब उसके पास जाकर उसने कहा—मामा ! मेरा यह नमस्कार ग्रहण कीजिये, चिरकाल के बाद दिखाई पडे हो, कहो, इतने दुर्बल क्यो हो ? उसने कहा—हे भानजे ! क्या कहूँ, धोबी बडा निर्दयी है वह मुझे बोझा (लादकर) बडा कष्ट देता है परन्तु (खाने को) मुट्ठी भर घास भी नही देता, केवल धूल मे मिले हुए दूब के अङ्कुर खाता हूँ । फिर मेरे शरीर मे शक्ति कहाँ से आये । शृगाल ने कहा—मामा ! अगर यह बात है तो, मरकत मणि के समान हरी-हरी घास से भरा हुआ नदी के पास एक सुन्दर स्थान है, वहाँ आकर मेरे साथ उत्तम-उत्तम विषयो पर वार्तालाप का सुख भोगते हुए रहो । लम्बकर्ण ने कहा—हे भानजे ! आपने ठीक कहा, परन्तु हम ग्राम के रहनेवाले

पशु, जङ्गली जानवरो के शिकार हुआ करते हैं इसलिए उस सुन्दर स्थान से क्या लाभ ! शृगाल बोला—मामा ! ऐसा मत कहो, (यह बात नहीं है) वह स्थान मेरी भुजा रूपी पींजरे से सुरक्षित है, वहाँ किसी भी शत्रु का प्रवेश नही हो सकता । लेकिन इसी दोष के कारण (पर्याप्त भोजन न मिलने से) धोबी से सताई हुई तीन गर्दभियाँ वहाँ हैं, जिनका कोई स्वामी (पति) नही है । अत्यन्त पुष्ट हुई उन्होने यौवनोन्मत्त हो मुझसे कहा है—यदि तुम, सचमुच ही हमारे मामा हो तो किसी ग्राम मे जाकर हमारे योग्य पति लाओ, उन्ही के लिए मैं तुम्हें वहाँ ले जा रहा हूँ । तब शृगाल के वचन सुनकर कामातुर होकर उसने शृगाल से कहा—भद्र ! यदि यह बात है तो आगे होओ, जिससे मैं चलूँ । यह ठीक ही कहा है—

नामृत न विष किंचिदेका मुक्त्वा नितम्बिनीम् ।
यस्या सङ्गे जीव्येत म्रियते च वियोगत ॥ ३४ ॥

एक सुन्दरी को छोडकर दूसरी कोई अमृत वा विष नाम की वस्तु नहीं है, जिसके ससर्ग से मनुष्य जीता और जिसके वियोग से मर जाता है ॥ ३४ ॥

तथा च—यासा नाम्नापि कामः स्यात्सगम दर्शन विना ।
तासा दृक्सगम प्राप्य यन्न द्रवति कौतकम् ॥ ३५ ॥

जिन प्रमदाओ के ससर्ग और दर्शन के बिना भी केवल उनके नाम मात्र से ही काम (भोगेच्छा) उत्पन्न होता है, उनकी दृष्टि मे पडकर मनुष्य न पिघले (कामपीडित न हो) यही आश्चर्य की बात है । सभी लोग उनके अधीन हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

तथानुष्ठिते शृगालेन सह सिंहान्तिकमागत । सिंहोऽपि व्यथाकुलितस्त दृष्ट्वा यावत्समुत्तिष्ठति, तावद्रासभ पलायितुमारब्धवान् । अथ तस्य पलायमानस्य सिंहेन तल हारो दत्त । स च मन्दभाग्यस्य व्यवसाय इव व्यर्थता गत । अत्रान्तरे शृगाल कोपाविष्टस्तमुवाच—'भो, किमेवविध प्रहारस्ते । यद् गर्दभोऽपि तव पुरतो बलाद् गच्छति । तत्कथ गजेन सह युद्ध करिष्यसि ? तद् दृष्ट ते बलम् ।' अथ सविलक्षस्मित सिंह आह—'भो, किमह करोमि । मया न क्रम. सज्जीकृत आसीत् । अन्यथा गजोऽपि मत्क्रमाक्रान्तो न गच्छति ।' शृगाल आह—'अद्याप्येकवार तवान्तिके तमानेष्यामि । पर त्वया सज्जीकृतक्रमेण स्थातव्यम् ।' सिंह आह—'भद्र यो मा प्रत्यक्ष दृष्ट्वा गत स

पुन. कथमत्रागमिष्यति। तदन्यत्किमपि सत्त्वमन्विष्यताम्।' श्रृगाल आह—'किं तवानेन व्यापारेण। त्वं केवलं सज्जितक्रमस्तिष्ठ।' तथानुष्ठिते शृगालोऽपि यावद्रासभमार्गेण गच्छति, तावत्तत्रैव स्थाने चरन्दृष्ट। अथ शृगाल दृष्ट्वा रासभ प्राह—'भो भगिनीसुत, शोभनस्थाने त्वयाहं नीत। द्राङ्मृत्युवश गत। तत्कथय किं तत्सत्त्वम्, यस्यातिरौद्रवज्रसदृशकरप्रहारादहं मुक्त। तच्छ्रुत्वा प्रहसन्श्रृगाल आह—'भद्र, रासभी त्वामायान्तं दृष्ट्वा सानुरागमालिङ्गितु समुत्थिता। त्वं च कातरत्वान्नष्ट। सा पुनर्न शक्ता त्वां विना स्थातुम्। तया तु नश्यतस्तेऽवलम्बनार्थं हस्त क्षिप्त। नान्यकारणेन। तदागच्छ। सा त्वत्कृते प्रायोपवेशनोपविष्टा तिष्ठति। एतद्वदति— यल्लम्बकर्णो यदि मे भर्ता न भवति तदहमग्नौ जलं वा प्रविशामि। पुनस्तस्य वियोग सोढु न शक्नोमि' इति। तत्प्रसाद कृत्वा तत्रागम्यताम्। नो चेत्तव स्त्रीहत्या भविष्यति। अपर भगवान्काम कोप तवोपरि करिष्यति। उक्त च—

वैसा करने पर वह, शृगाल के साथ सिंह के पास पहुँचा। व्यथा से पीडित सिंह, उसे देखकर ज्योंही उठने की कोशिश करने लगा त्योंही गदहा भागा। भागते हुए गदहे के ऊपर सिंह ने पञ्जा मारा। परन्तु वह दैवहीन पुरुष के पुरुषार्थ के समान निष्फल गया। तब शृगाल क्रुद्ध होकर उससे कहने लगा—तेरे पञ्जे की चोट कैसी है? जो गदहा भी तेरे सामने से जबर्दस्ती निकल जाता है, हाथी के साथ तू कैसे युद्ध करेगा? तेरी शक्ति देख ली। तब सिंह ने कुछ लज्जित हो कहा—मै क्या करूँ, मैं आक्रमण करने के लिए तैयार न था, अन्यथा मेरे आक्रमण से हाथी भी नही निकल सकता। शृगाल ने कहा—अब भी एक बार मैं उसे तेरे पास लाऊँगा, परन्तु तू आक्रमण के लिए तैयार होकर बैठना। सिंह बोला भद्र! जो मुझे प्रत्यक्ष देखकर गया है, वह फिर यहाँ कैसे आयेगा। इसलिए और कोई जानवर तलाश करो। शृगाल ने कहा—'तुम्हें इस बात से क्या मतलब। तुम केवल तैयार रहो।' तब शृगाल, गदहे के पीछे पीछे (गदहे के रास्ते से) गया और उसने उसी स्थान पर (तालाब के किनारे) उसे चरते हुए देखा। शृगाल को देखकर गदहा कहने लगा—वाह भानजे! अच्छी जगह तुम मुझे ले गये, मैं मृत्यु के मुँह मे पड ही गया था, कहो वह कौन जानवर है, जिसके अतिभयङ्कर वज्रतुल्य चपेटाघात से बचकर आया हूँ। यह सुनकर शृगाल ने हँसते हुए कहा—भद्र! तुझे

आता हुआ देखकर, कामपीडित गर्दभी तेरा आलिङ्गन करने के लिये उठी थी। तू तो कायर होने से भाग आया, परन्तु वह तेरे बिना नही रह सकती। उसने भागते हुए तुझे पकडने के लिए हाथ चलाया था, किसी अन्य कारण से नही, आओ चलो, वह तेरे लिए अनशन-व्रत किये बैठी है। वह कहती है यदि लम्बकर्ण मेरा पति न होगा तो मैं, अग्नि या जल मे प्रवेश करूँगी अथवा विप खा लूँगी परन्तु उसका वियोग नही सह सकती। इसलिये कृपाकर वहाँ चलो, नही तो तुम्हे स्त्रीहत्या का पाप लगेगा और भगवान् कामदेव भी तुम्हारे ऊपर क्रोध करेंगे। कहा भी है—

'स्त्रीमुद्रा मकरध्वजस्य जयिनी सर्वार्थसम्पत्करी
ते मूढा प्रविहाय यान्ति कुधियो मिथ्याफलान्वेषिण ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतर नग्नीकृता मुण्डिता
केचिद्रक्तपटीकृताश्च जटिला कापालिकाश्चापरे' ॥ ३६ ॥

जो मूर्ख अविवेकी पुरुष (तीनो लोक की) विजेत्री, सब प्रकार के सुख और ऐश्वर्य देनेवाली, कामदेव की स्त्रीरूपी मुद्रा (ध्वजा) को छोडकर अन्य नीरस स्वर्गादि की तलाश मे घूमा करते हैं, भगवान् कामदेव ने उन पर निर्दयता से प्रहार करके उनमे से किन्ही को नगे और मुण्डे सिरवाले बना दिया, किन्ही को लाल वस्त्रधारी बनाया, किन्ही को जटाधारी और अन्यो को कपालधारी बना दिया है ॥ ३६ ॥

अथासौ तद्वचन श्रद्धेयतया श्रुत्वा भूयोऽपि तेन सह प्रस्थित । अथवा साध्विदमुच्यते—

तब वह (गदहा) उसकी बात श्रद्धापूर्वक सुनकर फिर उसके साथ चल दिया। अथवा यह ठीक ही कहा है—

जानन्नपि नरो दैवात्प्रकरोति विगर्हितम् ।
कर्म किं कस्यचिल्लोके गर्हित रोचते कथम् ॥ ३७ ॥

मनुष्य सब कुछ जानता हुआ भी जो निन्दित कर्म करने मे प्रवृत्त होता है उसका एकमात्र कारण दैव (होनहार) ही है। (ऐसा न हो तो) ससार मे क्या कोई भी निन्दित कर्म किसी को अच्छा लगे ? कभी नही ॥ ३७ ॥

अत्रान्तरे सज्जितक्रमेण सिंहेन स लम्बकर्णो व्यापादित । ततस्त हत्वा शृगाल रक्षक निरूप्य स्वय स्नानार्थं नद्या गत । शृगालेनापि लौल्योत्सुक्यात्तस्य कर्णहृदय भक्षितम्। अत्रान्तरे सिंहो यावत्स्नात्वा

कृतदेवार्चनं प्रतर्पितपितृगणः समायाति तावत्कर्णहृदयरहितो रासभस्तिष्ठति। तं दृष्ट्वा कोपपरीतात्मा सिंहः शृगालमाह—'पाप, किमिदमनुचितं कर्म समाचरितम्। यत्कर्णहृदयभक्षणेनायमुच्छिष्टतां नीतः।' शृगालः सविनयमाह—'स्वामिन्! मा मैवं वद। यत्कर्णहृदयरहितोऽयं रासभ आसीत्, तेनेहागत्य त्वामवलोक्य भूयोऽप्यागतः।' अथ तद्वचनं श्रद्धेयं मत्वा सिंहस्तेनैव सह संविभज्य निःशङ्कितमनास्तं भक्षितवान्। अतोऽहं ब्रवीमि—'आगतश्च गतश्चैव' इति (दे० पृ० १९)। तन्मूर्ख, कपटं कृतं त्वया। परं युधिष्ठिरेणेव सत्यवचनेन विनाशितम्। अथवा साध्विदमुच्यते—

तब, आक्रमण के लिए पूर्व से ही उद्यत सिंह ने उस लबकर्ण को मार डाला। उसे मार कर शृगाल को रक्षक नियुक्त कर स्वयं स्नान करने के लिये नदी मे गया। इधर, शृगाल ने चपलता के कारण लालसा (इच्छा) वश उसके कान और हृदय खा लिये। जब सिंह, स्नान करके देवपूजा से निवृत्त हो पितरों को तृप्त करके (लौटकर) आया तब तक गदहा कर्ण और हृदय से खाली हो चुका था। यह देखकर सिंह ने क्रुद्ध हो शृगाल से कहा—अरे पापी! तूने यह क्या अनुचित काम किया कि इसके कान और हृदय खाकर इसे उच्छिष्ट (जूठा) कर दिया। शृगाल ने नम्रता से कहा—प्रभो! यह न कहिए, क्योंकि यह कान और हृदय से रहित ही था इसीलिये तो यहाँ आकर तुम्हें देख जाने पर भी फिर यहाँ आ गया (अगर इसके कान होते तो सिंह की गर्जना सुनकर भी यहाँ कैसे आता ? और यदि हृदय होता तो एकवार तल-प्रहार का अनुभव करके भी उसे क्यों भूल जाता)। उसकी बात का विश्वास करके, सिंह ने उसके साथ बाँट कर निःशङ्कचित्त हो उसे खाया। इसलिए मैं कहता हूँ 'आगश्च गतश्चैव' इत्यादि (दे० पृ० १९)। मूर्ख! तूने कपट तो किया था परन्तु युधिष्ठिर के समान सच बोल कर उसे नष्ट कर दिया। अथवा ठीक ही कहा है—

स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी सत्यं ब्रूते सुमन्दधीः।
स स्वार्थाद् भ्रश्यते नूनं युधिष्ठिर इवापरः'॥ ३८॥

जो कपटी मनुष्य, अपना स्वार्थ छोडकर (भुला कर) सच बोलता है वह महामूर्ख है (क्योंकि) वह दूसरे युधिष्ठिर के समान, निश्चय ही, अपने स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, अपना काम नष्ट कर लेता है॥ ३८॥

मकर आह—'कथमेतत्।' स आह—

मगर ने कहा—यह कैसे? वह कहने लगा।

कथा ४

कस्मिश्चिदधिष्ठाने कुम्भकार प्रतिवसति स्म । स कदाचित्प्रमदा-दर्धभग्नखर्परतीक्ष्णाग्रस्योपरि महता वेगेन धावन्पतित । तत खर्पर-कोट्या पाटितललाटो रुधिरप्लाविततनु कृच्छ्रादुत्थाय स्वाश्रय गत । ततश्चापथ्यसेवनात्स प्रहारस्तस्य करालता गत कृच्छ्रेण नीरोगता नीत । अथ कदाचिद्दुर्भिक्षपीडिते देशे च कुम्भकार क्षुत्क्षामकण्ठ कैश्चि-द्राजसेवकै सह देशान्तर गत्वा कस्यापि राज्ञ सेवको बभूव । सोऽपि राजा तस्य ललाटे विकराल प्रहारक्षत दृष्ट्वा चिन्तयामास—'यद्वीरः पुरुषः कश्चिदयम् । नून तेन ललाटपट्टे समुखप्रहारः ।' अतस्त समाना-दिभिः सर्वेषा राजपुत्राणा मध्ये विशेषप्रसादेन पश्यति स्म । तेऽपि राजपुत्रास्तस्य त प्रसादातिरेक पश्यन्त परमेर्ष्याधर्मं वहन्तो राजभयान्न किंचिदूचु ।

किसी स्थान मे कुम्भकार रहा करता था । एक समय वह, नशे मे चूर होकर, वेग से दौडता हुआ, आधे टूटे हुए घडे के नोकीले खप्पर पर गिर पडा । खप्पर की नोक से उसका मस्तक फट गया और उसका सारा शरीर रुधिर से तर हो गया । तब बडी कठिनता से उठकर घर पहुँचा । अपथ्य सेवन करने के कारण उसका वह घाव बहुत बढ गया और बडी कठिनता से आराम हुआ । अनन्तर एक समय देश मे अकाल पडने के कारण वह कुमकार भूख से पीडित हो किन्ही राजसेवकों के साथ दूसरे देश मे जाकर किसी राजा का सेवक हो गया । उसके मस्तक पर भीषण चोट का (घाव) निशान देख कर राजा ने सोचा—यह कोई वीर पुरुष है इसलिये सभव है सामने युद्ध करते हुए इसके मस्तक पर यह प्रहार लगा । अतएव वह राजा सब राजपूतो की अपेक्षा सम्मान आदि के द्वारा उस पर विशेष कृपादृष्टि रखता था । वे राजदूत लोग राजा की इस विशेष कृपा को देखते हुए और मन मे ईर्ष्या (डाह) रखते हुए भी राजा के भय से कुछ कह नही पाते थे ।

अथान्यस्मिन्नहनि तस्य भूपतेर्वीरसभावनाया क्रियमाणाया विग्रहे समुपस्थिते प्रकल्प्यमानेषु गजेषु सनह्यमानेषु वाजिषु योधेषु । प्रगुणी-क्रियमाणेषु तेन भूभुजा स कुम्भकारः प्रस्तावानुगत पृष्टो निर्जने—'भो राजपुत्र, किं ते नाम । का च जाति. । कस्मिन्संग्रामे प्रहारोऽय ते

ललाटे लग्न ।' स आह—'देव, नाय शस्त्रप्रहार.। युधिष्ठिराभिध कुला-लोऽह प्रकृत्या। मद्गेहेऽनेकखर्पराण्यासन्। अथ कदाचिन्मद्यपान कृत्वा निर्गत प्रधावन्खर्परोपरि पतित । तस्य प्रहारविकारोऽय मे ललाटे एव विकरालता गत ।' तदाकर्ण्य राजा सव्रीडमाह—'अहो, वञ्चितोऽह राजपुत्रानुकारिणानेन कुलालेन। तद्दीयता द्रागेतस्य चन्द्रार्ध ।' तथानुष्ठिते कुम्भकार आह—'मा मैव कुरु। पश्य मे रणे हस्तलाघवम् ।' राजा प्राह—'भो, सर्वगुणसपन्नो भवान्। तथापि गम्यताम् उक्त च—

अनन्तर एक दिन, युद्ध उपस्थित होने पर जब कि वीरो का दान-मानादि द्वारा सत्कार किया जा रहा था, घोडो पर काठी आदि कसी जा रही थी, योधाओ को कवायद आदि कराकर युद्ध के लिए तैयार किया जा रहा था उस समय समयानुसार राजा ने उस कुलाल से एकान्त मे पूछा—हे राजपूत ! तुम्हारा क्या नाम है ? तुम्हारी जाति क्या है ? और किस युद्ध मे तुम्हारे यह घाव लगा है ? उसने कहा—हे राजन् ! यह शस्त्र का घाव नही है। मैं युधिष्ठिर नाम का जाति का एक कुम्हार हूँ। मेरे घर अनेक खपडे थे। एक दिन मद्य पीकर दौडता हुआ घर से निकला और खपडे पर गिर पडा। उसी की यह चोट ऐसी भीषण हो गई है। यह सुनकर राजा ने लज्जित हो कहा—राजपूतो का अनुकरण (वेपभूषादि से) करनेवाले इस कुलाल ने मुझे बडा धोखा दिया। इसलिए इसे शीघ्र गलहस्ती देकर (गले मे हाथ डालकर) निकाल दो। ऐसा करते समय कुम्भकार ने कहा—ऐसा मत कीजिये, युद्ध मे मेरे हाथ की सफाई (फुर्ती) देखिये। राजा ने कहा—आप सर्वगुण-सम्पन्न हैं, तो भी जाइये। कहा भी है—

शूरश्च कृतविद्यश्च दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन्कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ॥ ३९ ॥

हे पुत्र ! तुम शूर वीर ओर शिक्षित भी हो, परन्तु जिस वश मे तुम उत्पन्न हुए हो उसमे हाथी नही मारे जाते ॥ ३९ ॥

कुलाल आह—'कथमेतत् ।' राजा कथयति—

कुलाल ने कहा—यह कैसे (यह कहानी किस प्रकार है?) राजा ने कहा—

कथा ५

कस्मिंश्चिदुद्देशे सिंहदम्पती प्रतिवसत स्म। अथ सिंही पुत्रद्वयम-

जोजनत्। सिंहोऽपि नित्यमेव मृगान् व्यापाद्य सिंह्यै ददाति। अथान्यस्मि-न्नहनि तेन किमपि नासादितम्। येन भ्रमतोऽपि तस्य रविरस्तं गतः। अथ तेन स्वगृहमागच्छता शृगालशिशुः प्राप्तः। स च बालकोऽयमित्य-वधार्य यत्नेन दंष्ट्रामध्यगतं कृत्वा सिंह्या जीवन्तमेव समर्पितवान्। ततः सिंह्याऽभिहितम्—'भो कान्त, त्वयानीतं किंचिदस्माकं भोजनम्।' सिंह आह—प्रिये मयाद्यैनं शृगालशिशुं परित्यज्य न किंचित्सत्त्वमा-सादितम्। स च मया बालोऽयमिति मत्वा न व्यापादितो विशेषात्स्व-जातीयश्च। उक्तं च –

किसी स्थान मे सिंह और सिंही रहते थे। एक समय, सिंही ने दो पुत्र जने। तब सिंह, प्रतिदिन पशुओ को मारकर सिंही को दिया करता था। एक दिन उसे कुछ भी नही मिला। वन मे घूमते हुए सूर्य भी अस्त हो गया। घर को लौटते हुए उसे गीदड का बच्चा मिला, परन्तु उसने उसे बालक समझकर बडे यत्न से दोनो दाढो के बीच रखकर जिन्दा ही सिंही को सौंप दिया। तब सिंही ने कहा—स्वामिन्! हमारे लिये कुछ भोजन लाये। सिंह ने कहा—प्रिये! आज इस शृगाल शिशु के अतिरिक्त मुझे कोई जानवर नही मिला। उसे भी मैंने बालक समझकर नही मारा। कहा भी है—

स्त्रीविप्रलिङ्गिबालेषु प्रहर्तव्यं न कर्हिचित्।
प्राणत्यागेऽपि संजाते विश्वस्तेषु विशेषतः ॥ ४० ॥

जीवन के सन्देह मे पडने पर भी स्त्री, ब्राह्मण, सन्यासी तथा बालक और विशेष कर अपना विश्वास करनेवालो पर कभी भी प्रहार न करना चाहिये ॥४०॥

इदानीं त्वमेनं भक्षयित्वा पथ्यं कुरु। प्रभातेऽन्यत्किंचिदुपार्जयि-ष्यामि। सा प्राह—'भो कान्त, त्वया बालकोऽयम् इति विचिन्त्य न हतः। तत्कथमेनमहं स्वोदरार्थे विनाशयामि। उक्तं च —

इस समय तो तुम इसे खाकर पथ्य करो। प्रातःकाल और कुछ लाऊँगा। उसने कहा—हे नाथ! जब तुमने इसे बालक समझकर नही मारा तो मैं अपने पेट के लिए क्यो मारूँ। कहा भी है—

अकृत्यं नैव कर्तव्यं प्राणत्यागेऽपि संस्थिते।
न च कृत्यं परित्याज्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४१ ॥

प्राणो का संशय उपस्थित होने पर भी, अनुचित कर्म नही करना चाहिये और न उचित कर्म छोडना चाहिये यही सनातन धर्म है ॥ ४१ ॥

तस्मान्ममाय तृतीयः पुत्रो भविष्यति ।' इत्येवमुक्त्वा तमपि स्वस्तनक्षीरेण परां पुष्टिमनयत् । एवं ते त्रयोऽपि शिशवः परस्परमज्ञातजातिविशेषा एकाचारविहारा बाल्यसमयं निर्वाहयन्ति । अथ कदाचित्तत्र वने भ्रमन्नरण्यगजः समायातः । तं दृष्ट्वा तौ सिंहसुतौ द्वावपि कुपिताननौ तं प्रति प्रचलितौ यावत्, तावत्तेन शृगालसुतेनाभिहितम्—'अहो, गजोऽयं युष्मत्कुलशत्रुः । तन्न गन्तव्यमेतस्याभिमुखम् ।' एवमुक्त्वा गृहं प्रधावितः । तावपि ज्येष्ठबान्धवभङ्गान्निरुत्साहतां गतौ । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिए, यह मेरा तीसरा पुत्र हो जायगा। यह कहकर उसे भी वह अपने दूध से पालने लगी (पुष्ट करने लगी)। इस प्रकार वे तीनो बच्चे, एक दूसरे की जाति को न जानते हुए, साथ-साथ खेलते कूदते समय बिताने लगे। एक समय, उस वन मे घूमता हुआ जङ्गली हाथी आया। उसे देखकर, वे दोनो सिंह के बच्चे क्रुद्ध होकर जब उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हुए तब शृगालपुत्र ने कहा—यह हाथी है, जो कि तुम्हारे कुल का शत्रु है। यह कहकर घर को भाग गया। वे दोनो भी बडे भाई के भयभीत हो जाने से उत्साहहीन हो गये। किसी ने ठीक ही कहा है—

एकेनापि सुधीरेण सोत्साहेन रणं प्रति ।
सोत्साहं जायते सैन्यं भग्ने भङ्गमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

(सेना मे) एक भी पुरुष के धैर्यशाली और उत्साही होने पर सारी सेना युद्ध मे उत्साहित हो जाती है और (एक भी पुरुष के) निरुत्साहित होने पर उत्साहहीन हो जाती है ॥ ४२ ॥

तथा च—अत एव हि वाञ्छन्ति भूपा योधान्महाबलान् ।
शूरान्वीरान्कृतोत्साहान्वर्जयन्ति च कातरान् ॥ ४३ ॥

इसीलिए राजा लोग बलवान्, वीर, स्थिरबुद्धि और उत्साही योधाओ को चाहते हैं तथा भीरु सिपाहियो का परित्याग कर देते हैं ॥ ४३ ॥

अथ तौ द्वावपि गृहं प्राप्य पित्रोरग्रतो ज्येष्ठभ्रातृचेष्टितमूचतुः । यथा गजं दृष्ट्वा दूरतोऽपि नष्टः । सोऽपि तदाकर्ण्य कोपाविष्टमनाः प्रस्फुरिताधरपल्लवस्ताम्रलोचनस्त्रिशिखां भृकुटिं कृत्वा तौ निर्भर्त्सयन्परुषतरवचनान्युवाच । ततः सिंह्यैकान्ते नीत्वा प्रबोधितोऽसौ—'वत्स, मैवं कदाचिज्जल्प । भवदीयलघुभ्रातरावेतौ ।' अथासौ प्रभूतकोपाविष्टस्तामु-

वाच—'किमहमेताभ्यां शौर्येण रूपेण विद्याभ्यासेन कौशलेन वा हीनः येन मामुपहसतः । तन्मयावश्यमेतौ व्यापादनीयौ ।' तदाकर्ण्य सिंही तस्य जीवितमिच्छन्त्यन्तर्विहस्य प्राह—

तब वे दोनो (सिंह-पुत्र) घर जाकर माता-पिता के सामने अपने बडे भाई की करतूत पर हँसते हुए कहने लगे —यह हाथी को देखकर दूर से ही भाग गया। वह भी, यह सुन अत्यन्त क्रुद्ध हुआ तथा उसके ओष्ठ फडकने लगे, आँखें लाल हो गईं, वह भौं तानकर उनको धमकाते हुए कठोर वचन कहने लगा। तब सिंही ने, एकान्त मे, उसे ले जाकर समझाया—वत्स ! ऐसा मत कहो, यह तुम्हारे छोटे भाई हैं। इस पर वह और अधिक क्रोध से भरकर उससे बोला—शूरता, रूप, विद्याभ्यास और चतुराई मे क्या इनसे मैं कम हूँ जो ये मेरा उपहास करते हैं। इसलिए, मैं अवश्य ही उन्हे मारूँगा। यह सुनकर, उसका जीवन चाहती हुई सिंही मुस्कराकर कहने लगी।—'शूरश्च कृतविद्यश्च' इत्यादि। (दे० श्लोक ३९)।

'तत्सम्यक्शृणु। वत्स, त्वं शृगालीसुतः, कृपया मया स्वस्तनक्षीरेण पुष्टिं नीतः। तद्यावदेतौ मत्पुत्रौ शिशुत्वात्त्वां शृगालं न जानीतः, तावद् द्रुततरं गत्वा स्वजातीयानां मध्ये भव। नो चेदाभ्यां हतो मृत्युपथं समेष्यसि। सोऽपि तद्वचनं श्रुत्वा भयव्याकुलमनाः शनैः शनैरपसृत्य स्वजात्या मिलितः। तस्मात्त्वमपि यावदेते राजपुत्रास्त्वां कुलालं न जानन्ति, तावद् द्रुततरमपसर। नो चेदेतेषां सकाशाद्विडम्बनां प्राप्य मरिष्यसि।' कुलालोऽपि तदाकर्ण्य सत्वरं प्रनष्टः। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी' (दे० श्लो० ३८) इति।

इसलिये ध्यान देकर सुन, हे वत्स ! तू शृगालपुत्र है, मैंने कृपाकर अपना दूध पिलाकर तुझे पाला है, अतएव जब तक ये लोग तुझे शृगाल न जानें उससे पूर्व ही तू भागकर अपनी जाति मे मिल जा। नही तो इनसे मारा जाकर मृत्यु को प्राप्त होगा। वह भी यह सुनकर भयभीत हो तुरन्त भाग गया। इसलिये तुम भी, जब तक ये राजपूत तुम्हे कुलाल न जाने तब तक शीघ्र चले जाओ, नही तो इनके द्वारा तिरस्कार पाओगे। कुलाल भी यह सुनकर तुरन्त भाग गया। इसलिए मैं कहता हूँ 'स्वार्थमुत्सृज्य यो दम्भी' इत्यादि (दे० श्लोक ३८)।

धिङ्मूर्ख, यत्त्वया स्त्रियोऽर्थं एतत्कार्यमनुष्ठातुमारब्धम्। न हि स्त्रीणां कथंचिद्विश्वासमुपगच्छेत्। उक्तं च—

अरे मूर्ख! तुझे धिक्कार है! क्योंकि तूने स्त्री के लिये यह कार्य आरंभ किया है। स्त्रियों का कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए। कहा भी है—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्धं च हारितम्।
सा मां त्यजति निःस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः॥ ४४॥

जिसके लिये मैंने अपना कुल त्यागकर जीवन का आधा हिस्सा दे दिया, वह स्नेह विमुख होकर मुझे त्याग रही है। तब कौन मनुष्य स्त्रियों का विश्वास करेगा॥ ४४॥

मकर आह—'कथमेतत्।' वानर आह—

मकर ने कहा—यह कैसे? वानर ने कहा—

कथा ६

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कोऽपि ब्राह्मणः। तस्य च भार्या प्राणेभ्योऽप्यतिप्रियासीत्। सोऽपि प्रतिदिनं कुटुम्बैः सह कलहं कुर्वाणा न विश्राम्यति। सोऽपि ब्राह्मणः कलहमसहमानो भार्यावात्सल्यात्स्वकुटुम्बं परित्यज्य ब्राह्मण्या सह विप्रकृष्टं देशान्तरं गतः। अथ महाटवीमध्ये ब्राह्मण्याभिहितः— आर्यपुत्र, तृष्णा मां बाधते। तदुदकं क्वाप्यन्वेषय।' अथासौ तद्वचनानन्तरं यावदुदकं गृहीत्वा समागच्छति, तावत्तां मृताम् पश्यत्। अतिवल्लभतया विषादं कुर्वन्यावद्विलपति, तावदाकाशे वाचं शृणोति। यथा हि—'यदि ब्राह्मण, त्वं स्वकीयजीवितस्यार्धं ददासि ततस्ते जीवति ब्राह्मणी।' तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणेन शुचीभूय तिसृभिर्वाचाभिः स्वजीवितार्धं दत्तम्। वाक्सममेव च ब्राह्मणी जीविता सा। अथ तौ जलं पीत्वा वनफलानि भक्षयित्वा गन्तुमारब्धौ। ततः क्रमेण कस्यचिन्नगरस्य प्रदेशे पुष्पवाटिकां प्रविश्य ब्राह्मणो भार्यामभिहितवान्—'भद्रे, यावदहं भोजनं गृहीत्वा समागच्छामि तावदत्र त्वया स्थातव्यम्।' इत्यभिधाय ब्राह्मणो नगरमध्ये जगाम। अथ तस्यां पुष्पवाटिकायां पङ्गुररघट्टं खेलयन्दिव्यगिरा गीतमुद्गिरति। तच्च श्रुत्वा कुसुमेषुणार्दिता ब्राह्मण्या तत्सकाशं गत्वाभिहितम्—'भद्र, यदि मां न कामयसे, तन्मत्सक्ता स्त्रीहत्या तव भविष्यति।' पङ्गुरब्रवीत—'किं व्याधिग्रस्तेन

मया करिष्यसि ।' साब्रवीत्—'किमनेनोक्तेन । अवश्य त्वया सह मया संगमः कर्तव्य ।' तच्छ्रुत्वा तथा कृतवान् । सुरतानन्तर साब्रवीत्—'इत. प्रभृति यावज्जीवं मयात्मा भवते दत्त' । इति ज्ञात्वा भवानप्य-स्माभिः सहागच्छतु ।' सोऽब्रवीत्—'एवमस्तु' । अथ ब्राह्मणो भोजनं गृहीत्वा समागत्य तया सह भोक्तुमारब्ध. साब्रवीत्–'एष पङ्गुर्बुभु-क्षितः । तदेतस्यापि कियन्तमपि ग्रास देहि' इति । तथानुष्ठिने ब्राह्मण्या-भिहितम्—'ब्राह्मण, सहायहीनस्त्व यदा ग्रामान्तर गच्छसि, तदा मम वचनसहायोऽपि नास्ति । तदेन पङ्गु गृहीत्वा गच्छाव ।' सोऽब्रवीत्—'न शक्नोम्यात्मानमप्यात्मना वोढुम् । किं पुनरेन पङ्गुम् ।' साब्रवीत्—'पेटाभ्यन्तरस्थमेनमह नेष्यामि ।' अथ तत्कृतकवचनव्यामोहितचित्तेन तेन प्रतिपन्नम् । तथानुष्ठितेऽन्यस्मिन्दिने कूपोपकण्ठे विश्रान्तो ब्राह्मण-स्तया च पङ्गुपुरुषासक्तया सप्रेय कूपान्त पातित । सापि पङ्गु गृहीत्वा कस्मिंश्चिन्नगरे प्रविष्टा । तत्र शुल्कचौर्यरक्षानिमित्त राजपुरुषैरतस्ततो भ्रमद्भिस्तन्मस्तकस्था पेटी दृष्टा बलादाच्छिद्य राजाग्रे नीता । राजा च यावत्तामुद्घाटयति, तावत्त पङ्गु ददर्श । तत सा ब्राह्मणी विलाप कुर्वती राजपुरुषानुपदमेव तत्रागता । राज्ञा पृष्टा—'को वृत्तान्त' इति । साब्रवीत्—'ममैष भर्ता व्याधिबाधितो दायादसमूहैरुद्वेजितो मया स्नेहव्याकुलितमानसया शिरसि कृत्वा भवदीयनगर आनीत ।' तच्छ्रुत्वा राजाब्रवीत्—'ब्राह्मणि, त्व मे भगिनी । ग्रामद्वय गृहीत्वा भर्त्रा सह भोगान्भुञ्जाना सुखेन तिष्ठ ।' अथ स ब्राह्मणो दैववशात्केनापि साधुना कूपादुत्तारित परिभ्रमस्तदेव नगरमायात । तया दुष्टभार्यया दृष्टा राज्ञे निवेदित—'राजन्, अय मम भर्तुर्वैरी समायात ।' राज्ञापि वध आदिष्ट । सोऽब्रवीत—देव अनया मम सक्त किंचिद्गृहीतमस्ति । यदि त्व धर्मवत्सल, तद्दापय ।' राजाब्रवीत्—'भद्रे, यत्त्वयास्य सक्त किंचिद्गृहीतमस्ति तत्समर्पय । सा प्राह—'देव, मया न किंचिद्गृही-तम् ।' ब्राह्मण आह—'यन्मया त्रिवाचिक स्वजीवितार्धं दत्तम्, तद् देहि ।' अथ सा राजभयात्तत्रैव 'त्रिवाचिकमेव जीवितार्धमनेन दत्तम्' इति जल्पन्ती प्राणैर्विमुक्ता । ततः सविस्मय राजाब्रवीत्—'किमेतत्' इति । ब्राह्मणेनापि पूर्ववृत्तान्त सकलोऽपि तस्मै निवेदित । अतोऽहं ब्रवीमि—'यदर्थं स्वकुल त्यक्तम्' इति (दे० श्लोक ४४) ।

किसी स्थान मे एक ब्राह्मण रहता था। उसको अपनी स्त्री प्राणो से भी अधिक प्यारी थी। वह प्रतिदिन कुटुम्ब के साथ झगडा करती हुई कभी भी शान्त नही रहती थी। वह ब्राह्मण भी झगडे से ऊब गया और भार्या के प्रेमवश अपने कुटुम्ब को छोड ब्राह्मणी के साथ दूर देश को चल पडा। चलते २ एक भयकर जगल के मध्य मे पहुँचने पर ब्राह्मणी ने कहा—आर्यपुत्र! मुझे बडी प्यास लगी है। सो कही जल की खोज करो। ब्राह्मणी के कहने पर जब वह जल लेकर आया तो उसे मरी पडी देखा। अतिशय प्रेम के कारण दु ख से जब वह विलाप करने लगा, तब यह आकाशवाणी सुनाई दी—ब्राह्मण! यदि तू इसे अपने जीवन का आधा हिस्सा दे दे तो यह ब्राह्मणी जी जायगी। यह सुन ब्राह्मण ने पवित्र होकर तीन बार प्रतिज्ञा करके अपना आधा जीवन उसे दे दिया। उसके ऐसा करते ही वह ब्राह्मणी जी उठी। तब वे दोनो जल पीकर वन के फल खाते हुए चलने लगे। चलते-चलते किसी नगर की पुष्पवाटिका मे ठहरकर ब्राह्मण ने अपनी स्त्री से कहा—भद्रे! मैं जाकर भोजन की सामग्री ले आता हूँ। तब तक तुम यही रहो। ऐसा कहकर ब्राह्मण शहर को चला गया। उस पुष्पवाटिका मे एक लगडा कुएँ की सीढी पर खेलता हुआ मधुर स्वर से गीत गा रहा था। उस गीत को सुनकर कामबाण से पीडित होकर ब्राह्मणी उसके पास गयी और बोली—भद्र! तुम यदि मेरी इच्छा नही पूरी करोगे तो तुमको कामासक्त स्त्री की हत्या का पाप लगेगा। लँगडा बोला—व्याधि से ग्रस्त मुझसे तू क्या करेगी? वह बोली—ऐसा कहने से क्या लाभ? मैं अवश्य तुम्हारे साथ सम्भोग करूँगी। यह सुनकर उसने वैसा ही किया। सम्भोग के अन्त मे वह बोली—अब से जीवन भर के लिए मैंने अपनी आत्मा तुम्हे दे दी है। ऐसा जानकर तुम भी हमारे साथ चलो। वह बोला—ऐसा ही सही। तब तक ब्राह्मण भोजन लाया और उसके साथ खाने लगा। वह बोली—यह लगडा भूखा, है। सो इसको भी कुछ भोजन दे दो। वैसा कहने पर ब्राह्मणी ने कहा—ब्राह्मण! तुम सहायहीन होकर जब ग्रामान्तर चले जाते हो, तब मेरा भी कोई वचनसहाय नही रहता। सो इस पगु को साथ ले लो। वह बोला—'मैं स्वय चलने मे असमर्थ हूँ फिर इस पङ्गु को कैसे ले चलूँगा?' वह बोली—गठरी के भीतर रख कर इसको मैं ले चलूँगी। उस स्त्री के बनावटी वचनो से मोहित होकर उसने यह भी अङ्गीकार कर लिया। वैसा करने पर एक दिन उस पङ्गु मे आसक्त चित्तवाली उस ब्राह्मणी ने

कुएँ के समीप विश्राम करते हुए अपने पति को कुएँ मे ढकेल दिया और प्यारे पङ्गु को लेकर किसी नगर मे चली गई । वहाँ राज्य-कर (चुगी) नही देनेवाले चोरो की खोज मे इधर-उधर घूमते हुए राजपुरुषो ने उसके मस्तक पर वह गठरी देखी तो जबर्दस्ती छीनकर राजा के पास ले गये । राजा ने जब उसे खोलवाया तो उसमे लगडे को देखा । तब तक ब्राह्मणी भी विलाप करती हुई राजपुरुषो के पीछे-पीछे वहाँ आ गई । राजा ने पूछा—क्या बात है ? वह बोली—मेरा रोगग्रस्तस्वामी बधुओ मे सताया हुआ है । मैं स्नेहवश व्याकुल मन से सिर पर रखकर इसे आपके नगर मे लायी हूँ । यह सुनकर राजा बोला—ब्राह्मणी ! तू मेरी (सती) बहिन है । मुझसे दो गाव लेकर अपने पति के सग सुख भोगती हुई सुख से रहो । उधर किसी साधु द्वारा कुए से निकाला हुआ वह ब्राह्मण दैववश घूमता-फिरता उसी नगर मे आ पहुँचा । तब उस दुष्ट भार्या ने उसे देखकर राजा से कहा—राजन् ! यही मेरे स्वामी का वैरी है । राजा ने तत्काल उसके वध की आज्ञा दे दी । वह ब्राह्मण बोला—देव ! इसने मेरी धरोहर ले रखी है । यदि आप धर्मवत्सल राजा हैं तो उसे दिला दीजिए । राजा बोला—भद्र ! तुमने इसका कुछ लिया हो तो दे दो । वह बोली—देव ! मैंने इसका कुछ नही लिया है । ब्राह्मण बोला—जो मैंने त्रिवाचिक देकर अपना आधा जीवन इसे दिया था, वह दे दे । तब राजा के भय से उसने कहा—त्रिवाचिक जीवन जो इसने मुझे दिया था सो मैं लौटा रही हूँ । ऐसा कहते ही वह मर गयी । तब विस्मयपूर्वक राजा बोला—यह क्या हुआ । तब ब्राह्मण ने पहले का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया । इसी से मैं कहता हूँ—'यदर्थे स्वकुल त्यक्तम्' (दे० श्लोक ४४) ॥

वानर पुनराह—'साधु चेदमुपाख्यानक श्रूयते—

फिर वानर ने कहा—'यह भी एक अच्छी कथा सुनी जाती है—

न किं दद्यान्न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नर ।
अनश्वा यत्र ह्रेषन्ते शिर पर्वणि मुण्डितम्' ॥ ४५ ॥

पत्नी के मागने पर मनुष्य क्या नही देता और क्या नही करता अर्थात् सब कुछ देता और करता है । जब घोडे न होकर भी मनुष्य हिनहिनाते हैं और पर्व-दिन अर्थात् चौदस-अष्टमी आदि निषिद्ध दिनो मे भी सिर का मुण्डन कराते हैं ॥

मकर आह—'कथमेतत्' ? वानर कथयति—

मगर बोला—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

कथा ७

अस्ति प्रख्यातबलपौरुषोऽनेकनरेन्द्रमुकुटमरीचिजालजटिलीकृतपादपीठ शरच्छशाङ्ककिरणनिर्मलयशा समुद्रपर्यन्ताया पृथिव्या भर्ता नन्दो नाम राजा। यस्य सर्वशास्त्राधिगतसमस्ततत्त्व सचिवो वररुचिर्नाम। तस्य च प्रणयकलहेन जाया कुपिता। सा चातीव वल्लभानेकप्रकारं परितोष्यमाणापि न प्रसीदति। ब्रवीति च भर्ता—'भद्रे, येन प्रकारेण तुष्यसि त वद। निश्चित करोमि।' तत कथचित्तयोक्तम्—'यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोर्निपतसि, तदा प्रसादाभिमुखी भवामि।' तथानुष्ठिते प्रसन्नासीत्। अथ नन्दस्य भार्यापि तथैव रुष्टा प्रसाद्यमानापि न तुष्यति। तेनोक्तम्—'भद्रे, त्वया विना मुहूर्तमपि न जीवामि।' पादयो पतित्वा त्वा प्रसादयामि।' साब्रवीत्—'यदि खलीन मुखे प्रक्षिप्याह तव पृष्ठे समारुह्य त्वा धावयामि। धावितस्तु यद्यश्वबद्द्रेषसे, तदा प्रसन्ना भवामि।' राज्ञापि तथैवानुष्ठितम्। अथ प्रभातसमये सभायामुपविष्टस्य राज्ञ समीपे वररुचिरायात। त च दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ—'भो वररुचे, किं पर्वणि मुण्डित शिरस्त्वया।' सोऽब्रवीत्—'न किं दद्यात्' इत्यादि (श्लो० ४५)।

किसी देश मे पूर्ण प्रख्यात और बल पुरुषार्थ युक्त अनेक राजाओ के मुकुटो के किरणसमूह से सेवित चरण पीठवाला, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान निर्मल और समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का स्वामी नन्द नाम का राजा था। सम्पूर्ण शास्त्र का तत्त्वज्ञ वररुचि उसका मन्त्री था। एकदा उसकी स्त्री प्रणय-कलह से क्रोधित हुई। वह उसे बहुत प्यारी थी अत अनेक प्रकार से सन्तुष्ट करने पर भी जब वह प्रसन्न नही हुई तब उसका पति बोला—भद्रे! तुम किस तरह प्रसन्न होगी? सो कहो। उसको मैं अवश्य करूगा। तब उसने कहा—यदि सिर मुँडाकर मेरे चरणो मे गिरो तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगी। वररुचि के वैसा करने पर वह प्रसन्न हो गयी। उधर राजा नन्द की भार्या भी उसी प्रकार रूठी थी और किसी प्रकार सन्तुष्ट नही हो रही थी। तब राजा ने कहा—भद्रे! तेरे बिना मैं क्षणभर भी नही जी सकता। मैं चरण पकड कर तुझे मनाता हूँ। वह बोली—तुम मुख मे लगाम डालो और तुम्हारी पीठ पर चढकर शीघ्रता से मैं तुम्हे दौडाऊँगी। दौडते हुए तुम घोड के समान हिनहिनाओ तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगी। राजा ने भी वैसा।

ही किया । तब प्रात काल सभा मे बैठे राजा के समीप वररुचि आया । उसे देखकर राजा ने जब पूछा—अहो वररुचि ! तुमने किस पर्व मे सिर मुँडाया है ? तब वह बोला—'न किं दद्यात्' इत्यादि । (दे० श्लो० ४५) ।

तद्भो दुष्ट मकर, त्वमपि नन्दवररुचिवत्स्त्रीवश्य । ततो भद्र, आगतेन त्वया मा प्रति वधोपायप्रयास प्रारब्ध, पर स्ववाग्दोषेणैव प्रकटीभूत । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिए अरे दुष्ट मगर ! तू भी नन्द और वररुचि के समान स्त्री के वशीभूत है । भद्र ! आते ही तुमने मेरे वध का उपाय सोचना प्रारम्भ किया, परन्तु तुम्हारी वाणी के दोष से भेद खुल गया । अथवा यह ठीक ही कहा है—

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिका ।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौन सर्वार्थसाधनम् ॥ ४६ ॥

शुक और सारिकाएँ (मैना) अपने मुख दोष से (बोलने और गान का सामर्थ्य होने से) पकडे जाते हैं परन्तु बगुले नही पकडे जाते, अत चुप रहना, सब कामो का साधक होता है ।

तथा च—'सुगुप्त रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुण वपु ।
व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हत ' ॥ ४७ ॥

बडी सावधानी से रक्षा किया जाता हुआ, व्याघ्र के चमडे से ढका हुआ अतएव भयकर शरीर दिखाता हुआ (अपने सिहतुल्य शरीर से क्षेत्रपालो को डराता हुआ) भी गदहा अपने बोलने के कारण मारा गया ।

मकर आह—'कथमेतत् ?' वानर कथयति—

मगर बोला—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

कथा ८

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने शुद्धपटो नाम रजक प्रतिवसति स्म । तस्य च गर्दभ एकोऽस्ति । सोऽपि घासाभावादतिदुर्बलता गत । अथ तेन रजकेनाटव्या परिभ्रमता मृतव्याघ्रो दृष्ट । चिन्तित च—अहो, शोभनमापतितम् । अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभ रात्रौ यवक्षेत्रेषूत्स्रक्ष्यामि । येन व्याघ्र मत्वा समीपवर्तिन क्षेत्रपाला एन न निष्कासयिष्यन्ति । तथानुष्ठिते रासभो यथेच्छाया यवभक्षण करोति । प्रत्यूषे भूयोऽपि रजक स्वाश्रय नयति । एव गच्छता कालेन स रासभ पीव-

कथा ७

अस्ति प्रख्यातबलपौरुषोऽनेकनरेन्द्रमुकुटमरीचिजालजटिलीकृतपादपीठ शरच्छशाङ्ककिरणनिर्मलयशा समुद्रपर्यन्ताया पृथिव्या भर्ता नन्दो नाम राजा। यस्य सर्वशास्त्राधिगतसमस्ततत्त्व सचिवो वररुचिर्नाम। तस्य च प्रणयकलहे- जाया कुपिता। सा चातीव वल्लभानेकप्रकारं परितोष्यमाणापि न प्रसीदति। ब्रवीति च भर्ता—'भद्रे, येन प्रकारेण तुष्यसि त वद। निश्चित करोमि।' तत कथचित्तयोक्तम्—'यदि शिरो मुण्डयित्वा मम पादयोर्निपतसि, तदा प्रसादाभिमुखी भवामि।' तथानुष्ठिते प्रसन्नासीत्। अथ नन्दस्य भर्यापि तथैव रुष्टा प्रसाद्यमानापि न तुष्यति। तेनोक्तम्—'भद्रे, त्वया विना मुहूर्तमपि न जीवामि।' पादयो पतित्वा त्वा प्रसादयामि।' साब्रवीत्— यदि खलीन मुखे प्रक्षिप्याह तव पृष्ठे समारुह्य त्वा धावयामि। धावितस्तु यद्यश्ववद्ध्रेषसे, तदा प्रसन्ना भवामि।' राज्ञापि तथैवानुष्ठितम्। अथ प्रभातसमये सभायामुपविष्टस्य राज्ञ समीपे वररुचिरायात। त च दृष्ट्वा राजा पप्रच्छ-'भो वररुचे, किं पर्वणि मुण्डित शिरस्त्वया।' सोऽब्रवीत्—'न किं दद्यात्' इत्यादि (श्लो० ४५)।

किसी देश मे पूर्ण प्रख्यात और बल पुरुषार्थ युक्त अनेक राजाओ के मुकुटो के किरणसमुह से सेवित चरण पीठवाला, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान निर्मल और समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का स्वामी नन्द नाम का राजा था। सम्पूर्ण शास्त्र का तत्त्वज्ञ वररुचि उसका मन्त्री था। एकदा उसकी स्त्री प्रणय-कलह से क्रोधित हुई। वह उसे बहुत प्यारी थी अत अनेक प्रकार से सन्तुष्ट करने पर भी जब वह प्रसन्न नही हुई तब उसका पति बोला—भद्रे! तुम किस तरह प्रसन्न होगी? सो कहो। उसको मैं अवश्य करूगा। तब उसने कहा—यदि सिर मुँडाकर मेरे चरणो मे गिरो तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगी। वररुचि के वैसा करने पर वह प्रसन्न हो गयी। उधर राजा नन्द की भार्या भी उसी प्रकार रूठी थी और किसी प्रकार सन्तुष्ट नही हो रही थी। तब राजा ने कहा—भद्रे! तेरे बिना मैं क्षणभर भी नहीं जी सकता। मैं चरण पकड कर तुझे मनाता हूँ। वह बोली—तुम मुख मे लगाम डालो और तुम्हारी पीठ पर चढकर शीघ्रता से मैं तुम्हे दौडाऊँगी। दौडते हुए तुम घोडे के समान हिनहिनाओ तो मैं प्रसन्न हो जाऊँगी। राजा ने भी वै।

ही किया । तब प्रातःकाल सभा में बैठे राजा के समीप वररुचि आया । उसको राजा ने जब पूछा—अहो वररुचि ! तुमने किस पर्व में सिर मुंड़ाया है ? तब वह बोला—'न किं दद्यात्' इत्यादि । (दे० श्लो० ४५) ।

तद्भो दुष्ट मकर, त्वमपि नन्दवररुचिवत्स्त्रीवश्य । ततो भद्र, आगतेन त्वया मां प्रति वधोपायप्रयासः प्रारब्धः, परं स्ववाग्दोषेणैव प्रकटीभूतः । अथवा साध्विदमुच्यते—

इसलिए अरे दुष्ट मगर ! तू भी नन्द और वररुचि के समान स्त्री के वशीभूत है । भद्र ! आते ही तुमने मेरे वध का उपाय साधना प्रारम्भ किया, परन्तु तुम्हारी वाणी के दोष से भेद खुल गया । अथवा यह ठीक ही कहा है—

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः ।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम् ॥ ४६ ॥

शुक और सारिकाएँ (मैना) अपने मुख दोष से (बोलने और गान का सामर्थ्य होने से) पकड़े जाते हैं परन्तु बगुले नहीं पकड़े जाते, अतः चुप रहना, सब कामों का साधक होता है ।

तथा च—'सुगुप्तं रक्ष्यमाणोऽपि दर्शयन्दारुणं वपुः ।
व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्नो वाक्कृते रासभो हतः' ॥ ४७ ॥

बड़ी सावधानी से रक्षा किया जाता हुआ, व्याघ्र के चमड़े से ढका हुआ अतएव भयकर शरीर दिखाता हुआ (अपने सिंहतुल्य शरीर से क्षेत्रपालों को डराता हुआ) भी गदहा अपने बोलने के कारण मारा गया ।

मकर आह—'कथमेतत् ?' वानर कथयति—

मगर बोला—'यह कैसे ?' वानर ने कहा—

कथा ८

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने शुद्धपटो नाम रजकः प्रतिवसति स्म । तस्य च गर्दभ एकोऽस्ति । सोऽपि घासाभावादतिदुर्बलतां गतः । अथ तेन रजकेनाटव्यां परिभ्रमता मृतव्याघ्रो दृष्टः । चिन्तितं च—अहो, शोभनमापतितम् । अनेन व्याघ्रचर्मणा प्रतिच्छाद्य रासभं रात्रौ यवक्षेत्रेषूत्स्रक्ष्यामि । येन व्याघ्रं मत्वा समीपवर्तिनः क्षेत्रपाला एनं न निष्कासयिष्यन्ति । तथानुष्ठिते रासभो यथेच्छया यवभक्षणं करोति । प्रत्यूषे भूयोऽपि रजकः स्वाश्रयं नयति । एवं गच्छता कालेन स रासभः पीव-

रतनुर्जात । कृच्छ्राद् बन्धनस्थानमपि नीयते । अथान्यस्मिन्नहनि स मदोद्धतो दूराद्रासभीशब्दमशृणोत् । तच्छ्रवणमात्रेणैव स्वय शब्दयितुमारब्ध । अथ ते क्षेत्रपाला रासभोऽय व्याघ्रचर्मप्रतिच्छन्न इति ज्ञात्वा लगुडशरपाषाणप्रहारैस्त व्यापादितवन्त । अतोऽह ब्रवीमि—'सुगुप्त रक्ष्यमाणोऽपि' (श्लो॰ ४७) इति ।

किसी स्थान मे शुद्धपट नामक धोबी रहता था। उसके पास एक गदहा था परन्तु वह भी घास न मिलने से अत्यन्त दुर्बल हो गया था। एक समय उस धोबी ने जगल मे घूमते हुए बाघ का चमडा पाया। तब उसने सोचा—यह बहुत अच्छा हुआ, इस चमडे को ओढा कर गदहे को रात के समय जौ के खेत मे छोड दिया करूँगा जिससे कि इसे बाघ समझ कर पास के खेतवाले खेत से न निकालेंगे। ऐसा करने पर, रात मे, गदहा इच्छानुसार जौ खाया करता था, प्रात काल फिर धोबी अपने घर ले जाता था। कुछ ही दिनो मे वह खूब मोटा-ताजा हो गया, बडी कठिनता से बाँधने मे आता था। एक दिन मदमत्त वह रासभ, दूर से गर्दभी का शब्द सुनकर जोर से चिल्लाने लगा। तब क्षेत्रपालो ने यह समझ कर कि—बाघ के चमडे से ढका हुआ यह रासभ है, लकडी पत्थर और तीर मार कर उसे मार डाला। इसलिये मै कहता हूँ कि 'सुगुप्त रक्ष्यमाणोऽपि' इत्यादि (श्लो॰ ४७)।

'तत्कि श्यामलकवदत्यपमानसहनादर्धचन्द्रदानेन यास्यसि ।'

तो क्या तू श्यामलक के समान अपमान सह कर गलहत्थी देने से जायगा।

मकर आह—कथमेतत् ? वानर आह—

मगर ने कहा—यह कैसे ? वानर ने कहा—

कथा ६

अस्त्यत्र धरापीठे विकण्टक नाम पुरम् । तत्र महाधन ईश्वरो नाम भाण्डपति । तस्य चत्वारो जामातृका अवन्तीपीठात्प्राघूर्णका विकण्टकपुरे समायाता । ते च तेन महता गौरवेणाऽर्चिता भोजनाच्छादनादिभि । एव तेषा तत्र वसता मासषट्क सजातम् । तत ईश्वरेण स्वभार्योक्ता यदेते जामातर परमगौरवेणावर्जिता स्वानि गृहाणि न गच्छन्ति, तत्कि कथ्यते ? विनापमान न यास्यन्ति । तदद्य भोजनवेलाया पादप्रक्षालनार्थ जल न देय येनापमान ज्ञात्वा परित्यज्य गच्छन्तीति ।"

तथानुष्ठिते गर्गं पादप्रक्षालनापमानात्, सोमो लब्ध्वासनदानात्, दत्तः कदशनतो यातः । एवं ते त्रयोऽपि परित्यज्य गताः । चतुर्थः श्यामलको यावन्न याति तावदर्धचन्द्रप्रदानेन निष्कासितः । अतोऽहं ब्रवीमि—

(गर्गो हि पादशौचाल्लब्ध्वासनदानतो गतः सोमः ।
दत्तः कदशनभोज्याच्छ्य'मलकश्चार्धचन्द्रेण ॥)

पृथ्वी तल पर विकण्टक नामक एक नगर है। वहाँ 'ईश्वर' नाम का एक बडा धनवान् सौदागर रहता था। अवन्ती (उज्जैन) नगर से उसके चार दामाद अतिथि रूप से विकण्टक नगर मे आये। सौदागर ने भोजन-वस्त्रादि द्वारा उनका बडा सत्कार किया। इस तरह वहाँ रहते हुए उन्हे छ मास बीत गये। तब ईश्वर ने अपनी पत्नी से कहा कि—ये दामाद अत्यन्त आदर के कारण अपने घर नही जाते। कहो इस विषय मे तुम्हारी क्या सम्मति है? (मेरी सम्मति मे तो) ये लोग बिना अपमान के नही जायँगे। इसलिये आज भोजन के समय पैर धोने के लिये जल न देना जिससे कि अपना अपमान समझ कर छोडकर चले जायँ। ऐसा करने पर गर्ग पैर धोने के (जल न मिलने से) अपमान से, छोटा आसन देने से सोम, खराब भोजन मिलने से दत्त और गलहत्थी देने से श्यामलक चला गया। इसीलिए मैं कहता हूँ—'गर्गो हि' इत्यादि। (अर्थ गद्यभाग मे ही स्पष्ट है)

तत्किमहं रथकारवन्मूर्खो यतः स्वयमपि दृष्ट्वा ते विकारं पश्चाद्विश्वसिमि। उक्तं च—

क्या मैं रथकार के समान मूर्ख हूँ कि जो स्वय तुम्हारे निन्दित भावो को जानकर भी फिर विश्वास कर लूँ? कहा भी है—

प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे मूर्खः साम्ना प्रशाम्यति ।
रथकारः स्वकां भार्यां सजारां शिरसावहत् ॥ ४८ ॥

मूर्ख मनुष्य अपने सम्मुख किया जाता हुआ पापकर्म देखकर भी सन्तोषजनक वाक्यो से ही प्रसन्न हो जाता है (जैसा कि) किसी रथकार (बढई) ने जार (यार) सहित अपनी पत्नी को शिर पर धारण किया ॥ ४८ ॥

मकर आह—कथमेतत्? वानर आह—

मगर ने कहा वह कैसे? वानर ने कहा—

कथा १०

कस्मिश्चिदधिष्ठाने कश्चिद्रथकार प्रतिवसति स्म । तस्य भार्या पुश्चलीति जनापवादसयुक्ता । सोऽपि तस्या परीक्षार्थ व्यचिन्तयत्—कथ मयाऽस्या परीक्षण कर्तव्यम् । न चैतद्युज्यते कर्तुम् । यत —

किसी शहर मे कोई बढई रहता था, उसकी पत्नी के विषय मे किंवदन्ती थी कि यह व्यभिचारिणी है । उसकी परीक्षा के लिये उसने विचार किया—किस तरह मै इसकी परीक्षा करूँ ? परन्तु यह कहना (परीक्षा करना) उचित नही है । क्योकि—

नदीना च कुलाना च मुनीना च महात्मनाम् ।
परीक्षा न प्रकर्तव्या स्त्रीणा दुश्चरितस्य च ॥ ४९ ॥

नदियो, वशो, मुनियो, महापुरुषो तथा स्त्रियो के दुराचार की परीक्षा नही करनी चाहिए ॥ ४९ ॥

वसोर्वीर्योत्पन्नामभजत मुनिर्मत्स्यतनया,
तथा जातो व्यासो शतगुणनिवास किमपरम् ।
स्वय वेदान्व्यस्यञ्छमितकुरुवशप्रसविता
स एवाभूच्छ्रीमानहह ! विषमा कर्मगतय ॥ ५० ॥

पराशर मुनि ने वसु (देवविशेष) के वीर्य से उत्पन्न मत्स्यपुत्री सत्यवती के साथ सम्भोग किया । उससे व्यास उत्पन्न हुए जो इस प्रकार उत्पन्न होकर भी सैकडो गुणो के आश्रय थे । अधिक क्या कहे—उन्होने नष्ट होते हुए कुलवश को आगे चलाया और स्वय वेदो का विभाग किया, वे अत्यन्त तेजस्वी थे । ओहो ! कर्मों की गति बडी अज्ञेय होती है ॥ ५० ॥

कुलानामिति पाण्डवानामपि महात्मना नोत्पत्तिरधिगन्तव्या यत ते क्षेत्रजा इति । स्त्रीदुश्चरित सघुक्ष्यमाणमनेकदोषान्प्रकटयति स्त्रीणामिति । तथा च—

महात्मा पाण्डवो की भी उत्पत्ति की परीक्षा नही करनी चाहिए, क्योकि वे क्षेत्रज (अन्य पिता से उत्पन्न) थे । (श्लो० ४९ मे 'कुलाना' पद से यह बात बोधित की गई है । इसी प्रकार 'स्त्रीणा' पद से) स्त्रियो के चरित्र की छान-बीन करने से अनेक बुराइयाँ प्रकट होती है (दर्शाई गई है) ।

यदि स्यात्पावक शीत प्रोष्णो वा शशलाञ्छन ।
स्त्रीणा तदा सतीत्व स्यात् यदि स्याद्दुर्जनो हित ॥ ५१ ॥

यदि अग्नि शीतल, चन्द्रमा अत्यन्त उष्ण और दुष्ट पुरुष हितू हो जाय तो स्त्रिया भी सच्चरित्र हो सकती हैं । जिस प्रकार अग्नि आदि का शीतल आदि होना असम्भव है इसी तरह स्त्रियो का सच्चरित्र होना असम्भव है ॥ ५१ ॥

तथापि शुद्धामशुद्धा वापि जानामि लोकवचनात् । उक्त च—

तो भी (यद्यपि स्त्रियो के चरित्र की परीक्षा करना उचित नहीं है) लोगो की बातो को ध्यान मे रखते हुए मैं देखूँ कि यह सच्चरित्र है या नही ? क्योकि—

यन्न वेदेषु शास्त्रेषु न दृष्ट न च सश्रुतम् ।
तत्सर्वं वेत्ति लोकोऽय यत्स्याद् ब्रह्माण्डमध्यगम् ॥ ५२ ॥

जो बात वेदो और शास्त्रो मे नहीं है और न ससार मे देखी वा सुनी गई है तथा जो ब्रह्माण्ड मे अर्थात् समस्त ससार मे कही भी मौजूद हो उस सबको यह ससार जानता है । (तात्पर्य यह है कि मनुष्य किसी भी बात की यथार्थता का ध्यान न रख कर अनर्गल बातें कहा करते हैं अत उन पर सर्वथा विश्वास न करना चाहिए । अतएव मुझे अपनी स्त्री के चरित्र की परीक्षा करना उचित ही है) ॥ ५२ ॥

एव सम्प्रधार्य तामवोचत—प्रिये ! अह प्रातर्ग्रामान्तर यास्यामि, तत्र दिनानि कतिचिल्लगिष्यन्ति, तत्त्वया किञ्चित्पाथेय मम योग्य कार्यम् । सापि तदाकर्ण्य हर्षितचित्तौत्सुक्येन सर्वकार्याणि सन्त्यज्य सिद्धमन्न घृतशर्कराप्रायमकरोत् । अथवा साध्विदमुच्यते—

यह सोचकर उससे (पत्नी से) बोला—प्रिये ! प्रात काल मैं, दूसरे ग्राम को जाऊगा, वहा कुछ दिन लग जायगे ? इसलिये तुम, मेरे लिए कुछ कलेवा बना दो । यह सुन कर उसने प्रसन्नचित्त हो, बडी उत्सुकता से सब काम छोडकर घी और शक्कर से भोजन तैयार किया । अथवा यह ठीक ही कहा जाता है—

दुर्दिवसे घनतिमिरे दु सचारासु नगरवीथीषु ।
पत्यौ विदेशयाते परमसुख जघनचपलाया ॥ ५३ ॥

बादलो के अन्धकार युक्त दुर्दिन मे, अन्धकार के कारण न चलने योग्य शहर की गलियो मे और पति के विदेश चले जाने पर कुलटा स्त्री को परम आनन्द होता है ॥ ५३ ॥

अथासौ प्रत्यूषे उत्थाय स्वगृहान्निर्गत । सापि त प्रस्थित विज्ञाय प्रहसितवदनाङ्गसत्कार कुर्वाणा कथञ्चित्त दिवसमत्यवाहयत् । ततश्च पूर्वपरिचित विटगृह गत्वा तमभ्यर्थ्योक्तवती यद्–'ग्रामान्तर गत. स दुरात्मा मे

पति । तदद्य त्वयाऽस्मद्गृहे प्रसुप्ते जने समागन्तव्यम् ।' तथानुष्ठिते स रथकारोऽप्यरण्ये दिनमतिवाह्य प्रदोषे स्वगृहमपरद्वारेण प्रविष्ट शय्यातले निभृतो भूत्वा स्थित । अत्रान्तरे स देवदत्त शयन आगत्योपविष्ट । त दृष्ट्वा रथकारो रोषाविष्टचित्तो व्यचिन्तयत्—किमेनमुत्थाय विनाशयाम्यथवा द्वावप्येनौ सुप्तौ हेलया हन्मि । पर पश्यामि तावच्चेष्टितमस्या शृणोमि चानेन सहालापान् । अत्रान्तरे सा गृहद्वार निभृत पिधाय शयनतलमारूढा । तस्यास्तच्छयनमारोहन्त्या रथकारशरीरे पादो लग्न । ततो व्यचिन्तयत्—नूनमेतेन दुरात्मना रथकारेण मत्परीक्षणार्थं भाव्यम् । तत्स्त्रीचरित्रविज्ञान किमपि करोमि । एव तस्याश्चिन्तयन्त्या स देवदत्त स्पर्शौत्सुक्यो बभूव । ततश्च तया कृत ञ्जलिपुटयाऽभिहितम्—भो ! महानुभाव ! न मे गात्र त्वया स्प्रष्टव्य, यतोऽह पतिव्रता महासती च, नो चेच्छाप दत्त्वा त्वा भस्मसात्करिष्यामि । स आह—यद्येव तर्हि किमर्थं त्वयाहमाहूत ? सा प्राह—भो ! शृणुष्वैकाग्रमना । अहमद्य प्रत्यूषे देवतादर्शनार्थं चण्डिकायतन गता । तत्राकस्मात् खे वाणी सञ्जाता—पुत्रि ! किं करोमि । भक्तासि म त्वम् । पर षण्मासाभ्यन्तरे विधिनियोगाद्विधवा भविष्यसि । ततो मयाऽभिहितम्— भगवति ! यथा त्वमापद वेत्सि तथा तत्प्रतीकारमपि जानासि । तदस्ति कश्चिदुपायो येन मे पति शतसंवत्सरजीवी भवति ।' ततस्तयाऽभिहितम्—'वत्से ! सन्नपि नास्ति यतस्तवायत्त स प्रतीकार ।' तच्छ्रुत्वा मयाऽभिहितम्—'देवि ! यन्मत्प्राणैर्भवति तदादेशय येन करोमि ।' तता देव्याऽभिहितम्—'यद्यद्य दिने परपुरुषेण सहैकस्मिञ्छयने समारुह्यालिङ्गन करोषि तदा तव भर्तृसक्तोऽपमृत्युस्तस्य सञ्चरति, त्वद्भर्ता पुनर्वर्षशत जीवति ।' तेन मया त्वमभ्यर्थित ।' ततो यत्किञ्चित्कर्तुमनास्तत्कुरुष्व, नहि देवतावचनमन्यथा भविष्यतीति निश्चय । ततोऽन्तर्हासविकासमुख स तदुचितमाचचार ।

अनन्तर, वह (रथकार) प्रात काल उठकर घर से बाहर गया । उसको गया हुआ समझकर रथकार-वधू ने मुसकराते हुए और अङ्गो का सस्कार (सफाई, सजावट) करते हुए बडी कठिनता से वह दिन व्यतीत किया । तब (सायङ्काल) अपने पूर्वपरिचित यार के घर जाकर उसने प्रार्थना करती हुई बोली—वह मेरा दुष्ट पति आज किसी गाँव को गया है इसलिये आज तुम मनुष्यो के सो जाने पर हमारे घर आना । ऐसा करने पर इधर रथकार

भी, जगल मे दिन बिताकर सायङ्काल के समय दूसरे दरवाजे से घर मे प्रविष्ट होकर खाट के नीचे छिपकर बैठ गया। इसी समय वह देवदत्त आकर शय्या पर बैठ गया। उसे देखकर रथकार ने क्रुद्ध हो विचार किया—क्या उठकर इसे मार डालूँ अथवा जब ये दोनो सो जावें तब आसानी से इनको मारूँ, पहिले (मारने से पूर्व) इसकी हरकतें देखूँ और इसके (विट के) साथ इसकी बात-चीत सुनूँ। इसी समय (जब वह सोच रहा था) तब रथकारवधू चुपचाप दरवाजा बन्द कर शय्या पर चढी। चारपाई पर चढते हुए उसका पैर रथकार के शरीर मे लग गया। तब वह सोचने लगी – निश्चय ही, यह दुष्ट (जो इस प्रकार आकर छिपा है) रथकार मेरी परीक्षा के लिए (छिपा) है, इसलिये इसे, कुछ त्रिया-चरित्र दिखाऊँ। जब वह इस प्रकार सोच रही थी तब वह देवदत्त आलिङ्गन करने के लिये उद्यत हुआ। उस समय उसने हाथ जोडकर कहा—हे महापुरुष ! तुम मेरा शरीर न छूना, क्योंकि मैं पतिव्रता (पति के प्रति भक्तिमती) और परम साध्वी हूँ। अन्यथा शाप देकर तुम्हे भस्म कर दूँगी। उसने कहा—यदि यह बात है तो तुमने मुझे क्यो बुलाया है ? वह बोली—एकाग्रमन से ध्यान देकर सुनो—आज मै प्रात काल देवता के दर्शन करने के लिये चण्डी देवी के मन्दिर मे गई थी। उसी समय, अकस्मात् आकाशवाणी हुई—पुत्रि ! क्या करूँ तू मेरी भक्त है, परन्तु भाग्यवश छ महीने मे तू विधवा हो जायगी। तब मैंने कहा—भगवति ! जैसे तुम विपत्ति को जानती हो उसी प्रकार उसका प्रतीकार उपाय भी जानती हो, इसलिए बताओ कि क्या ऐसा कोई उपाय है जिससे मेरा पति शतायु (सौ वर्ष की आयु वाला) हो। तब उसने कहा—वत्से ! होते हुए भी नही है क्योकि वह उपाय तुम्हारे अधीन है (और तुम वैसा करना स्वीकार नही करोगी)। यह सुनकर मैंने कहा—देवि ! अगर मैं अपने प्राण देकर भी कर सकूँगी, तो करूँगी आप आज्ञा दें जिससे मैं उसे करूँ। तब देवी नें कहा—यदि आज तू एक शय्या पर बैठकर पर-पुरुष का आलिङ्गन करेगी तो तेरे पति की अपमृत्यु उस पुरुष को लग जायगी और तुम्हारा पति सौ वर्ष जियेगा। इसीलिए, मैंने तुम्हे बुलाया है अत तुम जो करना चाहो सो करो, क्योंकि यह निश्चय है कि देवता का वचन अन्यथा (मिथ्या) नही हो सकता। उसने जो कुछ कहा है वह सत्य ही है इससे मेरा पति अवश्य चिरञ्जीवी होगा)। तब मन ही मन प्रसन्न होते हुए उस (देवदत्त) ने जो उचित था सो किया।

सोऽपि रथकारो मूर्खस्तस्यास्तद्वचनमाकर्ण्य पुलकाङ्किततनु शय्यातलान्निष्क्रम्य तामुवाच -साधु पतिव्रते ! साधु कुलनन्दिनि ! साधु ! अह दुर्जनवचनशङ्कितहृदयस्त्वत्परीक्षार्थं ग्रामान्तरव्याज कृत्वात्र निभृत खट्वातले लान. स्थित । तदेहि, आलिङ्गय माम् । त्व स्वभर्तृभक्ताना मुख्या नारीणाम्, यदेव ब्रह्मव्रत परसङ्गेऽपि पालितवती, मदायुर्वृद्धिकृतेऽपमृत्युविनाशार्थञ्च त्वमेव कृतवती। तामेवमुक्त्वा सस्नेहमालिंगितवान् । स्वस्कन्धे तामारोप्य तमपि देवदत्तमुवाच—'भो, महानुभाव ! मत्पुण्यैस्त्व महागत । त्वत्प्रसादात्प्राप्तामद्य मया वर्षशतप्रमाणमायु । ततस्त्वमपि मा समालिङ्गय स्कन्ध मे समारोह' इति जल्पन्ननिच्छन्तमपि देवदत्त बलादालिगय्य स्कन्धे समारोपितवान् । ततश्च तूर्यध्वनिच्छन्देन नृत्यन्सकलगृहद्वारेषु बभ्राम । अतोऽह ब्रवीमि 'प्रत्यक्षेऽपि कृते पापे' इति । तन्मूढ दृष्टविकारस्त्वम्, तत्कथ तत्र गृह गच्छामि । अथवा यन्मा त्व विश्वासयसि तत्ते दोषो नास्ति यत् ईदृशी स्वभावदुष्टा युष्मज्जातिर्या शिष्टसङ्गादपि सौम्यत्व न याति । अथवा स्वभावोऽय दुष्टानाम् । उक्त च—

वह मूर्ख रथकार, उसकी ये बातें सुनकर रोमाञ्चित हो शय्या के नीचे से निकलकर उससे बोला—हे पतिव्रते ! तुझे धन्यवाद है । दुष्टो के वचनो से मेरे हृदय मे तेरे (चरित्र के विषय मे) सन्देह हो गया था, इसीलिए तुम्हारी परीक्षा के लिए गाँव जाने का बहाना करके, यहाँ खाट के नीचे छिपा हुआ बैठा था । आओ, मुझे आलिङ्गन करो । तू, स्वामिभक्त स्त्रियो मे मुख्य है क्योकि तूने, परपुरुष का ससर्ग होने पर भी इस प्रकार ब्रह्मव्रत का पालन किया है । तूने, केवल मेरी आयुवृद्धि तथा अपमृत्यु के नाश के लिए ऐसा किया । यह कहकर प्रेमपूर्वक उसका आलिङ्गन किया और उसे कन्धे पर बैठाकर देवदत्त से भी कहने लगा—'हे महापुरुष ! मेरे पुण्यो के कारण ही तुम यहाँ आये हो तुम्हारी कृपा से मैंने १०० वर्ष की आयु पायी है, इसलिए तुम भी मुझे आलिङ्गन करा और मेरे कन्धे पर चढो । यह कहकर उसकी इच्छा न होते हुए भी देवदत्त को जबरदस्ती आलिङ्गन कर अपने कन्धे पर बैठा लिया । अनन्तर, बाजे के शब्द को सुनकर नाचता हुआ घर के सब दरवाजो पर नाचा । इसलिए मैं कहता हूँ 'प्रत्यक्षेऽपि कृने पापे' इत्यादि (श्लो० ४८) । अरे मूर्ख ! तेरे चित्त की दुष्ट भावनायें मैं देख चुका

हूँ । फिर तेरे घर कैसे जा सकता हूँ ? अथवा जो तू मुझे विश्वास दिला रहा है इसमे तेरा दोष नही है । क्योकि तुम्हारी जाति स्वभाव से ही ऐसी दुष्ट है कि वह सज्जनो का सङ्ग पाकर भी नही सुधरती । यह दुष्टो का स्वभाव ही है । कहा भी है—

सद्भि सम्बोध्यमानोऽपि दुरात्मा पापपौरुष ।
घृष्यमाण इवाङ्गारो निर्मलत्व न गच्छति ॥ ५४ ॥

दुष्ट स्वभाव, पापकर्म मे रत (लगा हुआ) पुरुष सज्जनो से उपदेश दिये जाने पर भी सत्स्वभाव नही होता, जैसे कि कोयला घिसने पर भी सफेद नही होता ॥ ५४ ॥

तन्मूर्ख ! स्त्रीलुब्ध ! स्त्रीजित अन्येपि ये त्वद्विधा भवन्ति ते स्व-कार्यं विभव मित्र च परित्यजन्ति तत्कृते । उक्त च—

अरे मूर्ख । पत्नी-सक्त, भार्याधीन ! अन्य पुरुष भी, जो तेरे समान (स्त्रीवश्य होता है वह) स्त्री के लिए अपना कार्य, ऐश्वर्य तथा मित्र को भी छोड देता है । कहा भी है—

या ममोद्विजते नित्य साद्य मामवगूहते ।
प्रियकारक ! भद्र ते यन्ममास्ति हरस्व तत् ॥ ५५ ॥

जो मेरी पत्नी सर्वदा मुझसे घृणा का व्यवहार करती रही आज वही मुझे आलिङ्गन कर रही है । हे मेरे अभीष्ट कार्य के करनेवाले ! मेरा जो कुछ है वह सब तुम ले लो ॥ ५५ ॥

मकर आह—कथमेतत् ? वानरोऽब्रवीत्—

मगर ने कहा यह कैसे ? वानर ने कहा—

कथा ११

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कामातुरो नाम महाधनो वृद्धवणिक् । तेन मृतभार्येण कामोपहतचेतसा काचिन्निर्धनवणिक्सुता प्रभूत वित्त दत्त्वोद्वाहिता अथ सा दु खाभिभूता त वृद्धवणिज द्रष्टुमपि न शशाक । अथवा साध्विदमुच्यते—

किसी नगर मे 'कामातुर' नामक एक महाधनवान् वृद्ध बनिया रहता था । उसने पत्नी मर जाने पर भोगवासनाओ मे लिप्त-मन होने के कारण किसी गरीब वैश्य की पुत्री के साथ बहुत-सा धन देकर विवाह किया । परन्तु वह

(वैश्यपुत्री) दुखी रहती और उस वृद्ध वैश्य (अपने पति) को देख भी नही सकती थी। यह ठीक ही कहा है—

श्वेत पद शिरसि यत्तु शिरोरुहाणा,
स्थान पर परिभवस्य तदेव पुसाम्।
आरोपितास्थिशकल परिहृत्य यान्ति
चाण्डालकूपमिव दूरतर तरुण्य ॥ ५६ ॥

सिर पर केशो का श्वेत चिह्न (बालो का सफेद होना) ही मनुष्यो के अनादर का मुख्य कारण है क्योकि जिस प्रकार मनुष्य जिस पर हड्डी का टुकडा रक्खा हुआ हो ऐसे चाण्डालो के कुएँ को छोडकर दूर से ही चले जाते है। इसी प्रकार वृद्ध पुरुष को युवतिया दूर से ही छोड देती है—उसके पास भी नही फटकती, सभोग आदि का तो कहना ही क्या है। (पुराने समय मे यह प्रथा थी कि पहचानने के लिए चाण्डालो के कुओ पर हड्डी का टुकडा रख दिया जाता था जिससे अपरिचित मनुष्य भी उसे देखकर समझ जाते थे कि यह चाण्डालो का कूप है) ॥

तथा च गात्र सङ्कुचित गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशङ्गता।
दृष्टिर्भ्राम्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्र च लालायते।
वाक्य नैव करोति बान्धवजन पत्नी न शुश्रूषते,
हा कष्ट जरयाभिभूतपुरुष पुत्रैरवज्ञायते ॥५७॥

(वृद्ध पुरुष के) अङ्ग सिकुड गये हैं, चाल लडखडाने लगी, दांत टूट गये, दृष्टि घूमने लगी, रूप भी विकृत हो गया है, मुख से लार टपकने लगी है। कुटुम्बी लोग आज्ञा नही मानते, पत्नी भी सेवा नही करती, कितने दु ख की बात है कि बुढापे से आक्रान्त पुरुष का पुत्र भी अनादर करते हैं ॥ ५७ ॥

अथ कदाचित् सा तेन सहैकशयने पराङ्मुखी यावत्तिष्ठति तावत्तस्य गृहे चौर प्रविष्ट। सापि त चौरमवलोक्य भयव्याकुला वृद्धमपि त पति गाढ समालिलिङ्ग। सोऽपि विस्मयात् पुलकाङ्कितसर्वगात्रश्चिन्तयामास—अहो! किमेषा मामद्यावगूहते। अहो चित्रमेतत्। ततश्च यावन्निपुणतयावलोकयति तावत् चौर प्रविष्ट कोणैकदेशे तिष्ठति। पुनरप्यचिन्तयत्—नूनमेषा चौरस्य भयान्मामालिङ्गति। तज्ज्ञात्वा चौरमाह—'या ममोद्विजते नित्य सा–' इति (श्लो० ५५)। भूयोऽपि निर्गच्छन्तमवादीत्—'भो चोर! नित्यमेव त्वया रात्रावागन्तव्यम् मदीयोऽय विभवस्त्वदीय' इति। अतोऽह ब्रवीमि—'या ममोद्विजते'

इत्यादि । किं बहुना—तेन च स्त्रीलुब्धेन स्व सर्वमपि चौरस्य समर्पितम् । त्वयापि तथानुष्ठितम् ।

अनन्तर एक समय वह उस (पति) के साथ शय्यापर मुख फेरे हुए सो रही थी । उस समय कोई चोर घर मे घुस आया । उस चोर को देखकर वह भयभीत हो वृद्ध पति को आलिङ्गन करने लगी । आश्चर्य के कारण उस वृद्ध के सब अङ्ग रोमाञ्चित हो गये और वह सोचने लगा 'आज यह क्यो मेरा आलिङ्गन कर रही है यह तो बडे आश्चर्य की बात है' (यह सोच कर जब उसने सावधानी से इधर-उधर देखा तो घुसे हुए चोर को एक कोने मे खडा हुआ पाया । उसने फिर यह विचार किया कि—'निश्चय ही यह इस चोर के भय से मुझे आलिङ्गन कर रही है ।' यह समझ कर चोर से कहा—'या ममोद्विजते' इत्यादि (श्लो० ५५) निकलते हुए चोर से फिर भी कहा—हे चोर ! रात मे तुम प्रतिदिन यहा आना, यह मेरा सारा ऐश्वर्य तुम्हारा ही है ।' इसलिये मैं कहता हू—'या ममोद्विजते' इत्यादि । और क्या ? इस प्रकार उसने अपना सर्वस्व चोर को समर्पित कर दिया । तूने भी वैसा ही किया है ।

अथैव तेन सह वदतो मकरस्य जलचरेणैकेनागत्याभिहितम्—'भो मकर, त्वदीया भार्यानशनोपविष्टा त्वयि चिरयति प्रणयाभिभवाद्विपन्ना ।' एव तद्वज्रपातसदृशवचनमाकर्ण्यातीवव्याकुलितहृदय प्रलपितमेव चकार—'अहो किमिद सजात मे मन्दभागस्य । उक्त च—

जब वह मगर इस प्रकार उस वानर के साथ बातचीत कर रहा था तब एक दूसरे जलचर ने आकर कहा—हे मगर ! अनशन व्रत धारण किये हुए तुम्हारी भार्या, तुम्हे देर होने पर अपने प्रेम का अपमान समझ कर मर गई । यह सुन वह अत्यन्त उद्विग्न हो विलाप करने लगा—मुझ अभागे पर यह क्या आफत आ गई है । कहा भी है—

न गृह गृहमित्याहुर्गृहणी गृहमुच्यते ।
गृह तु गृहिणीहीन कान्ताराान्नातिरिच्यते ॥ ५८ ॥

घर-घर नही कहलाता किन्तु भार्या ही घर कही जाती है । पत्नीशून्य घर जङ्गल से बढ कर होता है ॥ ५८ ॥

अन्यच्च—वृक्षमूलेऽपि दयिता यत्र तिष्ठति तद्गृहम् ।
प्रासादोऽपि तया हीनोऽरण्यसदृश स्मृतः ॥ ५९ ॥

और भी—जहाँ वृक्ष के नीचे भी प्रिया मौजूद हो वह वृक्षमूल ही घर है और दयिता से सूना राजमहल भी अरण्यतुल्य समझा जाता है ॥ ५९ ॥

माता यस्य गृहे नास्ति भार्या च प्रियवादिनी ।
अरण्य तेन गन्तव्य यथारण्य तथा गृहम् ॥ ६० ॥

जिस पुरुष के घर मे माता तथा मधुरभाषिणी पत्नी नही है उसे अरण्य चले जाना चाहिए । क्योकि उसके लिये जैसा अरण्य है वैसा ही घर है ॥ ६० ॥

तन्मित्र, क्षम्यताम् । मया तेऽपराध कृत । सप्रत्यह तु स्त्रीवियोगाद्वैश्वानरप्रवेश करिष्यामि ।' तत् श्रुत्वा वानर प्रहसन्प्रोवाच—'भो, ज्ञातो मया प्रथममेव यत्त्व स्त्रीवश्य स्त्रीजितश्च । साप्रत च प्रत्यय सजात । तन्मूढ, आनन्देऽपि जाते त्व विषाद गत । तादृग्भार्याया मृतायामुत्सव कर्तुं युज्यते । उक्त च यत —

सो मित्र ! माफ करना, मैंने बहुत बडा अपराध किया है । मैं अब स्त्रीवियोग से अग्नि मे प्रविष्ट होकर जल मरूँगा । यह सुनकर वानर हँसता हुआ बोला—भाई ! यह मैंने पहले ही समझ लिया था कि तुम स्त्री के वशीभूत और अधीन हो । अब पूरा विश्वास हो गया । ओ मूर्ख ! आनन्द के समय भी तू विषाद करता है ? ऐसी स्त्री के मरने पर तो उत्सव मनाना चाहिए । कहा भी है—

या भार्या दुष्टचारित्रा सतत कलहप्रिया ।
भार्यारूपेण सा ज्ञेया विदग्धैर्दारुणा जरा ॥ ६१ ॥

जिसका चरित्र शुद्ध नही और जो सर्वदा कलह (झगडा) पसन्द करती है, विद्वानो को चाहिए कि ऐसी पत्नी को भार्यारूप मे भयङ्कर वृद्धावस्था ही समझें ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन नामापि परिवर्जयेत् ।
स्त्रीणामिह हि सर्वासा य इच्छेत्सुखमात्मन. ॥ ६२ ॥

इसलिये, इस ससार मे जो मनुष्य अपनी भलाई चाहे वह सब प्रकार की स्त्रियो का नाम भी छोड दे, (उनके सम्भोग आदि का तो कहना ही क्या है) ॥ ६२ ॥

यदन्तस्तन्न जिह्वाया यज्जिह्वाया न तद्बहि ।
यद्बहिस्तन्न कुर्वन्ति विचित्रचरिता स्त्रिय ॥ ६३ ॥

स्त्रियो के मन मे जो रहता है वह जिह्वा मे नही जो जिह्वा मे रहता है वह बाहर नही (और जो कल्याण की बात होती है उसे करने की वे इच्छा नही करती हैं ।) स्त्रियो का चरित्र ही विचित्र होता है ॥ ६३ ॥

के नाम न विनश्यन्ति मिथ्याज्ञानान्नितम्बिनीम् ।
रम्या वे उपसर्पन्ति दीपाभा शलभा यथा ॥ ६४ ॥

जो मनुष्य बुद्धिभ्रम से स्त्री को मनोहर समझ कर सेवन करते हैं उनमे कौन ऐसा है जो नष्ट नही होता, दीपशिखा पर गिरने वाले पतङ्गो के समान सब ही नष्ट हो जाते है ॥ ६४ ॥

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमा ।
गुञ्जाफलसमाकारा' स्वभावादेव योषित ॥ ६५ ॥

क्योकि ये स्त्रियाँ, गुञ्जाफल (चौटली, घूँघची) के समान स्वभाव से ही मन मे विषपूर्ण और बाहर मनोरम होती है ॥ ६५ ॥

ताडिता अपि दण्डेन शस्त्रैरपि विखण्डिता ।
न वश योषितो यान्ति न दानैर्न च सस्तवैः ॥ ६६ ॥

दण्डे से पीटने, शस्त्रो से घायल करने, दान और प्रशसा के द्वारा भी स्त्रिया वश मे नही होती ॥ ६६ ॥

आस्ता तावत्किमन्येन दौरात्म्येनेह योषिताम् ।
विधृत स्वोदरेणापि घ्नन्ति पुत्र स्वक रुषा ॥ ६७ ॥

स्त्रियो की अन्य किसी दुष्टता को जाने दीजिये, उसका वर्णन न करना ही अच्छा है, यही क्या कम है वे अपने उदर मे धारण किये हुए अपने पुत्र को भी क्रोध से मार डालती हैं ॥ ६७ ॥

'रूक्षाया स्नेहसद्भाव कठोराया सुमार्दवम् ।
नीरसाया रस बालो बालिकाया विकल्पयेत्' ॥ ६८ ॥

स्त्री के स्वभाव को न समझने वाला मूर्ख पुरुष कठोर चित्त वाली स्त्री मे प्रेम भाव, निष्ठुर मे कोमलता और स्नेहशून्य मे अनुराग की भले ही कल्पना करे, किन्तु विद्वान् लोग ऐसा नही करते ॥ ६८ ॥

मकर आह—'भो मित्र, अस्त्वेतत् । पर किं करोमि । ममानर्थद्वय-मेतत्सजातम् । एकस्तावद् गृहभङ्ग , अपरस्त्वद्विधेन मित्रेण सह चित्त-विश्लेष । अथवा भवत्येव दैवयोगात् । उक्त च यत —

मगर ने कहा—हे मित्र! यह बात (स्त्रियो के सबन्ध मे जो आपने कहा) ठीक है । परन्तु मैं क्या करूँ, मेरे तो दो अनर्थ हो गये । प्रथम तो स्त्री-विनाश और द्वितीय तुम्हारे जैसे मित्र के साथ चित्त का फटना । अथवा, भाग्य से सताये हुए पुरुषो को ऐसा हुआ ही करता है । कहा भी है—

'यादृश मम पाण्डित्य तादृश द्विगुण तव।
नाभूज्जारो न भर्ता च किं निरीक्षसि नग्निके' ॥ ६९ ॥

जैसा मेरा चातुर्य है तुम्हारा उसी तरह का मुझ से दूना है। तुम्हारा न तो स्वामी रहा और न यार ही रहा। हे नग्निके! तू क्या देख रही है ॥६९॥

वानर आह— कथमेतत्?' मकरोऽब्रवीत्—

वानर ने कहा—यह कैसे? मगर ने कहा—

कथा १२

कस्मिश्चिदधिष्ठाने हालिकदम्पती प्रतिवसत स्म। सा च हालिक-भार्या पत्युर्वृद्धभावात्सदैवान्यच्चित्ता न कथञ्चिद् गृहे स्थैर्यमालम्बते। केवल परपुरुषानन्वेषमाणा परिभ्रमति। अथ केनचित्परवित्तापहारकेण धूर्तेन सा लक्षिता विजने प्रोक्ता च—'सुभगे, मृतभार्योऽहम्। त्वद्दर्शनेन स्मरपीडितश्च। तद्दीयता मे रतिदक्षिणा।' ततस्तयाभिहितम्—'भो सुभग, यद्येव तदस्ति मे पत्यु प्रभूत धनम्। स च वृद्धत्वात्प्रचलितुम-प्यसमर्थ। ततस्तद्धनमादायाहमागच्छामि। येन त्वया सहान्यत्र गत्वा यथेच्छया रतिसुखमनुभविष्यामि।' सोऽब्रवीत्—'रोचते मह्यमप्येतत्। तत्प्रत्यूषेऽत्र स्थाने शीघ्रमेव समागन्तव्यम्, येन शुभतर किंचिन्नगर गत्वा त्वया सह जीवलोक सफलीक्रियते' सापि 'तथा' इति प्रतिज्ञाय प्रहसितवदना स्वगृह गत्वा रात्री प्रसुप्ते भर्तरि सर्व वित्तमादाय प्रत्यूष-समये तत्काथतस्थानमुपाद्रवत्। धूर्तोऽपि तामग्रे विधाय दक्षिणा दिश-माश्रित्य सत्वरगति प्रस्थित।

किसी स्थान मे किसान पति-पत्नी रहते थे। पति के वृद्ध होने के कारण किसान की पत्नी का चित्त सदा अन्य पुरुषो मे लगा रहता था, किसी प्रकार भी वह घर मे स्थिर नही रहती थी। केवल अन्य पुरुषो की तलाश करती हुई घूमा करती थी। एक समय दूसरो का धन हरने वाले किसी धूर्त ने उसको देखकर ताड गया और एकान्त मे उससे कहा—हे सुन्दरि! मेरी पत्नी मर चुकी है और तुम्हारे सौन्दर्य को देखकर काम ने मुझे हृदय मे पीडित कर दिया है। इसलिये मुझे रतिदक्षिणा दो। तब उसने कहा—'हे सुभग! अगर ऐसा है तो (ठीक है) मेरे पति के पास बहुत धन है परन्तु वृद्ध होने के कारण वह चलने मे भी असमर्थ है, इसलिये उसका धन लेकर मैं आती हूँ जिससे तेरे साथ किसी

दूसरे स्थान पर जाकर रति-सुख भोगूँगी ।' उसने कहा—'यह बात मुझे भी पसन्द है, प्रातःकाल तुम यहाँ शीघ्र ही आ जाना, जिससे किसी उत्तम नगर मे पहुँच कर तेरे साथ संसार का सुख भोगूँ ।' वह भी 'ऐसा ही होगा' ऐसी प्रतिज्ञा कर प्रसन्न हो अपने घर गई और रात्रि मे पति के सो जाने पर सब धन लेकर, प्रातःकाल निर्दिष्ट स्थान पर पहुँची । धूर्त भी उसे आगे करके दक्षिण की तरफ जल्दी-जल्दी रवाना हुआ ।

एवं तयोर्व्रजतोर्योजनद्वयमात्रेणाग्रतः काचिन्नदी समुपस्थिता । तां दृष्ट्वा धूर्तश्चिन्तयामास—'किमहमनया यौवनप्रान्ते वर्तमानया करिष्यामि । किंच कदाप्यस्याः पृष्ठतः कोऽपि समेष्यति, तन्मे महाननर्थः स्यात् । तत्केवलमस्या वित्तमादाय गच्छामि ।' इति निश्चित्य तामुवाच—'प्रिये, सुदुस्तरेयं महानदी । तदहं द्रव्यमात्रां पारे धृत्वा समागच्छामि । ततस्त्वामेकाकिनीं स्वपृष्ठमारोप्य सुखेनोत्तारयिष्यामि ।' सा प्राह—सुभग, एवं क्रियताम् । इत्युक्त्वाशेषं वित्तं तस्मै समर्पयामास । अथ तेनाभिहितम्— भद्रे, परिधानाच्छादनवस्त्रमपि समर्पय, येन जलमध्ये निःशङ्का व्रजसि ।' तथानुष्ठिते धूर्तो वित्तं वस्त्रयुगलं चादाय यथाचिन्तितविषयं गतः । सापि कण्ठनिवेशितहस्तयुगला सोद्वेगा नदीपुलिनदेश उपविष्टा यावत्तिष्ठति, तावदेतस्मिन्नन्तरे काचिच्छृगालिका मांसपिण्डगृहीतवदना तत्राजगाम । आगत्य च यावत्पश्यति, तावन्नदीतीरे महान्मत्स्यः सलिलान्निष्क्रम्य बहिः स्थित आस्ते । एतं च दृष्ट्वा सा मांसपिण्डं समुत्सृज्य तं मत्स्यं प्रत्युपाद्रवत् । अत्रान्तरे आकाशादवतीर्य कोऽपि गृध्रस्तं मांसपिण्डमादाय पुनः खमुत्पपात । मत्स्योऽपि शृगालिकां दृष्ट्वा नद्यां प्रविवेश । सा शृगालिका व्यर्थश्रमा गृध्रमवलोकयन्ती तया नग्निकया सस्मितमभिहिता—

इस प्रकार, जब वे दोनो जा रहे थे तब दो योजन (८ कोस) आगे प्राप्त हुई नदी को देखकर धूर्त ने विचार किया—जवानी के किनारे पर (प्रौढावस्था मे वर्तमान) पहुँची हुई इसका मैं क्या करूँगा । और भी, यदि कोई इसके पीछे (तलाश करने के लिए) आया तो मुझे बडी भारी विपत् मे फँसना पडेगा । इसलिए, केवल इसका धन लेकर चला जाऊँ । यह निश्चय कर (उसने) उससे कहा—हे प्रिये ! इस महानदी का पार करना बडा कठिन है इसलिए (प्रथम) धन को पार मे रखकर आता हूँ । फिर तुम्हे अपनी

पीठ पर चढाकर आसानी से पार ले जाऊँगा।' उसने कहा—'सुभग ! ऐसा ही करो।' यह कहकर सारा धन उसे (धूर्त्त को) सौंप दिया। तब धूर्त ने फिर कहा— 'हे भद्रे ! ओढने-पहनने के कपड़े भी दो जिससे जल मे निर्भय चल सकोगे।' वैसा ही करने पर—वस्त्र भी सौंप देने पर—धूर्त धन तथा दोनो वस्त्र लेकर अपने मन चाहे स्थान को चला गया। वह (स्त्री भी) गले मे दोनो हाथ डाले हुए (उरोज ढकने के लिए) नदी के किनारे जब बैठी हुई थी उसी समय मुख मे मासपिण्ड लिए हुए कोई शृगाली वहा आई। उसने वहाँ आकर देखा कि एक बडा भारी मत्स्य जल से निकलकर बाहर बैठा हुआ है। यह देख, वह शृगाली मासपिण्ड छोडकर उस मत्स्य की तरफ दौडी। इसी समय आकाश से उतर कर कोई गिद्ध उस मासपिण्ड को लेकर आकाश मे उड गया। इधर, मत्स्य भी शृगाली को देखकर जल मे घुस गया। इस प्रकार शृगाली का सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया और वह गिद्ध की तरफ देखने लगी। तब उस स्त्री ने मुस्कराकर कहा—

'गृध्रेणापहृत मास मत्स्योऽपि सलिलं गत ।
मत्स्यमासपरिभ्रष्टे किं निरीक्षसि जम्बुके' ॥ ७० ॥

गिद्ध ने मास हर लिया और मत्स्य भी जल मे घुस गया। हे मत्स्य और मास दोनो को खाने वाली शृगाली ! अब तू क्या ताक रही है ॥ ७० ॥

तच्छ्रुत्वा शृगालिकातामपि पतिधनजारपरिभ्रष्टा दृष्ट्वा सोपहासमाह—'यादृश मम पाण्डित्य' मित्यादि (श्लो० ६९)

यह सुन शृगालिका ने भी पति, धन और जार तीनो से बिछुडी हुई उस स्त्री से उपहासपूर्वक कहा—'यादृश मम पाण्डित्यम्' इत्यादि।

एव तस्य कथयत पुनरन्येन जलचरेणागत्य निवेदितम्—'यदहो, त्वदीय गृहमप्यपरेण महामकरेण गृहीतम्।' तच्छ्रुत्वासावतिदुःखित मनास्तं गृहान्नि सारयितुमुपाय चिन्तयन्नुवाच—'अहो, पश्यता मे दैवोपहतत्वम्।

जब वह इस प्रकार कह रहा था उसी समय किसी अन्य जलचर ने आकर कहा 'तुम्हारा घर भी अन्य महामकर ने घेर लिया है।' यह सुनकर वह अत्यन्त दुःखित हो उस मकर को घर से निकालने का उपाय सोचने लगा (कहने लगा कि) मेरा दुर्भाग्य देखो—

मित्र ह्यमित्रता यातमपर मे प्रिया मृता ।
गृहमन्येन च व्याप्त किमद्यापि भविष्यति ॥ ७१ ॥

मित्र शत्रु हो गया, मेरी पत्नी भी मर गई और घर भी दूसरे नेघेर लिया, न मालूम अब और क्या होगा ॥ ७१ ॥

अथवा युक्तमिदमुच्यते—

अथवा यह ठीक ही कहा है—

क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णमन्नक्षये वर्धति जाठराग्नि ।
आपत्सु वैराणि समुद्भवन्ति वामे विधौ सर्वमिद नराणाम् ॥ ७२ ॥

घाव मे ही हमेशा चोट लगा करती है, धनाभाव मे भूख भी बढ जाती है, विपत्ति काल मे शत्रुता उठ खडी होती है, इस प्रकार मनुष्य की विपन्नावस्था मे ही सब अनर्थ बढ जाया करते हैं। (पाठान्तर मे—भाग्य के प्रतिकूल होने पर मनुष्यो के ऊपर ये सब विपत्तियाँ पडती हैं) ॥ ७२ ॥

तत्कि करोमि । किमनेन सह युद्ध करोमि । किं वा साम्नैव सबोध्य गृहान्नि सारयामि । किं वा भेद दान वा करोमि । अथवामुमेव वानरमित्र पृच्छामि । उक्त च—

तब, क्या उसके साथ युद्ध करूँ, अथवा शान्ति से समझा कर ही घर से निकालूँ ? किंवा भेद अथवा दान करूँ (किसी दूसरे से लडाकर इसका नाश करूँ अथवा कुछ देकर निकालूँ) अथवा इस मित्र वानर से ही पूछूँ । कहा भी है—

'य पृष्ट्वा कुरुते कार्यं प्रष्टव्यान् स्वहितान् गुरून् ।
न तस्य जायते विघ्न कस्मिंश्चिदपि कर्मणि' ॥७३॥

जो मनुष्य, पूछने योग्य पुरुषो से (अपने बडे व मित्रो से) जिनका उपदेश लाभदायक होता है, पूछकर कार्य करता है उसके किसी भी कार्य मे विघ्न उपस्थित नही होता ॥ ७३ ॥

एव सप्रधार्य भूयोऽपि तमेव जम्बूवृक्षमारूढ कपिमपृच्छत्—'भो मित्र, पश्य मे मन्दभाग्यताम् । तत्सप्रति गृहमपि मे बलवत्तरेण मकरेण रुद्धम् । तदह त्वा प्रष्टुमभ्यागत । कथय किं करोमि ? सामादीनामुपायाना मध्ये कस्यात्र विषय स आह—'भोः कृतघ्न पापचारिन्, मया निषिद्धोऽपि किं भूयो मामनुसरसि । नाह तव मूर्खस्योपदेशमपि दास्यामि ।'

यह विचार कर जबू वृक्ष पर चढे हुए वानर से फिर पूछा—हे मित्र ! मेरा दुर्भाग्य देखो, मेरा घर भी किसी बलवान् मकर ने घेर लिया है । इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ, कहो, क्या करूँ । साम आदि (चार) उपायो मे से यहाँ किसका उपयोग है ?' उसने कहा—अरे कृतघ्न ! जब कि मैं तुझे (अपने

पास आने को) मना कर चुका तब फिर क्यो मेरे पीछे लगा है, मैं तुझ मूर्ख को उपदेश भी देना नही चाहता ।

तच्छ्रुत्वा मकर प्राह—'भो मित्र, सापराधस्य मे पूर्वस्नेहमनुस्मृत्य हितोपदेश देहि ।' वानर आह—'नाह ते कथयिष्यामि । यद्भार्यावाक्येन भवताह समुद्रे प्रक्षेप्तु नीत । तदेव न युक्तम् । यद्यपि भार्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति, तथापि न मित्राणि बान्धवाश्च भार्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते । तन्मूर्ख, मूढत्वेन नाशस्तव मया प्रागेव निवेदित आसीत् । यत —

यह सुनकर मकर ने कहा—हे मित्र ! यद्यपि मैं आपका अपराधी हूँ तथापि पथम स्नेह का स्मरण कर मुझे कोई उपाय बताओ ।' वानर बोला—मैं नही कहूँगा क्योकि तुम मुझे स्त्री के कहने से समुद्र मे डुबाने के लिए ले गये थे । यह उचित नही था । यद्यपि यह ठीक है कि पत्नी समस्त ससार से (सब लोगो से) प्यारी होती है तो भी स्त्री के लिए मित्र तथा कुटुम्बी समुद्र मे नही फेंके जाते । अरे मूर्ख ! मूर्खता के कारण तेरे सर्वनाश की बात मैंने पहले ही कही थी । (तुझे धिक्कार है जो तूने स्त्री के लिए यह दुष्कर्म करना प्रारम्भ किया था । स्त्रियो का तो किसी भी दशा मे विश्वास न करना चाहिये ।) क्योकि—

सता वचनमादिष्ट मदेन न करोति य ।
स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट्र इव सत्वरम् ॥ ७४ ॥

जो मनुष्य, मूर्खता के कारण सज्जनो के बताये हुए वचनो का तिरस्कार करता है—उनके अनुसार कार्य नही करता—वही पुरुष, सिंह से दासेरक—ऊँट के बच्चे के समान नाश को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

मकर ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा १२

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकार प्रतिवसति स्म । स चातीव दारिद्र्योपहतश्चिन्तितवान्—'अहो धिगियं दरिद्रतास्मद्गृहे । यत सर्वोऽपि जन स्वकर्मणैव रतस्तिष्ठति । अस्मदीय पुनर्व्यापारो नात्राधिष्ठानेऽर्हति । यत सर्वलोकाना चिरन्तनाश्चतुर्भूमिका गृहा सन्ति । मम च नात्र । तत्किं मदीयेन रथकारत्वेन प्रयोजनम् । इति चिन्तयित्वा

देशान्निष्क्रान्तः। यावत्किंचिद्वन गच्छति तावद्गह्वराकारवनगहनमध्ये सूर्यास्तमनवेलाया स्वयूथाद् भ्रष्टा प्रसववेदनया पीड्यमानामुष्ट्रीमपश्यत्। स च दासेरकयुक्तामुष्ट्री गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुख प्रस्थित । गृहमासाद्य रज्जु गृहीत्वा तामुष्ट्रिका बबन्ध। ततश्च तीक्ष्ण परशुमादाय तस्या पल्लवानयनार्थं पर्वतैकदेशे गत। तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि पल्लवानि छित्वा शिरसि समारोप्य तस्याग्रे निचिक्षेप। तया च तानि शनै. शनैर्भक्षितानि। पश्चात्पल्लवभक्षणप्रभावादहर्निश पीवरतनुरुष्ट्री सजाता। सोऽपि दासेरको महानुष्ट्रः सजात। तत स नित्यमेव दुग्ध गृहीत्वा स्वकुटुम्ब परिपालयति। अथ रथकारेण वल्लभत्वाद्दासेरक-ग्रीवाया महती घण्टा प्रतिबद्धा। पश्चाद्रथकारो व्यचिन्तयत्—'अहो किमन्यैर्दुष्कृतकर्मभि, यावन्ममैतस्मादेवोष्ट्रीपरिपालनादस्य कुटुम्बस्य भव्य सजातम्। तत्किमन्येन व्यापारेण।' एव विचिन्त्य गृहमागत्य प्रियामाह—'भद्रे, समीचीनोऽय व्यापारः। तव सम्मतिश्चेत्कुतोऽपि धनिकात्किंचिद् द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्य कलभग्रहणाय। तावत्त्वयैतौ यत्नेन रक्षणीयौ। यावदहमपरामुष्ट्रीं नीत्वा समागच्छामि।' ततश्च गुर्जरदेश गत्वोष्ट्री गृहीत्वा स्वगृहमागत । किं बहुना ? तेन तथा कृत यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्रा करभाश्च संमिलिता। ततस्तेन महदुष्ट्रयूथ कृत्वा रक्षापुरुषो धृत । तस्य प्रतिवर्षं वृत्त्या करभमेक प्रयच्छति। एतिवर्षं अन्यच्चाहर्निश दुग्धपान तस्य निरूपितम्। एव रथकारोऽपि नित्यमेवोष्ट्रीकरभव्यापार कुर्वन्सुखेन तिष्ठति। अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवन आहारार्थं गच्छन्ति। कोमलवल्लीर्यथेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीय पीत्वा सायतनसमये मन्द मन्द लीलया गृहमागच्छन्ति। स च पूर्वदासेरको मदातिरेकात्पृष्ठ आगत्य मिलति। ततस्तै कलभैरभिहितम्—'अहो, मन्दमतिरय दासेरको यथा यूथाद् भ्रष्ट पृष्ठे स्थित्वा घण्टा वादयन्नागच्छति। यदि कस्यापि दुष्टसत्त्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नून मृत्युमवाप्स्यति। अथ तस्य तद्वन गाहमानस्य कश्चित्सिंहो घण्टारवमाकर्ण्य समायात । यावदवलोकयति, तावदुष्ट्रीदासेरकाणा यूथ गच्छति। एकस्तु पुन पृष्ठे क्रीडा कुर्वन्वल्लरीश्चरन्यावत्तिष्ठति, तावदन्ये दासेरका पानीय पीत्वा स्वगृहे गता । सोऽपि वनान्निष्क्रम्य यावद्दिशोऽवलोकयति, तावन्न कचिन्मार्गं पश्यति वेत्ति च। यूथाद् भ्रष्टो मन्द मन्द

पास आने को) मना कर चुका तब फिर क्यो मेरे पीछे लगा है, मैं तुझ मूर्ख को उपदेश भी देना नही चाहता ।

तच्छ्रुत्वा मकर प्राह—'भो मित्र, सापराधस्य मे पूर्वस्नेहमनुस्मृत्य हितोपदेश देहि ।' वानर आह—'नाह ते कथयिष्यामि । यद्भार्यावाक्येन भवताह समुद्रे प्रक्षेप्तु नीत । तदेव न युक्तम् । यद्यपि भार्या सर्वलोकादपि वल्लभा भवति, तथापि न मित्राणि बान्धवाश्च भार्यावाक्येन समुद्रे प्रक्षिप्यन्ते । तन्मूर्ख, मूढत्वेन नाशस्तव मया प्रागेव निवेदित आसीत् । यत —

यह सुनकर मकर ने कहा—हे मित्र ! यद्यपि मैं आपका अपराधी हूँ तथापि प्रथम स्नेह का स्मरण कर मुझे कोई उपाय बताओ ।' वानर बोला—मैं नही कहूँगा क्योकि तुम मुझे स्त्री के कहने से समुद्र मे डुबाने के लिए ले गये थे । यह उचित नही था । यद्यपि यह ठीक है कि पत्नी समस्त ससार से (सब लोगो मे) प्यारी होती है तो भी स्त्री के लिए मित्र तथा कुटुम्बी समुद्र मे नही फेंके जाते । अरे मूर्ख ! मूर्खता के कारण तेरे सर्वनाश की बात मैंने पहले ही कही थी । (तुझे धिक्कार है जो तूने स्त्री के लिए यह दुष्कर्म करना प्रारम्भ किया था । स्त्रियो का तो किसी भी दशा मे विश्वास न करना चाहिये ।) क्योकि—

सता वचनमादिष्ट मदेन न करोति य ।
स विनाशमवाप्नोति घण्टोष्ट्र इव सत्वरम् ॥ ७४ ॥

जो मनुष्य, मूर्खता के कारण सज्जनो के बताये हुए वचनो का तिरस्कार करता है—उनके अनुसार कार्य नही करता—वही पुरुष, सिंह से दासेरक—ऊँट के बच्चे के समान नाश को प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

मकर आह—'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

मकर ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—

कथा १३

कस्मिंश्चिदधिष्ठाने उज्ज्वलको नाम रथकार प्रतिवसति स्म । स चातीव दारिद्र्योपहतश्चिन्तितवान्—'अहो धिगिय दरिद्रतास्मद्गृहे । यत सर्वोऽपि जन स्वकर्मणैव रतस्तिष्ठति । अस्मदीय पुनर्व्यापारो नात्राधिष्ठानेऽर्हति । यत सर्वलोकाना चिरन्तनाश्चतुर्भूमिका गृहा सन्ति । मम च नात्र । तत्किं मदीयेन रथकारत्वेन प्रयोजनम् । इति चिन्तयित्वा

देशान्निष्क्रान्तः। यावत्किंचिद्वन गच्छति तावद्गह्वराकारवनगहनमध्ये सूर्यास्तमनवेलाया स्वयूथाद् भ्रष्टा प्रसववेदनया पीडयमानामुष्ट्रीमपश्यत्। स च दासेरकयुक्तामुष्ट्री गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुख प्रस्थित । गृहमासाद्य रज्जु गृहीत्वा तामुष्ट्रिका बबन्ध। ततश्च तीक्ष्ण परशुमादाय तस्या पल्लवानयनार्थं पर्वतैकदेशे गत । तत्र च नूतनानि कोमलानि बहूनि पल्लवानि छित्त्वा शिरसि समारोप्य तस्याग्रे निचिक्षेप । तया च तानि शनै शनैर्भक्षितानि । पश्चात्पल्लवभक्षणप्रभावादहर्निश पीवरतनुरुष्ट्री सजाता । सोऽपि दासेरको महानुष्ट्र सजात । तत स नित्यमेव दुग्ध गृहीत्वा स्वकुटुम्ब परिपालयति । अथ रथकारेण वल्लभत्वाद्दासेरक-ग्रीवाया महती घण्टा प्रतिबद्धा। पश्चाद्रथकारो व्यचिन्तयत्—'अहो किमन्यैर्दुष्कृतकर्मभि, यावन्ममैतस्मादेवोष्ट्रीपरिपालनादस्य कुटुम्बस्य भव्य सजातम्। तत्किमन्येन व्यापारेण।' एव विचिन्त्य गृहमागत्य प्रियामाह—'भद्रे, समीचीनोऽय व्यापारः। तव सम्मतिश्चेत्कुतोऽपि धनिकात्किंचिद् द्रव्यमादाय मया गुर्जरदेशे गन्तव्य कलभग्रहणाय। तावत्त्वयैतौ यत्नेन रक्षणीयौ। यावदहमपरामुष्ट्री नीत्वा समागच्छामि।' ततश्च गुर्जरदेश गत्वोष्ट्री गृहीत्वा स्वगृहमागत । किं बहुना ? तेन तथा कृत यथा तस्य प्रचुरा उष्ट्रा करभाश्च संमिलिता । ततस्तेन महदुष्ट्रयूथं कृत्वा रक्षापुरुषो धृत । तस्य प्रतिवर्षं वृत्त्या करभमेक प्रयच्छति। एतिवर्षं अन्यच्चाहर्निश दुग्धपान तस्य निरूपितम्। एव रथकारोऽपि नित्यमेवो-ष्ट्रीकरभव्यापार कुर्वन्सुखेन तिष्ठति। अथ ते दासेरका अधिष्ठानोपवन आहारार्थं गच्छन्ति। कोमलवल्लीर्यथेच्छया भक्षयित्वा महति सरसि पानीय पीत्वा सायतनसमये मन्द मन्द लीलया गृहमागच्छन्ति। स च पूर्वदासेरको मदातिरेकात्पृष्ठ आगत्य मिलति। ततस्तै कलभैरभि-हितम्—'अहो, मन्दमतिरय दासेरको यथा यूथाद् भ्रष्ट पृष्ठे स्थित्वा घण्टा वादयन्नागच्छति। यदि कस्यापि दुष्टसत्त्वस्य मुखे पतिष्यति, तन्नून मृत्युमवाप्स्यति। अथ तस्य तद्वन गाहमानस्य कश्चित्सिंहो घण्टारवमाकर्ण्य समायात । यावदवलोकयति, तावदुष्ट्रीदासेरकाणा यूथ गच्छति। एकस्तु पुन पृष्ठे क्रीडा कुर्वन्वल्लरीश्चरन्यावत्तिष्ठति, तावदन्ये दासेरका पानीय पीत्वा स्वगृहे गता । सोऽपि वनान्निष्क्रम्य यावद्दिशोऽवलोकयति, तावन्न कंचिन्मार्गं पश्यति वेत्ति च। यूथाद् भ्रष्टो मन्द मन्द

बृहच्छब्दं कुर्वन्यावत्किंचिद्दूरं गच्छति, तावत्तच्छब्दानुसारी सिंहोऽपि क्रमं कृत्वा निभृतोऽग्रे व्यवस्थितः। ततो यावदुष्ट्रः समीपमागतः, तावत्सिंहेन लम्भयित्वा ग्रीवायां गृहीतो मारितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सतां वचनमादिष्टम्' इति। (श्लो० ७४)

किसी नगर मे उज्ज्वलक नामक बढई रहता था। अत्यन्त दरिद्रता से पीडित हो उसने विचार किया—हमारे घर की दरिद्रता को धिक्कार है, क्योकि सभी मनुष्य अपने-अपने काम मे खुशहाल हैं, हमारा काम इस नगर मे नही चल सकता। सब लोगो के चौमञ्जिले महल हैं, फिर मेरी इस बढइगिरी से क्या लाभ? यह सोचकर वह अपने देश से निकल पडा। जब किसी वन मे पहुँचा, तब गुफा के आकार वाले घने वन मे, सायङ्काल के समय, अपने झुण्ड से बिछडी हुई, प्रसववेदना से पीडित उसने उष्ट्री देखी। तब वह बच्चे सहित ऊँटनी को लेकर अपने घर की तरफ चल दिया तथा घर पहुँचकर रस्सी से ऊँटनी बाँध दी। अनन्तर, तेज कुठार लेकर उसके लिए पत्ते लाने को पर्वत के पास गया। वहा से नये कोमल बहुत से पत्ते काट कर सिर पर रख लाया और उसके सामने डाल दिये। उसने धीरे-धीरे खा लिए। इस प्रकार प्रतिदिन पत्ते खाने के प्रभाव से ऊँटनी मोटी-ताजी हो गई और वह बच्चा भी बडा ऊँट हो गया और वह रथकार भी प्रतिदिन दूध देकर कुटुम्ब पालने लगा। रथकार ने प्रिय होने के कारण ऊँट के गले मे बडा भारी घण्टा बाँध दिया। तब रथकार ने सोचा—अन्य कठिन काम करने से क्या लाभ? जब कि इस एक ही ऊँटनी के पालने से मेरे कुटुम्ब का भला (कल्याण) हो गया तब अन्य व्यापार करने से क्या प्रयोजन? यह सोच और घर आकर उसने अपनी पत्नी से कहा—भद्रे! यह व्यापार बहुत अच्छा है। तुम्हारी सम्मति हो तो किसी साहूकार से कुछ धन लेकर ऊँटनी के बच्चे लेने के लिए गुजरात चला जाऊँ, जब तक मैं दूसरी ऊँटनी लेकर लौटूँ तब तक तुम ध्यान से इसकी रक्षा करना। अनन्तर, गुजरात जा और वहाँ से ऊँटनी लेकर घर लौट आया। अधिक कहने से क्या लाभ? उसने ऐसा यत्न किया कि उसके पास बहुत से ऊँट और बच्चे इकट्ठे हो गये तब उसने ऊँटो का झुण्ड बनाकर एक रखवारा रख दिया। उसे वेतन रूप से साल मे एक बच्चा देता था और प्रतिदिन दूध भी बाँध दिया। इस प्रकार वह रथकार, सदा ऊँटनी और उसके बच्चो का व्यापार (दूध व बच्चे

बेचना) करता हुआ आराम से रहने लगा। वे ऊँट, अपने रहने के स्थान के समीपवर्त्ती वन मे चरने के लिए जाया करते और कोमल लतायें खाकर और सरोवर मे पानी पीकर, सायङ्काल के समय धीरे-धीरे खेलते-कूदते घर आया करते थे। परन्तु सबसे पहिल ऊँट, जवानी के गर्व से पीछे आकर मिलता था। तब उन्होने कहा—यह ऊँट बडा ही दुर्बुद्धि है जो यूथ से पृथक् हो, पीछे रहकर घण्टा बजाता हुआ आता है। यदि किसी दुष्ट प्राणी की दृष्टि मे पड गया तो निश्चय ही मरेगा। (एक दिन) जब वे उस वन मे चर रहे थे तब कोई सिंह घण्टे का शब्द सुनकर वहाँ आया। और उसने देखा कि ऊँटनी और ऊँटो का झुण्ड जा रहा है। इधर जब उनमे से एक पीछे रहकर, क्रीडा करता हुआ और लतायें चरता हुआ जा रहा था तब तक दूसरे ऊँट जल पीकर घर पहुँच गये। जब उसने जगल से निकलकर इधर-उधर देखा तब उसे रास्ता समझ मे न आया। अपने झुण्ड से बिछुडकर घण्टे का महाशब्द करता हुआ जब वह कुछ दूर पहुँचा तब उसके शब्द के अनुसार सिंह, आक्रमण के लिए तैयार हो आगे खडा हो गया। अनन्तर, जब वह ऊँट पास आया तब सिंह ने कूदकर उसकी गर्दन पकड ली और मार डाला। इसलिये मैं कहता हूँ—'सता वचनमादिष्टम्' इत्यादि (श्लो० ७४)।

अथ तच्छ्रुत्वा मकरः प्राह—'भद्र,

उपदेशप्रदातॄणा नराणा हितमिच्छताम् ।
परस्मिन्निह लोके च व्यसन नोपपद्यते ॥ ७५ ॥

यह सुनकर मकर ने कहा—भद्र ! उपदेश देनेवाले और दूसरो की भलाई चाहनेवाले पुरुषो को इस लोक और परलोक मे भी किसी प्रकार का कष्ट नही होता ॥

तत् सर्वथा कृतघ्नस्यापि मे कुरु प्रसादमुपदेशप्रदानेन उक्त च—

इसलिए, यद्यपि मैं सर्वथा कृतघ्न हूँ तो भी मुझे उपदेश देकर मेरे ऊपर अनुग्रह करो। कहा भी है—

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ ७६ ॥

जो मनुष्य अपने साथ उपकार करने वालो के प्रति सद्व्यवहार करता है उसकी इस सज्जनता मे क्या प्रशसा है ? अपना अहित करनेवालो के प्रति जो सद्व्यवहार करता है सज्जन लोग उसे ही सत्पुरुष कहते हैं ॥ ७६ ॥

तदाकर्ण्य वानरः प्राह—'भद्र' यद्येव तर्हि तत्र गत्वा तेन सह युद्धं कुरु। उक्त च—

यह सुन वानर ने कहा—भद्र! यदि यह बात है तो जाकर उसके साथ युद्ध करो। क्योंकि—

हतस्त्व प्राप्स्यसि स्वर्गं जीवन्गृहमथो यशः।
युध्यमानस्य ते भावि गुणद्वयमनुत्तमम् ॥ ७७ ॥

तुम, यदि युद्ध मे मारे गये तो स्वर्ग पाओगे और यदि (विजयी होकर) जीवित रहे तो घर और कीर्ति प्राप्त करोगे। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम्हे दो उत्तम गुणो की प्राप्ति होगी ॥ ७७ ॥

उत्तम प्रणिपातेन शूर भेदेन योजयेत्।
नीचमल्पप्रदानेन समशक्ति पराक्रमै ॥ ७८ ॥

श्रेष्ठ पुरुष को नम्रता से, बलवान् को भेद से (आपस मे फूट डलवाकर), नीच (ओछे मतवाले) को कुछ देकर और समान शक्ति वाले को शूरता के द्वारा वश मे करना चाहिये ॥ ७८ ॥

मकर प्राह—'कथमेतत्?' सोऽब्रवीत्—

मकर ने कहा—यह कैसे? उसने कहा—

कथा १४

आसीत्कस्मिश्चिद्देशे महाचतुरको नाम शृगाल। तेन कदाचिदरण्ये स्वय मृतो गज समासादित। तस्य समन्तात्परिभ्रमति, पर कठिना त्वच भेत्तु न शक्नोति। अथात्रावसर इतश्चेतश्च विचरन् कश्चित्सिहस्तत्रैव प्रदेशे समाययौ। अथ सिह समागत दृष्ट्वा स क्षितितलविन्यस्तमौलिमण्डलः सयोजित करयुगल सविनयमुवाच—स्वामिन्, त्वदीयोऽहं लागुडिकः स्थितस्त्वदर्थे गजमिम रक्षामि। 'तदेन भक्षयतु स्वामी।' त प्रणत दृष्ट्वा सिह प्राह—'भोः नाहमन्येन हत सत्त्व कदाचिदपि भक्षयामि। तत्तवैव गजोऽय मया प्रसादीकृत।'

किसी वन मे महाचतुरक नामक शृगाल रहता था। एक समय उसने वन मे स्वय मरा हुआ हाथी पाया। वह उसके चारो तरफ घूमता रहा। परन्तु उसका कडा चमडा न काट सका। इसी समय, कोई सिह इधर-उधर घूमता हुआ उसी स्थान पर आ पहुँचा। उसको आया हुआ देखकर वह

शृगाल पृथ्वी मे मस्तक रख तथा कमल तुल्य हाथ जोडकर नम्रता से बोला—हे स्वामिन् ! मैं तुम्हारा सिपाही (रक्षापुरुष) तुम्हारे लिये इस हाथी को रखा रहा हूँ, इसलिये तुम इसे भक्षण करो । तब सिंह ने कहा—मैं कभी भी दूसरे से मारा हुआ जानवर नही खाता, इसलिये यह हाथी मैंने तुम्हे ही इनाम देता हूँ ।

तच्छ्रुत्वा शृगाल सानन्दमाह—युक्तमिद स्वामिना निजभृत्येषु । उक्त च यत —

यह सुनकर शृगाल आनन्दपूर्वक बोला—'प्रभु के लिये अपने भृत्यो के प्रति यह बात उचित ही है । कहा भी है—

'अन्त्यावस्थोऽपि महान्स्वामिगुणान्न जहाति शुद्धतया ।
न श्वेतभावमुज्झति शङ्ख शिखिभुक्तमुक्तोऽपि' ॥ ७९ ॥

महान् (उदार) पुरुष, विपत्ति की पराकाष्ठा पाकर भी (महासङ्कट मे फसकर भी) पवित्रता के कारण (महोदार होने से) प्रभु के गुणो को नही छोडता जैसे कि शख अग्नि से जलाये जाने पर भी अपने स्वाभाविक गुण सफेदी को नही छोडता ॥ ७९ ॥

अथ सिंहे गते कश्चिद् व्याघ्र समाययौ । तमपि दृष्ट्वासौ व्यचिन्तयत्-'अहो, एकस्तावद् दुरात्मा प्रणिपातेनापवाहित । तत्कथमिदानीमेनमपवाहयिष्यामि ? नून शूरोऽयम् । न खलु भेद विना साध्यो भविष्यति । उक्त च यत—

अनन्तर सिंह के चले जाने पर कोई व्याघ्र आया । उसे देख, शृगाल ने सोचा—एक दुष्ट को तो नम्रता से दूर किया, अब इसे कैसे हटाऊँ ? यह शूर है अत भेद के बिना वश मे नही आयेगा । कहा भी है—

न यत्र शक्यते कर्तुं साम दानमथापि वा ।
भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यो यतः स वशकारक ॥ ८० ॥

जहा साम अथवा दान न किये जा सकें—जहा इनसे काम न चल सके—वहाँ भेद का प्रयोग करना चाहिए क्योकि भेद से लाने का अच्छा उपाय है ॥ ८० ॥

किंच सर्वगुणसपन्नोऽपि भेदेन बध्यते । उक्त च यत —

किंच, सब गुणो से युक्त भी भेद से नष्ट किया जा सकता है । कहा भी है—

अन्त स्थेन विरुद्धेन सुवृत्तेनातिचारुणा ।
अन्तर्भिन्नेन सप्राप्त मौक्तिकेनापि बन्धनम् ॥ ८१ ॥

इस पद्य के दो अर्थ हैं (१) अत्यन्त निर्मल (श्वेत), विना बिंधा हुआ, गोल और सुन्दर मोती भी बिंधने पर बन्धन में पड जाता है (हार मे पिरोया जाता है)। (२) अत्यन्त शुद्ध चरित्र, अनुकूल सदाचारी, प्रियदर्शन और मुक्ति की इच्छा रखनेवाला पुरुष भी परमात्मा से भिन्न होने पर (चित्त की एकाग्रता नष्ट होने पर) ससारबन्धन मे पड जाता है ॥ ८१ ॥

एव सप्रधार्य तस्याभिमुखो भूत्वा गर्वादुन्नतकन्धर ससभ्रममुवाच—'माम, कथमत्र भवान्मृत्युमुखे प्रविष्ट । येनैष गज सिंहेन व्यापादित । स च मामेतद्रक्षणे नियुज्य नद्या स्नानार्थं गत । तेन च गच्छता मम समादिष्टम्—'यदि कश्चिदिह व्याघ्र समायाति, त्वया सुगुप्त ममावेदनीयम् । येन वनमिद मया निर्व्याघ्र कर्तव्यम् । यत पूर्व व्याघ्रेणैकेन मया व्यापादितो गज शून्ये भक्षयित्वोच्छिष्टता नीत । तद्दिनादारभ्य व्याघ्रान्प्रति प्रकुपितोऽस्मि ।' तच्छ्रुत्वा व्याघ्र सन्त्रस्तमाह—'भो भागिनेय, देहि मे प्राणदक्षिणाम् । त्वया तस्यात्र चिरायायातस्यापि मदीया कापि वार्ता नाख्येया ।' एवमभिधाय सत्वर पलायाचक्रे ।

यह निश्चय कर, उसके सामने हो, गर्दन उठा जल्दी से बोला—हे मामा ! यहाँ तुम मौत के मुँह मे क्यो आ रहे हो क्योकि अभी यह हाथी सिंह ने मारा है और वह मुझे इसकी रखवाली मे नियुक्त कर स्नान करने गया है। जाते समय उसने मुझे आज्ञा दी है कि यदि कोई व्याघ्र यहाँ आये तो चुपचाप मुझे सूचित करना क्योकि मुझे यह वन व्याघ्रो से खाली कर देना है, एक समय पहिले एक व्याघ्र ने मेरे मारे हुए हाथी को सूने मे खाकर जूठा कर दिया था, उसी दिन से मुझे व्याघ्रो के प्रति बडा क्रोध है। यह सुनकर व्याघ्र ने भयभीत हो उससे कहा—हे भानजे ! (भगिनी-पुत्र) मुझे प्राणों की दक्षिणा दो, वह चाहे कितनी ही देर मे आये तो भी तू, मेरे सबन्ध मे कोई बात उससे न कहना। यह कह कर वह तुरन्त भाग गया।

अथ गते व्याघ्रे तत्र कश्चिद् द्वीपी समायात । तमपि दृष्ट्वासौ व्यचिन्तयत्—'दृढदंष्ट्रोऽय चित्रक । तदस्य पार्श्वादस्य गजस्य यथा चर्मच्छेदो भवति तथा करोमि ।' एव निश्चित्य तमप्युवाच—'भो भगिनीसुत, किमिति चिराद् दृष्टोऽसि । कथ च बुभुक्षित इव लक्ष्यसे ? तदतिथिरसि मे । एष गज सिंहेन हतस्तिष्ठति । अह चास्य तदादिष्टो

रक्षपाल । पर तथापि यावत्सिंहो न समायाति, तावदस्य गजस्य मांस भक्षयित्वा तृप्तिं कृत्वा द्रुततरं व्रज ।' स आह—'माम तद्येव तन्न कार्यं मे मांसाशनेन, यतो 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्यति' । उक्तं च—'यच्छक्यं ग्रसितुं यस्य ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।' इत्यादि (पृ० १३)

तब व्याघ्र के चले जाने पर कोई चीता वहाँ आया। उसे देखकर इसने विचार किया यह चीता है, इसकी दाढ़ें मजबूत है। इसी से इस हाथी का चमडा कटवा लूँ ! यह सोच कर उससे बोला—हे भानजे ! बहुत दिनों बाद क्यो दिखाई पडे ? और भूखे से क्यो मालूम होते हो ? तुम मेरे अतिथि हो। कहा भी है—(भोजन के) समय जो आये वह अतिथि होता है। सिंह से मारा हुआ यह हाथी पडा है और मै उसका नियुक्त किया हुआ रखवारा हूँ, जब तक वह न आये तब तक इसका मांस खाकर तृप्ति कर लो और जल्द चले जाओ। वह बोला—मामा ! अगर यह बात है तो मुझे इसके मांस से कोई प्रयोजन नही, क्योकि 'यदि मनुष्य जिन्दा रहे तो सैंकडो भलाइयाँ देखता है।' कहा भी है—यच्छक्यमित्यादि (पृ० १३)।

'तत्सर्वथा तदेव भुज्यते यदेव परिणमति। तदहमितोऽन्यास्यामि।'

इसलिये वही वस्तु खानी चाहिए जो पच सके अर्थात् जिसके भक्षण करने से कोई हानि न हो। इसलिये मैं तो भागता हूँ।

श्रृगाल आह—'भो अधीर, विश्रब्धो भूत्वा भक्षय त्वम् । तस्यागमनं दूरतोऽपि तवाहं निवेदयिष्यामि। तथानुष्ठिते द्वीपिना भिन्नां त्वचं विज्ञाय जम्बूकेनाभिहितम्—'भो भगिनीसुत, गम्यताम्। एष सिंहः समायाति।' तच्छ्रुत्वा चित्रको दूरं प्रनष्टः।

श्रृगाल ने कहा—अरे अधीर ! तू, निश्चिन्त हो खा, दूर से ही मैं उसका आगमन तुझे बता दूँगा। तब चीते के वैसा करने पर खालको कटा हुआ जान श्रृगाल ने कहा—भानजे ! भागो भागो, यह सिंह आ रहा है। यह सुन चीता दूर भाग गया।

अथ यावदसौ तद्भेदकृतद्वारेण किंचिन्मांसं भक्षयति, तावदतिसक्रुद्धोऽपरः श्रृगालः समाययौ। अथ तमात्मतुल्यपराक्रमं दृष्ट्वा—

'उत्तमं प्रणिपातेन शूरं भेदेन योजयेत्।' इति श्लोकं पठन् तदभि-

मुखकृतप्रयाण· स्वदंष्ट्राभिस्त विदार्य दिशो भाग कृत्वा स्वय सुखेन चिरकाल हस्तिमास बुभुजे ।

जब तक वह शृगाल उसके किये हुए छिद्र से कुछ मास खाने लगा तबतक अत्यन्त क्रोधी दूसरा शृगाल वहाँ आ पहुँचा । तब उसे अपने समान और उसका पराक्रम अनुभूत जानकर 'उत्तम प्रणिपातेन' इत्यादि श्लोक पढता हुआ वह उसके सामने गया और अपने दाँतो से उसे विदीर्ण (मार) कर और उसका मास इधर-उधर (सब दिशाओ मे) फेंककर स्वय सुख से चिरकाल तक हस्तिमास खाता रहा ।

एव त्वमपि त रिपु स्वजातीय युद्धेन परिभूय दिशोभाग कुरु । नो चेत्पश्चाद्बद्धमूलादस्मात्त्वमपि विनाशमवाप्स्यसि । उक्त च यत —

इस प्रकार तुम भी, अपने स्वजातीय शत्रु को युद्ध मे मार कर दिशाओ को बलि चढा दो । यदि ऐसा नही करोगे तो पीछे तुम भी जड पकड जाने पर उसी जलचर से विनाश को प्राप्त होगे । कहा भी है—

सभाव्य गोषु सपन्न सभाव्य ब्राह्मणे तपः ।
सभाव्य स्त्रीषु चापल्य सभाव्य जातितो भयम् ॥ ८२ ॥

गौवो मे ऐश्वर्य, ब्राह्मण मे तप, स्त्रियो मे चपलता तथा कुटुम्बियो से भय की सम्भावना की जा सकती है ॥ ८२ ॥

अन्यच्च—सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिला पौरयोषितः ।
एको दोषो विदेशस्य स्वजातिर्यद्विरुध्यते ॥ ८३ ॥

और भी—(विदेश मे) तरह-तरह के उत्तम अन्न मिल जाते हैं (यहा की) स्त्रियाँ भी असावधान होती हैं परन्तु विदेश मे एक ही दोष है कि अपने जाति के पुरुष विरुद्ध हो जाते हैं ॥ ८३ ॥

मकर आह— कथमेतत् ?' वानरोऽब्रवीत् —

मकर ने कहा—'यह कैसे ?' उसने कहा—

कथा १५

अस्ति कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चित्राङ्गो नाम सारमेय । तत्र च चिरकाल दुर्भिक्ष पतितम् । अन्नाभावात्सारमेयादयो निष्कुलता गन्तुमारब्धा । अथ चित्राङ्ग क्षुत्क्षामकण्ठस्तद्भयाद् देशान्तर गत । तत्र च कस्मिंश्चित्पुरे कस्यचिद् गृहमेधिनो गृहिण्या प्रमादेन प्रतिदिन गृह

प्रविश्य विविधान्नानि भक्षयन्परां तृप्तिं गच्छति । परं तद्गृहाद्बहिर्निष्क्रान्तोऽन्यैर्मदोद्धतसारमेयैः सर्वदिक्षु परिवृत्य सर्वाङ्गं दंष्ट्राभिर्विदार्यते । ततस्तेन विचिन्तितम्—'अहो, वरं स्वदेशो यत्र दुर्भिक्षेऽपि सुखेन स्थीयते । न च कोऽपि युद्धं करोति । तदेव स्वनगरं व्रजामि' इत्यवधार्य स्वस्थानं प्रति जगाम ।

किसी स्थान मे चित्राङ्ग नाम का कुत्ता रहता था । वहाँ एक बडा अकाल पडा । अन्न न मिलने से कुत्ते आदि सब प्राणी जब नष्ट हो जाने लगे तब चित्राग भूख से पीडित हो अन्य देश चला गया । वहाँ किसी नगर मे किसी गृहस्थ की पत्नी के असावधानी के कारण प्रतिदिन उसके घर मे घुस कर तरह-तरह के अन्न खाता हुआ अत्यन्त तृप्त हो जाता था, परन्तु उस घर से निकलने पर अन्य मदमस्त कुत्ते सब ओर से घेर कर उसके सम्पूर्ण अङ्गो को दाँतो से काट डालते थे । तब उसने सोचा—अहो ! अपना ही देश अच्छा, जहाँ दुर्भिक्ष पडने पर भी आराम से तो रहा जाता है । वहाँ कोई युद्ध नही करता, इसलिये उसी अपने नगर को जाता हूँ । यह विचार कर अपने स्थान को चला गया ।

अथासौ देशान्तरात् समायातः सर्वैरपि स्वजनैः पृष्टः—'भोश्चित्राङ्ग, कथयास्माकं देशान्तरवार्ताम् । कीदृग्देशः ? किं चेष्टितं लोकस्य ? क आहारः ? कश्च व्यवहारस्तत्र' इति । स आह—किं कथ्यते विदेशस्य स्वरूपविषयं—'सुभिक्षाणि विचित्राणि शिथिलाः पौरयोषितः ।' इत्यादि पठति (पृ० ६४)

जब वह विदेश से लौट कर आया तब सब कुटुम्बियो ने पूछा—हे चित्राङ्ग ! हमे, विदेश का समाचार सुनाओ, वह कैसा देश है ! वहाँ के रहनेवालो की चेष्टाएँ कैसी हैं, भोजन क्या मिलता है और व्यवहार कैसा है । उसने कहा—विदेश के विषय मे क्या कहूँ—'सुभिक्षाणि' इत्यादि (पृ० ६४) पढकर सुना दिया ।

सोऽपि मकरस्तदुपदेशं श्रुत्वा कृतमरणनिश्चयो वानरमनुज्ञाप्य स्वाश्रयं गतः । तत्र च तेन स्वगृहप्रविष्टेनाततायिना सह विग्रहं कृत्वा दृढसत्त्वावष्टम्भनाच्च तं व्यापाद्य स्वाश्रयं च लब्ध्वा सुखेन चिरकालमतिष्ठत् । साध्विदमुच्यते—

तब वह मकर उसका उपदेश सुनकर और मरने का निश्चय कर वानर की अनुमति से अपने स्थान पर पहुँचा और वहाँ अपने घर मे घुसे हुए उस आततायी

के साथ युद्ध करके और उत्साह की प्रबलता के कारण उसे मार कर अपना स्थान पा लिया और आराम से चिरकाल तक रहा । अथवा ठीक ही कहा है—

अकृत्वा पौरुषं या श्री किं तयापि सुभोग्यया ।
जरद्गवः समश्नाति दैवादुपगतं तृणम् ॥ ८४ ॥

पुरुषार्थ न करके प्राप्त हुई अतएव आलसी पुरुषों के भोगने योग्य लक्ष्मी पाने से भी क्या लाभ ? (देखो) भाग्यवश प्राप्त घास को बूढा बैल भी चरता है ॥ ८४ ॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रे लब्धप्रणाशं नाम
चतुर्थं तन्त्रं समाप्तम् ।

॥ श्री ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१५

विष्णुशर्मविरचित

पञ्चतन्त्रम्

अपरीक्षित [illegible]रकं

नाम पञ्चमं तन्त्रम्

'विमला'- [illegible]स-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—

डॉ० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

लब्धावकाशप्राध्यापक, पुराणेतिहास भूगोल संस्कृति विभागाध्यक्षश्च

श्रीसम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्बा सुरभारती प्र[illegible]श[illegible]न

वाराणसी

प्रकाशक—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के० ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० नं० १२९
वाराणसी २२१००१

चतुर्थ सस्करण १९८२
मूल्य ६–५०

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय सस्कृति एव साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक, (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)
पो० बा० न० ६९
वाराणसी २२१००१

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

15



PANCATANTRA

(APARĪKṢITAKĀRAKA)

OF

ŚRĪ VISNUŚAR Ā

Edited with

'VIMALĀ' SANSKRIT & HINDĪ COMMENTARIES

By

Dr. Shrikrishnamani Tripathi

Former Professor & Head of the Deptt of

Puranetihas, Geography & Culture

Sri Sampurnananda Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi



CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

(Oriental Booksellers & Publishers)
K 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No 129
VARANASI 221001

Fourth Edition
1982

Also can be had of
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(Oriental Booksellers & Publishers)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No 69
VARANASI 221001

प्राक्कथन

संस्कृत में आख्यान साहित्य का एक विशिष्ट स्थान है। इसकी मौलिकता, आचारो की कुशलता तथा भावो की उत्कृष्टता का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। भारतीय मनोरञ्जनशील मस्तिष्क की विशुद्ध कल्पना शक्ति ने इस साहित्य का आविर्भाव किया है।

आख्यान साहित्य के प्रमुख रूप से दो विभाग हैं—नीतिकथाएँ तथा लोक-कथाएँ। नीतिकथाओ मे उपदेशप्रद विषयो की प्रधानता रहती है। आरम्भ काल से चली आती हुई मनुष्य की उपदेशात्मक प्रवृत्ति का ही इसमे स्थान है। धर्म, अर्थ एव काम सम्बन्धी विषयो के साथ-साथ सदाचार, राजनीतिक तथा व्यावहारिक ज्ञान को इन कथाओ मे अत्यन्त रोचक ढग से उपस्थित किया जाता है। कुछ आध्यात्मिक विषयो को भी सरलता से समझाने का प्रयास किया जाता है। इनमे पात्र प्राय पशु-पक्षी ही होते हैं, किन्तु इनके द्वारा होने वाला नैतिक एव व्यावहारिक ज्ञान मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी होता है। इनकी शैली बालोचित होनेपर भी इनमे अति गहन विषय प्रस्तुत किये गये है।

इन कथाओ मे गद्य एव पद्य दोनो का समावेश हुआ है। गद्य मे मुख्य कथाएँ हैं और पद्यभाग मे गम्भीर तत्त्वो को छोटे-छोटे छन्दो मे सरलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। परम्परागत नीति-वाक्यो को जिज्ञासु जनता के मस्तिष्क मे बैठाने के लिए कहानी गढ ली गयी है और प्रसग जोड दिये हैं, जिससे एक नये साहित्य का सृजन हो गया है। इसमे एक नीतिवाक्य से दूसरा नीति-वाक्य, एक कथा से दूसरी कथा निकलती चलती है। इस प्रकार नीति-कथाएँ अत्यन्त रोचक, स्पृहणीय एव उपादेय हो जाती हैं।

संस्कृत के आख्यान साहित्य मे ऐतिहासिक एव पौराणिक-कथानको की अपेक्षा विशुद्ध काल्पनिक पात्रो तथा कथानको का चित्रण है। यह एक ऐसा काल्पनिक जगत् है, जिसमे घटना वैचित्र्य और पात्र-वैचित्र्य के साथ साथ कौतूहल, हास्य, व्यग्य, विनोद एव उपदेश का एकत्र समावेश है।

इन कथाओ का आविर्भाव कब एव कैसे हुआ? यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, फिर भी ऋग्वेदीय मनु-मत्स्य सम्वाद के आधार पर इसकी प्रचीनता का आभासमात्र प्रतीत होता है। वस्तुत पशु-पक्षियों की कथाओ का

प्राचीनतम सग्रह जातक कथाओ मे उपलब्ध होता है, जिनका परिमार्जित रू हमे बृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर, शुकसप्तति, पञ्चतन्त्र आदि मे प्रा होता है।

पञ्चतन्त्र

भारत के इतिहास मे यह तथ्य स्पष्टतया प्रसिद्ध है कि पञ्चतन्त्र के द्वार अल्पकाल मे ही नीतिशास्त्र तथा वास्तविक व्यवहार का सारभूत ज्ञान सम्भ है। पञ्चतन्त्र की अतिसरल, रोचक एव सदुपदेशप्रद कथाओ के आधार प उसमे निहित नीतिवाक्यो का अभ्यास कर लेने पर कोई भी व्यक्ति अपने वैय क्तिक, पारिवारिक, आर्थिक एव सामाजिक जीवन की समस्याओ को भली भाँति सुलझा सकता है। इसमे स्थल-स्थल पर अनेक महत्त्वपूर्ण सूक्तियो क सग्रह भी है, जिनका समुचित अवसर पर प्रयोग कर लाभ उठाया जा सकत है। इस प्रकार यह ग्रन्थ एक समुज्ज्वल प्रकाशमान् मणि के समान सबक मार्ग प्रदर्शन करने मे सर्वदा समर्थ है।

पञ्चतन्त्र न केवल भारतवर्ष मे ही, अपितु समस्त विश्व-साहित्य मे एक कथा-साहित्य के रूप मे मान्य है। इसकी सरलता, लोकप्रियता एव उपयोगिता सर्वप्रसिद्ध है। इस मे लेखक ने मुख्य रूप से विचारपूर्वक कार्य करने की नीति पर बल दिया है। पञ्चतन्त्र के अनुशीलन से नीतिशास्त्र विषय ज्ञान आसानी से हो जाता है, क्योकि इसके निर्माण का एक मात्र उद्देश्य ही सुकुमारमति राजकुमारो को कथा के व्याज से विनोदपर्वक राजनीति का ज्ञान कराना है। नीतिज्ञान के अतिरिक्त पञ्चतन्त्र के अध्ययन का एक लाभ और भी है— आरम्भिक सरल सस्कृत एव लिखने के लिए यह एक आदर्श और स्पृहणीय ग्रन्थ माना गया है। इसीलिए सरलता से सस्कृत भाषा का ज्ञान कराने के निमित्त प्राय सभी परीक्षा सस्थाओ की पाठ्य-पुस्तक के रूप मे यह पञ्चतन्त्र स्वीकृत है और प्रेमपूर्वक विद्यालयो मे पढाया भी जाता है।

अनुवाद

बाइबिल के बाद पञ्चतन्त्र ही वह ग्रन्थ है, जिसका अनुवाद विश्व की सबसे अधिक सभ्य भाषाओ मे हुआ है। पञ्चतन्त्र का सबसे पहला रूपान्तर पहलवी भाषा मे हुआ। बाद उसी के आधार पर अरबी मे हुआ। तदनन्तर योरप का

सबसे प्राचीन अनुवाद यूनानी मे हुआ। इसके पश्चात् इटैलियन, जर्मन, फ्रेञ्च, अग्रेजी आदि मे पञ्चतन्त्र का अनुवाद प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार सस्कृत पञ्चतन्त्र का अनुवाद पहलवी से अरबी, उससे हिब्रू, यूनानी, इटेलियन, जर्मन आदि के पश्चात् अग्रेजी साहित्य को उपलब्ध हुआ। जर्मन एव ब्रिटेन का अनुवाद बहुत ही लोकप्रिय रहा। अग्रेजी मे भी इसके सस्करणो की अनेक आवृत्तियाँ हुईं, किन्तु फ्रेञ्च के सस्करण का यूरोपवासियो ने सबसे अधिक सम्मान किया।

रचना-काल

पञ्चतन्त्र का प्रणयन कब हुआ ? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, क्योकि इस ग्रन्थ की मूल प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं है। इसका पहला अनुवाद पहलवी मे ईसा की छठी शताब्दी मे हुआ था और कौटिल्य के अर्थशास्त्र का उस पर प्रभाव भी है, क्योकि उसमे दीनार शब्द का प्रयोग हुआ है। अत सम्भवत इसकी रचना गुप्तकाल मे सस्कृत के सर्वविध अभ्युदय काल मे हुई प्रतीत होती है।

लेखक-परिचय

पञ्चतन्त्र के लेखक, निवास स्थान, वश, माता-पिता, पुत्र, पत्नी एव आश्रयदाता आदि के विषय में कुछ भी विवरण उपलब्ध नही होता। हाँ, विश्व के सभी सस्करणो मे पञ्चतन्त्र के लेखक के रूप मे विष्णुशर्मा का नाम अवश्य उपलब्ध होता है। यद्यपि कुछ विद्वान् इसमे विश्वास नही करते तथापि अन्य किसी नाम के उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध मे सन्देह करना अनावश्यक है। विष्णुशर्मा के परिचय के विषय मे पञ्चतन्त्र के कथामुख से यह प्रतीत होता है कि वे दक्षिण देश के महिलारोप्य नामक नगर के राजा के राज्य मे रहते थे, किन्तु इस नगर एव दक्षिण देश का नाम अन्य अनेक कथाओ से सम्बन्ध होने के कारण इसे कल्पना के अतिरिक्त अन्य कुछ नही कहा जा सकता है।

पञ्चतन्त्र के लेखक के विषय मे कथामुख से सकेत मिलता है कि विष्णुशर्मा नाम के विद्वान् भारतीय नीतिशास्त्र मे बडे प्रवीण एव प्रखरबुद्धि के मनीषी थे। उन्हें प्राचीन नीतिविदो एव उनके नीतिशास्त्रो का पूर्ण ज्ञान था। उन्होने बडी श्रद्धा से अपने पूर्वज नीतिज्ञो को प्रणाम किया है और लोक प्रसिद्ध सभी नीति ग्रन्थो का सार सग्रहण करके पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ के निर्माण का उल्लेख किया है।

प्राचीनतम सग्रह जातक कथाओ मे उपलब्ध होता है, जिनका परिमार्जित रू हमे वृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर, शुकसप्तति, पञ्चतन्त्र आदि मे प्रा होता है।

पञ्चतन्त्र

भारत के इतिहास मे यह तथ्य स्पष्टतया प्रसिद्ध है कि पञ्चतन्त्र के द्वार अल्पकाल मे ही नीतिशास्त्र तथा वास्तविक व्यवहार का सारभूत ज्ञान सम्भव है। पञ्चतन्त्र की अतिसरल, रोचक एव सदुपदेशप्रद कथाओ के आधार पर उसमे निहित नीतिवाक्यो का अभ्यास कर लेने पर कोई भी व्यक्ति अपने वैय क्तिक, पारिवारिक, आर्थिक एव सामाजिक जीवन की समस्याओ को भली भाँति सुलझा सकता है। इसमे स्थल-स्थल पर अनेक महत्त्वपूर्ण सूक्तियो का संग्रह भी है, जिनका समुचित अवसर पर प्रयोग कर लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ एक समुज्ज्वल प्रकाशमान् मणि के समान सबका मार्ग प्रदर्शन करने मे सर्वदा समर्थ है।

पञ्चतन्त्र न केवल भारतवर्ष मे ही, अपितु समस्त विश्व-साहित्य मे एक कथा साहित्य के रूप मे मान्य है। इसकी सरलता, लोकप्रियता एव उपयोगिता सर्वप्रसिद्ध है। इस मे लेखक ने मुख्य रूप से विचारपूर्वक कार्य करने की नीति पर बल दिया है। पञ्चतन्त्र के अनुशीलन से नीतिशास्त्र विषय ज्ञान आसानी से हो जाता है, क्योकि इसके निर्माण का एक मात्र उद्देश्य ही सुकुमारमति राजकुमारो को कथा के व्याज से विनोदपर्वक राजनीति का ज्ञान कराना है। नीतिज्ञान के अतिरिक्त पञ्चतन्त्र के अध्ययन का एक लाभ और भी है— आरम्भिक सरल सस्कृत एव लिखने के लिए यह एक आदर्श और स्पृहणीय ग्रन्थ माना गया है। इसीलिए सरलता से सस्कृत भाषा का ज्ञान कराने के निमित्त प्राय सभी परीक्षा सस्थाओ की पाठ्य-पुस्तक के रूप मे यह पञ्चतन्त्र स्वीकृत है और प्रेमपूर्वक विद्यालयो मे पढाया भी जाता है। /

अनुवाद

बाइबिल के बाद पञ्चतन्त्र ही वह ग्रन्थ है, जिसका अनुवाद विश्व की सबसे अधिक सभ्य भाषाओ मे हुआ है। पञ्चतन्त्र का सबसे पहला रूपान्तर पहलवी भाषा मे हुआ। बाद उसी के आधार पर अरबी मे हुआ। तदनन्तर योरप का

सबसे प्राचीन अनुवाद यूनानी मे हुआ। इसके पश्चात् इटैलियन, जर्मन, फ्रेञ्च, अग्रेजी आदि मे पञ्चतन्त्र का अनुवाद प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार सस्कृत पञ्चतन्त्र का अनुवाद पहलवी से अरबी, उससे हिब्रू, यूनानी, इटैलियन, जर्मन आदि के पश्चात् अग्रेजी साहित्य को उपलब्ध हुआ। जर्मन एव ब्रिटेन का अनुवाद बहुत ही लोकप्रिय रहा। अग्रेजी मे भी इसके सस्करणो की अनेक आवृत्तियाँ हुईं, किन्तु फ्रेञ्च के सस्करण का यूरोपवासियो ने सबसे अधिक सम्मान किया।

रचना-काल

पञ्चतन्त्र का प्रणयन कब हुआ? यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, क्योकि इस ग्रन्थ की मूल प्रति अभी तक उपलब्ध नही है। इसका पहला अनुवाद पहलवी मे ईसा की छठी शताब्दी मे हुआ था और कौटिल्य के अर्थशास्त्र का उस पर प्रभाव भी है, क्योकि उसमे दीनार शब्द का प्रयोग हुआ है। अत सम्भवत इसकी रचना गुप्तकाल मे सस्कृत के सर्वविध अभ्युदय काल मे हुई प्रतीत होती है।

लेखक-परिचय

पञ्चतन्त्र के लेखक, निवास स्थान, वश, माता-पिता, पुत्र, पत्नी एव आश्रयदाता आदि के विषय में कुछ भी विवरण उपलब्ध नही होता। हाँ, विश्व के सभी सस्करणो मे पञ्चतन्त्र के लेखक के रूप मे विष्णुशर्मा का नाम अवश्य उपलब्ध होता है। यद्यपि कुछ विद्वान् इसमे विश्वास नही करते तथापि अन्य किसी नाम के उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध मे सन्देह करना अनावश्यक है। विष्णुशर्मा के परिचय के विषय मे पञ्चतन्त्र के कथामुख से यह प्रतीत होता है कि वे दक्षिण देश के महिलारोप्य नामक नगर के राजा के राज्य मे रहते थे, किन्तु इस नगर एव दक्षिण देश का नाम अन्य अनेक कथाओं से सम्बन्ध होने के कारण इसे कल्पना के अतिरिक्त अन्य कुछ नही कहा जा सकता है।

पञ्चतन्त्र के लेखक के विषय मे कथामुख से सकेत मिलता है कि विष्णुशर्मा नाम के विद्वान् भारतीय नीतिशास्त्र मे बडे प्रवीण एव प्रखरबुद्धि के मनीषी थे। उन्हें प्राचीन नीतिविदो एव उनके नीतिशास्त्रो का पूर्ण ज्ञान था। उन्होने बडी श्रद्धा से अपने पूर्वज नीतिज्ञो को प्रणाम किया है और लोक प्रसिद्ध सभी नीति-ग्रन्थो का सार सग्रहण करके पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ के निर्माण का उल्लेख किया है।

इस प्रकार उन्हे नीतिशास्त्रो का परिपूर्ण अनुभवात्मक ज्ञान था। उन्होंने समस्त नीतिज्ञो की नीतियो को अपने जीवन मे उतार कर जो समुचित समझा उसे अपनी कृति पञ्चतन्त्र मे प्रस्तुत किया है। वे बडे निस्पृह, निर्भीक एव त्यागी विद्वान् थे। अस्सी वर्ष की अवस्था मे जब उनके मन एव सभी इन्द्रियाँ विषयो से विमुख होकर शिथिल हो चुकी थी तब भी उन्हे राजा अमरशक्ति के द्वारा दिये जाने वाले शासनशत का लोभ भी अपनी ओर आकृष्ट नही कर सका। उन्होने निर्भीकतापूर्वक राजा को उत्तर देते हुए कहा था—

नाऽहं विद्याविक्रय शासनशतेनापि करोमि।

उन्हे अपने विशिष्टवैदुष्य पर पूर्णतया विश्वास था और वे अपने विद्वज्जनोचित कर्त्तव्य पथ पर सदा सुदृढ थे। इसलिए उन्होने राजा को चुनौती देते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि यदि मैं छ महीनो मे आपके राजकुमारो को नीतिशास्त्रो का ज्ञान न करा सकूँगा तो अपने नाम का त्याग कर दूँगा—

पुनरेतास्तव पुत्रान् मासषट्केन यदि नीतिशास्त्रज्ञान् न करोमि, तत स्वनामत्याग करोमि।

पञ्चतन्त्र की रचना का उद्देश्य

विष्णुशर्मा ने पञ्चतन्त्र का निर्माण कोमलमति राजकुमारो को आसानी से नैतिक व्यवहार सिखाने के निमित्त किया है, न कि कलाचातुर्य, पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए। पञ्चतन्त्र के कथामुख मे उन्होने अस्सी वर्ष की अवस्था मे भी सिंहनाद करते हुए अपनी वास्तविक स्वाभिमान युक्त निस्पृहता को इस प्रकार व्यक्त कर दिया था—

किं बहुना श्रूयता ममैष सिंहनाद, नाहमर्थलिप्सुर्ब्रवीमि, ममाशीतिवर्षस्य न किञ्चिदर्थेन प्रयोजनम्।

पञ्चतन्त्र का वर्गीकरण

पञ्चतन्त्र अन्वर्थनामा पाँच तन्त्रो (प्रकरणो) मे विभक्त है—(१) मित्रभेद, (२) मित्र सम्प्राप्ति, (३) काकोलूकीय, (४) लब्धप्रणाश और (५) अपरीक्षितकारक—इन पाँचो तन्त्रो के नाम अन्वर्थ हैं, इनके वर्ण्य-विषयो का आभास इनके नामो से ही व्यक्त हो जाता हैं। इनको हृदयङ्गम कर लेने से मनुष्य किसी व्यावहारिक या नैतिक विचारो से वचित नही रहता। इनकी विषय सामग्री का प्रसङ्ग ऐसे सुव्यवस्थित ढग से प्रस्तुत किया गया है कि

उनकी अवगति के निमित्त उत्तरोत्तर रुचि बढती ही जाती है। इसकी रोचकता, मधुरता एव सरलता सर्व-प्रसिद्ध है।

अपरीक्षितकारक

इस प्रकार अपरीक्षितकारक पञ्चतन्त्र का अन्तिम भाग (पाँचवाँ तन्त्र) जिसमे मुख्यतया विचारपूर्वक सुपरीक्षित कार्य करने की नीति पर ग्रन्थकार ने बल दिया है। इसके नामकरण के कारण का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया गया है कि बिना भलीभाँति विचार किये हुए एव अच्छी तरह से देखे-सुने गये किसी कार्य को करने वाले व्यक्ति को कार्य में सफलता नही प्राप्त होती, वल्कि जीवन मे अनेक कठिनाइयो का अनुभव करना पडता है। अत अन्धानुकरण करने का फल समुचित नही होता।

अपरीक्षितकारक में कुल पन्द्रह कथाएँ है, जिनका सक्षिप्त-परिचय इस प्रकार है—

(१) क्षपणक-कथा (आमुख)—

इस कथा मे बिना अच्छी तरह परीक्षा करके अनुकरण करने वाले एक नाई की कथा है, जिसको मणिभद्र नाम के सेठ का अनुकरण का जैन सन्यासियो के वध के दोष पर न्यायाधीशो द्वारा मृत्यु का दण्ड दिया गया है। अत. बिना परीक्षा किये हुए नाई के समान अनुचित कार्य नही करना चाहिए—

कुदृष्टं कुपरिज्ञात कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्तव्य नापितेनात्र यत् कृतम्॥ १॥

(२) ब्राह्मणी-नकुल-कथा—

इसमे बिना सोचे-समझे भ्रम के कारण नेवले की हत्या से ब्राह्मण पत्नी के पश्चात्ताप का चित्रण है, जिसने सांप से अपने पुत्र की रक्षा करने पर भी भ्रमवश जल से भरे घडे को नेवले के ऊपर पटककर मार डाला था। इसलिए पूरी जानकारी के बिना कोई कार्य नही करना चाहिए—

अपरीक्ष्य न कर्त्तंय कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद् भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुले यथा॥ १७॥

(३) लोभाविष्ट चक्रधर की कथा—

इसमे अतिलोभ के भयङ्कर परिणाम का दिग्दर्शन है। यह कथा आगे की सभी कथाओ मे अनुस्यूत है। इस कथा के द्वारा यह बतलाया गया है कि चार

ब्राह्मणकुमार दरिद्रता से ऊब गये थे, जो घर से निकल कर अवन्तीपुरी मे जा पहुँचे। वहाँ सिप्रास्नान और महाकाल के दर्शन के बाद वे भैरवानन्द योगी से चार सिद्ध गुटिकाओ को प्राप्त कर हिमालय की तरफ प्रस्थान किये। मार्ग मे एक को ताँबे की खान मिली, दूसरे को चांदी की खान प्राप्त हुई तथा तीसरे को सोने की खान उपलब्ध हुई। वे तीनो उन्हे लेकर अपने अपने घर लौट गये, किन्तु अति लोभ के कारण चौथे को चक्रधर बनना पडा। अत मनुष्य को न तो अधिक लोभ करना चाहिए, न बिलकुल लोभ ही छोड देना चाहिए, क्योकि अतिलोभ के कारण मित्र की बात न मानने पर लोभी मनुष्य को कष्ट ही उठाना पडता है, जैसे अतिलोभी के मस्तक पर चक्र घूमने लगा—

अतिलोभो न कर्त्तव्यो लोभं नैव परित्यजेत् ।
अतिलोभाभिभूतस्य चक्र भ्रमति मस्तके ॥

(४) सिहकारक मूर्खब्राह्मण-कथा—

इसमे यह दिखाया गया है कि लोक व्यवहार के बिना मूर्ख की विद्या उसी को कष्ट पहुँचाती है। इस कथा के द्वारा तीन शास्त्रज्ञानी, पर लोकव्यवहार से शून्य एव एक अशास्त्रज्ञ, किन्तु लोकव्यवहार चतुर ब्राह्मणो का धनोपार्जन के निमित्त विदेश जाने के लिए प्रस्थान करने के बाद मार्गवर्ती किसी वन मे मृत सिह की हड्डियो को इकट्ठाकर विद्या के प्रभाव से उसको जिला देने पर उसके द्वारा तीनो शास्त्रज्ञो के मारे जाने का तथा चौथे अशास्त्रज्ञ, किन्तु लोकव्यवहार-कुशल ब्राह्मण के बच जाने का प्रदर्शन है। अत शास्त्रज्ञान के साथ-साथ लोक व्यवहार का ज्ञान भी आवश्यक है, क्योकि विद्या की अपेक्षा बुद्धि उत्तम मानी गयी है। कहा भी गया है, बिना बुद्धि जरे विद्या—

वर बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिहकारका ॥

(५) मूर्खपण्डित-कथा—

इस कथा मे सिद्ध किया गया है कि केवल शास्त्रज्ञान वाले लोकव्यवहार से वञ्चित एव ज्ञानशून्य व्यक्ति किस प्रकार दु खी होते हैं। वस्तुत लोकव्यवहार से शून्य व्यक्ति केवल शास्त्रज्ञान के आधार पर सफल नही हो पाता है। अत शास्त्रज्ञान के साथ-साथ लोक व्यवहार का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस कथा का साराश यह है कि चार ब्राह्मण मित्र १२ वर्षोंतक विद्याध्ययन करने के बाद अपने घर को लौटे। रास्ते मे मृत महाजनपुत्र के शव के पीछे

पीछे चले ।[1] जब वे श्मशान पहुँचे तब वहाँ चरते हुए एक गदहे को देखकर उन्होंने शाब्दिक अर्थ के बल से उसे बन्धु माना[2] और तेज चलने वाले ऊँट को धर्म समझा[3] और उसके गले मे गधे को बाँध दिया[4] ।

आगे बढने पर नदी मे बहते हुए पत्ते को नाव जानकर जब वे उस पर चढे तब उसमे से एक डूबने लगा । बाद सर्वनाश की स्थिति मे आधे से कार्य निर्वाह कर लेने के सिद्धान्त पर उसका शिर काट डाला गया—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डित ।
अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दु सह ॥ ४० ॥

अनन्तर शेष तीनो जब एक गाँव में पहुँचे तब गाँव वालो ने उन्हे पण्डित ब्राह्मण समझकर अपने-अपने घरो मे भोजन कराने के लिए निमन्त्रण दिया । तीनो को भिन्न-भिन्न घरो मे तीन प्रकार के भोजन मिले । एक को खाँड मिली, तो उसने शाब्दिक आधार पर उसे दीर्घसूत्री से विनाश समझकर छोड दिया[5] । दूसरे को चौडी-चौडी रोटियाँ मिली तो उसने उसे अतिविस्तार वाला होने के आधार पर आयु घटाने वाला समझकर छोड दी[6] । तीसरे को मालपूआ मिला तो वह भी छिद्रो मे अनर्थ समझकर उसे छोड चला गया[7] । तीनो ने शाब्दिक आधार पर उन्हें अखाद्य समझ कर छोड दिया और उपवास किया ।

इस प्रकार केवल पुस्तकीय ज्ञान वाले वे ब्राह्मण लोक व्यवहार का ज्ञान न होने के कारण अर्थ का अनर्थ करते हुए सदा असफल रहे तथा लोगो ने उनका उपहास किया—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिता ।
सर्वे ते हास्यता यान्ति यथा ते मूर्खपण्डिता ॥ ३८ ॥

---

१ महाजनो येन गत स पन्थ ।
२ उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव ॥ ३९ ॥
३ धर्मस्य त्वरिता गति ।
४ इष्ट धर्मेण योजयेत् ।
५ दीर्घसूत्री विनश्यति ।
६ अतिविस्तारविस्तीर्णा न भवेत्तच्चिरायुषम् ।
७ छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ।

(६) मत्स्य-मण्डूक कथा—

इस कथा मे विद्या की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य प्रदर्शित है । और यदि दैव अनुकूल हो तो कम बुद्धि वाला व्यक्ति भी जीवन मे सफल हो सकता है । अत दैव की प्रतिकूलता से शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि मत्स्य-जाल मे फँसकर मारे गये तथा दैव के अनुकूल होने से एक बुद्धिवाला मेढक बच गया—

सुबुद्धयोऽपि नश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिता ।
स्वल्पधीरपि तस्मिंस्तु कुले नन्दति सन्ततम् ॥ ४१ ॥
शतबुद्धि शिरस्थोऽय लम्बते च सहस्रधी ।
एकबुद्धिरह भद्रे ! क्रीडामि विमले जले ॥ ४३ ॥

(७) रासभ शृगाल-कथा—

छ और सात दोनो कथाओ मे ऐसे व्यक्तियों का वर्णन है, जो न तो स्वय बुद्धिमान् हैं, न मित्रो का कहना ही मानते हैं। यदि शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि अपने मित्र एकबुद्धि मण्डूक का कहा मान कर तालाब से निकल गये होते तो धीवरो द्वारा न मारे जाते । इसी प्रकार गधा यदि अपने मित्र शृगाल की बात मान कर खेत मे गीत नही गाता तो वह रखवालो द्वारा गले मे ओखल बन्धन के सङ्कट मे न पडता । अत जिसमे स्वय बुद्धि नही है, उसे अपने मित्रो की बातें मान लेनी चाहिये—

साधु मातुल ! गीतेन मया प्रोक्तोऽपि न स्थित. ।
अपूर्वोऽय मणिबंद्धः साम्प्रत गीतलक्षण ॥ ५६ ॥

(८) मन्थर-कौलिक-कथा—

इसमे वर्णन है कि मित्र की बात न मानने से मनुष्य सकट मे पड जाता है । यदि अपने मित्र नाई की बात मान कर जुलाहा यक्ष से राज्य माँग लेता और अपनी पत्नी के कहने पर एक शिर तथा दो भुजाएँ और नही माँगता तो, मार्ग मे गाँव वाले उसे दो शिर और चतुर्भुज राक्षस समझ कर उसे नही मार डालते । मित्र नाई की बात न मानने से जुलाहे को अपने जीवन से हाथ धोना पडा । अत जो स्वय बुद्धिमान् नही है, उसे अपने मित्रो की बात माननी चाहिए—

यस्य नास्ति स्वय प्रज्ञा मित्रोक्त न करोति य ।
स एव निधन याति यथा मन्थर-कौलिक ॥ ५७ ॥

(९) सो ·-पितृ-कथा—

इसमे अनागत (न आयी हुई) विपत्ति की चिन्ता करने वाले व्यक्ति का उपहास किया गया है। वस्तुत मनुष्य अनागत बातो की चिन्ता से दु खी होता है। अर्थात् भविष्य के विषय मे व्यर्थ की कल्पना करनेवाला व्यक्ति सत्तू सग्रही सोमशर्मा के पिता के समान दु खी होता है। सोमशर्मा के पिता की भविष्य-कल्पना की परम्परा अपूर्व थी। अत मनुष्य को व्यर्थ भविष्य की कल्पना मे व्यस्त नही रहना चाहिए—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्या करोति यः।
स एव पाण्डुरः शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ६७ ॥

(१०) चन्द्रभूपति कथा—

इस कथा मे एक लालची चन्द्रभूपति नामक राजा के परिवार के विनाश का चित्रण है। जिसने एक बन्दर की बात पर विश्वास कर प्रचुर रत्नमाला की प्राप्ति के लिए राक्षसयुक्त एक तालाब मे अर्धोदय काल के अवसर पर अपने परिवार एव परिजनो को स्नान कराकर धोखा खाने का तथा तृष्णा की तरु णाई का वर्णन है। परिणाम का विचार न कर अपने नेता की समुचित बात न मानने वाले व्यक्ति वानरो के समान मारे जाते हैं और लोभवश कार्य करने-वाले व्यक्ति चन्द्रभूपति की तरह धोखा खाते हैं।

अत बिना परिणाम सोचे अति लोभ से किसी अविश्वासी का सहसा विश्वास कर कोई कार्य नही करना चाहिए।

नीति-कुशल व्यक्ति एक ही साधन से अनेक कार्य सिद्ध कर सकता है। वानरो के नीतिज्ञ नेता ने रत्नमाला प्राप्त कर ली, राक्षस को मित्र बना लिया, अपने कुलघातक राजा से बदला ले लिया और राजा को जीवित छोड़ कर स्वामी-भक्ति प्रगट कर उन्हें दु ख का अनुभव भी करा दिया। यह है बन्दर के प्रतिशोध की भावना—

यो लौल्यात् कुरुते कर्म नैवोदर्कमवेक्षते।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपति ॥ ६८ ॥
तृष्णे देवि ! नमस्तुभ्यं यया वित्तान्वितो अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥ ७६ ॥

(११) विकाल वानर कथा—

यह कथा इस तथ्य को व्यक्त करती है कि दु खी व्यक्ति के मित्र भी उसको

छोड कर उससे दूर भाग जाते हैं। इस कथा का साराश यह है कि राजा भद्रसेन की कन्या रत्नवती के अनुपम सौन्दर्य पर आसक्त होकर एक विकाल नामक राक्षस प्रतिदिन आधी रात मे आकर उसे कष्ट देता था। अत उससे ऊबकर एक दिन जब वह उससे छुटकारा पाने के निमित्त अपनी सखी से बात-चीत कर रही थी तब विकाल उपस्थित होकर दूसरे विकाल राक्षस के भ्रम से घोडा बन कर घोडसाल मे छिपकर उसकी प्रतीक्षा करने लगा। इसी बीच घोडा चुराने के लिए एक चोर आया और उसे उत्तम घोडा समझकर उसके मुँह मे लगाम लगा कर दौडाया। विकाल को तो दूसरे विकाल का भ्रम था ही, चोर द्वारा वार-बार रुकने के प्रयास करने पर भी न रुकने से उसके प्रति राक्षस का सन्देह हो गया। इस प्रकार वे एक दूसरे से डरे हुए थे। सयोगवश बरगद के पेड के बीच से गुजरते समय पूँछ लटका कर उस पर बैठे हुए अपने मित्र बन्दर के द्वारा चोर को मनुष्य बता कर उसे खा जाने की राय देने पर चोर बन्दर की पूंछ चबाने लगा और उसका मित्र राक्षस आपद्ग्रस्त अपने मित्र बन्दर को छोड कर भाग गया।

जिस प्रकार अपने मित्र बन्दर को कष्ट मे पडे देखकर उसका मित्र विकाल नामक राक्षस उसे छोड कर भाग गया उसी प्रकार दु खी को उसके मित्र छोड देते है—

यस्त्यक्त्वा सापद मित्रं याति निष्ठुरता वहन्।
कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसशयम् ॥ ८१ ॥
यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर।
विकालेन गृहीतोऽसि य परैति स जीवति ॥ ८२ ॥

(१२) अन्धक कुब्जक-त्रिस्तनी कथा—

इस कथा मे अदृष्ट का चित्रण करते हुए बताया गया है कि असत्कार्य करने वाले व्यक्ति को भी किस प्रकार कभी-कभी सफलता मिल जाती है। भाग्य के अनुकूल होने पर कुकर्मी व्यक्ति भी कभी जीवन मे सफल हो जाता है जैसे बुरा कर्म करने पर भी अन्धक, कुब्जक और त्रिस्तनी का जीवन अन्तमे पहले से अधिक सुखी हो गया। यद्यपि इन तीनो ने धर्मपूर्वक उचित कार्य नही किया था, फिर भी भाग्य अच्छा होने के कारण उनके बुरे कर्म का परिणाम अच्छा ही निकला—

अन्धक कुब्जकश्चैव त्रिस्तनी राजकन्यका।
त्रयोऽप्यन्यायत सिद्धा सम्मुखे कर्मणि स्थिते ॥ ८४ ॥

(१३) रासभगृहीत ब्राह्मण-कथा—

इस कथा मे बार बार पूछनेवाले व्यक्ति के स्वभाव की प्रशसा की गयी है, क्योंकि सन्देह उपस्थित होने पर बार-बार पूछ लेने का परिणाम अच्छा ही होता है। अत जिस प्रकार पूछने के स्वभाव के कारण ब्राह्मण के जीवन की रक्षा हुई उसी प्रकार पृच्छक स्वभाव वाला व्यक्ति लाभ मे रहता है। वस्तुत अपने कन्धे पर बैठे हुए राक्षस से उसके लटके हुए पैर की कोमलता के विषय मे पूछ-कर उसे राक्षस जानकर भाग जाने के कारण उस ब्राह्मण के प्राण बच सके।

य सतत परिपृच्छति शृणोति सन्धारयत्यनिशम्।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धि ॥ ८५ ॥
पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विशेषत.।
राक्षसेन गृहितोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विजः पुरा ॥ ८६ ॥

(१४) भारुण्डपक्षि-कथा—

इसमे आपस मे मेल न रहने के कारण दो मुखो का विनाश प्रदर्शित है। परस्पर विरोध के कारण भारुण्ड पक्षी के दोनो मुख विनष्ट हो गये। अत एक साथ रहने पर भी मेल के बिना जीवन खतरे मे रहता है। साथ ही साथ इस कथा मे यह बतलाया गया है कि किसी स्वादिष्ट वस्तु को अकेले नही खाना चाहिए, अन्य लोगो के सो जानेपर जागते नही रहना चाहिए, विचारणीय वस्तु को अकेले नही विचारना चाहिए और अकेले ही विदेश नही जाना चाहिए।

एकोदरा पृथग्ग्रीवा अन्योऽन्यफलभक्षिण।
असहता विनश्यन्ति भारुण्डा इव पक्षिण ॥ ९२ ॥

(१५) ब्राह्मण-कर्कट-कथा—

इस कथा द्वारा यह भाव व्यक्त किया गया है कि एकाकी यात्रा करना हानिप्रद है, क्योंकि केकडे को साथ ले जाने के कारण ही ब्राह्मण के प्राण बच पाये, अन्यथा उसके प्राण पखेरु उड जाते। भले ही क्षुद्र जीव क्यो न हो, पर यात्रा मे किसी साथी का रहना अत्यावश्यक है—

अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीय क्षेमकारक।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवित परिरक्षितम् ॥ ९४ ॥

इस सस्करणमे परीक्षार्थी छात्रो के हितार्थ सस्कृत-हिन्दी व्याख्या के साथ-साथ प्रस्तावना मे प्रत्येक कथा का दिग्दर्शन भी कर दिया गया है। आशा है इससे छात्रो को विशेष लाभ होगा और वे प्रकाशक के प्रयास को सफल बनायेंगे।

—श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

कथा-सूची



पञ्चतन्त्रस्य

पञ्चमं तन्त्रम्

अपरीक्षितकारकम्

संस्कृत-हिन्दीव्याख्याद्वयोपेतम्

क्षपणक-कथा

अथेदमारभ्यतेऽपरीक्षितकारकं नाम पञ्चमं तन्त्रम्, तस्याऽयमादिमः श्लोकः—

व्याख्या—अत्राथशब्दो मङ्गलार्थं, प्रकरणारम्भकश्च। आरभ्यते=प्रारभ्यते। अपरीक्षितकारकम्=न परीक्षितम्, अपरीक्षितम्, करोतीति कारकः, अपरीक्षितस्य कारकः अपरीक्षितकारकः तमधिकृत्य कृतं तन्त्रमिति अपरीक्षितकारकम्=अपरीक्षितकारकनामकम्। पञ्चमं=पञ्चसंख्याकम्। तन्त्रं=प्रकरणम्। तस्य=अपरीक्षितकारकस्य। आदिमः=प्रथमः। श्लोकः=पद्यम्। इदमस्ति=कुदृष्टमिति।

हिन्दी—अब यह अपरीक्षितकारकनामक पञ्चम तन्त्र (पाँचवाँ प्रकरण) आरम्भ किया जाता है, जिसका प्रथम श्लोक यह है—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत् कृतम्॥ १॥

अन्वय—अत्र नापितेन कुदृष्टं कुश्रुतं कुपरीक्षितं (च) यत् कृतं तत् नरेण न कर्तव्यम्॥ १॥

व्याख्या—अत्र=अस्मिन् प्रकरणे। नापितेन=क्षौरकर्मकारिणा। कुदृष्टं=

न सम्यगवलोकितम् । कुपरिज्ञातम्=यथावन्नज्ञातम् । कुश्रुत=असम्यगाकर्णितम् । कुपरीक्षित=न यथावद् विचारितम् । यत्=यादृश कर्म । कृत=विहितम् । तत्=तादृश कर्म । नरेण=अन्येन पुसा । न कर्तव्य=नहि अनुष्ठेयम्, किन्तु सम्यग्दर्शनालोचनादिपुर सरमेव कार्यं करणीयमिति भाव ।

हिन्दी—इस प्रकरण मे नाई ने बिना ठीक-ठीक देखे, बिना ठीक जाने, बिना ठीक सुने, बिना ठीक परीक्षा किये जो कार्य किया था, वह दूसरे मनुष्य के द्वारा नही किया जाना चाहिये ॥ १ ॥

तद्यथाऽनुश्रूयते—अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे पाटलिपुत्र नाम नगरम् । तत्र मणिभद्रो नाम श्रेष्ठी प्रतिवसति स्म । तस्य च धर्मार्थकाममोक्षकर्माणि कुर्वतो विधिवशाद्धनक्षय सञ्जात । ततो विभवक्षयादपमानपरम्परया पर विषाद गत । अथाऽन्यदा रात्रौ सुप्तश्चिन्तितवान्—अहो धिगिय दरिद्रता । उक्त च—

व्याख्या—तत्=नापितवृत्तान्तम् । अनुश्रूयते=कर्णाकर्णिकयाऽऽकर्ण्यते । दाक्षिणात्ये=दक्षिणदिशि वर्तमाने । जनपदे=देशे । पाटलिपुत्र नाम=पाटलिपुत्रनामकम् । तत्र=पाटलिपुत्रे । श्रेष्ठी=श्रीमान् वणिक् । प्रतिवसति स्म=निवसति स्म । तस्य=मणिभद्रस्य । धर्मार्थकाममोक्षकर्माणि=धर्मादिचतुर्वर्गकार्याणि । कुर्वत=कुर्वाणस्य । विधिवशात्=दुर्दैवात् । धनक्षय=वित्तनाश । सञ्जात=अभवत् । तत=तदनन्तरम् । विभवक्षयात्=धननाशात् । अपमानपरम्परया=भूयो भूयो निरादरेण । पर=अत्यन्तम् । विषाद=दु खम् । गत=प्राप्त । अथ=अनन्तरम् । अन्यदा=अन्यस्मिन् दिने । सुप्त=शयान । चिन्तितवान्=विचारितवान् । अहो इति खेदे । धिक् माम् । इय=ईदृशी । दरिद्रता=निर्धनता । (सञ्जाता) उक्त च=कथित च केनापि—

हिन्दी—वह कथानक इस प्रकार है, जैसा कि सुना जाता है—दक्षिण देश मे पाटलिपुत्र नामक एक नगर था । वहाँ मणिभद्र नाम का एक सेठ रहता था । धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष के निमित्त विहित कर्मों को करते हुए दुर्भाग्यवश उसके धन का नाश हो गया । निर्धनता के कारण होनेवाले प्रतिदिन के अपमान से वह अत्यन्त खिन्न रहता था, रात मे सोते समय उसने सोचा—ओह ! निर्धनता को धिक्कार है । किसी ने कहा है—

शील शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्य मधुरता कुले जन्म ।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥ २ ॥

अन्वय —शील, शौच, क्षान्ति, दाक्षिण्य, मधुरता, कुले जन्म च (एते) सर्वे हि वित्तविहीनस्य पुरुषस्य न विराजन्ति ॥ २ ॥

व्याख्या—शील =स्वभाव सदाचारो वा । शौच=पवित्रता । क्षान्ति = क्षमा । दाक्षिण्य=उदारता, शिष्टता । मधुरता=मधुरभाषित्वम् । कुले जन्म =सत्कुले जन्म । एते सर्वे =पूर्वोक्ता गुणा । हि=निश्चयेन । वित्तविहीनस्य= धनहीनस्य, निर्धनस्य । पुरुषस्य=पुस । न विराजन्ति=न शोभन्ते । शीलादिभिर्गुणैर्दरिद्रस्य शोभा न भवतीत्यर्थं ॥ २ ॥

हिन्दी—शील शुचिता, क्षमा, उदारता, मधुरभाषिता, उत्तम कुल मे जन्म, ये सभी गुण निर्धन पुरुष को शोभा नही देते । अर्थात् निर्धन मनुष्य मे इनकी कोई मान्यता नही ॥ २ ॥

मानो वा दर्पो वा विज्ञान विभ्रम सुबुद्धिर्वा ।
सर्वं प्रणश्यति समं, वित्तविहीनो यदा पुरुष ॥ ३ ॥

अन्वय —मान वा, दर्प वा, विज्ञान विभ्रम सुबुद्धिर्वा यदा पुरुष वित्तहीन (भवति, तदा) सर्वं सम प्रणश्यति ॥ ३ ॥

व्याख्या—मान =सम्मान । दर्प =अहङ्कारोऽभिमानो । विज्ञान=विशेषज्ञान, शिल्पज्ञानम् । विभ्रम –विलासचेष्टा, सुबुद्धि =सद्बुद्धिर्वा । वित्तविहीन – निर्धन । यदा भवति तदा सर्वं=निखिल शीलादिकम् । सम=धनेन साकमेव, प्रणश्यति=विनष्ट भवति । दारिद्र्यात् मानादयो नश्यन्तीत्यर्थं ॥ ३ ॥

हिन्दी—सम्मान, गर्व, विशिष्ट कलाओ का ज्ञान, आनन्द, विलास, विचारशीलता एव सुबुद्धि ये सभी गुण निर्धन पुरष के धन के साथ ही चले जाते हैं । अर्थात् निर्धन के सब कुछ एक साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिदिवस याति लय वसन्तवाताहतेव शिशिरश्री ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामपि कुटुम्बभरचिन्तया सततम् ॥ ४ ॥

अन्वय —बुद्धिमताम् अपि बुद्धि सतत कुटुम्बभरचिन्तया वसन्तवाताहता शिशिरश्री इव प्रतिदिवस लय याति ॥ ४ ॥

व्याख्या—बुद्धिमता =मतिमताम् । बुद्धि =प्रज्ञा । अपि सतत=निरन्तरम् । कुटुम्बभरचिन्तया=कुटुम्बस्य परिवारस्य भर पालनपोषण तस्य चिन्ता चिन्तनमिति कुटुम्बभरचिन्ता तया कुटुम्बभरचिन्तया । वसन्तवाताहता= वसन्तस्य वात वसन्तवात वसन्तकालीनवात तेनाहता प्रताडिता इति वसन्तवाताहता । शिशिरश्री =शिशिरस्य श्री शिशिरश्री =शिशिरर्तुसुषमेव । विनाश=क्षय, याति=गच्छति । बुद्धिमन्तोऽपि नरा प्रतिदिन सर्वदा कुटुम्बभरणपोषणचिन्तया क्षीणबुद्धयो भवन्तीत्यर्थ ।। ४ ।।

हिन्दी—बुद्धिमानो की भी बुद्धि हमेशा परिवार पालन की चिन्ता से उसी प्रकार क्षीण हो जाती है जैसे निरन्तर वसन्तकालीन वायु से शिशिर ऋतु की शोभा प्रतिदिन क्षीण होती जाती है । अर्थात् कौटुम्बिक चिन्ताओं मे उलझा हुआ बुद्धिमान् मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग किसी महत्त्वपूर्ण कार्य मे नही कर पाता ।। ४ ।।

नश्यति विपुलमतेरपि बुद्धि पुरुषस्य मन्दविभवस्य ।
घृत-लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्रेन्धनचिन्तया सततम् ॥ ५ ॥

अन्वय—विपुलमते मन्दविभवस्य पुरुषस्य बुद्धि सतत घृत-लवण तैल-तण्डुल—वस्त्र—इन्धनचिन्तया नश्यति ।। ५ ।।

व्याख्या—विपुला मतिर्यस्य स विपुलमति तस्य विपुलमते =निर्मलमते । मन्दविभवस्य=स्वल्पधनस्य । पुरुषस्य =जनस्य । बुद्धि =मति । सतत= निरन्तरम् । घृत च लवण च तैल च तण्डुल च वस्त्र च इन्धन चेति घृत लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्रेन्धनानि तेषा चिन्ता घृत-लवण-तैल-तण्डुल-वस्त्रेन्धनचिन्ता तया घृत-लवण तैल-तण्डुलवस्त्रेन्धनचिन्तया = कुटुम्बभरणपोषणोपकरणविचारेण । नश्यति=विनश्यति । सुबुद्धिरपि निर्धनो नर नित्य घृतलवणादिचिन्तनाद् बुद्धिविहीनो भवतीति भाव ।। ५ ।।

हिन्दी—विशाल बुद्धिवाले धनहीन पुरुष की भी बुद्धि निरन्तर परिवार के भरण-पोषण के साधन घी, नमक, तेल, चावल, वस्त्र और लकडी की चिन्ता से नष्ट हो जाती है ।। ५ ।।

गगनमिव नष्टतार शुष्कमिव सर., श्मशानमिव रौद्रम् ।
प्रियदर्शनमपि रूक्ष, भवति गृह धनविहीनस्य ॥ ६ ॥

अन्वय —प्रियदर्शनम् अपि धनविहीनस्य गृह नष्टतार गगनम् इव शुष्क सर इव रौद्र श्मशानम् इव रूक्ष भवति ॥ ६ ॥

व्याख्या—प्रिय दर्शन यस्य तत् प्रियदर्शनमपि=चारुदर्शनमपि । धनेन विहीन धनविहीन तस्य धनविहीनस्य=निर्धनस्य । गृह=गेहम् । नष्टा तारा यस्मिंस्तत् नष्टतार=लुप्तनक्षत्रम् । गगनमिव=आकाशमण्डलमिव । शुष्क= जलहीनम् । सर =जलाशय इव, रौद्र=भयङ्करम् । श्मशानमिव=प्रेतभूमिरिव । रूक्ष=श्रीविहीनम्, अशोभनम् । भवति=जायते । दर्शनीयमपि दरिद्रस्य गृह न शोभते इति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी—सम्पत्तिहीन व्यक्ति का अत्यन्त सुन्दर घर भी धन के अभाव मे तारारहित आकाश-मण्डल की तरह शून्य, सूखे हुए तालाब के समान रूक्ष और भयानक मरघट के समान उदास लगता है ॥ ६ ॥

न विभाव्यन्ते लघवो वित्तविहीनाः पुरोऽपि निवसन्त. ।
सतत जातविनष्टा. पयसामिव बुद्बुदा पयसि ॥ ७ ॥

अन्वय —वित्तविहीना लघव पुर निवसन्तोऽपि पयसि सतत जातविनष्टा पयसा बुद्बुदा इव न विभाव्यन्ते ॥ ७ ॥

व्याख्या—वित्तेन विहीना वित्तविहीना =धनहीना । लघव =नगण्या नरा । पुर =अग्रे निवसन्तोऽपि=वर्तमाना अपि । सतत=निरन्तरम् । पयसि= जले । जातविनष्टा =उत्पत्तिमात्रेण नष्टा । पयसा=जलानाम् । बुद्बुदा = जलस्फोटा इव=यथा न विभाव्यन्ते=न लक्ष्यन्ते । पुरो वर्तमान समीपस्थ वा दरिद्र नर दृष्टिपातेनापि ससारे न कोऽपि पश्यतीत्यर्थ ॥ ७ ॥

हिन्दी—धनहीन व्यक्ति तुच्छ हो जाता है । सामने रहने पर भी निरन्तर उत्पन्न एव विनष्ट होनेवाले पानी के [बुलबुले के समान सामने नही दिखाई पडता । अर्थात् निर्धन व्यक्ति को देखते हुए भी लोग उसकी उपेक्षा कर देते हैं ॥ ७ ॥

सुकुल कुशल, सुजनं विहाय, कुलकुशलशीलविकलेऽपि ।
आढये, कल्पतराविव नित्यं रज्यन्ति जननिवहा ॥ ८ ॥

अन्वय —जननिवहा सुकुल कुशल सुजन विहाय कुलकुशलशीलविकले अपि आढ्ये कल्पतरौ इव नित्य रज्यन्ति ॥ ८ ॥

व्याख्या—जनाना निवहा जननिवहा =जनसघा । सुकुल =श्रेष्ठवशजम् । कुशल=प्रवीणम् । सुजन=सज्जनम् निर्धनम् । विहाय=परित्यज्य । कुल विशुद्धो वश , कुशल कौशलम्, शील सद्वृत्तम् कुल च कुशल च शील च कुल कुशलशीलानि तै विकल कुल-कुशल शीलविकल तस्मिन् कुलकुशलशीलविकले= कुलीनतादिगुणरहिते अपि । आढ्ये=धनसम्पन्ने जने । कल्पतरौ=सकलमनोरथ-पूरके कल्पवृक्षे इव, नित्य=निरन्तरम् । रज्यन्ति=अनुरक्ता भवन्ति । जनसमूहो लोके सत्कुलीनतादिकमनपेक्ष्य निर्गुणमपि धनिक समाद्रियते इत्यर्थ ॥ ८ ॥

हिन्दी—लोग कुलीन, कुशल और उत्तम व्यक्ति को छोडकर कुलीनता, चतुरता तथा शील से हीन भी धनी पुरुषो मे कल्पवृक्ष की भांति अनुराग करते है अर्थात् लोगो की दृष्टि मे गुणवान् की अपेक्षा धनवान् का ही अधिक महत्त्व होता है ॥ ८ ॥

विफलमिह पूर्वसुकृत विद्यावन्तोऽपि कुलसमुद्भूता।
यस्य यदा विभव स्यात्तस्य तदा दासता यान्ति ॥ ९ ॥

अन्वय—इह=पूर्वसुकृत विफल कुलसमुद्भूता अपि विद्यावन्त यस्य विभव स्यात् तदा तस्य दासता यान्ति ॥ ९ ॥

व्याख्या—इह=अस्मिन् ससारे । पूर्व च तत् सुकृत पूर्वसुकृत=पूर्वोपाजित सत्कर्म । विगत फल यस्मिन् तत् विफल=व्यर्थ भवति । यतो हि कुले सत्कुले समुद्भूता =इति कुलसमुद्भूता सत्कुलोत्पन्ना अपि विद्यावन्त = विद्वास पुरुषा । यदा=यस्मिन् काले । यस्य=पुरुषस्य विभव =धन स्यात् । तदा= तस्मिन् काले । तस्य=पुरुषस्य । दासता=आज्ञाकारिताम् । यान्ति=गच्छन्ति, स्वीकुर्वन्ति । विश्वस्मिन् जगति पूर्वोपार्जित सर्वं सत्कर्मादिक धनिना समक्ष व्यर्थं भवति, यतो हि तत् स्व विस्मृत्य कुलजा अपि विद्वास धनिना दासा भवन्तीति भाव ॥ ९ ॥

हिन्दी—इस ससार मे पूर्वोपार्जित पुण्य भी व्यर्थ हो जाता है, क्योकि विद्वान् तथा सत्कुल मे उत्पन्न व्यक्तियो को भी अकुलीन तथा मूर्ख धनी व्यक्ति की दासता स्वीकार करनी पडती है । अर्थात् अकुलीन धनी व्यक्ति के सामने सत्कुलोत्पन्न विद्वान् भी चापलूसी करते दिखाई पडते हैं ॥ ९ ॥

लघुरयमाह न लोक काम गर्जन्तमपि पतिं पयसाम् ।
सर्वमलज्जाकरमिह, यद् यत् कुर्वन्ति परिपूर्णा ॥ १० ॥

अन्वय —लोक काम गर्जन्तमपि पयसा पतिम् अय लघु न आह । इह परिपूर्णा यत् यत् कुवन्ति (तत्) सर्वम् अलज्जाकर (भवति) ॥ १० ॥

व्याख्या—लोक =जन । काम =यथेच्छम् । गर्जन्तमपि = उच्चैर्नाद कुर्वन्तमपि । पयसा=जलानाम् । पतिं=स्वामिन समुद्रम् । अय लघु =अय क्षुद्र इति न आह=नहि कथयति । यतो हि इह=ससारे परिपूर्णा =श्रीमन्त । यत् यत् कार्यं कुर्वन्ति=यद् यदाचरन्ति तत्तत् सर्वं=सकलम् । अलज्जाकरम्= अलज्जावहम् । भवति=जायते । यथा हि जनो व्यर्थं प्रलपन्त समुद्र न किञ्चिद् ब्रूते यतो हि स महानस्ति तथैव धनिना किञ्चिदप्याचरण न लज्जोत्पादकम् जायते अपितु तत्कृत सर्वं प्रशसास्पदमेव भवति ॥ १० ॥

हिन्दी—व्यर्थ गरजते हुए समुद्र को 'यह नीच है' ऐसा कोई नही कहता, क्योकि बडे लोग जो कुछ कार्य करते हैं, वह लज्जाकर नही कहा जाता ।

अर्थात्—सम्पन्न व्यक्ति अनुचित कार्य करने पर भी निन्दनीय नही होता न वह अनुचित कार्य करते हुए लज्जित ही होता है, किन्तु निर्धन व्यक्ति अच्छा कार्य करने पर भी प्रशसा का पात्र नही होता ॥ १० ॥

एव सम्प्रधार्य भूयोऽप्यचिन्तयत्—तदहमनशनं कृत्वा प्राणानुत्सृजामि । किमनेन नो व्यर्थजीवितव्यसनेन ? एव निश्चय कृत्वा सुप्तः । अथ तस्य स्वप्ने पद्मनिधि क्षपणकरूपो दर्शन दत्त्वा प्रोवाच—भो श्रेष्ठिन् ! मा त्व वैराग्यम् गच्छ । अहं पद्मनिधिस्तव पूर्वपुरुषोपार्जितः । तदनेनैव रूपेण प्रातस्त्वद्गृह-मागमिष्यामि । तत्त्वयाऽह लगुडप्रहारेण शिरसि ताडनीय, येन कनकमयो भूत्वाऽक्षयो भवामि ।

व्याख्या—एव = पूर्वोक्तप्रकारेण । सम्प्रधार्य=विचार्य । भूयोऽपि=पुनरपि । अचिन्तयत् = चिन्तयामास । न अशनम् अनशन = भोजनत्याग कृत्वा=विहाय । प्राणान्=जीवनम् उत्सृजामि =परित्यजामि । अनेन=धनरहितेन । व्यर्थ-जीवितव्यसनेन=निरर्थकजीवनयापनेन । एव = इत्थम् । निश्चय कृत्वा= निर्णय विधाय । सुप्त =शयन कृतवान् । अथ=अनन्तरम् । पद्मनिधि =पद्म-नामको निधि । निधयो हि नवसख्यका विभिन्ननामानो भवन्ति । तथाहि=

महापद्मश्च[1] पद्मश्च[2] शङ्खो[3] मकर[4] कच्छपौ[5] ।
मुकुन्द[6] कुन्द[7] नीला[8]श्च खर्वश्च[9] निधयो नव ॥

क्षपणकरूपो जैनभिक्षुरूपी बौद्धभिक्षुरूपी वा । दर्शन दत्त्वा=प्रत्यक्षीभूय । प्रोवाच=उक्तवान् । तव=भवत । पूर्वपुरुषोपार्जित पूर्ववशजै सञ्चित । अनेनैव रूपेण=क्षपणकरूपेण । लगुडप्रहारेण=दण्डाघातेन । ताडनीय=हन्तव्य येन=ताडनेन । कनकमय=सुवर्णमय । अक्षय=अनश्वर चिरस्थायी वा । भवामि=भविष्यामि ।

हिन्दी—इस प्रकार विचार कर उसने पुन सोचा—मैं अनशन कर प्राण त्याग कर दूँगा । इस निर्धनता मे जीने की व्यर्थ दुराशा करने से क्या लाभ है ? ऐसा निश्चय कर वह सो गया । पद्मनिधि ने उसके सो जाने पर स्वप्न मे जैनभिक्षु के रूप मे दर्शन देकर कहा—ओ सेठ जी ! तुम विरक्त न होओ, मैं तुम्हारे पूर्वजो द्वारा कमाया हुआ पद्मनिधि नामक कोष हूँ । कल मैं प्रात - काल इसी रूप मे तुम्हारे घर आऊँगा । तुम मेरे शिर पर लाठी से प्रहार करना, जिससे मैं सुवर्णमय होकर तुम्हारे निमित्त कभी कम न होने वाला धन हो जाऊँगा ।

अथ प्रात प्रवुद्ध सन् स्वप्न स्मरश्चिन्ताचक्रमारूढस्तिष्ठति—अहो, सत्योऽय स्वप्न किं वा असत्यो भविष्यति, न ज्ञायते । अथवा नून मिथ्याऽनेन भाव्यम् । यतोऽहमहर्निश केवल वित्तमेव चिन्तयामि । उक्तं च—

व्याख्या—अथ=स्वप्नदर्शनानन्तरम् । प्रात प्रबुद्ध=प्रभातकाले जागृत सन् स्वप्न स्मरन्=स्वप्न ध्यायन् । चिन्ताचक्रमारूढ=विचारपरम्परामग्न । सत्य=वास्तविक । असत्य=मिथ्या । नून=निश्चयम् । मिथ्याज्ञानेन भाव्यम् =असत्येन नून भवितव्यम् । यत=यस्मात् कारणात् । अहर्निशम्=अहोरात्रम् । वित्तमेव=धनमेव । चिन्तयामि=अनुशोचामि । उक्त च=कथित च ।

हिन्दी—बाद प्रात काल नींद खुलने पर स्वप्न के विषय मे वह तर्क-वितर्क करने लगा कि क्या यह स्वप्न सत्य होगा या असत्य भी हो सकता है ? कुछ भी कहना कठिन है । अथवा असत्य ही होगा, क्योंकि मैं रात दिन केवल धन के विषय मे ही सोचता हूँ । कहा भी गया है कि—

व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन जन्तुना ।
कामार्तेनाऽथ मत्तेन दृष्टः स्वप्नो निरर्थकः ॥ ११ ॥

अन्वय —व्याधितेन सशोकेन चिन्ताग्रस्तेन कामार्तेन अथ मत्तेन जन्तुना दृष्टः स्वप्नः निरर्थकः (भवति) ॥ ११ ॥

व्याख्या—व्याधितेन=रुग्णेन । सशोकेन= शोकाकुलेन । चिन्ताग्रस्तेन = चिन्तामग्नेन । कामार्तेन=विषयासक्तेन । अथ=यद्वा मत्तेन=उन्मत्तेन । जन्तुना=जीवेन । दृष्टः=अवलोकितः । स्वप्नः निरर्थकः=निष्फलः भवति, जायते । रुग्णादिभिर्दृष्टः स्वप्नो न किमपि फलं प्रसूत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

हिन्दी—रोगी, दुःखी, चिन्तित, कामासक्त और विक्षिप्त मनुष्य के द्वारा देखे गये स्वप्न का फल निष्फल हो जाता है ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नन्तरे तस्य भार्यया कश्चिन्नापितः पादप्रक्षालनायाहूतः अत्रान्तरे च यथानिर्दिष्टः क्षपणकः सहसा प्रादुर्बभूव । अथ स तमालोक्य प्रहृष्टमना यथासन्नकाष्ठदण्डेन तं शिरस्यताडयत् । सोऽपि सुवर्णमयो भूत्वा तत्क्षणाद् भूमौ निपतितः । अथ तं स श्रेष्ठी निभृतं स्वगृहमध्ये कृत्वा नापितं सन्तोष्य प्रोवाच—तदेतद्धनं वस्त्राणि च मया दत्तानि गृहाण । भद्र ! पुनः कस्यचिन्नाख्येयोऽयं वृत्तान्तः ।

व्याख्या—एतस्मिन्नन्तरे=अस्मिन्नेव समये । तस्य=श्रेष्ठिनः भार्यया=पत्न्या । पादप्रक्षालनाय=पादप्रक्षालन-नखकर्तन रञ्जनादि-कार्याय । कश्चिन्नापितः=एको नापितः आहूतः=समाहूतः । अत्रान्तरे=अस्मिन्नेवासरे । यथानिर्दिष्टः=स्वप्ने यथानिर्दिष्टः । सहसा=अकस्मात् । प्रादुर्बभूव=समागतः । सः=श्रेष्ठी । तं=क्षपणकरूपं पद्मनिधिम् । आलोक्य=दृष्ट्वा । प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नः सन् यथासन्नकाष्ठदण्डेन=समीपस्थदारुखण्डेन । अताडयत्=प्रहारमकरोत् । सोऽपि=क्षपणकोऽपि । तत्क्षणात् तस्मिन्नेव काले सद्यः=तत्काले एव भूमौ निपतितः=पृथिव्यां पपात । अथ=अनन्तरम् । तं मृतं सुवर्णमयं क्षपणकम् । स श्रेष्ठी=मणिभद्रः निभृतं=निगूढम् । स्वगृहमध्ये कृत्वा=निजसद्मनि संस्थाप्य । नापितं सन्तोष्य=धनादिना पुरस्कृत्य । प्रोवाच=कथितवान् । गृहाण=स्वीकुरुष्व । कस्यचित् न आख्येयः=कस्मै अपि न वक्तव्यः । अयं वृत्तान्तः=एष समाचारः ।

हिन्दी—इसी समय उसकी स्त्री ने पैर धोने, नख काटने तथा पैर रगने के लिए एक नाई को बुलाया। ठीक उसी समय स्वप्न मे देखा हुआ जैनभिक्षु एकाएक प्रगट हो गया। उसे देख अत्यन्त प्रसन्न हो सेठजी ने पास पडी हुई लकडी के डण्डे से उसके सिर पर प्रहार कर ही दिया। वह भी तत्काल सुवर्ण बनकर जमीन पर गिर गया। तब सेठ ने उसे अपने घर मे छिपाकर नाई को द्रव्य से सन्तुष्ट कर कहा—मेरे द्वारा दिये गये, ये धन वस्त्र लो, यह समाचार किसी से भी न बताना।

नापितोऽपि स्वगृह गत्वा व्यचिन्तयत्—नूनमेते सर्वेऽपि नग्नका शिरसि ताडिता काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रात प्रभूतानाहूय लगुडै शिरसि हन्मि, येन प्रभूत हाटक मे भवति। एव चिन्तयतो महता कष्टेन निशा व्यतिचक्राम।

अथ प्रभातेऽभ्युत्थाय बृहल्लगुडमेक प्रगुणीकृत्य, क्षपणकविहार गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रय विधाय, जानुभ्यामवनि गत्वा वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चलस्तारस्वरेणेम श्लोकमपठत्—

व्याख्या—स्वगृह गत्वा=निजगेहमुपसृत्य। व्यचिन्तयत्=विचारितवान्। नून=निश्चयेन। नग्नका =क्षपणका शिरसि प्रताडिता =मस्तके प्रहारिता। काञ्चनमया =सुवर्णमया। भवन्ति=जायन्ते। प्रभूतान्=प्रचुरान्, अधिकसख्याकान् आहूय=समाहूय। लगुडै शिरसि हन्मि=काष्ठखण्डै मस्तके प्रहरिष्यामि। येन=प्रहारेण। प्रभूतम्=प्रचुरम्। हाटक=सुवर्णम्। एव चिन्तयत =इत्थ विचारयत तस्य। महता कष्टेन=अतिकष्टेन, कथञ्चित्। निशा=रात्रि। व्यतिचक्राम=व्यतीयाय। अथ=तदनन्तरम्। प्रभाते=प्रात काले। उत्थाय=शयनादुत्थाय। बृहल्लगुडमेक=अतिदीर्घमेक दण्डम्। प्रगुणीकृत्य=सज्जीकृत्य। क्षपणकविहार=जैनभिक्षुक-निवासभूत मठम्। गत्वा=समुपस्थाय जिनेन्द्रस्य=भगवतो जिनस्य। प्रदक्षिणत्रय=वारत्रयम् प्रदक्षिणाम्। कृत्वा=विधाय। जानुभ्यामवनि गत्वा=जानुभ्या भूमि सस्पृश्य। वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चल =उत्तरीयवस्त्रेण पिहितमुख। तारस्वरेण=उच्चस्वरेण। इम श्लोकम् अपठत्=पद्यमिममुच्चारयत्।

हिन्दी—इसके बाद नाई ने अपने घर जाकर सोचा—अवश्य ही, ये सभी जैन भिक्षु सिर पर प्रहार करने से सोने के हो जाते हैं। तो मैं भी सुबह अपने यहाँ अनेकों को बुलाकर दण्डो से शिर पर चोट करूँगा। जिससे मेरे पास भी अधिक धन हो जायेगा। इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसने बडी कठिनाई से रात बितायी। पुन सुबह उठकर एक बडी लाठी तैयार की और जैन भिक्षुओ के मठ मे जाकर झुककर दुपट्टे के छोर को मुख पर रखते हुए ऊँचे स्वर से यह श्लोक पढा—

जयन्ति ते जिना येषा केवलज्ञानशालिनाम्।
आजन्मन स्मरोत्पत्तौ मानसेनोषरायितम्॥ १२॥

अन्वय —केवलज्ञानशालिना येषा आजन्मन स्मरोत्पत्तौ मानसेन उषरायितम्, ते जिना जयन्ति॥ १२॥

व्याख्या—केवलज्ञानशालिनाम् = ज्ञानपरायणानाम्। येषा = जैनक्षपणकानाम्। आजन्मन = जन्मत आरभ्य। स्मरोत्पत्तौ स्मरस्योत्पत्तिरिति स्मरोत्पत्ति तस्या स्मरोत्पत्तौ = कामोत्पत्तौ। मानसेन = चित्तेन। उषरायित = उषरमिवाचरितम्। ते प्रसिद्धा कामहीना जिना = जैनसाधव जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। क्षारभूमौ उप्त बीजमिव जिनाना मनसि कामो नोत्पद्यते इति भाव॥ १२॥

हिन्दी—एकमात्र ज्ञानी, जिनके मन में कामविकार नही होता एव जिन्होने जन्म से ही कामोत्पत्ति के विषय मे अपने मन को ऊसर भूमि के समान बना दिया, उन ज्ञानपरायण जिनो की जय हो॥ १२॥

अन्यच्च—

सा जिह्वा या जिन स्तौति तच्चित्त यज्जिने रतम्।
तौ एव तु करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ,करौ॥ १३॥

अन्वय —सा जिह्वा या जिन स्तौति' तत् चित्त यत् जिने रतम्, तौ एव करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ स्त॥ १३॥

व्याख्या—सा जिह्वा=सैव रसना प्रशसार्हा या जिन = जिनाचार्यं स्तौति = प्रार्थयति। तत् चित्त = तदेव मन यत् जिने रतम्=जिनेऽनुरक्तम्, भवति। तौ

हिन्दी—इसी समय उसकी स्त्री ने पैर धोने, नख काटने तथा पैर रंगने के लिए एक नाई को बुलाया। ठीक उसी समय स्वप्न मे देखा हुआ जैनभिक्षु एकाएक प्रगट हो गया। उसे देख अत्यन्त प्रसन्न हो सेठजी ने पास पडी हुई लकडी के डण्डे से उसके सिर पर प्रहार कर ही दिया। वह भी तत्काल सुवर्ण बनकर जमीन पर गिर गया। तब सेठ ने उसे अपने घर मे छिपाकर नाई को द्रव्य से सन्तुष्ट कर कहा—मेरे द्वारा दिये गये, ये धन वस्त्र लो, यह समाचार किसी से भी न बताना।

नापितोऽपि स्वगृह गत्वा व्यचिन्तयत्—नूनमेते सर्वेऽपि नग्नका शिरसि ताडिता काञ्चनमया भवन्ति। तदहमपि प्रात प्रभूतानाहूय लगुडै शिरसि हन्मि, येन प्रभूत हाटक मे भवति। एव चिन्तयतो महता कष्टेन निशा व्यतिचक्राम।

अथ प्रभातेऽभ्युत्थाय बृहल्लगुडमेक प्रगुणीकृत्य, क्षपणकविहार गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रय विधाय, जानुभ्यामवनिं गत्वा वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चलस्तारस्वरेणेम श्लोकमपठत्—

व्याख्या—स्वगृह गत्वा=निजगेहमुपसृत्य। व्यचिन्तयत्=विचारितवान्। नून=निश्चयेन। नग्नका =क्षपणका शिरसि प्रताडिता =मस्तके प्रहारिता। काञ्चनमया =सुवर्णमया। भवन्ति=जायन्ते। प्रभूतान्=प्रचुरान्, अधिकसख्याकान् आहूय=समाहूय। लगुडै शिरसि हन्मि=काष्ठखण्डै मस्तके प्रहरिष्यामि। येन=प्रहारेण। प्रभूतम्=प्रचुरम्। हाटक=सुवर्णम्। एव चिन्तयतः =इत्थ विचारयत तस्य। महता कष्टेन=अतिकष्टेन, कथञ्चित्। निशा= रात्रि। व्यतिचक्राम=व्यतीयाय। अथ=तदनन्तरम्। प्रभाते=प्रात काले। उत्थाय=शयनादुत्थाय। बृहल्लगुडमेक=अतिदीर्घमेक दण्डम्। प्रगुणीकृत्य= सज्जीकृत्य। क्षपणकविहार=जैनभिक्षुक-निवासभूत मठम्। गत्वा=समुपस्थाय जिनेन्द्रस्य=भगवतो जिनस्य। प्रदक्षिणत्रय=वारत्रयम् प्रदक्षिणाम्। कृत्वा=विधाय। जानुभ्यामवनिं गत्वा=जानुभ्या भूमिं सस्पृश्य। वक्त्रद्वारन्यस्तोत्तरीयाञ्चल =उत्तरीयवस्त्रेण पिहितमुख। तारस्वरेण=उच्चस्वरेण। इम श्लोकम् अपठत्=पद्यमिममुच्चारयत्।

हिन्दी—इसके बाद नाई ने अपने घर जाकर सोचा—अवश्य ही, ये सभी जैन भिक्षु सिर पर प्रहार करने से सोने के हो जाते हैं। तो मैं भी सुबह अपने यहाँ अनेकों को बुलाकर दण्डो से शिर पर चोट करूँगा। जिससे मेरे पास भी अधिक धन हो जायेगा। इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसने बडी कठिनाई से रात बितायी। पुन सुबह उठकर एक बडी लाठी तैयार की और जैन भिक्षुओ के मठ मे जाकर झुककर दुपट्टे के छोर को मुख पर रखते हुए ऊँचे स्वर से यह श्लोक पढा—

जयन्ति ते जिना येषा केवलज्ञानशालिनाम्।
आजन्मन स्मरोत्पत्तौ मानसेनोषरायितम् ॥ १२ ॥

अन्वय—केवलज्ञानशालिना येषा आजन्मन स्मरोत्पत्तौ मानसेन उषरायितम्, ते जिना जयन्ति ॥ १२ ॥

व्याख्या—केवलज्ञानशालिनाम् = ज्ञानपरायणानाम्। येषा = जैनक्षपणकानाम्। आजन्मन = जन्मत आरभ्य। स्मरोत्पत्तौ स्मरस्योत्पत्तिरिति स्मरोत्पत्ति तस्या स्मरोत्पत्तौ = कामोत्पत्तौ। मानसेन = चित्तेन। उषरायित = उषरमिवाचरितम्। ते प्रसिद्धा कामहीना जिना = जैनसाधव जयन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। क्षारभूमौ उप्त बीजमिव जिनाना मनसि कामो नोत्पद्यते इति भाव ॥ १२ ॥

हिन्दी—एकमात्र ज्ञानी, जिनके मन में कामविकार नही होता एव जिन्होने जन्म से ही कामोत्पत्ति के विषय मे अपने मन को ऊसर भूमि के समान बना दिया, उन ज्ञानपरायण जिनो की जय हो ॥ १२ ॥

अन्यच्च—

सा जिह्वा या जिन स्तौति तच्चित्त यज्जिने रतम्।
तौ एव तु करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ करौ ॥ १३ ॥

अन्वय—सा जिह्वा या जिन स्तौति तत् चित्त यत् जिने रतम्, तौ एव करौ श्लाघ्यौ यौ तत्पूजाकरौ स्त ॥ १३ ॥

व्याख्या—सा जिह्वा = सैव रसना प्रशसार्हा या जिन = जिनाचार्यं स्तौति = प्रार्थयति। तत् चित्त = तदेव मन यत् जिने रतम् = जिनेऽनुरक्तम्, भवति। तौ

एव करौ=हस्तौ श्लाघ्यौ=प्रशसनीयो यौ तत्पूजाकरौ=जिनपूजको स्त । जिनस्तुत्यादिभिरेव रसनादीना सार्थक्यमिति भाव ॥ १३ ॥

हिन्दी—और भी, मनुष्य की वही जीभ जीभ है, जो भगवान् जिन की स्तुति करती है। वही मन वास्तविक रूप से मन है, जो जैनभिक्षुओ मे लीन रहता है और वे ही हाथ प्रशसनीय है, जो इन जिनो की पूजा करते हैं ॥१३॥

तथा च—

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षु क्षणं
पश्यानङ्गशरातुर जनमिम त्राताऽपि नो रक्षसि ।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्त कुतोऽन्य पुमान्
सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बौद्धो जिन पातु व ॥ १४ ॥

अन्वय—ध्यानव्याजम् उपेत्य का चिन्तयसि, क्षण चक्षु उन्मील्य अनङ्गशरातुरम् इम जन पश्य, त्राता अपि नो रक्षसि, मिथ्याकारुणिक असि, त्वत्त निर्घृणतर अन्य पुमान् कुत मारवधूभि, सेर्ष्यं इति अभिहित बौद्ध जिन व पातु ॥ १४ ॥

व्याख्या—ध्यानस्य व्याज ध्यानव्याज तत् ध्यनव्याज=कपटसमाधिम्। उपेत्य=विधाय का=प्रेयसी चिन्तयसि=ध्यायसि। क्षण=क्षणमात्र। चक्षु=लोचनम्। उन्मील्य=उद्घाट्य। अनङ्गस्य शरा अनङ्गशरा तै आतुर अनङ्गशरातुर तमनङ्गशरातुर=कामबाणप्रपीडितम्। इम जन=पुरोवर्तिन जन मा पश्य=विलोकय। त्राताऽपि=रक्षकोऽपि। न रक्षसि=रक्षा न करोषि। मिथ्या=असत्यमेव। कारुणिक=दयालुरसि। त्वत्त=युष्मत्। निर्घृणतर=निर्दय अन्य पुमान्=इतरो मनुष्य। कुत=कोऽस्ति। इति=इत्थम्। मारवधूभि=मदनपत्नीरतिसुन्दरीभि अप्सरोभि सेर्ष्यं=ईर्ष्यया सहितम्। अभिहित=निगदित, बौद्ध=सावधानो जिन=जिनाचार्य बौद्ध-भिक्षु भगवान् बुद्धो व=युष्मान् पातु=रक्षतु। समाधि विहाय कामवधूरतिसमसुन्दर्य कामाकुला वय दृष्टिपातादिना नून समाजनीया इति भाव ॥ १४ ॥

हिन्दी—और—ध्यान का बहाना बनाकर आप किस सुन्दरी का ध्यान कर रहे हो, थोडी देर के लिए आँखो को तो खोलो और काम के बाणो से व्यथित

इस जन–हमारी ओर तो देखो, आश्चर्य है, आप रक्षक होकर भी रक्षा नही कर रहे हो, आप झूठ मूठ मे दयालु बने हो, आप से बढकर निर्दयी कोई दूसरा नहीं है। इस प्रकार ईर्ष्यायुक्त होकर काम की पत्नी रति के समान सुन्दरी अप्सराओ के द्वारा आक्षिप्त जितेन्द्रिय भगवान् जिन आप लोगो की रक्षा करें।

एवं संस्तुय, तत· प्रधानक्षपकणमासाद्य क्षितिनिहितजानुचरण 'नमोऽस्तु, वन्दे' इत्युच्चार्य, लब्धधमवृद्ध्याशीर्वाद सुखमालिकाऽनुग्रहलब्धव्रतादेश उत्तरीय-निबद्धग्रन्थि· सप्रश्रयमिदमाह—भगवन् ! अद्य विहरणक्रिया समस्तमुनिसमेते-नास्मद्गृहे कर्त्तव्या।

व्याख्या—एव=इत्थम्। सस्तुत्य=स्तुर्ति कृत्वा। प्रधानक्षपणक=प्रमुख-भिक्षुम्, मठाधीशम्। आसाद्य=प्राप्य। क्षितौ निहितौ जानुचरणौ येन स क्षिति-निहितजानुचरण=भूमिगतजानुपादप्रदेश। धर्मस्य वृद्धि धर्मवृद्धि धर्मवृद्धे-राशीर्वाद धर्मवृद्ध्याशीर्वादो लब्ध धर्मवृद्ध्याशीर्वादो येन स लब्धधर्मवृद्ध्या-शीर्वाद=धर्मवृद्धेराशीर्वादमवाप्य। सुखार्थं धारिता मालिका सुखमालिका तस्या अनुग्रह तेन लब्ध व्रतस्य आदेशो येन स सुखमालिकानुग्रहलब्धव्रतादेश=अनु-ग्रहपुष्पमालिकया प्राप्तव्रतादेश। उत्तरीयेण निबद्धा ग्रन्थि येन स उत्तरीय-निबद्धग्रन्थि=दुकूलाबद्धग्रन्थि। सप्रश्रय=सानुनयम्। विहरणक्रिया=अशन-क्रिया, भिक्षाटन वा। समस्तमुनिसमेतेन=सकलभिक्षुसहितेन। अस्मद्गृहे=मम गेहे। कर्तव्या=कृपया विधेया।

हिन्दी—इस प्रकार प्रशसा करके वह नाई प्रमुख भिक्षु के पास गया और पृथ्वी पर घुटना टेककर बैठ गया और विनीत भाव से उनसे यह कहा–आपको नमस्कार है, मैं आपकी वन्दना करता हूँ। मुख्य भिक्षु ने धर्मवृद्धि का आशी-र्वाद दिया और अपने गले की माला निकालकर उसको प्रदान कर व्रत एव उपवास आदि की शिक्षा दी। आशीर्वाद पाने के पश्चात् उसने अपने दुपट्टे को गले में लपेटते हुए बडी नम्रता से निवेदन किया–भगवन् ! सभी भिक्षुओ के साथ आज का भोजन मेरे घर पर होवे।

स आह—भोः श्रावक ! धर्मज्ञोऽपि किमेव वदसि, किं वय ब्राह्मणसमानाः,

यत आमन्त्रण करोषि ? वय सदैव तत्कालपरिचर्यया भ्रमन्तो भक्तिभाज श्रावक-मवलोक्य तस्य गृहे गच्छाम । तेन कृच्छ्रादभ्यर्थितास्तद्गृहे प्राणधारणमात्रा-मशनक्रिया कुर्म । तद्गम्यताम्, नैव भूयोऽपि वाच्यम् ।

तच्छ्रुत्वा नापित आह—भगवन् ! वेद्म्यह युष्मद्धर्मम् । पर भवतो बहुश्रावका आह्वयन्ति । साम्प्रत पुन पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहु-मूल्यानि प्रगुणीकृतानि । तथा पुस्तकाना लेखनार्थं लेखकाना च वित्तं सञ्चित-मास्ते । तत्सर्वथा कालोचित्त कार्यम् ।

व्याख्या—स आह=प्रधानक्षपणक प्रोवाच । श्रावक !=जिनानुरागिन् । धर्मज्ञोऽपि=धर्मस्वरूप जानन्नपि । किमेव वदसि=कथमेतादृश कथयसि । वय= जिना ब्राह्मणसमाना=ब्राह्मणै समाना ब्राह्मणसमाना=विप्रसदृशा । आमन्त्रण =निमन्त्रणम् । तत्कालपरिचर्यया=तत्काले परिचर्या तत्कालपरिचर्या तया तत्कलपरिचयया=भोजनकालोचितविहारेण । भ्रमन्त =बभ्रम्यमाणा भक्ति-भाज=भक्तिमन्तम् श्रावक=जैनगृहम् । अवलोक्य=विलोक्य । कृच्छ्रात् अभ्यर्थिता =बहुश प्रार्थिता । तद्गृहे=तस्य गेहे । प्राणधारणमात्राम्=जीवनरक्षामात्राम् । अशनक्रियाम्=भोजनव्यापारम् । तद्गच्छ=तस्माद् गम्यताम् ।नैव भूयोऽपि वाच्यम्=एव पुनरपि त्वया न वक्तव्यम् ।

तच्छ्रुत्वा=क्षपणकप्रधानस्य कथनमाकर्ण्य । वेद्म्यह सर्वमवगच्छामि । युष्मद्धर्मं=भवद्धर्मम् । बहुश्रावका=बहवो भक्ता । आह्वयन्ति=समाह्वयन्ति । साम्प्रतम्=इदानीम् पुस्तकाच्छादनयोग्यानि=पुस्तकानामाच्छादन पुस्तकाच्छादन तस्य योग्यानि पुस्तकाच्छादनयोग्यानि=पुस्तकबन्धनोचितानि, धर्मग्रन्थवेष्टनो-चितानि । कर्पटानि=वस्त्राणि । बहूनि मूल्यानि येषा तानि बहुमूल्यानि= महार्हाणि । प्रगुणीकृतानि=सञ्चितानि । लेखकाना=ग्रन्थलेखकानाम् । वित्त= धनम् । सञ्चित=एकत्रीकृतम् । कालोचित=समयोचित् । कार्यं=विधेयम् ।

हिन्दी—उसकी प्रार्थना सुनकर उस प्रमुख भिक्षु ने कहा—श्रावक ! धर्मज्ञ होते हुए भी तुम कैसी बातें करते हो, क्या हमलोग ब्राह्मणो के समान है कि तुम निमन्त्रण दे रहे हो ! हम लोग भोजन के समय स्वय घूमते फिरते किसी श्रद्धालु गृहस्थ को देखकर उसके घर चले जाते हैं उसके बहुत आग्रह करने पर

केवल जीवन निर्वाह के निमित्त अपेक्षित भोजन करते है। तुम यहाँ से तत्काल चले जाओ और भविष्य मे पुन ऐसा नही कहना।

उस जैनभिक्षु की बात सुनकर नाई ने कहा—भगवन्! मैं आपके धर्म नियमो को भलीभाँति जानता हूँ, किन्तु आपके बहुतेरे भक्त हैं और आप लोगो को सदा बुलाते रहते हैं। इस समय मैंने धर्म ग्रन्थो को बाँधने के लायक बहुमूल्य वस्त्रो को सञ्चय कर रखा है तथा ग्रन्थो के लिखने वाले विद्वानो के हेतु पारिश्रमिक रूप मे देने के लायक द्रव्य भी एकत्र कर रखा है। फिर भी सब प्रकार से विचार कर जैसी इच्छा हो कीजिएगा। (सम्भव है—मैं इस प्रकार पुन सामानो को इकट्ठा न कर पाऊँगा)

ततो नापितोऽपि स्वगृह गत। तत्र च गत्वा खदिरमय लगुड सज्जीकृत्य कपाटयुगल द्वारि समाधाय सार्द्धप्रहरैकसमये भूयोऽपि विहारद्वारमाश्रित्य सर्वान् क्रमेण निष्क्रामतो गुरुप्रार्थनया स्वगृहमनयत्। तेऽपि सर्वे कर्पटवित्तलोभेन भक्तियुक्तानपि परिचितश्रावकान् परित्यज्य प्रहृष्टमनसस्तस्य पृष्ठतो ययु। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—तत =तदनन्तरम्। स्वगृह गत=निजगृह प्राप्त। तत्र च गत्वा=स्वगृहमुपेत्य। खदिरमय=खदिरकाष्ठनिर्मितम्। लगुड=दण्डम्। सज्जीकृत्य=सुसज्जित कृत्वा कपाटयुगल=कपाटद्वयम्। द्वारि=द्वारदेशे। समाधाय=पिधाय परीक्ष्य च। सार्द्धप्रहरैकसमये=दशवादनवेलायाम्। विहारद्वार=जैनाश्रमद्वारम्। आश्रित्य=उपस्थाय निष्क्रामत =निर्गच्छत। गुरुप्रार्थनया=महता निर्बन्धेन, आग्रहपूर्वकम् स्वगृह=निज गेहम्। आनयत्=आनीतवान्। तेऽपि सर्वे=सकला जैनसाधवोऽपि। कर्पटवित्तलोभेन=वस्त्रद्रव्यादिलोभेन। भक्तियुक्तान्=विनयान्वितान्, भक्तिमत। परिचितश्रावकान्=परिचितभक्तान्। परित्यज्य=त्यक्त्वा। प्रहृष्टमनस =प्रसन्नचेतस सन्त तस्य=नापितस्य। पृष्ठतो ययु=पश्चादनुययु। अथवा साधु इदमुच्यते=वा इद समीचीन कथ्यते—

हिन्दी—तब नाई अपने घर चला गया। उसने जाकर खैर की लकडी की एक लाठी तैयार की और बाहर के दोनो दरवाजो को बन्द कर दिया। डेढ पहर दिन आने के बाद वह पुन जैन विहार के दरवाजे पर जाकर खडा हो गया। भिक्षा के निमित्त बाहर निकलते हुए उन जैन भिक्षुओ को बडी विनती

से अपने घर ले गया। वे सब वस्त्र एव द्रव्य के लोभ से परिचित विश्वस्त भक्तिमान् गृहस्थो को छोडकर अतिप्रसन्न चित्त से उस नाई के पीछे-पीछे चल दिये। अथवा ठीक ही कहा है—

एकाकी गृहसन्त्यक्त पाणिपात्रो दिगम्बर।
सोऽपि सवाह्यते लोके तृष्णया पश्य कौतुकम् ॥ १५ ॥

अन्वय —(इदम्) कौतुक पश्य, एकाकी, गृहसन्त्यक्त पाणिपात्र दिगम्बर सोऽपि लोके तृष्णया सवाह्यते ॥ १५ ॥

व्याख्या—इद कतुकम्=एतदाश्चर्यम्। पश्य=अवलोकय। एकाकी=एकक य कलत्रादिरहित सन् गृहसन्त्यक्त=परित्यक्तगृह। पाणिपात्र = पाणिरेव पात्र यस्य स पाणिपात्र अथवा पाणौ पात्र यस्य स पाणिपात्र पाणिनैव पात्रकार्यं निर्वहन् करपात्री। दिगम्बर.=दिश एवाम्बराणि यस्य स दिगम्बर=दिग्वस्त्रो नग्न वा। स=तादृशोऽपि पुरुष। लोके=विश्वस्मिन्न-स्मिन्। तृष्णया=लिप्सया लोभेन वा। सवाह्यते=परिचाल्यते, आकृष्यते। अर्थात् लोभो विरक्तमप्याकर्षति ॥ १५ ॥

हिन्दी—यह आश्चर्य देखो, एकाकी, घर को त्यागकर देने वाला, नग्न रहने वाला, अपने हाथो को ही पात्र समझने वाला त्यागी मनुष्य भी अनेक लालसाओ मे पड जाता है ॥ १५ ॥

जीर्यन्ते जीर्यत केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यत।
चक्षु श्रोत्रे च जीर्येते तृष्णैका तरुणायते ॥ १६ ॥

अन्वय —जीर्यत (मनुष्यस्य) केशा जीर्यन्ते, जीर्यत दन्ता जीर्यन्ति चक्षु श्रोत्रे च जीर्येते। एका तृष्णा तरुणायते ॥ १६ ॥

व्याख्या—जीर्यत =जीर्णता-वयोहानि गच्छत वृद्धस्य मनुष्यस्य। केशा शिरोरुहा जीर्यन्ते=जीर्णा शुक्ला भवन्ति। जीर्यतो वृद्धस्य दन्ता दशना अपि जीर्यन्ति=जीर्णत्वमापन्ना सन्त पतन्ति, शिथिला वा भवन्ति। चक्षु =नेत्रम् श्रोत्रे=कर्णौ च जीर्येते—श्रावणदर्शनाक्षमे भवत। एका=केवला तृष्णा—लालसा एव। तरुणायते तरुणीवदाचरति तरुणायते=न जीर्णा भवतीत्यर्थ ॥ १६ ॥

हिन्दी—वृद्ध होने पर मनुष्य के केश पक जाते हैं। दांत जीर्ण होकर गिर

जाते हैं। आंख और कान शिथिल हो जाते हैं, किन्तु तृष्णा (लालसा) सदा युवती ही बनी रहती है। अर्थात् सभी इन्द्रियो के शिथिल हो जाने पर भी मनुष्य की तृष्णा कम नही होती, उत्तरोत्तर बढती ही रहती है ॥ १६ ॥

तत पर गृहमध्ये तान् प्रवेश्य, द्वार निभृत पिधाय, लगुडप्रहारै शिर-स्यताडयत्। तेऽपि ताडयमाना एके मृताः, अन्ये भिन्नमस्तका फूत्कर्तुमुपचक्रमिरे। अत्रान्तरे तमाक्रन्दमाकर्ण्य कोटरक्षपालेनाऽभिहितम्—"भो भो ! किमय कोलाहलो नगरमध्ये ? तद्गम्यताम्।"

ते च सर्वे तदादेशकारिणस्तत्सहिता वेगात्तद्गृह गता यावत् पश्यन्ति तावद्रुधिरप्लावितदेहा पलायमाना नग्नका दृष्टा पृष्टाश्च भो किमेतत् ? ते प्रोचुर्यथाऽवस्थितं नापितवृत्तम्।

व्याख्या—तत पर=तेषा तद्गृहागमनानन्तरम्। गृहमध्ये=स्वगृहाभ्यन्तरे। तान्=क्षपणकान्। प्रवेश्य=तेषा प्रवेश विधाय। निभृत=सुप्रच्छन्न गुप्तरूपेण वा। पिधाय=पिहित कृत्वा, अवरुध्य वा। लगुडप्रहारै =लगुडस्य प्रहारा लगुडप्रहारा तै लगुडप्रहारै =दण्डाघातै। शिरसि=मस्तके, मूर्ध्नि वा। अताडयत्=ताडयामास। तेऽपि=क्षपणका अपि। ताडयमाना =व्याहता सन्त। तत्र एके=केचन। मृता =प्राणरहिता. जाता। अन्ये =इतरे अव-शिष्टा। भिन्नमस्तका =छिन्नशिरस्का स्फुटितशिरसो वा, फूत्कर्तुम् उपचक्रमिरे =आरेभिरे, प्रारब्धवन्त। अत्रान्तरे= अस्मिन्नवसरे। तमाक्रन्द=त कोला-हल तमाक्रोश वा। आकर्ण्य =निशम्य। कोटरक्षपालेन=नगररक्षाधिकारिणा। अभिहितम्=निगदितम्। भो भो =अरे रक्षका ! किमय कोलाहल =कीदृशो-ऽयमाक्रन्दरव ? नगरमध्ये=नगराभ्यन्तरे श्रूयते इति। तद्गम्यताम्=तस्मात् ज्ञातु गच्छन्तु भवन्त। तदादेशकारिण =नगराध्यक्षाज्ञापालका। ते=सर्वे च नगररक्षका। तत्सहिता =दुर्गपालेन समेता। वेगात् =झटिति। तद्गृह गता =नापितगृहमुपस्थिता। यावत् पश्यन्ति= अवलोकयन्ति, तावत् रुधिर-प्लावितदेहा =रक्तार्द्रशरीरा। नग्नका =क्षपणका। इतस्तत पलायमाना =धावन्त। दृष्टा =निरीक्षिता। पृष्टाश्च=अपृच्छयन्त। किमेतत्=किमभूत्। ते =क्षपणका, जैनभिक्षव। यथावस्थित=यथाऽऽदित सञ्जातम्। नापितवृत्तम् =नापितेन कृत कर्म, प्रोचु =कथयामासु।

हिन्दी—तदुपरान्त उन जैन भिक्षुको को घर के अन्दर प्रवेश कराकर चुप-चाप गुप्त रूप से दरवाजो को बन्द कर दिया और लाठी से उनके सिर पर

मारना शुरू कर दिया। मार खाकर कुछ तो मर गये और अवशिष्ट दूसरे शिर फूटने के कारण हाहाकार करते हुए रोने लगे। इसी बीच नगर के रक्षक कोतवाल ने उस शोर को सुन कर अपने सिपाहियो से कहा—अरे अरे, नगर के बीच मे यह कैसा शोर हो रहा है ? शीघ्र जाओ और पता लगाओ।

उसकी आज्ञा का पालन करने वाले उन सभी सिपाहियो ने उनके साथ तेजी से तत्काल घटनास्थल पर पहुँचकर देखा कि खून से लथपथ क्षपणक इधर उधर भाग रहे है। उन्हे देखकर दुर्गपाल ने पूछा—अरे, यह क्या हुआ ? तब क्षपणको ने नाई के यहाँ घटित सारे वृत्तान्तो को सप्रसग कह सुनाया।

तैरपि स नापितो बद्धो हतशेषै सह धर्माधिष्ठान नीत तैर्नापित पृष्ट—"भो , किमेतद् भवता कुकृत्यमनुष्ठितम् ?"

स आह—"कि करोमि। मया श्रेष्ठिमणिभद्रगृहे दृष्ट एवविधो व्यतिकर ।" सोऽपि सर्व मणिभद्रवृत्तान्त यथादृष्टमकथयत्।

तत श्रेष्ठिनमाहूय, ते भणितवन्त —" भो श्रेष्ठिन् ! किं त्वया कश्चित्क्षपणको व्यापादित ?" तत तेनाऽपि सर्व क्षपणकवृत्तान्तस्तेषा निवेदित । अथ तैरभिहितम्—"अहो शूलमारोप्यतामसौ दुष्टात्मा कुपरीक्षितकारी नापित ।"

व्याख्या—तैरपि=नगररक्षकैरपि कोटपालै=राजपुरुषै स नापित =क्षौरकर्मकारी। बद्ध =निगडित । हतशेषै सह=मृतावशिष्टै साकम्। धर्माधिष्ठान=न्यायालयम्। नीत =प्रापित । तै =न्यायाधीशै । कुकृत्य=गर्हित, निन्दित वा कर्म। अनुष्ठितम्=कृतम्। एवविध =इत्थप्रकारक । व्यतिकर =विपरीताचरणयुक्त प्रसङ्ग । सोऽपि=नापितोऽपि। यथादृष्टम्=येन प्रकारेण दृष्टम्। आहूय=आकारयित्वा। भणितवन्त =अपृच्छन्। व्यापादित =हत । तेनापि =श्रेष्ठिनापि । क्षपणकवृत्तान्त = स्वद्वारदृष्टक्षपणकप्रसङ्ग । निवेदित = कथित । तै =न्यायाधीशै । अभिहित=कथितम्, आज्ञप्त वा। अहो=नूनम्। शूलम्=वधसाधनम्। आरोप्यताम्। असौ=एष। दुष्टात्मा=दुर्बुद्धि । कुपरीक्षितकारी=असमीक्ष्यकारी।

हिन्दी—बाद मे उन सिपाहियो ने उस नाई को बाँधकर मरे से बचे हुए क्षपणको के साथ न्यायालय मे उपस्थित कर दिया। वहाँ न्यायाधीशो ने नाई से पूछा—अरे, तुमने यह क्या कुकृत्य कर डाला ?

तब नाई ने कहा—हुजूर, मैं क्या करूँ, मैंने सेठ मणिभद्र के घर इसी

प्रकार की घटना देखी थी और मणिभद्र के घर घटे समस्त प्रसग को यथावत् कह सुनाया।

उस घटना को सुनकर न्यायाधीशो ने मणिभद्र को बुलाकर पूछा—सेठजी, क्या आपने किसी क्षपणक की हत्या की है ? इसपर मणिभद्र ने स्वप्न मे दृष्ट क्षपणक के समस्त वृत्तान्त को कह सुनाया। मणिभद्र के मुख से सारी घटना सुनने के बाद न्यायाधीशो ने आदेश देते हुए सिपाहियो से कहा—ओह, बिना ठीक-ठीक परीक्षा किये कार्य को करनेवाले इस अविवेकी दुष्ट नाई को शूली पर चढा दो।

तथाऽनुष्ठिते तैरभिहितम्—

"कुदृष्ट कुपरिज्ञात कुश्रुत कुपरीक्षितम्।
तन्नरेण न कर्तव्यं नापितेनाऽत्र यत्कृतम् ॥"

अथवा साध्विदमुच्यते

व्याख्या—तथा=तेन प्रकारेण अनुष्ठिते=कृते=शूलमारोपिते। तै= न्यायाधीशै। अभिहित=कथितम्—कुदृष्टमित्यादि। अत्र नापितेन कुदृष्ट कुपरिज्ञात कुश्रुत कुपरीक्षित यत् कृत तत् नरेण न कर्तव्यम्। श्लोकोऽय पूर्वं व्याख्यातोऽतो न पुनर्व्याख्यायते। अथवा साधु=सम्यक्। इदम्=एतत्। उच्यते।

हिन्दी—नाई को शूली पर चढा देने के बाद न्यायाधीशों ने कहा—"बिना भली भाँति देखे, बिना अच्छी तरह जाने एव सुने और बिना परीक्षा किये किसी काम को नहीं करना चाहिए, जैसा कि इस मूर्ख नाई ने किया है।"

अथवा ठीक ही कहा है कि—

"अपरीक्ष्य न कर्तव्य कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद्भवति सन्तापो ब्राह्मण्या नकुले यथा" ॥ १७ ॥

मणिभद्र आह—'कथमेतत् ?"

ते धर्माधिकारिण प्रोचु —

अन्वय —अपरीक्ष्य न कर्तव्यम्, सुपरीक्षित कर्तव्यम्। पश्चात् सन्तापो भवति यथा ब्राह्मण्या नकुले (अभवत्)।

व्याख्या—अपरीक्ष्य=परीक्षा विना, अविचार्य असमीक्ष्य वा। किमपि न कर्तव्यम्=नैव करणीयम्, सुपरीक्षितम्=सम्यगालोचितम्, सुविचारितम्। कर्तव्य=विधेयम्। पश्चात्=असमीक्ष्यकृते। अनन्तर सन्तापो भवति= पश्चात्तापो जायते। यथा=येन प्रकारेण। ब्राह्मण्या=ब्राह्मणपत्न्या। नकुले=

नकुले मृते, नकुलविषये, अभवत् । तस्मात् । असमीक्ष्यकारी पश्चात्तापमवाप्नोतीति भाव ।

मणिभद्र आह=मणिभद्र उवाच । ते धर्माधिकारिण =न्यायाधीशा । प्रोचु =उक्तवन्त ।

हिन्दी—बिना भली भांति समझे बूझे तथा परीक्षा किये किसी कार्य को नहीं करना चाहिए, जिस कार्य को करना हो उसकी पूरी जानकारी कर लेनी चाहिए । अन्यथा कार्य कर चुकने पर मनुष्य को पश्चात्ताप करना पडता है, जैसा कि नेवले की मृत्यु के बाद ब्राह्मणी को पश्चात्ताप करना पडा था ।। १७ ।।

मणिभद्र ने पूछा—यह कैसे ?

न्यायाधीशो ने पुन. कहना शुरु किया—

१ ब्राह्मणी-नकुल-कथा

"कस्मिंश्चिदधिष्ठाने देवशर्मा नाम ब्राह्मण प्रतिवसति स्म । तस्य भार्या प्रसूता सुतमजनयत् । तस्मिन्नेव दिने नकुली नकुल प्रसूय मृता । अथ सा सुतवत्सला दारकवत्तमपि नकुल स्तन्यदानाऽभ्यङ्गमर्दनादिभि पुपोष पर तस्य न विश्वसिति । अपत्यस्नेहस्य सर्वस्नेहातिरिक्ततया सततमेवमाशङ्कते यत्—कदाचिदेष स्वजातिदोषवशादस्य दारकस्य विरुद्धमाचरिष्यति इति । उक्त च—

व्याख्या—अधिष्ठाने=नगरे । प्रतिवसति स्म=निवसति स्म । तस्य भार्या=विप्रस्य स्त्री । प्रसूता=गर्भिणी । सुतम्=पुत्रम् । अजनयत्=उत्पादयामास । नकुली=नकुलस्य स्त्री । प्रसूय=उत्पाद्य । मृता=मृतवती । अथ=अनन्तरम् । सुतवत्सला=पुत्रस्नेहवती । दारकवत्=स्वपुत्रवत् । तमपि=मातृहीन नकुलीबालकमपि । स्तन्यदानाऽभ्यङ्गमर्दनादिभि =स्तने भव स्तन्य दुग्ध तस्य दान अभ्यङ्ग तैलाभ्यञ्जन मर्दन च तथा स्तन्यदान च अभ्यङ्ग च मदन च स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनानि तानि एव आदीनि स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनादीनि तै स्तन्यदानाभ्यङ्गमर्दनादिभि =दुग्धपान तैलादिलेपन प्रभृतिभि उपकरणै । पुपोष=पालयामास । तस्य=नकुलस्य । न विश्वसिति=नकुले विश्वास न करोति । अपत्यस्नेहस्य=पुत्रप्रेम्ण । सर्वस्नेहातिरिक्ततया=अन्यापेक्षया स्नेहाधिकतया । सतत =निरन्तरम् । आशङ्कते=आशङ्का करोति स्म । स्वजातिदोषवशात्—स्वस्य जाते दोष वशात्=निजजातिदोषात् । अस्य दारकस्य=मम पुत्रस्य । विरुद्धम्=अनिष्टम् । आचरिष्यति=करिष्यति । उक्त च=कथित च ।

हिन्दी—किसी नगर मे देवशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसकी गर्भिणी स्त्री ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसी दिन एक नेवली भी एक नेवले को उत्पन्न करके मर गयी। तब पुत्र पर स्नेह करनेवाली उस ब्राह्मणी ने पुत्र के समान उस नेवले को भी दुग्धपान, उबटन तथा तेल मालिश आदि क्रिया के द्वारा पाला पोशा। किन्तु वह उसका विश्वास नही करती थी। पुत्रस्नेह के सर्वोपरि होने के कारण हमेशा डरती रहती थी कि कभी यह अपने जातिगत दोष के कारण मेरे पुत्र का अनिष्ट न कर बैठे ? क्योकि कहा भी गया है—

कुपुत्रोऽपि भवेत्पुसा हृदयानन्दकारक ।
दुर्विनीत , कुरूपोऽपि, मूर्खोऽपि, व्यसनी, खल ॥ १८ ॥

अन्वय —दुर्विनीत , कुरूप , मूर्ख , व्यसनी, खल , कुपुत्रोऽपि पुसा हृदयानन्दकारक भवति ॥ १८ ॥

व्याख्या-दुर्विनीत =दुर्नय , कुरूप =कुत्सित रूप यस्य स कुरूप =असुन्दर । मूर्ख =अशिक्षित । व्यसनी=व्यसनमस्ति अस्येति व्यसनी=दुर्वृत्त । खल = दुष्ट । कुपुत्रोऽपि=कुत्सित सूनुरपि । पुसा =जनानाम् । हृदयानन्दकारक = हृदयस्यानन्द इति हृदयानन्द हृदयानन्द करोतीति हृदयानन्दकारक =हृदयाह्लादको भवति । कुपुत्रेष्वपि पुमासो नूनमेव स्नेह कुर्वन्तीत्यर्थ ॥ १८ ॥

हिन्दी—अपना पुत्र चाहे कितना भी दुर्विनीत, कुरूप, मूर्ख, व्यसनी तथा दुर्वृत्त क्यो न हो, वह अपने माता-पिता के हृदय को आह्लादित करनेवाला ही होता है ॥ १८ ॥

एव च भाषते लोकश्चन्दन किल शीतलम् ।
पुत्रगात्रस्य सस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ॥ १९ ॥

अन्वय —लोक च एव भाषते (यत्) चन्दन किल शीतल (भवति, किन्तु) पुत्रगात्रस्य सस्पर्श (तु) चन्दनात् अतिरिच्यते ॥ १९ ॥

व्याख्या—लोक =जननिवह । एव=अनेन प्रकारेण । भाषते=वदति । यत् चन्दन=मलयजम् । किल=खलु । शीतलम्=सुखप्रदम् । भवति किन्तु पुत्रगात्रस्य—पुत्रस्य गात्र पुत्रगात्र तस्य पुत्रगात्रस्य =सुतशरीरस्य । सस्पर्श = स्पर्श तु चन्दनात्=पाटीरादपि । अतिरिच्यये=अधिक सुखकरो भवति । तनयस्याङ्गेन जायमान स्पर्शो मनस्ताप शमयतीत्यर्थ ॥ १९ ॥

हिन्दी—लोग ऐसा कहते है कि चन्दन अत्यन्त शीतल होता है किन्तु पुत्र के शरीरका स्पर्श तो चन्दन से भी बढकर शीतल तथा आनन्ददायक होता है १९ ।

सौहृदस्य न वाञ्छन्ति जनकस्य हितस्य च।
लोका प्रपालकस्याऽपि, यथा पुत्रस्य बन्धनम् ॥ २० ॥

अन्वय —लोका यथा पुत्रस्य बन्धन वाञ्छन्ति (तथा) सौहृदस्य जनकस्य हितस्य च प्रपालकस्य अपि (बन्धन) न (वाञ्छन्ति) ॥ २० ॥

व्याख्या—लोका =जनसमुदाया । यथा=येन प्रकारेण । पुत्रस्य=सुतस्य । बन्धन=स्नेहपाशम् । वाञ्छन्ति=इच्छन्ति । तथा सौहृदस्य=सौहार्दस्य-मित्रस्य । जनकस्य=पितु हितस्य=हितकारिणो वा । प्रपालकस्य=पोषकस्य बन्धन न वाञ्छन्ति । सुतस्य स्नेहपाश सर्वाधिक इति भाव ॥ २० ॥

हिन्दी—लोग जैसा पुत्र के स्नेह-बन्धन को चाहते हैं वैसा न मित्र के, न पिता के, न हितैषी एव पालन-पोषण करनेवालो के बन्धन को चाहते हैं ॥२०॥

अथ सा कदाचिच्छय्याया पुत्र शाययित्वा जलकुम्भमादाय, पतिमुवाच—"ब्राह्मण ! जलार्थमह तडागे यास्यामि । त्वया पुत्रोऽयनकुलाद्रक्षणीय ।"

अथ तस्या गताया, पृष्ठे ब्राह्मणोऽपि शून्य गृह मुक्त्वा भिक्षार्थं क्वचिन्निर्गत । अत्रान्तरे दैववशात् कृष्णसर्पो बिलान्निष्क्रान्त । नकुलोऽपि तम् स्वभाववैरिण मत्वा भ्रातु रक्षणार्थं सर्पेण सह युद्ध्वा, सर्पं खण्डश कृतवान् ।

ततो रुधिराप्लावितवदन सानन्द स्वव्यापारप्रकशनार्थं मातु सम्मुखो गत । माताऽपि तम् रुधिरक्लिन्नमुखमालोक्य शङ्कितचित्ता "नूनमनेन दुरात्मना दारको भक्षित " इति विचिन्त्य कोपात्तस्योपरि तम् जलकुम्भ चिक्षेप ।

व्याख्या—सा=ब्राह्मणी । कदाचित्=एकदा । शय्यायाम् =पर्यङ्के । शाययित्वा=शयनम् कारयित्वा । जलकुम्भ=पानीयार्थघटम् । आदाय=गृहीत्वा । पतिमुवाच=स्वस्वामिनमाह । जलार्थं=जल नेतुम् । तडागे=सरोवरे । यास्यामि =गच्छामि । त्वया=भवता । रक्षणीय =सरक्ष्य । तस्या=ब्राह्मणपत्न्याम् । गताया=प्रस्थितायाम् । पृष्ठे=पश्चात् । शून्य=बालकातिरिक्तजनरहित निर्जनम् । गृह=गेहम् । मुक्त्वा=विहाय । भिक्षार्थं=भिक्षाटनाय । क्वचित्=कुत्रापि । निर्गत =निष्क्रान्त बहिर्गत । अत्रान्तरे=अस्मिन्नवसरे । दैववशात्=दुर्भाग्यात् । कृष्णसर्प =कृष्णकायो भुजङ्गम । विलात्=स्वविवरात् । निष्क्रान्त =बहिरागत । त=कृष्णसर्पम् । स्वभाववैरिण=सहजशत्रुम् । मत्वा=ज्ञात्वा । भ्रातु=ब्राह्मणीपुत्रस्य । रक्षणार्थं=परित्राणाय । युद्ध्वा=युद्ध विधाय । खण्डश =खण्ड खण्डम् । कृतवान्=अकरोत् । तत =तदनन्तरम् । रुधिराप्लावितवदन —रुधिरेण प्लावित वदन यस्य स रुधिराप्लावितवदन =रक्तक्लिन्नमुख । सानन्दम्=

आनन्देन सहित यथा स्यात्तथा सानन्दम्। स्वव्यापारप्रकाशनार्थं=स्वकृत्य प्रकटयितुम्। मातु =ब्राह्मण्या। समुखे=समक्षे। गत =उपस्थित। शङ्कित-चित्ता=शङ्कित चित्त यस्या सा शङ्कितचित्ता=आशङ्कितहृदया। रुधिर-क्लिन्नमुख =रुधिरार्द्रवदनम्। अवलोक्य=विलोक्य। नून=निश्चयम्। अनेन=एतेन। दुरात्मना=दुष्टहृदयेन। दारक =बालक। भक्षित =खादित इति विचिन्त्य=एव विचार्य। कोपात्। तस्योपरि=तस्मिन्। जलकुम्भ = जलघटम्। चिक्षेप=पातयामास।

हिन्दी—बाद एक दिन उस ब्राह्मणी ने पुत्र को खाट पर सुलाकर और जल के घडे को लेकर पति से कहा—स्वामिन्! मैं जल लाने के लिए तालाब पर जा रही हूँ। आप इस नेवले से बालक की रक्षा करना।

उसके चले जाने पर ब्राह्मण भी घर को खाली छोडकर भीख लाने के लिए कहीं चला गया। इसी समय दुर्भाग्य से एक काला साँप बिल से निकला। नेवले ने उस सर्प को देखते ही उसे अपना स्वभाविक शत्रु समझकर भाई की रक्षा के निमित्त सर्प के साथ लडकर उसके टुकडे-टुकडे कर दिये।

फिर ब्राह्मणी के लौटने पर वह नेवला प्रसन्नतापूर्वक अपने कार्य को प्रकट करने के लिए खून से लथपथ मुँहवाला माता के पास पहुँचा। वह उसके रक्तार्द्र मुख को देखते ही शङ्कित हो उठी और यह सोचकर कि इस पापी नेवले ने मेरे पुत्र को मारकर खा लिया है, क्रोधातुर हो उसने जल से भरे घडे को नेवले के ऊपर पटक दिया।

एव सा नकुल व्यापाद्य यावत्प्रलपन्ती गृहे आगच्छति, तावत्सुतस्तथैव सुप्तस्तिष्ठति। समीपे कृष्णसर्प खण्डश कृतमवलोक्य पुत्रवधशोकेनात्मशिरो वक्ष-स्थल च ताडितुमारब्धा।

अत्रान्तरे ब्राह्मणो गृहीतनिर्वाप समायातो यावत्पश्यति, तावत्पुत्रशोकाऽभि-भितप्ता ब्राह्मणी प्रलपति—"भो भो लोभात्मन्! लोभाऽभिभूतेन त्वया न कृत मद्वच। तदनुभव साम्प्रत पुत्रमृत्युदु खवृक्षफलम्।" अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—एव=अनेन प्रकारेण। नकुल व्यापाद्य=नकुल हत्वा। प्रलपन्ती =विलपन्ती। गृहे आगच्छति=गेह प्रविशति। तथैव=यथास्थापित। सुप्त =शयान। पुत्रवधशोकेन=पुत्रस्य पुत्रसदृशस्य नकुलस्य यो वधो हनन तज्जन्यो य शोक तेन पुत्रवधशोकेन=पुत्रतुल्यनकुलवधशोकेन। आत्मशिर = स्वमस्तकम्। वक्ष स्थल=वक्ष प्रदेशम्। ताडितुमारब्धा=प्रताडितुमारब्धा।

अत्रान्तरे = एतस्मिन्नेव समये। गृहीतनिर्वाप —गृहित निर्वाप येन स गृहीत-निर्वाप =लब्धभिक्ष , लब्धप्रतिग्रहो वा। समायात =आगत । पुत्रशोकाभि-सन्तप्ता—पुत्रशोकेन अभिसन्तप्ता पुत्रशोकाभिसन्तप्ता = नकुलवधशोकदु खिता। प्रलपति=विलपति। लोभाभिभूतेन=लोभाकृष्टेन। मद्वच =मम वचनम्। अनु-भव=अनुभव कुरु। साम्प्रतम् = इदानीम्। पुत्रमृत्युदु खवृक्षफलम्=पुत्रमृत्यो नकुलवधस्य यद् दु ख तदेव वृक्ष =तरु इति पुत्रमृत्युदु खवृक्ष तस्य फलम् अर्थात् =सुतवधशोकवृक्षफलम्। साध्विदमुच्यते=सम्यगिद कथ्यते—

हिन्दी—इस प्रकार नेवले को मारकर विलाप करती हुई वह ब्राह्मणी ज्यो ही घर मे आयी त्यो ही उसने पुत्र को पूर्ववत् सोते हुए देखा और खाट के पास मे ही टुकडे-टुकडे किये हुए काले सांप को देखकर वह नकुल की मृत्यु से शोका-कुल हो उठी और अपनी छाती एव माथे को पीट-पीटकर रोने लगी। इतने मे भिक्षा लेकर ब्राह्मण भी आ गया। घर के अन्दर जाकर देखा कि नकुल के वध से ब्राह्मणी शोकाकुल हो बिलख-बिलखकर रो रही है। पति को देखते ही उसने रोकर कहा—अरे लोभी, लोभाभिभूत होकर तुमने मेरी बात नही मानी। तो अब पुत्र की मृत्यु के दु खरूपी वृक्ष के फल को भोगो। अथवा यह ठीक ही कहा गया—

"अतिलोभो न कर्तव्यो लोभ नैव परित्यजेत्।
अतिलोभाऽभिभूतस्य चक्र भ्रमति मस्तके" ॥ २१ ॥

ब्राह्मण आह—"कथमेतत् ?" सा प्राह—

अन्वय —अतिलोभो न कर्तव्य , लोभ नैव परित्यजेत्। (यत) अति-लोभाभिभूतस्य (जनस्य) मस्तके चक्र भ्रमति ॥ २१ ॥

व्याख्या—अतिलोभ =अधिकलोभ । न कर्तव्य =न कार्य । सर्वथा लोभ नैव परित्यजेत्=न च दूरीकुर्यात्। अतिलोभाभिभूतस्य—अधिको लोभ अति-लोभ , अतिलोभेन अभिभूत इति अतिलोभाभिभूत तस्य अतिलोभाभिभूतस्य= अत्यधिकलोभाकृष्टस्य जनस्य। मस्तके=मूर्ध्नि शिरसि। चक्र=विपद्रूप चक्रम्। भ्रमति=भ्राम्यति। अतिलोभो हि परिणामे दु खजनको जायते इति भाव ॥२१॥

कथमेतत्=एतत्कथानक कथमस्ति। सा आह=ब्राह्मणी ब्रूते—

हिन्दी—अधिक लालच नही करना चाहिये और सर्वदा लालच का त्याग भी नही करना चाहिए। अति लोभी मनुष्य के मस्तक पर चक्र घूमता है ॥ २१ ॥

ब्राह्मण ने पूछा—यह कैसे ? तब ब्राह्मणी ने कहना आरम्भ किया—

२ लोभाविष्टचक्रधर-कथा

'कस्मिंश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्रा परस्पर मित्रता गता वसन्ति स्म । ते चाऽपि दारिद्र्योपहता. परस्पर मन्त्र चक्रु,—"अहो, धिगिय दरिद्रता । उक्त च—

व्याख्या—अधिष्ठाने=नगरे । ब्राह्मणपुत्रा =ब्राह्मणस्य तनया । परस्पर =मिथ अन्योऽन्यम् । मित्रता गता =मित्रत्वमापन्ना । वसन्ति स्म=निवसन्ति स्म । ते=ब्राह्मणपुत्रा । दारिद्र्योपहता =दारिद्र्यदु खेन दु खिता । मन्त्र चक्रु =मन्त्रयामासु । विचार कृतवन्त इति यावत् ।

हिन्दी—किसी नगर मे चार ब्राह्मणपुत्र आपस मे मित्रता करके रहते थे । दरिद्रता से दु खित होकर उन लोगो ने आपस मे सलाह की । अहो ! इस दरिद्रता को धिक्कार है, क्योकि कहा गया है—

वर वन व्याघ्रगजादिसेवित,
जनेन हीन बहुकण्टकावृतम् ।
तृणानि शय्या परिधानवल्कल,
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवितम् ॥ २२ ॥

अन्वय —व्याघ्रगजादिसेवित, जनेन हीन, बहुकण्टकावृत वन तृणानि शय्या परिधानवल्कल वर (किन्तु) बन्धुमध्ये धनहीनजीवित न वर (भवति) ।

व्याख्या—व्याघ्रगजादिसेवितम्—व्याघ्राश्च गजादयश्चेति व्याघ्रगजादय तै सेवितमिति व्याघ्रगजादिसेवितम्=शार्दूलद्विपादियुतम् । जनेन हीनम्=निर्जनम् । बहुकण्टकावृतम्—बहुभि कण्टकै आवृतम् बहुकण्टकावृतम्=नानाकण्टकाकीर्णम् । वन=विपिनम्, तत्र च तृणानि शय्या=तृणमय शयनीयम्, तृणासन वा परिधानवल्कलम्=परिधाने वल्कलम् परिधानवल्कल=भूर्जपत्रादित्वग्मय परिधानम् । वर=श्रेष्ठम् किन्तु बन्धुमध्ये=बन्धूना मध्य बन्धुमध्य तस्मिन् बन्धुमध्ये=ज्ञातिमध्ये । धनहीनजीवितम्—धनेन हीन जीवित धनहीनजीवित=निर्धनजीवनम् वर=श्रेष्ठ न भवति । दरिद्रस्य पुस बन्धुभि साक गृहेऽवस्थानापेक्षया वनवास एव श्रेयानिति भाव ॥ २२ ॥

हिन्दी—सिंह, हाथी आदि हिंस्रजन्तुओ से युक्त, मनुष्यरहित, कुश काँटो से भरा जङ्गल मे रहना, और वहाँ वल्कल वस्त्र धारण करना तथा घास-फूस के बिछावन पर सोना अच्छा, किन्तु बन्धु-बान्धवो के बीच निर्धन होकर जीवन व्यतीत करना अच्छा नही ॥ २२ ॥

तथा च—

स्वामी द्वेष्टि सुसेवितोऽपि, सहसा प्रोज्झन्ति सद्बान्धवा,
राजन्ते न गुणास्त्यजन्ति तनुजा, स्फारीभवन्त्यापद.।
भार्या साधु सुवशजाऽपि भजते नो, यान्ति मित्राणि च,
न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणा येषा न हि स्याद्धनम् ॥ २३ ॥

अन्वय —हि येषा नृणा धन न स्यात्, सुसेवितोऽपि स्वामी (तान्) द्वेष्टि, सद्बान्धवा अपि सहसा प्रोज्झन्ति, गुणा न राजन्ते, तनुजा त्यजन्ति, आपद स्फारीभवन्ति, सुवशजा अपि भार्या साधु न भजते, न्यायारोपितविक्रमाणि मित्राणि अपि यान्ति ॥ २३ ॥

व्याख्या—हि=निश्चयेन। येषा=मनुष्याणाम्। धन=वित्तम्। न स्यात्=न भवेत्। सुसेवितोऽपि=सम्यगनुसृतोऽपि। स्वामी=प्रभु। तान् द्वेष्टि=न मन्यते। सद्बान्धवा=स्वज्ञातय। प्रोज्झन्ति=त्यजन्ति। गुणा= सौजन्यादय। न राजन्ते=न शोभन्ते, न वा प्रकाशन्ते। तनुजा=पुत्रा। त्यजन्ति=मुञ्चन्ति। तेषाम् आपद=विपत्तय। स्फारीभवन्ति=न स्फारा अस्फारा अस्फारा स्फारा भवन्तीति स्फारीभवन्ति=विपुलीभवन्ति, विवर्द्धन्ते। सुवशजा=सुष्ठु वशे जाता सुवशजा=सत्कुलजा अपि। भार्या= स्त्री। तान्=मनुष्यान्। साधु=सम्यक्। नो भजते=न सेवते, यथा कथञ्चित् कष्टेन सेवते। अपि च न्यायारोपितविक्रमाणि—न्यायेन=नीत्या आरोपित =आलम्बित, विक्रम=पराक्रम यैस्तानि न्यायारोपितविक्रमाणि=नीतिमार्गानुसारीण्यपि। मित्राणि=सुहृद। यान्ति=गच्छन्ति। दूरे भवन्ति। तथा च निर्धनो मानव सर्वैरुपेक्ष्यमाण कष्टेनावतिष्ठते इति तात्पर्यम् ॥ २३ ॥

हिन्दी—जिन मनुष्यो के पास धन नही है—भली भाँति सेवा करने पर भी स्वामी उनसे द्वेष करता है। अच्छे बन्धुगण भो उनको एकाएक छोड देते हैं। उनके गुण शोभा नही देते उनके पुत्र भी उनको छोड देत हैं। आपत्तियाँ बढती जाती हैं। अच्छे खानदान मे उत्पन्न पत्नी भी भलीभाँति उनकी सेवा नहीं करती तथा न्याय मार्ग पर चलनेवाले मित्र भी दूर हो जाते हैं ॥ २३ ॥

शूर सुरूप सुभगश्च वाग्मी,
शस्त्राणि शास्त्राणि विदाकरोतु।
अर्थं विना नैव यशश्च मान,
प्राप्नोति मर्त्योऽत्र मनुष्यलोके ॥ २४ ॥

अन्वय —शूर सुरूप सुभग शस्त्राणि शास्त्राणि(वित्) वाग्मी विदाङ्करोतु (यत्) अत्र मनुष्यलोके मर्त्यं अर्थं विना यश मान च नैव प्राप्नोति ॥२४॥

व्याख्या—शूर=वीर । सुरूप =रूपवान् । सुभग =सुन्दर । शस्त्राणि =आयुधानि । शास्त्राणि=धर्मशास्त्रादीनि । (वित् य पुरुष) वाग्मी= वाचाल । विदाङ्करोतु=जानातु (यत्) अत्र = अस्मिन् मनुष्यलोके=मर्त्यलोके । मर्त्यं =मानव । अर्थं विना=धनमन्तरा । यश =कीर्तिम् । मान=सम्मानम् । च नैव प्राप्नोति=न लभते । शस्त्र-शास्त्रावगन्तुरपि निर्धनस्य पुस यश - सम्मानौ दुर्लभौ भवत इति भाव ॥ २४ ॥

हिन्दी—शूर-वीर, रूपवान्, सौभाग्यशाली, शस्त्रज्ञ, शास्त्रज्ञ, और वाक्पटु मनुष्य यह जान लें कि इस ससार मे मनुष्य धन के विना कीर्ति और सम्मान को प्राप्त नही कर सकता ॥२४॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि, तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता, वचन तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहित पुरुष स एव
बाह्य क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ २५ ॥

अन्वय —एतत् विचित्र (यत्) तानि एव अविकलानि इन्द्रियाणि, तदेव नाम, सा एव अप्रतिहता बुद्धि , तदेव वचन, (तथापि) अर्थोष्मणा विरहित स एव पुरुष क्षणेन बाह्यो भवति ॥२५॥

व्याख्या—एतत् विचित्र=अत्यद्भुत वर्तते (यत्=यद्यपि पुरुषस्य) तानि एव=पूर्ववदेव । अविकलानि=न विकलानि अविकलानि अशिथिलानि अनुप-हितानि, इन्द्रियाणि=चक्षुरादीनि । तदेव=पूर्वतनमेव । नाम=अभिधानम् । अस्ति अप्रतिहता—न प्रतिहता अप्रतिहता=अनवरुद्धा सर्वत्र स्फुरद्रूपा सा बुद्धि =धी मति । तदेव=पूर्वमेव । वचनम्=वच वर्तते किन्तु अर्थोष्मणा—अर्थस्य उष्मा अर्थोष्मा तेन अर्थोष्मणा=धनस्योष्णतया विरहित =हीन स एव= पूर्वावस्थोऽपि पुरातन. पुरुष मानव । क्षणेन=झटिति । बाह्य =सर्वलोक-तिरस्कृतोऽन्य इव भवति=जायते । धनस्योपाये निर्गते स एव नर सर्वतो बहिर्भूतो लोकानामप्रियो भवतीति भाव ॥ -५ ॥

हिन्दी—यह आश्चर्य है कि शक्ति से परिपूर्ण काम करनेवाली वे ही इन्द्रियाँ हैं, वही नाम है, वही अकुण्ठित (न रुकनेवाली तीव्र) बुद्धि है और वही वाणी भी है, तो भी धन की गर्मी से रहित हुआ वह पुरुष क्षणभर में

ही बाहरी पराया हो जाता है । अर्थात् ऐसा बदल जाता है कि कोई उसे पहचानता तक नही ॥२५॥

"तद्गच्छाम कुत्रचिदर्थाय ।" इति समन्त्र्य स्वदेश पुर च स्वसुहृत्सहित गृह च परित्यज्य, प्रस्थिता । अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—कुत्रचित् =क्वचित् । अर्थाय=अर्थोपार्जनार्थम् । समन्त्र्य= विचार्य । परित्यज्य =त्यक्त्वा । प्रस्थिता =प्रचलिता ।

हिन्दी—अत हमे भी अर्थोपार्जन के लिए कही जाना चाहिए। ऐसा विचार करके अपने देश, ग्राम, मित्र, बन्धु बान्धव तथा गृह का त्याग करके चारो ब्राह्मण कुमार अर्थोपार्जन के निमित्त चल पडे । अथवा ठीक ही कहा गया है—

सत्य परित्यजति मुञ्चति बन्धुवर्ग,
शीघ्र विहाय जननीमपि जन्मभूमिम् ।
सन्त्यज्य, गच्छति विदेशमभीष्टलोक,
चिन्ताकुलीकृतमति पुरुषोऽत्र लोके ॥ २६ ॥

अन्वय —अत्र लोके चिन्ताकुलीकृतमति पुरुष सत्य परित्यजति, बन्धुवर्ग मुञ्चति, जननी जन्मभूमि च अपि विहाय अभीष्टलोक सन्त्यज्य शीघ्र विदेश गच्छति ॥२६॥

व्याख्या—अत्र लोके =अस्मिन् भूमण्डले । चिन्ताकुलीकृतमति —चिन्तया आकुलीकृता मतिर्यस्य स चिन्ताकुलीकृतमति =चिन्ताव्याकुलचित्त । पुरुष = मानव । सत्य परित्यजति=सत्य त्यजति । बन्धुवर्ग=कुटुम्बादिक । मुञ्चति= त्यजति । जननी=मातरम् । जन्मभूमि =स्वोत्पत्तिस्थानम् । शीघ्र =त्वरितम् । सत्यज्य=मुक्त्वा । अभीष्टलोक =स्वप्रियस्थानम्, विहाय=त्यक्त्वा । कि पर- देशम् । गच्छति=याति । गार्हस्थ्यचिन्ताकुलस्य पुसो विदेशगमनमेव शरण- मिति भाव ॥ २६ ॥

हिन्दी—इस ससार मे विभिन्न चिन्ताओ से व्याकुल होकर मनुष्य सत्य का परित्याग कर देता है (अर्थात् मनुष्य धन कमाने के लिए झूठ का सहारा लेता है) बन्धु-बान्धवो को छोड देता है (अर्थात् परिवार के व्यक्तियो का स्नेह भी उसे रोक नही सकता) जननी एव जन्मभूमि का परित्याग कर देता है और अपने प्रिय स्थान को छोडकर परदेश चला जाता है ॥ २६ ॥

एव क्रमेण गच्छन्तोऽवन्ती प्राप्ता । तत्र सिप्राजले कृतस्नाना महाकाल प्रणम्य यावन्निर्गच्छन्ति, तावद् भैरवानन्दो नाम योगी सम्मुखो बभूव । ततस्त

ब्राह्मणोचितविधिना सभाव्य, तेनैव सह तस्य मठ जग्मु अथ तेन पृष्टा—"कुतो भवन्त समायाता ? क्व यास्यथ ? किं प्रयोजनम् ?"

ततस्तैरभिहितम्—"वय सिद्धियात्रिका, तत्र यास्यामो यत्र धनाप्तिर्मृत्युर्वा भविष्यतीत्येष निश्चय"। उक्तञ्च—

व्याख्या—एव=इत्थम्। क्रमेण=क्रमश। गच्छन्त.=चलन्त। अवन्ती =उज्जयिनीम्। प्राप्ता=उपस्थिता। तत्र=उज्जयिन्याम्। सिप्राजले=सिप्रा-नामनद्या सलिले। कृतस्नाना—कृत=विहित=स्नान स्नानक्रिया यैस्ते कृत-स्नाना=स्नान कृत्वा। महाकाल=महाकालनामक शिवलिङ्गम्। प्रणम्य= नमस्कृत्य। यावत्=यावदेव। निर्गच्छन्ति=निष्क्रामन्ति। तावत्=तावदेव। भैरवानन्दो नाम=भैरवानन्दनामक। योगी=गोरक्षसप्रदायानुयायी साधक। सम्मुखे=समक्षे। बभूव=अभवत्। तत=तदनन्तरम्। त=भैरवानन्दनामक योगिनम्। ब्राह्मणोचितविधिना=ब्राह्मणयोग्यविधानेन। सम्भाव्य=सत्कृत्य, अभिवाद्य वा। तेनैव सह=भैरवानन्देन साकम्। मठ=कुटीरम्। जग्मु= गतवन्त। सिद्धयात्रिका—सिद्धये यात्रिका सिद्धियात्रिका=धनादिसिद्धये गमनशीला। धनाप्ति—धनस्य आप्ति धनाप्ति=धनलाभ। मृत्यु=मरण वा। एष निश्चय=निर्णय।

हिन्दी—इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए वे उज्जयिनी पहुँच गये। वहाँ सिप्रा नदी के जल में स्नान के बाद महाकालनामक शिवजी को प्रणाम करके जैसे ही मन्दिर से निकलते हैं वैसे ही भैरवानन्द नामक योगी सामने आ पहुँचा। तब ब्राह्मणोचित विधि से उसको प्रणाम करने के बाद वे चारो उन्ही के मठ तक चले गये। वहाँ पहुँचकर भैरवानन्द ने उन लोगो से पूछा—आप लोग कहाँ से आ रहे हैं ? और कहाँ जायेंगे ? तथा क्या काम है ? तब उन लोगो ने कहा—हम अर्थोपार्जन की सिद्धि के लिए यात्रा करने वाले हैं। वहाँ जायेंगे जहाँ धन की प्राप्ति हो अथवा मरण हो जाय। यही हम लोगो का निश्चय है। कहा भी गया है—

> दुष्प्राप्याणि बहूनि च लभ्यन्ते वाञ्छितानि द्रविणानि।
> अवसरतुलिताभिरलं तनुभि साहसिकपुरुषाणाम्॥ २७॥

अन्वय—साहसिकपुरुषाणा, अवसरतुलिताभि तनुभि वाञ्छितानि द्रवि-णानि बहूनि दुष्प्राप्याणि च लभ्यन्ते॥ २७॥

व्याख्या—साहसिकपुरुषाणा—साहसेन कार्यं कुर्वन्तीति साहसिका ते च ते पुरुषा इति साहसिकपुरुषा तेषा साहसिकपुरुषाणाम्=उद्योगिना मानवानाम्। अवसरतुलिताभि —अवसरे तुलिता अवसरतुलिता ताभि अवसरतुलिताभि= समये तुलामारोपिताभि। परीक्षिताभि पूर्णरूपेण कार्यकारिभि। तनुभि= शरीरै। वाञ्छितानि=अभिलषितानि। द्रविणानि=धनानि। बहूनि=बहुलानि। दुष्प्राप्याणि=दुर्लभानि कष्टसाध्यानि। लभ्यन्ते=प्राप्यन्ते। शारीरिकै श्रमैरभिलषित धन भवति सुलभमिति भाव ॥२७॥

हिन्दी—कार्य के समय अपने शरीर को तुलापर चढा देने वाले, जान की वाजी लगा देने वाले, साहसी व्यक्तियो को अभिलषित सम्पत्ति तो मिल ही जाती है, अनेक दुष्प्राप्य वस्तुए भी मिल जाती है ॥२७॥

तथा च—

पतति कदाचिन्नभस खाते, पातालतोऽपि जलमेति।
दैवमचिन्त्य बलवद् बलवान्ननु पुरुषकारोऽपि ॥ २८ ॥

अन्वय—अचिन्त्य दैव बलवत्, ननु पुरुषकारोऽपि बलवान्। कदाचित् जल नभस खाते पतति, (कदाचित्) पातालतोऽपि खातम् एति ॥ २३ ॥

व्याख्या—अचिन्त्य–चिन्तायोग्य चिन्त्य न चिन्त्यमचिन्त्यम्=अचिन्तनीयम्। दैव=भाग्यम्। बलवत्=शक्तिमत्। ननु=निश्चयम्। पुरुषकारोऽपि=पुरुषार्थोऽपि। बलवान्=शक्तिमान्। भवति। कदचित्=कस्मिन्नपि काले। जल=पानीयम्। नभस=आकाशात् (वृष्टिरूपेण) खाते=जलाशये पुष्करिण्यादौ। पतति=समागच्छति। कदाचिच्च पातालतोऽपि=पाताललोकादपि, भूगर्भादपि (खननोत्पन्नविवरद्वारा) खाते=कूपादौ, एति=आगच्छति। अर्थात् वर्षाकाले जलम् आकाशात् जलाशयेषु निपतति तथा पुरुषार्थद्वारा भूगर्भादपि उत्खनने जलाशयादौ।

हिन्दी—यद्यपि अचिन्त्य भाग्य तो बलवान् होता ही है, कभी पुरुषार्थ भी बलवान् हो जाता है। क्योकि, कभी (वर्षा काल मे) तो पानी आकाश से जलाशय मे गिरता है और कभी पुरुषार्थ से खोदे हुए जलाशय मे (कूपतालाव आदि मे) पाताल से भी निकलता है। अर्थात् कभी पानी आकाश से जलाशय मे गिरता है और कभी पुरुषार्थ द्वारा पाताल से भी जलाशय मे (निकलता है) ॥२८॥

अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारेण।
दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुण सोऽप्यदृष्टाख्यः ॥२९॥

अन्वय —पुरुषकारेण पुरुषस्य अशेषा अभिमतसिद्धि भवति, हि यदपि दैवमिति कथयसि अदृष्टाख्य पुरुषगुण (एव भवति) ॥ २९ ॥

व्याख्या—पुरुषकारेण = पुरुषार्थेन । पुरुषस्य = मनुष्यस्य । अशेषा = निःशेषा सम्पूर्णा, अभिमतसिद्धि = वाञ्छितार्थसिद्धि, इष्टसिद्धि, इच्छितफलप्राप्तिर्वा । भवति = जायते । हि = निश्चयेन । यदपि = यत् किल । दैव = भाग्यम् । बलवद् = बलान्वितमस्ति । इति कथयसि = ब्रवीषि । सोऽपि = पुरुषगुण, पुरुषस्यैव प्रयत्नोऽस्ति कर्मणा परिणामस्वरूपमपूर्वमदृष्ट तावद्भाग्यापरपर्याय पुरुषप्रयत्नेनैव साध्यमिति भाव ॥२९॥

हिन्दी—पुरुषार्थ से ही मनुष्य की सारी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं । जिसे अदृष्ट या भाग्य कहा जाता है, वह भी अदृष्ट नाम का ही पुरुष का एक गुण होता है । अर्थात् पुरुषार्थ के अतिरिक्त दैव कुछ नहीं है । पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम भाग्य है ॥२९॥

द्वयमतुल गुरु लोकात्तृणमिव तुलयन्ति साधु साहसिका ।
प्राणानद्भुतमेतच्चरित चरित ह्युदाराणाम् ॥ ३० ॥

अन्वय —साहसिका प्राणान् तृणमिव साधु तुलयन्ति, एतदद्भुत चरित हि उदाराणा चरित च द्वय लोकात् गुरु अतुल च भवति ॥ ३० ॥

व्याख्या—साहसिका = साहससम्पन्ना पुरुषार्थिन पुरुषा । प्राणान् = असून्, जीवनम् । तृणमिव = शष्पमिव मत्वा, साधु = निर्भयम् । तुलयन्ति = पणीकुर्वन्ति कार्यतुलामारोपयन्ति मन्यन्ते वा । एतत् = अद्भुत, चरित = इदमपूर्वमाचरणम् । उदाराणाम् = स्वपरशून्यानामुदारपुरुषाणा द्वयम् = एतदुभयमपि । लोकात् = विश्वत सर्वतोऽपीत्यर्थ गुरु = महत्, श्रेष्ठ, अतुलम् = अतुलनीयम् = अतुलनीयम् असाधारण च भवति । उदारा हि जीव तृणमिव मत्वा प्राणपणेनापि पौरुष कुर्वन्तीति भाव ॥ ३० ॥

हिन्दी—साहसी व्यक्ति कार्य के समय अपने प्राणो को तृण के समान समझकर प्राण की बाजी लगा देते हैं । साहसी व्यक्तियो का यह अपूर्व चरित्र तथा उदार व्यक्तियो का आचरण ये दोनो लोक-सामान्य से महान् एव अनोखा होता है ॥ ३० ॥

क्लेशस्याङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि नेह लभ्यन्ते ।
मधुभिन्मथनायस्तैराश्लिष्यति बाहुभिर्लक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

अन्वय —इह क्लेशस्य अङ्गमदत्त्वा सुखमेव सुखानि च लभ्यन्ते। (यतो हि) मधुभित् मथनायस्तै बाहुभि लक्ष्मीम् आश्लिष्यति ।।३१।।

व्याख्या—इह=अस्मिन् ससारे। क्लेशस्य=कष्टस्य। अङ्ग =शरीरम्। अदत्त्वा=अवितीर्य-असमर्प्य, कायक्लेशमननुभूय ' सुखेन=सुखपूर्वकमेव आयासेन, सरलतया। सुखानि न लभ्यन्ते=नैवासाद्यन्ते यतो हि मधुभित्=मधु मधुनामक दैत्य भिनत्तीति मधुभित्=मधुदैत्यनाशको भगवान् विष्णु, मथनायस्तै =मथनेनायस्ता मथनायस्ता तै मथनायस्तै=समुद्रमथनेन परिश्रान्तै, बाहुभि =भुजै । लक्ष्मी=श्रियम्। आश्लिष्यति=समालिङ्गति । यथा भगवता विष्णुना समुद्रमन्थनपरिश्रमेणैव लक्ष्मी लब्धा तथैव क्लेश सोढ्वैव सुखप्राप्ति सम्भवति न क्लेश विना सुखाप्ति सम्भावनेति भाव ।।३१।।

हिन्दी—इस ससार मे शरीर को बिना कष्ट दिये अनायास ही सुख नहीं मिलता। क्योकि मधुनामक दैत्य को मारने वाले भगवान् विष्णु भी समुद्र-मन्थन से थके हाथो के द्वारा ही लक्ष्मी का आलिङ्गन करते हैं।। ३१।।

तस्य कथं न चला स्यात् पत्नी विष्णोर्नृसिंहकस्यापि।
मासाश्चतुरो निद्रा य सेवति जलगत सततम्।। ३२ ।।

अन्वय —य जलगत चतुर मासान् सतत निद्रा सेवति नृसिहकस्य अपि तस्य पत्नी चला कथ न स्यात् ? ।।३२।।

व्याख्या—य =भगवान् विष्णु । जलगत =जलमध्ये स्थित सन्। चतुर मासन्=मासचतुष्टयम्। सतत=निरन्तरम्। निद्रा सेवति=निद्राति शेते। नृसिहकस्य=कार्यवशात्। नसिंहरूपधारिण अपि श्रेष्ठपुरुषस्यापि तस्य =प्रसिद्धस्य भगवतो विष्णो पत्नी=भार्या, लक्ष्मी । चला=चञ्चला। कथ न स्यात्=कुतो न भवेत् । यथा चतुर्षु मासेषु क्षीरसमुद्रे निद्रालोर्भगवतो नारायणस्य धर्मपत्नी लक्ष्मी स्थिरा नास्ति तथैव पौरुषमकुर्वत श्रेष्ठपुरुषस्यापि लक्ष्मी कथ चिर तिष्ठेत्।। ३२ ।।

हिन्दी—जो चार महीने तक निरन्तर समुद्र मे शयन करते हैं, उन नरश्रेष्ठ विष्णु की भी स्त्री लक्ष्मी चञ्चला क्यो न हो जाय ! आलसवश विश्राम करने वाले व्यक्ति को भी लक्ष्मी छोड देती है।।३२।।

दुरधिगम परभागो यावत्पुरुषेण साहस न कृतम्।
जयति तुलामधिरुढो भास्वानिह जलदपटलानि ।।३३।।

अन्वयः—यावत् पुरुषेण साहस न कृतम् (तावत्) परभाग दुरधिगम (भवति) इह भास्वान् तुलामधिरूढ (एव) जलदपटलानि जयति ॥ ३३ ॥

व्याख्या—यावत्=यावत्कालपर्यन्तम् । पुरुषेण=जनेन । साहस=पौरुषम् । न कृत=नैव विहितम् । तावत्पर्यन्तम् । परभाग—परस्य भाग परभाग= विजय । दुरधिगम—दु खेनाधिगन्तु शक्य इति दुरधिगम=दुष्प्राप । इह= लोके, भास्वान्=सूर्य, तुलामधिरूढ=तुलाराशि गत । जलदपटलानि= मेघमण्डलानि । जयति=पराजयते । यथा शरदतौ तुलाराशिगमनपरिश्रमेणैव दिनमणिना वार्षिक मेघवृन्द पराजीयते तथैव विशिष्ट कश्चन गुण पौरुषेणैव प्राप्तु शक्यते नान्यथेति भाव ॥ ३३ ॥

हिन्दी—जब तक मनुष्य साहस नही करता तब तक ही उसे विजयप्राप्ति दुर्लभ रहती है। भगवान् सूर्य तुला राशि पर आरूढ होने के बाद ही मेघ मण्डल को विजित कर पाते हैं। अर्थात् साहसपूर्वक प्राणो की बाजी लगाने पर ही कार्य सिद्ध हो पाता है ॥ ३३ ॥

तत् कथ्यतामस्माक कश्चित् धनोपायो विवरप्रवेशशाकिनीसाधनश्मशान-सेवनमहामासविक्रयसाधकवर्तिप्रभृतीनामेकतम इति । अद्भुतशक्तिर्भवान् श्रूयते । वयमप्यतिसाहसिका । उक्तञ्च—

व्याख्या—कथ्यताम्=उच्यताम् । अस्माक=अस्मदर्थम् । धनोपाय= धनलाभोपाय । विवरप्रवेशश्च शाकिनीसाधनञ्च श्मशानसेवनञ्च महामास-विक्रयश्च साधकवर्तिश्चेति विवरप्रवेश-शाकिनीसाधन-श्मशानसेवन-महामास-विक्रयसाधकवर्तय तेषा विवरप्रवेशशाकिनीसाधन-श्मशानसेवनमहामासविक्रय-साधकवर्तीनाम् तत्र, विवरप्रवेश=भूगर्भप्रवेश (पातालयात्रा)। शाकिनी-साधनम्=यक्षिणीसाधनम् । श्मशानसेवन=श्मशानोपासन श्मशानसाधन वा । महामासविक्रय=गोमनुष्यमासविक्रय । साधकवर्ति=साधकगुटिका कार्यसाधकरूपा अञ्जनपादलेपनादिरूपा वर्ति । एकतम=एषु कश्चन एक उपाय । अद्भुतशक्ति=अद्भुतपराक्रम सिद्धपुरुष । श्रूयते=कर्णाकर्णिकया आकर्ण्यते । वय=चत्वारोऽपि । अतिसाहसिका=साहसपूर्णकार्यकर्तार । उक्तञ्च=कथितञ्च ।

हिन्दी—अत हम लोगो के लायक पाताल मे प्रवेश, यक्षिणी आदि का साधन, भूत वेताल आदि के सिद्ध करने के लिए श्मशान मे उपासना, पुरुष के मास का बेचना तथा सिद्धगुटिका बनाने मे से कोई एक धन प्राप्त करने का

उपाय बतलाइए। सुना जाता है कि आप एक अद्भुत शक्तिसम्पन्न सिद्ध पुरुष हैं। हम लोग हर स्थिति का सामना करने को प्रस्तुत हैं। कहा भी गया है कि—

महान्त एव महतामर्थं साधयितु क्षमा ।
ऋते समुद्रादन्य को बिभर्ति वडवानलम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—महान्त एव महतामर्थं साधयितु क्षमा । समुद्रात् ऋते अन्य क वडवानल विभर्ति ॥ ३४ ॥

व्याख्या—महान्त =श्रेष्ठा महापुरुषा । एव=निश्चयेन । महता=महापुरुषाणाम् । अर्थं=कार्यम् । साधयितु=निष्पादयितुम् । क्षमा =समर्था भवन्ति । समुद्रात् ऋते=समुद्र बिना, सागर विहाय । अन्य =इतर । क =को जन । वडवानल=वडवाग्निम् । बिभर्ति=दधाति ? न कोऽपीत्यर्थं । अर्थात् महता कार्यं महद्भिरेव सम्पादयितु शक्य नाऽन्यैरिति भाव ॥ ३४ ॥

हिन्दी—बडे व्यक्ति ही बडे व्यक्तियो के प्रयोजन को पूर्ण करने मे समर्थ होते हैं, क्योकि समुद्र के अतिरिक्त दूसरा कौन वडवानल को धारण कर सकता है ? ॥ ३४ ॥

भैरवानन्दोऽपि तेषा सिद्ध्यर्थं बहूपायं सिद्धवर्तिचतुष्टयं कृत्वाऽर्पयत् । आह च—"गम्यता हिमालयदिशि । तत्र सम्प्राप्ताना यत्र वर्ति पतिष्यति, तत्र निधानमसन्दिग्ध प्राप्स्यथ । तत्र स्थान खनित्वा निधि गृहीत्वा व्याघुट्यताम् ।"

व्याख्या—तेषा = ब्राह्मणकुमाराणाम् । सिद्ध्यर्थं = कार्यसम्पादनाय । बहूपाय=नानाकार्यसाधनक्षमम् । सिद्धवर्तिचतुष्टयम्=चतस्र सिद्धगुटिका । कृत्वा=निर्माय । अर्पयत्=ददौ । आह च=उक्तवाश्च । हिमालयदिशि=उत्तरस्या दिशि । सम्प्राप्ताना=गताना भवताम् । निधान=भूमिगत धनम् । असन्दिग्ध=निश्चयम् । प्राप्स्यथ=अवाप्स्यथ यूयम् । निधि=द्रव्यम् । गृहीत्वा=आदाय । व्याघुट्यताम्=प्रत्यागम्यताम् निवर्त्यताम् ।

हिन्दी—तब भैरवानन्द ने भी उनकी सफलता के लिए बहुत उपायोवाली चार सिद्ध वर्तिकाओ को बनाकर उन्हे दे दिया और कहा—हिमालय की ओर चले जाओ। वहाँ पहुँचने पर जहाँ तुम्हारी वर्तिका गिरेगी वहाँ नि-सन्देह तुम्हें बहुत सा धन मिलेगा। वर्तिका के गिरनेवाले स्थान को खोदकर धन निकाल देना और उसे लेकर लौट जाना।

तथाऽनुष्ठिते तेषा गच्छतामेकतमस्य हस्ताद्वर्तिर्निपपात। अथाऽसौ यावत्त प्रदेशं खनति तावत्ताम्रमयी भूमि.। ततस्तेनाऽभिहितम्—"अहो, गृह्यता स्वेच्छया ताम्रम्"

अन्ये प्रोचु —"भो मूढ। किमनेन क्रियते यत् प्रभूतमपि दारिद्र्य न नाशयति। तदुत्तिष्ठ अग्रतो गच्छाम ।"

सोऽब्रवीत्—"यान्तु भवन्त । नाऽहमग्रे यास्यामि।" एवमभिधाय ताम्रं यथेच्छया गृहीत्वा प्रथमो निवृत्त ।

ते त्रयोऽपि अग्रे प्रस्थिता। अथ किञ्चिन्मात्र गतस्याऽग्रेसरस्य वर्तिर्निपपात। सोऽपि यावत्खनितुमारब्धस्तावद् रूप्यमयी क्षिति । तत प्रहर्षित· प्राह—यत्—"भो भो, गृह्यता यथेच्छया रूप्यम्। नाऽग्रे गन्तव्यम्।"

तावूचतु—"भो पृष्ठतस्ताम्रमयी भूमि, अग्रतो रूप्यमयी। तन्नूनमग्रे सुवर्णमयी भविष्यति। किं चाऽनेन प्रभूतेनाऽपि दारिद्र्यनाशो न भवति। तदावामग्रे यास्याव।" एवमुक्त्वा द्वावप्यग्रे प्रस्थितौ। सोऽपि स्वशक्त्या रूप्यमादाय निवृत्त ।

व्याख्या—तथाऽनुष्ठिते=तथैव कृते। तेषा=ब्राह्मणकुमाराणाम्। एकतमस्य=एकस्य। ताम्रमयी=ताम्रखनि । अभिहित=कथितम्। अन्ये प्रोचु =अपरे कथितवन्त । अनेन=ताम्रेण। प्रभूतमपि=अत्यधिकमपि। दारिद्र्य न नाशयति=दरिद्रता निर्धनत्व न निवारयति। अग्रत =अग्रे। यान्तु=गच्छन्तु। अभिधाय=उक्त्वा। यथेच्छया=स्वेच्छया। निवृत्त =परावृत्त । प्रस्थिता =प्रचलिता । अग्रेसरस्य=अग्रगामिन । रूप्यमयी=रजतमयी। क्षिति=भूमि । प्रहर्षित =आनन्दित । अनेन=रजतेन। रूप्य=रजतम्।

हिन्दी—वैसा करने पर जाते हुए उनमे से एक के हाथ से वर्ती गिर गयी। तब वह जैसे ही उस स्थान को खोदता है तो देखा कि तामे की खान है। तब उनसे साथियो से कहा—'अरे, जितना चाहो ताँबा निकाल लो।'

उनकी बात सुनकर दूसरो ने कहा—'अरे मूर्ख, इस ताँबे से क्या किया जायेगा, यह अधिक होने पर भी हमारी निर्धनता को नही मिटा सकता। उठो, आगे चला जाय।'

उसने कहा—'तुम लोग जाओ, मैं आगे नही जाऊँगा।' ऐसा कहकर वह इच्छानुसार ताँबा लेकर लौट गया।

उसके लौट जाने पर शेष तीनो आगे बढे। अभी वे कुछ ही दूर गये थे

कि आगेवाले की वर्ती गिर पडी । उसने भी जब खोदना आरम्भ किया तो चांदी की खान दिखाई पडी । उससे प्रसन्न होकर वह बोला—'मित्रो ! इसमे से इच्छानुसार चांदी ले लो और लौट चलो, आगे मत जाओ ।'

उसकी बात सुनकर शेष दोनो ने कहा—'भाई' पीछे तांबे की खान मिली थी, उससे आगे चांदी की खान मिली, इससे आगे निश्चय ही सोने की खान मिलेगी । इसको लेकर हम लोग क्या करेंगे कि अधिक से अधिक लेकर लौटने पर भी हमारी दरिद्रता दूर नही हो सकेगी । अत हम आगे जायेंगे ।' यह कहकर वे दोनो आगे बढ गये और दूसरा ब्राह्मणकुमार भी यथाशक्ति चांदी लेकर लौट गया ।

अथ तयोरपि गच्छतोरेकस्याग्रे वर्ति , पपात । सोऽपि प्रहृष्टो यावत् खनति, तावत्सुवर्णभूमि दृष्ट्वा द्वितीय प्राह—"भो , गृह्यता स्वेच्छया सुवर्णम् । सुवर्णादन्यन्न किञ्चिदुत्तम भविष्यति ।"

स प्राह—' मूढ ! न किञ्चिद् वेत्सि । प्राक्ताम्र, ततो रूप्य, तत सुवर्णम् । तन्नूनमत पर रत्नानि भविष्यन्ति, येषामेकतमेनाऽपि दारिद्रयनाशो भवति । तदुत्तिष्ठ, अग्रे गच्छाव । किमनेन भारभूतेनाऽपि प्रभूतेन ?"

स आह—"गच्छतु भवान् । अहमत्र स्थितस्त्वा प्रतिपालयिष्यामि ।" तथाऽनुष्ठिते, सोऽपि गच्छन्नेकाकी, ग्रीष्माऽर्कप्रतापसन्तप्ततनु पिपासाकुलित सिद्धिमार्गच्युत इतश्चेतश्च बभ्राम ।

अथ भ्राम्यन्, स्थलोपरि पुरुषमेक रुधिरप्लावितगात्रं भ्रमच्चक्रमस्तकम पश्यत् । ततो द्रुततर गत्वा तमवोचत्—"भो , को भवान् ? किमेव चक्रेण शिरसि तिष्ठसि ? तत्कथय मे यदि कुत्रचिज्जलमस्ति ।"

व्याख्या—सोऽपि=अन्यतमोऽपि । प्रहृष्ट =प्रसन्न । सुवर्णभूमि=स्वर्णखनि॰ दृष्ट्वा=अवलोक्य । उत्तम=श्रेष्ठम् । वेत्सि=जानासि । प्राक्=पूर्वम् आदौ वा । येषा=रत्नानाम् । एकतमेन=एकेन । भारभूतेन=भारस्वरूपेण । प्रतिपालयामि= प्रतीक्ष्ये । एकाकी=एकल एको वा । ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तप्ततनु —ग्रीष्मस्य=ग्रीष्म-कालिकस्य य अर्क =सूर्य ग्रीष्मार्क तस्य प्रताप इति ग्रीष्मार्कप्रताप प्रचण्ड , तेन सन्तप्त तनुर्यस्य स ग्रीष्मार्कप्रतापसन्तप्तनु =ग्रीष्मतापात्तप्तकाय । पिपासा कुलित =पिपासया । आकुलित =पिपासाव्याकुल । सिद्धिमार्गच्युत = सिद्धेः मार्ग सिद्धिमार्ग सिद्धिमार्गेण च्युत सिद्धिमार्गच्युत =गन्तव्यस्थानात् स्खलित अथवा सुवर्णलब्धमार्गभ्रष्ट । इतश्चेतश्च=इतस्तत भ्राम्यन्=परिभ्रमन् । स्थलो-

परि=समतलप्रदेशे रुधिरेण प्लावित गात्र यस्य स रुधिरप्लावितगात्र त रुधिर-प्लावितगात्र=रक्ताभिषिक्तशरीरम् । भ्रमच्चक्र मस्तके यस्य स भ्रमच्चक्र-मस्तक=चक्रभ्रमितशिरसम् । द्रुतम्=शीघ्रातिशीघ्रम् । अवोचत्=अकथयत् ।

हिन्दी—बाद शेष उन दोनो के कुछ आगे जाने पर उसमे से भी एक के हाथ से वर्त्ती गिर गयी । प्रसन्न होकर वह भी ज्यो ही खोदता है तो सोने की खान देखकर दूसरे से कहा —'अरे अपनी इच्छा के अनुसार सोना ले लो। सोने से बढकर कोई उत्तम वस्तु नही मिलेगी ।'

दूसरे ने कहा—'मूर्ख, तुम कुछ नही जानते । देखो, पहले तांबा, उनके बाद चाँदी, उसके बाद सोने की खान मिली, इससे बाद निश्चय ही रत्नो की खान मिलेगी । उसमे से यदि एक भी मिल गया तो दरिद्रता दूर हो जायेगी । अत उठो और आगे चला जाय । इस बोझीले बहुत भार से क्या लाभ ?'

यह सुनकर उसने कहा—'तुम आगे जाओ मैं यही ठहरा हुआ तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा ।' अन्त में विवश होकर चतुर्थ को अकेला ही आगे जाना पडा । कुछ दूर जाने के बाद वह ग्रीष्म ऋतु की भीषण गर्मी और प्यास से सन्तप्त एव व्याकुल होकर लक्ष्य से भ्रष्ट हो गया और इधर-उधर घूमने लगा ।

इधर-उधर घूमते हुए उसने उस समतल मरुभूमि पर खून से लथपथ एक व्यक्ति को देखा, जिसके मस्तक पर चक्र घूम रहा था । बडी शीघ्रता से जाकर उसने पूछा—'अरे आप कौन हैं ? इस प्रकार शिर पर घूमते हुए चक्र के नीचे क्यो बैठे हो ? यदि पास मे कही पानी हो तो मुझे बताओ ।

एव तस्य प्रवदतस्तच्चक्र तत्क्षणात्तस्य शिरसो ब्राह्मणमस्तके चटितम् ।

स आह—"भद्र किमेतत्"

स आह—"ममाऽप्येवमेतच्छिरसि चटितम् ?"

स आह—"तत्कथय, कदैतदुत्तरिष्यति ? महती मे वेदना वर्तते ।"

स आह—"यदा त्वमिव कश्चिदधृतसिद्धवर्तिरेवमागत्य, त्वामालापयिष्यति तदा तस्य मस्तक चटिष्यति ।"

स आह—"कियान् कालस्तवैव स्थितस्य ?"

स आह—"साम्प्रत को राजा धरणीतले ?"

स आह—"वीणावादनपटु वत्सराज ।"

स आह—"अह तावत्कालसङ्ख्यां न जानामि । पर यदा रामो राजाऽऽसी

तदाऽहं दारिद्र्योपहतः सिद्धवर्तिमादायानेन पथा समायातः । ततो मयाऽन्यो नरो मस्तकधृतचक्रो दृष्टः, पृष्टश्च । ततश्चैतज्जातम् ।"

स आह—"भद्र ! कथं तवैवं स्थितस्य भोजनजलप्राप्तिरासीत् ?"

स आह—"भद्र ! धनदेन निधानहरणभयात्सिद्धानामेतच्चक्रपतनरूपं भयं दर्शितम् । तेन कश्चिदपि नागच्छति । यदि कश्चिदायाति, स क्षुत्पिपासानिद्रा-रहितो जरामरणवर्जितः केवलमेव वेदनामनुभवति इति । तदाज्ञापय मां स्वगृहाय ।" इत्युक्त्वा गतः ।

व्याख्या—प्रवदतः=वार्तां कुर्वतः । तत्क्षणात्=तस्मिन्नेव काले, चटितः= आरुरोह । त्वमिव=त्वत्सदृशः । आलापयिष्यति=वार्तां करिष्यति । कालसंख्या=कालगणनाम् । दारिद्र्योपहृतः—दारिद्र्येण उपहतो दारिद्र्योपहतः= दरिद्रतापीडितः । मस्तके धृतचक्रः=चक्रयुक्तशिरः धनदेन=कुबेरेण । निधान-हरणभयात्=धनापहरणभीतेः । सिद्धानां=सिद्ध्यर्थमागतानाम् । क्षुत्-पिपासा-निद्रारहितः=क्षुच्च पिपासा च निद्रा चेति क्षुत्-पिपासानिद्राः ताभिः रहितः क्षुत्-पिपासानिद्रारहितः=बुभुक्षापिपासादिविरहितः । जरामरणवर्जितः=वार्द्धक्य-मृत्युरहितः । वेदनामनुभवति=कष्टमनुभवति । स्वगृहाय=निजगेहगमनाय ।

हिन्दी—इस प्रकार उससे बातचीत करना आरम्भ करते ही वह चक्र उस व्यक्ति के शिर से उतरकर ब्राह्मणकुमार के शिर पर चढ गया । यह देख उसने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—'भले आदमी, यह क्या हुआ ?'

उसने उत्तर दिया—'यह मेरे शिर पर भी इसी प्रकार चढ गया था।'

उस ब्राह्मण ने पूछा—'तो बताओ, यह कब उतरेगा ? मुझे बहुत कष्ट है।'

उसने उत्तर दिया—'आप ही के समान जब कोई दूसरा व्यक्ति इसी प्रकार सिद्धवर्तिका को लेकर आयेगा और बातचीत करेगा, तब वह आपके मस्तक से उतरकर उनके मस्तक पर चढ जायेगा।'

उसने पूछा—'आपको कितने दिनों यहाँ बैठना पडा।'

उसने पूछा—'इस समय पृथ्वी पर कौन राजा है ?'

उस ब्राह्मण ने बतलाया—'वीणावादनपटु वत्सराज।'

उस पुरुष ने कहा—'समय की गणना तो मैं नहीं जानता, किन्तु जब राम राजा थे, तब मैं निर्धनता से दुःखी हो सिद्धवर्ती लेकर इस मार्ग से आया था। यहाँ आने पर मैंने एक आदमी को देखा, जिसके सिर पर चक्र घूम

रहा था। इसके विषय मे अभी मैं उससे पूछ ही रहा था कि यह (चक्र) मेरे शिर पर आकर चढ गया।'

उस ब्राह्मण ने पूछा—'मित्र, इस प्रकार चक्र के नीचे बैठने पर आप को भोजन पानी कैसे मिलता था ?'

उसने उत्तर मे कहा—'महाशय, कुबेर ने धन की चोरी के भय से अर्थ की चिन्ता मे इधर आनेवाले व्यक्तियो के लिए चक्र के गिरने का यह भय दिखाया है। अत इधर कोई नही आता है। यदि लोभवश कोई आ पडा तो वह इसी प्रकार भूख, प्यास, नीद, बुढापा एव मृत्यु से रहित होकर केवल वेदना का ही अनुभव करता है। अब आप कृपया मुझे घर जाने की आज्ञा प्रदान करें। वह यह कहकर वहाँ से तत्काल चल दिया।

तस्मिंश्चिरयति स सुवर्णसिद्धिस्तस्याऽन्वेषणपरस्तत्पदपङ्क्त्या यावत् किञ्चिद् वनान्तरमागच्छति तावद्रुधिरप्लावितशरीरस्तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदन क्वणन्नुपविष्टस्तिष्ठतीति ददर्श। तत तत्समीपवर्तिना भूत्वा, सबाष्पं पृष्ट —"भद्र ! किमेतत् ?"

स आह—"विधिनियोग ।"

स आह—"कथ तत् ? कथय कारणमेतस्य ।"

सोऽपि तेन पृष्ट , सर्वं चक्रवृत्तान्तमकथयत्।

तत् श्रुत्वाऽसौ त विगर्हयन्निदमाह—"भो ! निषिद्धस्त्व मयाऽनेकशो न शृणोषि मे वाक्यम्। तत्किं क्रियते ! विद्यावानपि, कुलीनोऽपि, (वस्तुतः) बुद्धिरहित (असि)।" अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—तस्मिन्=ब्राह्मणे। चिरयति=विलम्बिते सति। अन्वेषणतत्पर = सन्धानतत्पर। तत्पदपङ्क्त्या = तच्चरणचिह्नेन। वनान्तर=काननान्तरम्। तीक्ष्णचक्रेण = तीव्राग्रयुक्तेन चक्रेण। सवेदन = कष्टयुक्त। क्वणन् = सशब्द रुदन्। तत्समीपवर्तिना भूत्वा=तस्य सामीप्य प्राप्य। सबाष्प=अश्रुयुक्तनेत्रम्। विधिनियोग = भाग्यविडम्बितम्। विगर्हयन्=निन्दयन्। निषिद्ध = प्रतिषिद्ध। न शृणोषि=नैवाऽशृणो।

हिन्दी—उस ब्राह्मण के विलम्ब करने पर सुवर्णसिद्धि (सोना प्राप्त कर प्रतीक्षा करने वाला ब्राह्मणकुमार) उसकी खोज मे लगा हुआ उसके पैरो के चिन्हो की परम्परा का अनुसरण करता हुआ वह दूसरे वन में पहुँचा तो देखा

तदाऽहं दारिद्र्योपहतः सिद्धवर्तिमादायानेन पथा समायातः । ततो मयाऽन्यो नरो मस्तकधृतचक्रो दृष्टः, पृष्टश्च । ततश्चैतज्जातम् ।"

स आह—"भद्र ! कथं तवैवं स्थितस्य भोजनजलप्राप्तिरासीत् ?"

स आह—"भद्र ! धनदेन निधानहरणभयात्सिद्धानामेतच्चक्रपतनरूपं भयं दर्शितम् । तेन कश्चिदपि नागच्छति । यदि कश्चिदायाति, स क्षुत्पिपासानिद्रा-रहितो जरामरणवर्जितः केवलमेव वेदनामनुभवति इति । तदाज्ञापय मां स्वगृहाय ।" इत्युक्त्वा गतः ।

व्याख्या—प्रवदतः=वार्तां कुर्वतः । तत्क्षणात्=तस्मिन्नेव काले, चटितः= आरुरोह । त्वमिव=त्वत्सदृशः । आलापयिष्यति=वार्तां करिष्यति । काल-संख्या=कालगणनाम् । दारिद्र्योपहतः—दारिद्र्येण उपहतो दारिद्र्योपहतः = दरिद्रतापीडितः । मस्तके धृतचक्रः=चक्रयुक्तशिरः धनदेन=कुबेरेण । निधान-हरणभयात्=धनापहरणभीतेः । सिद्धानां=सिद्धयर्थमागतानाम् । क्षुत्-पिपासा-निद्रारहितः=क्षुच्च पिपासा च निद्रा चेति क्षुत्-पिपासानिद्राः ताभिः रहितः क्षुत्-पिपासानिद्रारहितः=बुभुक्षापिपासादिविरहितः । जरामरणवर्जितः=वार्द्धक्य-मृत्युरहितः । वेदनामनुभवति=कष्टमनुभवति । स्वगृहाय=निजगेहगमनाय ।

हिन्दी—इस प्रकार उससे बातचीत करना आरम्भ करते ही वह चक्र उस व्यक्ति के शिर से उतरकर ब्राह्मणकुमार के शिर पर चढ गया । यह देख उसने आश्चर्य-चकित होकर पूछा—'भले आदमी, यह क्या हुआ ।'

उसने उत्तर दिया—'यह मेरे शिर पर भी इसी प्रकार चढ गया था ।'

उस ब्राह्मण ने पूछा—'तो बताओ, यह कब उतरेगा ? मुझे बहुत कष्ट है ।'

उसने उत्तर दिया—'आप ही के समान जब कोई दूसरा व्यक्ति इसी प्रकार सिद्धवर्तिका को लेकर आयेगा और बातचीत करेगा, तब वह आपके मस्तक से उतरकर उनके मस्तक पर चढ जायेगा ।'

उसने पूछा—'आपको कितने दिनों यहाँ बैठना पडा ।'

उसने पूछा—'इस समय पृथ्वी पर कौन राजा है ?'

उस ब्राह्मण ने बतलाया—'वीणावादनपटु वत्सराज ।'

उस पुरुष ने कहा—'समय की गणना तो मैं नहीं जानता, किन्तु जब राम राजा थे, तब मैं निर्धनता से दुःखी हो सिद्धवर्ती लेकर इस मार्ग से आया था । यहाँ आने पर मैंने एक आदमी को देखा, जिसके सिर पर चक्र घूम

रहा था। इसके विषय मे अभी मैं उससे पूछ ही रहा था कि यह (चक्र) मेरे शिर पर आकर चढ गया।'

उस ब्राह्मण ने पूछा—'मित्र, इस प्रकार चक्र के नीचे बैठने पर आप को भोजन पानी कैसे मिलता था ?'

उसने उत्तर मे कहा—'महाशय, कुबेर ने धन की चोरी के भय से अर्थ की चिन्ता मे इधर आनेवाले व्यक्तियो के लिए चक्र के गिरने का यह भय दिखाया है। अत इधर कोई नही आता है। यदि लोभवश कोई आ पडा तो वह इसी प्रकार भूख, प्यास, नीद, बुढापा एव मृत्यु से रहित होकर केवल वेदना का ही अनुभव करता है। अब आप कृपया मुझे घर जाने की आज्ञा प्रदान करें। वह यह कहकर वहाँ से तत्काल चल दिया।

तस्मिश्चिरयति स सुवर्णसिद्धिस्तस्याऽन्वेषणपरस्तत्पदपङ्क्त्या यावत् किञ्चिद् वनान्तरमागच्छति तावद्रुधिरप्लाविनशरीरस्तीक्ष्णचक्रेण मस्तके भ्रमता सवेदन क्वणन्नुपविष्टस्तिष्ठतीति ददर्श। तत तत्समीपवर्तिना भूत्वा, सर्वाष्पं पृष्ट — "भद्र ! किमेतत् ?"

स आह—"विधिनियोग ।"

स आह—"कथ तत् ? कथय कारणमेतस्य।"

सोऽपि तेन पृष्ट, सर्वं चक्रवृत्तान्तमकथयत्।

तत् श्रुत्वाऽसौ त विगर्हयन्निदमाह—"भो ! निषिद्धस्त्व मयाऽनेकशो न शृणोषि मे वाक्यम्। तत्किं क्रियते ! विद्यावानपि, कुलीनोऽपि, (वस्तुतः) बुद्धिरहित (असि)।" अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—तस्मिन्=ब्राह्मणे। चिरयति=विलम्बिते सति। अन्वेषणतत्पर = सन्धानतत्पर। तत्पदपङ्क्त्या = तच्चरणचिह्नेन। वनान्तर=काननान्तरम्। तीक्ष्णचक्रेण = तीव्राग्रयुक्तेन चक्रेण। सवेदन = कष्टयुक्त। क्वणन् = सशब्द रुदन्। तत्समीपवर्तिना भूत्वा=तस्य सामीप्य प्राप्य। सबाष्प=अश्रुयुक्तनेत्रम्। विधिनियोग = भाग्यविडम्बितम्। विगर्हयन्=निन्दयन्। निषिद्ध = प्रतिषिद्ध। न शृणोषि=नैवाऽशृणो।

हिन्दी—उस ब्राह्मण के विलम्ब करने पर सुवर्णसिद्धि (सोना प्राप्त कर प्रतीक्षा करने वाला ब्राह्मणकुमार) उसकी खोज मे लगा हुआ उसके पैरो के चिन्हो की परम्परा का अनुसरण करता हुआ वह दूसरे वन में पहुँचा तो देखा

कि उसका मित्र खून से लथपथ दुःखी होकर बैठा है, आह भरकर रो रहा है और उसके शिर पर तीव्र धार का चक्र घूम रहा है। अपने मित्र को इस स्थिति मे देखकर अत्यन्त दुःखी हुआ और उसकी आंखो मे आंसू भर आये। उस मित्र के पास जाकर उससे उसने पूछा–'मित्र ! यह क्या हुआ ?'

उसने उत्तर दिया—'मित्र ! भाग्य का चक्कर है।'

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ, इसका कारण तो बताओ ?'

इस पर चक्रधर ने समस्त वृत्तान्त कह सुनाया।

यह सुनकर सुवर्णसिद्धि ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—'अरे, मैंने तुमको कितना मना किया कि मत जाओ, किन्तु तुमने मेरी एक बात भी नही सुनी। अब क्या किया जा सकता है ? तुम विद्वान् एव कुलीन होकर भी वस्तुत बुद्धिहीन हो। अथवा ठीक ही कहा है—

वर बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति, यथा ते सिंहकारका ॥ ३५ ॥

अन्वय —बुद्धि वर (किन्तु) सा विद्या (वर) न यत विद्याया बुद्धि उत्तमा (भवति)। बुद्धिहीना (तु) विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारका (विनष्टा बभूवु) ॥ ३५ ॥

व्याख्या—बुद्धि =मति । वर=श्रेष्ठम् । किन्तु सा विद्या वर=श्रेष्ठ न। विद्याया =विद्यात, बुद्धिरुत्तमा=श्रेष्ठा भवति यतः हि बुद्धिहीना =मतिविहीना विनश्यन्ति=नाश यान्ति, यथा=येन प्रकारेण। सिंहकारका =शार्दूलनिर्मातार। केशरीनिष्पादका ब्राह्मणा विनष्टा बभूवु। अतो लोके बुद्धिरेवोपयुज्जते, न केवला विद्येति भाव ॥ ३५ ॥

हिन्दी—विद्या की अपेक्षा बुद्धि बडी होती है। उत्तम विद्यासम्पन्न व्यक्ति भी बुद्धि के अभाव मे शेर को जिलानेवाले ब्राह्मणो की तरह नष्ट हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सुवर्णसिद्धिराह—

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे ?' तब सुवर्णसिद्धि ने कहा—

३ सिंहकारकमूर्खब्राह्मण-कथा

कस्मिश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणपुत्रा परस्पर मित्रभावमुपगता वसन्ति स्म। तेषा त्रय शास्त्रपारङ्गता, परन्तु बुद्धिरहिता। एकस्तु बुद्धिमान् केवल

शास्त्रपराङ्मुख । अथ तै कदाचिन्मित्रैर्मन्त्रितम्—'को गुणो विद्यया, येन देशान्तर गत्वा, भूपतीन् परितोष्याऽर्थोपार्जन न क्रियते । तत्पूर्वदेश गच्छाम ।

तथाऽनुष्ठिते किञ्चिन्मार्गं गत्वा, तेषा ज्येष्ठतर प्राह—"अहो, अस्माकमेकश्चतुर्थो मूढ, केवल बुद्धिमान् । न च राजप्रतिग्रहो बुद्ध्या लभ्यते विद्या विना । तन्नास्मै स्वोपार्जित दास्यामि । तद् गच्छतु गृहम् ।" ततो द्वितीयेनाऽभिहितम्—"भो, सुबुद्ध ! गच्छ त्वं स्वगृह, यतस्ते विद्या नास्ति ।' ततस्तृतीयेनाऽभिहितम्—"अहो, न युज्यते एव कर्तुम्, यतो वय बाल्यात्प्रभृत्येकत्र क्रीडिता, तदागच्छतु महानुभावोऽस्मदुपार्जितवित्तस्य समभागी भविष्यतीति । उक्तञ्च—

व्याख्या—अधिष्ठाने = नगरे । तेषा = ब्राह्मणपुत्राणाम् । शास्त्रपारङ्गता = शास्त्रमर्मज्ञा । शास्त्रपराङ्मुख = शास्त्रविमुख अनधीतशास्त्र । तै = ब्राह्मणपुत्रै । मन्त्रित = विमर्श कृत । देशान्तर = विदेशम् । भूपतीन् = नृपतीन् वसुधाधिपान् । परितोष्य = सन्तोष्य । अर्थोपार्जन = धनोपार्जनम् । क्रियते = विधीयते । तथाऽनुष्ठिते = तथा कृते सति । एक = चतुर्थ । मूढ = मूर्ख । राजप्रतिग्रह = राज्ञा दत्त धनादिक राजदानम् । अस्मै = अमुष्मै मूर्खाय । स्वोपार्जित = निजार्जितम् । बाल्यात् प्रभृति = बाल्यकालादारभ्य । समभागी = समानप्राप्तिशाली ।

हिन्दी—किसी नगर मे चार ब्राह्मणपुत्र परस्पर मित्र बनकर रहते थे । उनमे से तीन ने शास्त्रों का अध्ययन तो किया था, किन्तु वे बुद्धिहीन थे । तथा एक शास्त्र से विमुख था, परन्तु लोकव्यवहार मे बडा चालाक था । एक दिन चारो ने आपस मे विचार किया कि—'ऐसी विद्या से क्या लाभ है, जिससे देश विदेश मे जाकर राजाओ को सन्तुष्ट करके धन न कमाया जाय । अत धन कमाने के निमित्त कही चलना चाहिए, तो पूर्व दिशा मे चलना अधिक लाभप्रद होगा ।'

यह निश्चय कर वे चारो धनोपार्जन के लिए चल पडे । कुछ मार्ग चलकर उनमे सबसे बडा बोला—'बन्धुओ, हममे जो चौथा मूर्ख है, वह केवल लोकव्यवहार मे पटु है । राजाओ का दान विद्या के अभाव में केवल बुद्धि से नही मिलता है । अत मैं अपनी कमाई मे से इसे हिस्सा न दूंगा । अच्छा तो यह होगा कि यह घर लौट जाय ।' उसकी यह बात सुनकर द्वितीय ने कहा—'अरे सुबुद्धे ! तुम अपने घर लौट जाओ, क्योकि तुम्हारे पास कोई विद्या नही है ।' तब तीसरे ने कहा—'भाई, मेरे विचार से ऐसा करना उचित नही है, क्योकि

हम लोग बचपन से ही एक साथ खेले हैं। अत इसको भी चलने देना चाहिए। हमारे कमाये हुए धन मे से यह भी एक हिस्सा ले लिया करेगा। कहा भी गया है—

किं तया क्रियते लक्ष्म्या, या बधूरिव केवला।
या न वेश्येव सामान्या पथिकैरुपभुज्यते ॥ ३६ ॥

अन्वय —या सामान्या वेश्या इव पथिकै न उपभुज्यते, या केवलं वधूरिव (तिष्ठति) तया लक्ष्म्या किं क्रियते ॥ ३६ ॥

व्याख्या—या=लक्ष्मी । सामान्या=सर्वसामान्या । वेश्या=वाराङ्गना इव साधारणगणिकेव । पथिकै =पान्थै , न उपभुज्यते=नह्युपभुक्ता भवति । केवलेनात्मनैवोपभुज्यते । सा=लक्ष्मी , केवला=एका, वधू =कुलस्त्री पतिव्रता इव तिष्ठति । तया=असामान्यया असाधारणया वा, लक्ष्म्या= श्रिया । किं क्रियते=किं विधीयते । व्यर्थैव सा श्री , सर्वसाधारणजनभोग्यैव लक्ष्मी प्रशसनीया भवतीति भाव ॥ ३६ ॥

हिन्दी—जो साधारण वेश्या की तरह पथिको के उपयोग मे नहीं आ सकती है तथा केवल पतिव्रता कुलवधू के समान एक ही व्यक्ति के उपभोग की वस्तु है उस लक्ष्मी से क्या लाभ है ? ॥ ३६ ॥

तथा च—

अय निज परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ३७ ॥

"तदागच्छत्वेषोऽपि" इति ।

अन्वय —अय निज परो वा इति गणना लघुचेतसाम् (भवति) उदारचरिताना तु वसुधा एव कुटुम्बकम् (भवति) ॥ ३७ ॥

व्याख्या—अय निज =स्वकीय । पर =परकीय वा इति गणना= विचार । लघुचेतसाम्=लघु चेतो येषा ते लघुचेतस तेषा लघुचेतसाम्=क्षुद्र- पुरुषाणाम्=क्षुद्रान्त करणाना पुसा भवति । उदारचरितानाम्=उदार चरित येषा ते उदारचरिता तेषामुदारचरितानाम्=उदारान्त करणवृत्तीना महात्म- नाम् । तु वसुधैव=पृथिवीमात्रम् सर्वं जगदित्यर्थ । कुटुम्ब=परिवारोऽस्ति आत्मीय कुटुम्बकमिवास्ति । महान्तो हि पुरुषा सर्वत्रात्मीयामेव बुद्धिमालम्बन्ते इत्यर्थ ॥ ३७ ॥

हिन्दी—यह अपना है, यह पराया है इस प्रकार का विचारसकुचित भावना के व्यक्ति करते हैं । उदार व्यक्तियो के लिए समस्त ससार ही अपना परिवार है।

अत इसको भी चलने दो ।

तथाऽनुष्ठिते तैर्मार्गाश्रितैरटव्यां कतिचिदस्थीनि दृष्टानि । ततश्चैकेनाभिहितम्—"अहो, अद्य विद्याप्रत्ययः क्रियते । किञ्चिदेतत्सत्त्वं मृतं तिष्ठति । तद् विद्याप्रभावेण जीवनसहितं कुर्मः । अहमस्थिसञ्चयं करोमि' । ततश्च तेनौत्सुक्यादस्थिसञ्चयः कृतः । द्वितीयेन चर्ममांसरुधिरं संयोजितम् । तृतीयोऽपि यावज्जीवनं सञ्चारयति, तावत्सुबुद्धिना निषिद्धः—"भो तिष्ठतु भवान् । एष सिंहो निष्पाद्यते । यद्येनं सजीवं करिष्यसि ततः सर्वानपि व्यापादयिष्यति ।"

व्याख्या—तथानुष्ठिते=तथैव स्वीकृते सति । मार्गाश्रितैः=पथि गच्छद्भिः । अटव्यां=वने । अस्थीनि=कीकसानि । दृष्टानि=अवलोकितानि । अभिहितं=कथितम् । विद्याप्रत्ययः=विद्यापरीक्षा विद्यायाः प्रत्यक्षानुभवः । सत्त्वं=जीवः । औत्सुक्यात्=औत्कण्ठ्यात् । निषिद्धः=निवारितः । संयोजितम्=समायोजितम् । जीवनं सञ्चारयति=प्राणसञ्चारं करोति । निष्पाद्यते=विनिर्मीयते । व्यापादयिष्यति=मारयिष्यति ।

हिंदी—वैसा स्वीकार कर लेने पर मार्ग मे जाते हुए उन्होंने जगल मे कुछ हड्डियाँ देखी । तब एक ने कहा—'अरे, आज अपनी विद्या की परीक्षा की जाय । यह कोई मरा हुआ प्राणी है । विद्या के प्रभाव से इसको जिलाया जाय । मैं हड्डियो को एकत्र करता हूँ' यह कहकर उसने उत्सुकतापूर्वक हड्डियो को इकट्ठा किया । दूसरे ने उन हड्डियो मे चाम, मास एव खून का सञ्चार किया । इसके बाद जब तीसरे व्यक्ति ने उसमे प्राण सञ्चार करना प्रारम्भ कर दिया तब चतुर्थ मूर्ख सुबुद्धि ने उसे रोकते हुए कहा—'अरे आप रुकिये । यह शेर बनाया जा रहा है । यदि तुमने इसको जिला दिया तो यह हम सभी को मार डालेगा ।'

इति तेनाऽभिहितः स आह-"धिङ्मूर्ख ! नाऽहं विद्याया विफलतां करोमि ।" ततस्तेनाऽभिहितम्—'तर्हि प्रतीक्षस्व क्षणं, यावदहं वृक्षमारोहामि ।"

तथाऽनुष्ठिते, यावत्सजीवः कृतस्तावत्ते त्रयोऽपि सिंहेनोत्थाय व्यापादिताः । स च पुनर्वृक्षादवतीर्य, गृहं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—"वरं बुद्धिर्न सा विद्या" इति । अतः परमुक्तं च सुवर्णसिद्धिना—

व्याख्या—विफलतां=विद्यानिष्फलताम् । प्रतीक्षस्व=प्रतिपालय, तिष्ठ । सजीवः कृतः=प्राणसञ्चारेण नियोजितः ।

हिन्दी—इस प्रकार उसके कहने पर वह जिलानेवाला व्यक्ति बोला-'अरे मूर्ख ! तुझे धिक्कार है । मैं अपनी विद्या को निष्फल नही कर सकता ।' तब

मना करनेवाले ने कहा—'तो थोडी देर ठहरो, जब तक मैं इस वृक्ष पर चढ जाता हूँ, तब अपनी विद्या का प्रयोग करना ।'

उसके पेड पर चढ जाने के बाद उसने ज्यो ही उस सिंह मे प्राण का सचार किया त्यो ही उठकर सिंह ने उन तीनो मूर्ख पण्डितो को मार डाला और वह सुबुद्धि पेड से उतरकर अपने घर चला गया। इसीलिए कहता हूँ—'वैसी विद्या अच्छी नही, अपितु वुद्धि अच्छी होती है। अर्थात् विद्या से बुद्धि उत्तम है।' इसके बाद सुवर्णसिद्धि ने कहा—

अपि शास्त्रेषु कुशला लोकाचारविवर्जिताः।
सर्वे ते हास्यता यान्ति, यथा ते मूर्खपण्डिता ॥ ३८ ॥

अन्वय—शास्त्रेषु कुशला अपि लोकाचारविवर्जिता ते सर्वे हास्यता यान्ति, यथा ते मूर्खपण्डिता ॥ ३८ ॥

व्याख्या—शास्त्रेषु = विद्यासु। कुशला = निपुणा, पटवो दक्षा वा अपि लोकाचारविवर्जिता =लोकस्य आचारेण विवर्जिता इति लोकाचारविवर्जिता = लोकव्यवहारशून्या। ते सर्वे=सकला। हास्यता=परिहास्यताम्। यान्ति = गच्छन्ति। यथा=येन प्रकारेण। ते=पूर्वोक्ता लोकानभिज्ञा। मूर्खपण्डिता = मूर्खाश्च ते पण्डिता मूर्खपण्डिता =अज्ञविद्वास। उपहसनीया अभूवन्। शास्त्र- ज्ञानेन सद्व्यवहारज्ञानमपि नूनमावश्यकमिति भाव ॥ ३८ ॥

हिन्दी—शास्त्रो मे कुशल रहने पर भी लोकव्यवहार से अनभिज्ञ व्यक्ति उसी प्रकार उपहास के पात्र होते है जैसे वे लोकव्यवहार से मूर्ख पण्डित बने थे ॥ ३८ ॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

तब चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' सुवर्णसिद्धि ने कहा—

४ मूर्खपण्डित-कथा

कस्मिश्चिदधिष्ठाने चत्वारो ब्राह्मणा परस्पर मित्रत्वमापन्ना वसन्ति स्म। बालभावे तेषा मतिरजायत–'भो ! देशान्तरं गत्वा, विद्याया उपार्जन क्रियेत।"

अथाऽन्यस्मिन्दिवसे ते ब्राह्मणा परस्पर निश्चय कृत्वा विद्योपार्जनार्थं कान्य-कुब्जे गता। तत्र च विद्यामठे गत्वा पठन्ति। एवं द्वादशाब्दानि यावदेकचित्त-तया पठित्वा, विद्याकुशलास्ते सर्वे सञ्जाता।

ततस्तैश्चतुर्भिर्मिलित्वोक्तम्—"वय सर्वविद्यापारङ्गता । तदुपाध्यायमु त्कलापयित्वा स्वदेश गच्छाम । तथैवाऽनुष्ठीयतामित्युक्त्वा ब्राह्मणा उपाध्याय मुत्कलापयित्वा अनुज्ञा लब्ध्वा पुस्तकानि नीत्वा, प्रचलिता । यावत्किञ्चिन्मार्गं यान्ति, तावद् द्वौ पन्थानौ समायातौ उपविष्टा सर्वे ।

व्याख्या—मित्रत्वमापन्ना =सुहृद्भावमुपगता । बालभावे=बाल्यकाले । मतिरजायत =बुद्धिरभवत् । देशान्तर=विदेश । विद्याया उपार्जनम्=शास्त्राध्ययनम् । विद्योपार्जनार्थं=विद्याशिक्षार्थं । विद्यामठे=विद्यालये । द्वादशाब्दानि= द्वादशवर्षपर्यन्तम् । एकचित्ततया=एकाग्रचित्तेन । विद्याकुशला =शास्त्रप्रवीणा । विद्वास । विद्यापारङ्गता =सकलविद्याविशारदा । उपाध्याय =गुरुम् । उत्कलापयित्वा=पृष्ट्वा, आपृच्छ्य । अनुज्ञाम्=अनुमतिम् ।

हिन्दी—किसी नगर मे चार ब्राह्मण आपस मे मित्र बनकर रहते थे । बचपन मे उनका विचार हुआ कि दूसरे देश मे जाकर विद्या पढी जाय ।

दूसरे दिन आपस मे विचार करने के बाद वे विद्या पढने के लिए कान्य-कुब्ज देश की ओर चल पडे और वहाँ पहुँचकर किसी पाठशाला मे विद्या पढने लगे । एकाग्रचित्त से बारह वर्ष तक अध्ययन करने के बाद ये चारो अद्भुत विद्वान् हो गये ।

एक दिन चारो ने आपस मे विमर्श किया—हम सभी विद्याओ मे निपुण हो चुके । अब गुरुजी की आज्ञा लेकर हमे अपने घर चलना चाहिए । यह निश्चय करके वे गुरुजी के पास गये और उनसे पूछकर अनुमति प्राप्त करके अपनी-अपनी पुस्तको को साथ लेकर घर के लिए प्रस्थान कर दिये । कुछ दूर जाने के बाद मार्ग दो तरफ जाते हुए देखकर किस मार्ग से चला जाय, यह निश्चय करने के लिए एक जगह बैठ गये ।

तत्रैक प्रोवाच—"केन मार्गेण गच्छाम ?"

एतस्मिन्समये तस्मिन् पत्तने कश्चिद् वणिक्पुत्रो मृत । तस्य दाहाय महाजनो गतोऽभूत् । ततश्चतुर्णां मध्यादेकेन पुस्तकमवलोकित—"महाजनो येन गत. स पन्थ " इति । तन्महाजनमार्गेण गच्छाम ।

अथ ते पण्डिता यावन्महाजनमेलापकेन सह यान्ति, तावद्रासभ कश्चित्तत्र श्मशाने दृष्ट. । अथ द्वितीयेन पुस्तकमुद्घाट्यावलोकितम्—

व्याख्या—पत्तने=नगरे । दाहाय =अग्निसंस्कारकरणाय । महाजन =

वणिक्समूह , श्रेष्ठजनो वा । महाजनमेलापकेन = वणिक्समूहेन । रासभ = गर्दभ श्मशाने = श्मशानभूमौ । दृष्ट = अवलोकित ।

हिन्दी—उनमे से एक ने पूछा—'किस मार्ग से चला जाय ?'

उसी समय पास के नगर मे एक बनिये का लडका मर गया था । उसके दाह सस्कार के लिए वणिक् लोग जा रहे थे । उस शवयात्रा को देखकर उन चारो मे से एक ने पुस्तक देखकर कहा—'महाजन लोग जिस रास्ते से जायें, उसी रास्ते से अन्य लोगो को भी जाना चाहिए ।' अत हमे भी वणिक्समूह के साथ चलना चाहिए ।

उसके कथन पर चारो व्यक्ति उस वणिक्समूह के पीछे चल दिये, जैसे ही वे पण्डित महाजनो के साथ चलते हैं वैसे ही वहाँ श्मशान पर उन्होने कोई गधा देख लिया । तब दूसरे ने पुस्तक खोलकर देखा और कहा—

उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव. ।। ३९ ।।

अन्वय —उत्सवे व्यसने दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे च प्राप्ते राजद्वारे श्मशाने च य तिष्ठति स (एव) बान्धव (भवति) ।। ३९ ।।

व्याख्या—उत्सवे=माङ्गलिके कार्ये, हर्षोल्लाससमये वा । व्यसने=आपत्तौ, दु खे कष्टे वा । दुर्भिक्षे=दुष्काले अन्नसकटे । शत्रुसङ्कटे=वैरिकृते भये शत्रुसम्बाधे । राजद्वारे=राजकीयभवनद्वारे राजसभायाम् । वा न्यायाधिकरणे वा श्मशाने = श्मशानभूमौ च । य तिष्ठति=वर्तते । स एव बान्धव कथ्यते, वस्तुत त एव सन्ति बान्धवा ये उत्सवव्यसनादौ सम्मिलिता भवन्तीति भाव ।। ३९ ।।

हिन्दी—उत्सव के समय, आपत्तिकाल मे, दुर्भिक्ष पडने पर, शत्रुओ से घिर जाने पर, राजसभा मे और श्मशान मे जो साथ रहता है वही बन्धु होता है ।। ३९ ।।

तदहो ! अयमस्मदीयो बान्धव । तत. कश्चित्तस्य ग्रीवाया लगति, कश्चित् पादौ प्रक्षालयति ।

अथ यावत्ते पण्डिता दिशामवलोकन कुर्वन्ति तावत्कश्चिदुष्ट्रो दृष्ट. । तैश्चोक्तम्—"एतत्किम् ?" ,

तावत्तृतीयेन पुस्तकमुद्घाट्योक्तम्—"धर्मस्य त्वरिता गति । तन्नूनमेष धर्मस्तावत् ।" चतुर्थेनोक्तम्—"इष्ट धर्मेण योजयेत्" ।

अथ तैश्च रासभ उष्ट्रग्रीवाया बद्ध —तत्तु केनचित्तत्स्वामिनो रजकस्याग्रे कथितम् । यावद्रजकस्तेषा मूर्खपण्डिताना प्रहारकरणाय समायातस्तावत्ते प्रनष्टा ।

ततो तावदग्रे किञ्चित्स्तोक मार्गं यान्ति तावत्काचिन्नदी समासादिता। तस्य जलमध्ये पलाशपत्रमायात दृष्ट्वा पण्डितेनैकेनोक्तम्—

"आगमिष्यति यत्पत्र तदस्मांस्तारयिष्यति" एतत्कथयित्वा तत्पत्रस्योपरि पतितो यावन्नद्या नीयते तावत्त नीयमानमलोक्याऽन्येन पण्डितेन केशान्त गृहीत्वोक्तम्—

व्याख्या—त्वरिता=सत्वरा। गति=गमनम्। इष्ट=मित्रम्। धर्मेण योजयेत् =धर्मेण सह नियोजयेत्। बद्ध =निबद्ध। तत्तु=तद्वृत्तान्तम्। रजकस्य= निर्णेजकस्य। प्रहारकरणाय=ताडनाय। ते=पण्डिता। प्रनष्टा =पलायिता। स्तोक=अल्पम्। समासादिता=प्राप्ता। पलाशपत्र=पलाशवृक्षस्य पत्रम्। तारयिष्यति=पार प्रापयिष्यति। पतित =पपात। नद्या नीयते=जले निमज्जति। केशान्त=शिरोरुहम्।

हिन्दी—अत यह गदहा भी हमारा स्वजन ही होगा। उसके वचन को सुनकर उसमे कोई तो उस गदहे के गले लगा और कोई उसका पैर धोकर पोंछने लगा। तदनन्तर जब तक उन लोगो ने चारो ओर देखा तो उन्हे एक ऊँट दिखाई पडा। उसे देखकर सबो ने आपस मे तर्क किया कि यह क्या है?

तब तीसरे पण्डित ने पुस्तक खोल देखकर कहा कि—'धर्म की गति तीव्र होती है। तो निश्चय ही यह धर्म होगा।' इसपर चौथे पण्डित ने कहा—'मित्र को धर्म के साथ जोड देना चाहिए।'

यह विचार करके उन लोगो ने गदहे को ऊँट के गले मे बाँध दिया। उस समाचार को किसी ने उस गधे के स्वामी धोबी से कह दिया। जब तक धोबी उन पण्डितो को पीटने के लिए आया तब तक वे वहाँ से भाग चुके थे।

इसके बाद जब वे और कुछ दूर आगे गये तो एक नदी मिल गयी। उसकी धार मे पलाश का एक पत्ता कही से बहता हुआ आ रहा था। उसे देखकर उनमे से एक ने कहा—

'आने वाला पत्ता हमे उस पार पहुँचा देगा।' यह कहकर वह मूर्ख पण्डित नदी मे कूद पडा। जब वह नदी की धारा मे बहने लगा तो दूसरे पण्डित ने उसकी चोटी पकडकर कहा—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डित।
अर्धेन कुरुते कार्यं, सर्वनाशो हि दु सह॥ ४०॥

अन्वय—पण्डित सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति, अर्द्धेन च कार्यं कुरुते। हि सर्वनाश दु सह (भवति)॥ ४०॥

वणिक्समूह , श्रेष्ठजनो वा । महाजनमेलापकेन=वणिक्समूहेन । रासभ = गर्दभ श्मशाने=श्मशानभूमौ । दृष्ट =अवलोकित ।

हिन्दी—उनमे से एक ने पूछा—'किस मार्ग से चला जाय ?'

उसी समय पास के नगर मे एक बनिये का लडका मर गया था । उसके दाह सस्कार के लिए वणिक् लोग जा रहे थे । उस शवयात्रा को देखकर उन चारो मे से एक ने पुस्तक देखकर कहा—'महाजन लोग जिस रास्ते से जायँ, उसी रास्ते से अन्य लोगो को भी जाना चाहिए ।' अत हमे भी वणिक्समूह के साथ चलना चाहिए ।

उसके कथन पर चारो व्यक्ति उस वणिक्समूह के पीछे चल दिये, जैसे ही वे पण्डित महाजनो के साथ चलते है वैसे ही वहाँ श्मशान पर उन्होने कोई गधा देख लिया । तब दूसरे ने पुस्तक खोलकर देखा और कहा—

उत्सवे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धव ।। ३९ ।।

अन्वय —उत्सवे व्यसने दुर्भिक्षे शत्रुसङ्कटे च प्राप्ते राजद्वारे श्मशाने च य तिष्ठति स (एव) बान्धव (भवति) ।। ३९ ।।

व्याख्या—उत्सवे=माङ्गलिके कार्ये, हर्षोल्लाससमये वा । व्यसने=आपत्तौ, दु खे कष्टे वा । दुर्भिक्षे=दुष्काले अन्नसकटे । शत्रुसङ्कटे=वैरिकृते भये शत्रु-सम्बाधे । राजद्वारे=राजकीयभवनद्वारे राजसभायाम् । वा न्यायाधिकरणे वा श्मशाने=श्मशानभूमौ च । य तिष्ठति=वर्तते । स एव बान्धव कथ्यते, वस्तुत त एव सन्ति बान्धवा ये उत्सवव्यसनादौ सम्मिलिता भवन्तीति भाव ।। ३९ ।।

हिन्दी—उत्सव के समय, आपत्तिकाल मे, दुर्भिक्ष पडने पर, शत्रुओ से घिर जाने पर, राजसभा मे और श्मशान मे जो साथ रहता है वही बन्धु होता है ।। ३९ ।।

तदहो ! अयमस्मदीयो बान्धव । तत कश्चित्तस्य ग्रीवाया लगति, कश्चित् पादौ प्रक्षालयति ।

अथ यावत्ते पण्डिता दिशामवलोकन कुर्वन्ति तावत्कश्चिदुष्ट्रो दृष्ट । तैश्चोक्तम्—"एतत्किम् ?" ,

तावत्तृतीयेन पुस्तकमुद्घाट्योक्तम्—"धर्मस्य त्वरिता गति । तन्नूनमेष धर्मस्तावत् ।" चतुर्थेनोक्तम्—"इष्ट धर्मेण योजयेत्" ।

अथ तैश्च रासभ उष्ट्रग्रीवाया बद्ध —तत्तु केनचित्तत्स्वामिनो रजकस्याग्रे कथितम् । यावद्रजकस्तेषा मूर्खपण्डिताना प्रहारकरणाय तस्तावत्ते प्रनष्टा ।

ततो तावदग्रे किञ्चित्स्तोक मार्गं यान्ति तावत्काचिन्नदी समासादिता। तस्य जलमध्ये पलाशपत्रमायातं दृष्ट्वा पण्डितेनैकेनोक्तम्—

"आगमिष्यति यत्पत्र तदस्मास्तारयिष्यति" एतत्कथयित्वा तत्पत्रस्योपरि पतितो यावन्नद्या नीयते तावत्त नीयमानमलोक्याऽन्येन पण्डितेन केशान्त गृहीत्वोक्तम्—

व्याख्या—त्वरिता=सत्वरा। गति=गमनम्। इष्ट=मित्रम्। धर्मेण योजयेत् =धर्मेण सह नियोजयेत्। बद्ध =निबद्ध। तत्तु=तद्वृत्तान्तम्। रजकस्य= निर्णेजकस्य। प्रहारकरणाय=ताडनाय। ते=पण्डिता। प्रनष्टा =पलायिता। स्तोक=अल्पम्। समासादिता=प्राप्ता। पलाशपत्र=पलाशवृक्षस्य पत्रम्। तारयिष्यति=पार प्रापयिष्यति। पतित =पपात। नद्या नीयते=जले निमज्जति। केशान्त=शिरोरुहम्।

हिन्दी—अत यह गदहा भी हमारा स्वजन ही होगा। उसके वचन को सुनकर उसमे कोई तो उस गदहे के गले लगा और कोई उसका पैर धोकर पोंछने लगा। तदनन्तर जब तक उन लोगो ने चारो ओर देखा तो उन्हे एक ऊँट दिखाई पडा। उसे देखकर सबो ने आपस मे तर्क किया कि यह क्या है?

तब तीसरे पण्डित ने पुस्तक खोल देखकर कहा कि—'धर्म की गति तीव्र होती है। तो निश्चय ही यह धर्म होगा।' इसपर चौथे पण्डित ने कहा—'मित्र को धर्म के साथ जोड देना चाहिए।'

यह विचार करके उन लोगो ने गदहे को ऊँट के गले मे बाँध दिया। उस समाचार को किसी ने उस गधे के स्वामी धोबी से कह दिया। जब तक धोबी उन पण्डितो को पीटने के लिए आया तब तक वे वहाँ से भाग चुके थे।

इसके बाद जब वे और कुछ दूर आगे गये तो एक नदी मिल गयी। उसकी धार मे पलाश का एक पत्ता कही से बहता हुआ आ रहा था। उसे देखकर उनमे से एक ने कहा—

'आने वाला पत्ता हमे उस पार पहुँचा देगा।' यह कहकर वह मूर्ख पण्डित नदी मे कूद पडा। जब वह नदी की धारा मे बहने लगा तो दूसरे पण्डित ने उसकी चोटी पकडकर कहा—

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डित।
अर्धेन कुरुते कार्यं, सर्वनाशो हि दु सह ॥ ४० ॥

अन्वय—पण्डित सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति, अर्द्धेन च कार्यं कुरुते। हि सर्वनाश दु सह (भवति) ॥ ४० ॥

व्याख्या—पण्डित =विद्वान् । सर्वनाशे समुत्पन्ने=सर्वनाशस्यावसरे । अर्द्धं= तदर्द्धभागम् । त्यजति=विजहाति । अर्द्धेन=अर्द्धभागेन । कार्यं कुरुते=सम्पादयति । हि =यत सर्वनाश दु सह =दु खेन सोढु शक्यो भवति । सर्वनाशापेक्षयाऽर्द्धनाश एव ज्यायानिति भाव ॥ ४० ॥

हिन्दी—सर्वनाश की स्थिति उत्पन्न होने पर समझदार व्यक्ति आधा भाग छोड देता है और आधे से सन्तोषपूर्वक अपना कार्य चलाता है, क्योकि सम्पूर्ण नाश वहन करना कठिन हो जाता है ॥ ४० ॥

इत्युक्त्वा तस्य शिरश्छेदो विहित ।

ऐसा कहकर आधा बचाने के लिए डूबते हुए उस पण्डित का शिर काट लिया ।

अथ तैश्च पश्चाद् गत्वा कश्चिद् ग्राम आसादित । तेऽपि ग्रामीणैर्निमन्त्रिताः पृथग् गृहेषु नीता । तत एकस्य सूत्रिका घृतमण्डसयुता भोजने दत्ता । ततो विचिन्त्य पण्डितेनोक्त यत् "दीर्घसूत्री विनश्यति" । एवमुक्त्वा भोजनं परित्यज्य गत । तथा द्वितीयस्य मण्डका दत्ता, तेनाऽप्युक्तम्—'अतिविस्तारविस्तीर्णं तद्भवेन्न चिरायुषम्'' । स भोजन त्यक्त्वा गत । अथ तृतीयस्य वटिका भोजने दत्ता । तत्राऽपि तेन पण्डितेनोक्तम्—"छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ।" एवं ते त्रयोऽपि पण्डिता. क्षुत्क्षामकण्ठा, लोके हास्यमानास्तत स्थानात् स्वदेश गता' ।

व्याख्या—तै =शेषै । ग्रामीणै =ग्रामवासिभि । निमन्त्रिता =भोजनार्थमामन्त्रिता । घृतखण्डसयुक्ता =घृतशर्करामिश्रिता । दीर्घसूत्री=दीर्घसूत्रवान्, सालस्यो जनो वा । मण्डका=रोटिका । वटिका =वाडानाम्ना प्रसिद्धं वस्तु । छिद्रेषु =छिद्रयुक्तेषु । अनर्था =आपत्तय । बहुलीभवन्ति =स्फारीभवन्ति । क्षुत्क्षामकण्ठा =क्षुधया शुष्ककण्ठा, बुभुक्षिता । लोकै =जनै । हास्यमाना =उपहासविषय नीयमाना ।

हिन्दी—उसके बाद आगे चलकर उन्हे कोई गाँव मिला । गाँववालो ने उन्हे ब्राह्मण समझकर निमन्त्रित किया और भोजन करने के लिए पृथक् पृथक् अपने-अपने घरो मे ले गये । किसी गृहस्थ ने एक को घी चीनी मे बनी हुई सेवई खाने को दी, उसे देखकर उस ब्राह्मण ने सोचा—'दीर्घसूत्री (लम्बे सूतोवाला) व्यक्ति नष्ट हो जाता है ।' अत इसे खाकर मैं भी नष्ट हो जाऊँगा । यह विचार कर वह भोजन को छोडकर चला गया । दूसरे व्यक्ति को रोटी खाने को मिली तो उसने सोचा—'अधिक विस्तृत वस्तु चिरस्थायी नही होती ।'

अत इसे खाकर मैं भी क्षीणायु हो जाऊँगा। यह सोचकर उसने भी भोजन करना छोड दिया। तीसरे को बडा मिला। उसने विचार किया कि छिद्र (सदोष होने) पर आपत्तियाँ और बढ जाती हैं। कही इसे खाकर मैं भी किसी आपत्ति मे न फँस जाऊँ। यह सोचकर वह भी भोजन छोडकर चला आया। इस प्रकार वे तीनो ही भूखे रह गये और लोगो के उपहास के पात्र बने। अन्ततोगत्वा वे बिना खाये-पिये अपने घर लौट गये।

अथ सुवर्णसिद्धिराह—"यस्त्व लोकव्यवहारमजानन्मया वार्यमाणोऽपि न स्थित तत ईदृशीमवस्थामुपगत। अतोऽह ब्रवीमि—"अपि शास्त्रेषु कुशला" इति।

व्याख्या—वार्यमाणोऽपि = निवार्यमाणोऽपि। ईदृशी = एतादृशी चक्राच्छन्न-मस्तकरूपाम्। अवस्था=स्थितिम्। अकारण=निरर्थकम्। कुशला = प्रवीणा।

हिन्दी—पूर्वकथा को सुनकर सुवर्णसिद्धि ने कहा—तुम लोकव्यवहार को न जानते हुए मेरे रोकने पर भी नहीं रुके। इसलिए ऐसी दशा को प्राप्त हुए हो। अत मैं कहता हूँ—"शास्त्रो मे कुशल भी" आदि।

तत् श्रुत्वा चक्रधर आह—अहो, अकारणमेतत् यतो हि—

उसे सुनकर चक्रधर ने कहा—अरे, यह तो बिना कारण के ही है, क्योकि—

सुबुद्धयो विनश्यन्ति दुष्टदैवेन नाशिता।
स्वल्पधीरपि तस्मिंस्तु कुले नन्दति सन्ततम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—दुष्टदैवेन नाशिता सुबुद्धय अपि विनश्यन्ति, तु तस्मिन् कुले स्वल्पधी अपि सन्तत नन्दति ॥ ४१ ॥

व्याख्या—दुष्टदैवेन=प्रतिकूलभाग्येन। नाशिता =नाश प्रापिता। सुबुद्धय =सुधिय। विनश्यन्ति=नाश प्राप्नुवन्ति। तु तस्मिन् कुले=तत्रैव। स्वल्पधी =स्वल्पा धीर्यस्यासौ स्वल्पधी =मन्दबुद्धि अपि सन्तत= निरन्तरम्। नन्दति=मोदते। दैवप्रातिकूल्येन बुद्धिमन्तोऽपि विनश्यन्ति, दैवानुकूल्यादेव मन्दबुद्धिरपि मोदते इति भाव ॥ ४१ ॥

हिन्दी—भाग्य की प्रतिकूलता से बुद्धिमान् व्यक्ति भी कष्ट उठाते हैं और अनुकूल भाग्य के कारण मूर्ख भी आनन्द मनाता है ॥ ४१ ॥

उक्त च—

अरक्षित तिष्ठति दैवरक्षित, सुरक्षित दैवहत विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जित, कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ ४२ ॥

अन्वय —दैवरक्षितम्, अरक्षितम् (अपि) तिष्ठति, किन्तु दैवहत सुरक्षितमपि नश्यति । वने विसर्जित अनाथोऽपि जीवति, कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ।४२।

व्याख्या—दैवरक्षितम्=दैवेन रक्षित दैवरक्षितम्=भाग्यरक्षितम् । वस्तु । अरक्षित=न रक्षितमरक्षितम्=मनुष्यद्वारा न रक्षितमपि वस्तु तिष्ठति=स्थिरो भवति । किन्तु दैवहृतम्=दैवेन हृत नाशित सत् सुरक्षितमपि=लोकै साधु सरक्षितमपि नश्यति=नाश गच्छति । वने विसर्जित=अरण्ये त्यक्त । अनाथोऽपि=नास्ति नाथो यस्य स अनाथो निराश्रित सहायहीनोऽपि दैवसाहाय्येन जीवति=प्राणान् धत्ते । गृहे कृतप्रयत्नोऽपि=कृत विहित प्रयत्न उद्योग रक्षणप्रयास. यस्मै यस्य वा स कृतप्रयत्न न जीवति=नश्यति। भाग्याभिहत पुरुषप्रयत्न विफलतामेतीत्यर्थ ॥ ४२ ॥

हिन्दी—कहा भी गया है कि दैव (भाग्य) के द्वारा रक्षा किया गया पुरुष या पदार्थ मनुष्य द्वारा रक्षा न किया गया भी विद्यमान रहता है । किन्तु दैव के द्वारा नष्ट की गयी मनुष्य के द्वारा भलीभांति रक्षित भी वस्तु नष्ट हो जाती है । वन मे छोडा गया बिना स्वामी का भी पुरुष जी जाता है, किन्तु प्रयास किया गया भी घर मे नही जीता । अर्थात्—भाग्य द्वारा सुरक्षित वस्तु बिना किसी रक्षा के भी बची रहती है और भाग्य के प्रतिकूल होने से सुरक्षित रहकर भी वह नष्ट हो जाती है । सिह, व्याघ्र आदि हिंसक पशुओ के बीच वन मे अनाथ छोडा हुआ व्यक्ति जीवित रह जाता है तथा प्रयत्नपूर्वक घर मे सुरक्षित व्यक्ति भी जीवित नही रह पाता ॥ ४२ ॥

तथा च—

शतबुद्धि शिरस्थोऽय लम्बते च सहस्रधी ।
एकबुद्धिरह भद्रे ! क्रीडामि विमले जले ॥ ४३ ॥

अन्वय —भद्रे ! अय शतबुद्धि शिरस्थ सहस्रबुद्धिश्च लम्बते । किन्तु एकबुद्धि अह विमले जले क्रीडामि ॥ ४३ ॥

व्याख्या—भद्रे !=भद्रकारिणि ! सुन्दरि ! अय=पुरो दृश्यमान शतबुद्धि =तन्नामक मत्स्य , शिरस्थ =शिरसि तिष्ठतीति शिरस्थ =मस्तके अस्ति । सहस्रधी =सहस्रबुद्धिनामको मत्स्यश्च लम्बते=हस्ते लम्बमानो विद्यते । एकबुद्धि =एकबुद्धिनामा मण्डूकोऽह विमले जले=निर्मले सलिले । क्रीडामि=विहरामि=विलसामि । अत्यधिका बुद्धिर्नाशहेतुका भवतीति भाव ॥ ४३ ॥

हिन्दी—उसी प्रकार यह शतबुद्धि (सौ बुद्धिवाला) नामक मछली सिर

पर रखा है और सहस्रधी (हजार बुद्धिवाला) नामक मछली वहाँ मे लटक रहा है। किन्तु हे भद्रे! एक बुद्धिवाला मैं तो स्वच्छ जल मे खेल रहा हूँ।

सुवर्णसिद्धिराह—"कथमेतत्!" स आह—

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'यह कैसे हुआ।' तब चक्रधर ने कहना आरम्भ किया-

५. मत्स्यमण्डूक-कथा

"कस्मिंश्चिज्जलाशये शतबुद्धि सहस्रबुद्धिश्च द्वौ मत्स्यौ निवसत' स्म। अथ तयोरेकबुद्धिर्नाम मण्डूको मित्रता गत। एव ते त्रयोऽपि जलतीरे वेलाया सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभूय, भूयोऽपि सलिल प्रविशन्ति।

अथ कदाचित्तेषा गोष्ठीगताना जालहस्ता धीवरा' प्रभूतैर्मत्स्यैर्व्यापादितै-र्मस्तके विधृतैरस्तमनवेलाया तस्मिञ्जलाशये समायाता। तत सलिलाशय दृष्ट्वा मिथ प्रोचु—"अहो! बहुमत्स्योऽय ह्रदो दृश्यते, स्वल्पसलिलश्च। तत्प्रभातेऽत्रागमिष्याम" एवमुक्त्वा स्वगृह गता.।

व्याख्या—जलाशये=सरोवरे। शतबुद्धि सहस्रबुद्धिश्च=शतबुद्धि-सहस्र-बुद्धिनामानौ। तयो=मत्स्ययो। मित्रता गत=मित्रभावमुपगत। एक-बुद्धिर्नाम=एकबुद्धिनामक, मण्डूक=दर्दुर। जलतीरे=सलिलतटे। वेलायाम्=सायकाले। सुभाषितगोष्ठीसुखमनुभूय=सूक्तिकाव्यालापसभासुखमवाप्य। गोष्ठी-गताना=एकत्रोपविष्टानाम्। जालहस्ता=जालपाणय। धीवरा=कैवर्ता। प्रभूतै=प्रचुरै, मत्स्यै=मीनै, व्यापादितै=निहतै। मस्तके=शिरसि। विधृतै=न्यस्तै, अस्तमनवेलाया=सूर्यास्तसमये। सलिलाशय=सरोवरम्, प्रोचु=मन्त्रयामासु। ह्रद=तडाग। स्वल्पसलिल=अत्यल्पजल। प्रभाते=प्रात काले।

हिन्दी—किसी तालाब मे शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि नाम की दो मछलियाँ रहती थी। उनसे किसी एकबुद्धि नामक मेढक की मित्रता हो गयी थी। वे तीनो शाम को तालाब के किनारे बैठकर कुछ समय काव्यादि का आनन्द लेने के बाद पुन जल मे चले जाते थे।

एक दिन शाम को उनकी गोष्ठी के समय में ही कही से मछलियो को मारकर शिर पर रखे हुए कुछ केवट उस तालाब के किनारे आये। उस तालाब को देखकर उन लोगो ने आपस में यह विचार किया—

इस तालाब में काफी मछलियाँ हैं और पानी भी कम है। तो कल सुबह में यहाँ आया जायेगा। यह निश्चय करके वे चले गये।

मत्स्याश्च विषण्णवदना मिथो मन्त्र चक्रु । ततो मण्डूक आह—"भो, शतबुद्धे ! श्रुत धीवरोक्त भवता ? तत्किमत्र युज्यते कर्तुम्, पलायनमवष्टम्भो वा ? यत् कर्तुं युक्त भवति तदादिश्यतामद्य ।"

तत् श्रुत्वा सहस्रबुद्धि प्रहस्य आह—"भो ! मित्र, मा भैषी, तयो वचनश्रवणमात्रादेव भय न कार्यम् । न भेतव्यम् । उक्त च—

व्याख्या—विषण्णवदना =म्लानानना, चिन्ताग्रस्ता । मन्त्र=विचारम् । चक्रु =विदधु । पलायनम्=अन्यत्र गमनम् । अवष्टम्भ =अवस्थानम् । मा भैषी = भय मा कुरु । वचनश्रवणमात्रादेव=वार्तालापश्रवणेनैव । न भेतव्य=भय न कार्यम् । युक्त=उचितम् । आदिश्यता=आज्ञाप्यताम् । प्रहस्य=हसित्वा ।

हिन्दी—उन केवटो के चले जाने पर मछलियो ने खिन्न होकर आपस मे एक विचार-गोष्ठी की । उस गोष्ठी में मेढक ने कहा—'अरे शतबुद्धि ! आपने केवटो के वार्तालाप को सुना ? कहिए, इस परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए ? यहाँ रहना ठीक है या अन्यत्र कही भाग जाना चाहिए ? जैसा करना उचित हो, आदेश दे ।'

उस बात को सुनकर सहस्रबुद्धि ने हँसकर कहा–'अरे मित्र, डरो मत । उनके कथन मात्र से ही नही डरना चाहिए ।' कहा भी गया है—

सर्पाणा च खलाना च सर्वेषा दुष्टचेतसाम् ।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेद वर्तते जगत् ॥ ४४ ॥

अन्वय —सर्पाणा च खलाना च सर्वेषा दुष्टचेतसाम् अभिप्राया (इह) न सिध्यन्ति, तेन इद जगत् वर्तते ॥४४॥

याख्या—सर्पाणा=भुजङ्गानाम् । खलाना=दुष्टानाम् च सर्वेषा=समस्तानाम् । दुष्टचेतसा=दुष्टानि चेतासि येपा ते, तेषा दुष्टचेतसाम्=मलिनान्त -करणानाम् । अभिप्राया =मनोरथा, अभिलषितार्था वा, न सिध्यन्ति=न सिद्धि प्राप्नुवन्ति, व्यर्था भवन्ति, तेन=हेतुना, जगदिद=लोकोऽय वर्तते=तिष्ठति । सर्पाणा दुष्टानाञ्चाभिलषितार्थसिद्धौ नूनमेव जगतो विनाश स्यादित्यर्थ ॥४४॥

हिन्दी—सर्पों के, दुष्टो के तथा बुरे हृदयवालो के मनोरथ ससार मे पूरे नही होते । इस कारण यह ससार विद्यमान है । अर्थात् उनकी विफलता के कारण ही यह ससार चल रहा है ॥४४॥

तत्तावत्तेषामागमनमपि न सपत्स्यते । भविष्यति तर्हि त्वा बुद्धिप्रभावेणात्मसहित रक्षयिष्यामि । यतोऽनेका सलिलचर्यामहं जानामि ।

तदाकर्ण्य शतबुद्धिराह—"भो युक्तमुक्त भवता। सहस्रबुद्धिरेव भवान्। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—तेषा=धीवराणाम्। न सम्पत्स्यते=न भविष्यति। बुद्धिप्रभावेण=बुद्धिबलेन। आत्मसहित=आत्मना साकम्। सलिलगतिचर्याम्=जलसञ्चरणकौशलम्। जानामि=अवगच्छामि। आकर्ण्य=श्रुत्वा।

हिन्दी—मैं तो समझता हूँ कि उनका आगमन ही नही होगा। यदि हुआ भी तो, मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से अपने साथ ही तुम्हारी भी रक्षा कर दूँगा, क्योकि मैं जल में चलने की कई कलाएँ जानता हूँ।

उसको सुनकर शतबुद्धि ने कहा—'अरे आपने ठीक कहा है। सचमुच आप सहस्रबुद्धि ही हैं।' अथवा यह ठीक ही कहा गया है—

बुद्धेर्बुद्धिमता लोके नाऽस्त्यगम्य हि किञ्चन।
बुद्धया यतो हता नन्दाश्चाणाक्येनासिपाणय ॥ ४५ ॥

अन्वय—लोके बुद्धिमता बुद्धे किञ्चन अगम्य नास्ति हि यत चाणक्येन बुद्धया असिपाणय अपि नन्दा हता ॥ ४५ ॥

व्याख्या—लोके=ससारे। बुद्धिमता=धीमताम्। बुद्धे=धिय। किञ्चन=किमपि। अगम्य—गन्तु योग्य गम्य न गम्यमगम्य=अविषय। नास्ति=न विद्यते। हि=निश्चयेन। यत=यस्मात्कारणात्। चाणक्येन=तन्नामधारिणा नीतिशास्त्रप्रवर्तकेन विदुषा विष्णुगुप्तेन। बुद्धया=बुद्धिप्रभावेण विवेकशक्त्या, असिपाणय—असि पाणौ येषा ते असिपाणय=खड्गहस्ता। नन्दा=नन्दवशीया नवसख्याका राजान, हता=नाशिता। विश्वस्मिन् बुद्धया सर्वं कार्यं सम्पद्यते इति भाव ॥ ४५ ॥

हिन्दी—इस विश्व मे बुद्धिमानो की बुद्धि के लिए कोई भी स्थान अगम्य नही है क्योकि चाणक्य ने अपनी बुद्धि के ही बल पर खड्गधारी नन्द वश का विनाश किया था ॥ ४५ ॥

तथा च—

न यत्राऽस्ति गतिर्वायो रश्मीना च विवस्वत।
तत्राऽपि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमता सदा ॥ ४६ ॥

अन्वय—यत्र वायो विवस्वत रश्मीना सदा गतिर्नास्ति, तत्रापि बुद्धिमता बुद्धि आशु प्रविशति ॥ ४६ ॥

व्याख्या—यत्र=यस्मिन् स्थाने । वायो =वातस्य । विवस्वत =सूर्यस्य, रश्मीना च गति =प्रवेश , नास्ति=न भवति । तत्रापि स्थाने बुद्धिमता= धीमताम् । बुद्धि =मति , सदा=सर्वस्मिन् काले । आशु=शीघ्रम् । प्रविशति =प्रविष्टा भवति गच्छति । बुद्धिमतो हि बुद्धि सर्वत्र सदा सत्वर प्रसरतीत्यर्थ ।

हिन्दी—जिस स्थान पर वायु और सूर्य की किरणो का प्रवेश नही हो पाता, वहाँ बुद्धिमानो की बुद्धि तत्काल पहुँच जाती है ।।४६।।

ततो वचनश्रवणमात्रादपि पितृपर्यायागत जन्मस्थान त्यक्तु न शक्यते । उक्त च—

व्याख्या—वचनश्रवणमात्रादपि=वाक्यश्रवणमात्रेणापि धीवरोक्त वचन श्रुत्वैव पितृपर्यायागत=पितृपरम्पराप्राप्तम्, वशक्रमादागतम् । जन्मस्थान=मातृभूमि , निवासस्थानम् त्यक्तु=परित्यक्तुम् । न शक्यते=न पार्यते ।

हिन्दी—अत मल्लाहो के वार्तालापमात्र सुनने से ही पूर्व पुरुषो द्वारा परम्परागत जन्मस्थान को छोडना ठीक नही । कहा भी गया है कि—

न तत् स्वर्गेऽपि सौख्य स्याद्दिव्यस्पर्शेन शोभने ।
कुस्थानेऽपि भवेत्पुसा जन्मनो यत्र सम्भव ।। ५७ ।।

अन्वय —शोभने स्वर्गेऽपि दिव्यस्पर्शेन तत्सौख्य न (भवति यत्) पुसा यत्र जन्मन सभव (तत्र) कुस्थाने अपि भवेत् ।। ४७ ।।

व्याख्या—शोभने=रमणीये । स्वर्गे=दिवि । दिव्यस्पर्शेन=देवाङ्गनालिङ्गनसम्पर्केण । तत्सौख्य=तत्सुखम् । न=नहि भवति । यत् पुसा=प्राणिनाम् । यत्र जन्मन =उत्पत्ते , सम्भव =जन्मस्थानम् । तत्र कुस्थानेऽपि=कष्टप्रदेऽपि स्थाने भवेत्=जायेत् । स्वर्गेऽप्यलभ्य सुख जन्मभूमौ लभ्यते इति भाव । अत एवोक्त—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' ।। ४७ ।।

हिन्दी—रमणीय स्वर्ग मे देवाङ्गनाओ के स्पर्श से भी वह सुख नही प्राप्त होता, जो मनुष्य को अपनी जन्मभूमि मे अनायास ही मिलता है । चाहे वह स्थान असुविधाजनक ही क्यो न हो ।। ४७ ।।

तन्न कदाचिदपि गन्तव्यम् । अह त्वा बुद्धिप्रभावेण रक्षयिष्यामि ।

हिन्दी—अत तुमको अपनी मातृभूमि का परित्याग नही करना चाहिए । मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से तुम्हारी रक्षा करूँगा ।

मण्डूक आह—"भद्रौ ! मम तावदेकैव बुद्धि पलायनपरा । तदहमन्य॰

जलाशयमद्यैव सभार्यो यास्यामि ।" एवमुक्त्वा स मण्डूको रात्रावेवाऽन्यजलाशयं गतः ।

धीवरैरपि प्रभाते आगत्य, जघन्यमध्यमोत्तमजलचरा मत्स्यकूर्ममण्डूककर्कटादयो गृहीताः । तावपि शतबुद्धिसहस्रबुद्धी सभार्यौ पलायमानौ चिरमात्मानं गतिविशेषविज्ञानैः कुटिलचारेण रक्षन्तौ जाले निपतितौ, व्यापादितौ च ।

व्याख्या—भद्रौ=महाशयौ ! पलायनपरा=अन्यत्र गमनपरा । सभार्यं = सपत्नीकः । यास्यामि=गमिष्यामि । धीवरैः=कैवर्तैः । जघन्यमध्यमोत्तमजलचराः = लघुमध्यमोत्तमजलजीवाः, बालमध्यवृद्धजलजीवाः । सभार्यौ=सपत्नीकौ । चिरं=बहुकालं यावत् । गतिविशेषविज्ञानैः =जलतरणज्ञानविशेषैः । कुटिलचारेण=चक्रगमनेन । रक्षन्तौ=त्रायन्तौ । व्यापादितौ=निहतौ ।

हिन्दी—शतबुद्धि के वचन को सुनकर मेढक ने कहा—सज्जनो ! मैं एक बुद्धिवाला हूँ, तो यहाँ से भाग जाना ही उचित समझता हूँ । मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि आज ही रात मे अपनी स्त्री के साथ किसी अन्य जलाशय मे चला जाऊँगा । और यह कहकर वह मेढक उसी दिन रात मे दूसरे तालाब मे चला गया ।

दूसरे दिन सुबह मे उन मल्लाहो ने आकर छोटे-बडे तथा मध्यजाति की मछलियो, कछुओ, मेढको तथा केकडो आदि सभी जलचरो को पकड लिया । शतबुद्धि और सहस्रबुद्धि ने भी अपनी स्त्रियो के साथ इधर-उधर भागते हुए अपनी जलसञ्चरण सम्बन्धी विभिन्न कलाओ की जानकारी के कारण कुटिल गमन द्वारा अपने को बहुत देर तक बचाने की कोशिश की, किन्तु अन्ततोगत्वा वे दोनो जाल मे फँस गये और मार डाले गये ।

अथाऽपराह्णसमये प्रहृष्टास्ते धीवराः स्वगृहं प्रति प्रस्थिताः । गुरुत्वाच्चैकेन शतबुद्धिः स्कन्धे कृतः । सहस्रबुद्धिः प्रलम्बमानो नीयते । ततश्च वापीकण्ठोपगतेन मण्डूकेन तौ तथा नीयमानौ दृष्ट्वा अभिहिता स्वपत्नी—"प्रिये ! पश्य पश्य—

शतबुद्धिः शिरःस्थोऽयं, लम्बते च सहस्रधीः ।
एकबुद्धिरहं भद्रे ! क्रीडामि विमले जले ॥

अतश्च "वरं बुद्धिर्न सा विद्या" यद्भवतोक्तं तत्रेयं मे मतिर्यत् न एकान्तेन बुद्धिरपि प्रमाणम् ।"

सुवर्णसिद्धिः प्राह—यद्यप्येतदस्ति, तथापि मित्रवचनं न लङ्घनीयम् । परं

किं क्रियते, निवारितोऽपि मया न स्थितोऽसि, अतिलौल्यात् विद्याहङ्काराच्च। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—अपराह्णसमये=दिवसावसानसमये। गुरुत्वात्=भाराधिक्यात्। वापीकण्ठोपगतेन=वापीतीरोपविष्टेन। तौ=शतबुद्धिसहस्रबुद्धी। अभिहिता=कथिता। स्वपत्नी=निजभार्या। प्रमाण=कार्यसिद्धौ हेतुभूतम्। न लङ्घनीयम्=नो लङ्घनीयम्। निवारितोऽपि=वर्जितोऽपि। अतिलौल्यात्=अतिलोभात्, विद्याहङ्काराच्च=विद्यागर्वाच्च।

हिन्दी—जब तीसरे पहर प्रसन्न हुये वे केवट अपने घर की ओर लौटने लगे तो भारी होने के कारण उनमे से एक ने शतबुद्धि को अपने शिर पर रख लिया और लम्बा होने से सहस्रबुद्धि को कन्धे से लटकाकर घसीटता हुआ ले जाने लगा। तब वापी के किनारे पर बैठा हुआ मेढक उन दोनो की उस दुर्गति को देखकर अपनी स्त्री से बोला—

प्रिये! देखो, यह शतबुद्धि सिर पर रखा हुआ है और सहस्रबुद्धि लटकता हुआ जा रहा है। हे भद्रे! और एक बुद्धिवाला मैं निर्मल जल मे खेल रहा हूँ।

इसलिए बुद्धि अच्छी, वह विद्या नही, यह आपने जो कहा—उस विषय मे मेरा विचार यह है कि अकेली बुद्धि भी कार्य का साधन नही है।

यह सुनकर सुबुद्धि ने कहा—यद्यपि ऐसा ही है तथापि मित्र का कहना नही टालना चाहिए, किन्तु क्या किया जाय, मेरे द्वारा रोके जाने पर भी तुम अति लोभ और विद्या के घमण्ड से नही माने। अथवा यह ठीक ही कहा गया है-

साधु मातुल! गीतेन, मया प्रोक्तोऽपि न स्थित।
अपूर्वोऽय मणिर्बद्ध सम्प्राप्तं गीतलक्षणम्॥ ४८॥

अन्वय—मातुल! गीतेन साधु, मया प्रोक्तोऽपि न स्थित। (अत) अपूर्वोऽय मणि (इदानी भवता) गीतलक्षण सम्प्राप्तम्॥ ४८॥

व्याख्या—हे मातुल!=मातुर्भ्रात। गीतेन=गानेन। साधु=अलम्। समीचीन त्वया कृतम् धन्योऽसीत्यर्थ अनुचित त्वया कृतमिति यावत्। मया प्रोक्तोऽपि=कथितोऽपि वारितोऽपि त्व न स्थित=न गानाद्विरतोऽभू। अतोऽयमपूर्व=विलक्षण। अदभुत मणि=उलूखलरूप रत्न गले बद्ध, इदानी भवता गीतलक्षणम=गानचिह्नम्। गीतस्य पारितोषिकस्वरूप चिह्नम् सप्राप्तम् सम्यग्लब्धम्। अतो मित्र वचनस्योल्लङ्घन न श्रेयसे भवतीत्यर्थ। कस्यचित् शृगालस्य रासभ मित्र प्रति सस्मित सपरिहासश्चोक्तिरियम्॥ ४८॥

हिन्दी—हे मामा। गाना न गाओ, आपका गाना जरा भी अच्छा नही लगता। इस प्रकार मेरे बार-बार कहने पर भी तुम नही रुके और गाने लगे। तुम्हारे गले मे यह कितना सुन्दर अत्भुत मणि बांध दिया गया है। वस्तुत तुम अब अपने गाने का वास्तविक पुरस्कार पा गये हो ॥ ४८ ॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे हुआ।' तब सुवर्णसिद्धिने कहना आरम्भ किया—

६. रासभशृगाल-कथा

कस्मिश्चिदधिष्ठाने उद्धतो नाम गदभ प्रतिवसति स्म। स सदैव रजकगृहे भारोद्वहनं कृत्वा रात्रौ स्वेच्छया पर्यटति। तत प्रत्यूषे बन्धनभयात्स्वयमेव रजकगृहमायाति। रजकोऽपि ततस्त बन्धनेन नियुनक्ति।

अथ तस्य रात्रौ क्षेत्राणि पर्यटत कदाचिच्छृगालेन सह मैत्री सजाता स च पीवरत्वाद् वृत्तिभङ्ग कृत्वा कर्कटिकाक्षेत्रे शृगालसहित प्रविशति। एव तौ यदृच्छया चिर्भटिकाभक्षण कृत्वा, प्रत्यह प्रत्यूषे स्वस्थान व्रजत ।

अथ कदाचित्तेन मदोद्धतेन रासभेन क्षेत्रमध्यस्थितेन शृगालोऽभिहित — "भो, भगिनीसुत ! पश्य पश्य, अतीव निर्मला रजनी, तदहं गीत करिष्यामि। तत्कथय कतमेन रागेन करोमि ?"

व्याख्या—रजकगृहे—निर्णेजकगृहे। भारोद्वहनम् = वस्त्रादिभारोद्वहनम्। रात्रौ=निशायाम्, स्वेच्छया=यथेच्छम्। पर्यटति=भ्रमति। प्रत्यूषे=प्रात-काले। बन्धनभयात्=बन्धनप्रहारादि-दण्डभयात्। आयाति=आगच्छति। नियुनक्ति=बध्नाति। तस्य=गर्दभस्य। क्षेत्राणि पर्यटत=क्षेत्राणि परिभ्रमत। शृगालेन सह=जम्बूकेन साकम्। पीवरत्वात्=स्थूलत्वात्। वृत्तिभङ्गम्=क्षेत्र-प्राचीरभङ्गम्। कर्कटिका=उर्वारु। तौ=रासभशृगालौ। चिर्भटिका=कर्कटिका। व्रजत=गच्छत। मदोद्धतेन=मदोन्मत्तेन। क्षेत्रमध्यस्थितेन= क्षेत्रान्तर्गतेन। भगिनीसुत=भागिनेय ! निर्मला=गतकल्मषा, धवला। रजनी=रात्रि। गीतम्=गानम्। करोमि=गायामि।

हिन्दी—किसी स्थान मे उद्धत नाम का गदहा रहता था। वह हमेशा धोबी के घर मे दिन भर कपडे का गट्ठर ढोने के बाद रात मे मनमाना इधर उधर घूमता रहता था। सुबह होते ही बांधे जाने या मार खाने के भय से वह प्रतिदिन धोबी के यहां आ जाता था और धोबी भी उसे आते ही बांध दिया करता था।

किसी दिन रात के समय खेतो मे घूमते हुए गधे की एक शृगाल से मित्रता हो गयी। खूब मोटा हो जाने के कारण वह खेत के घेरे को तोडकर उस शृगाल के साथ ककडी के खेत मे घुस जाता था और दोनो भर पेट ककडी खाने के वाद सुबह अपने-अपने स्थानो पर चले जाया करते थे।

किसी दिन उस उन्मत्त गधे ने ककडी के खेत मे खडे-खडे शृगाल से कहा—भानिज ! देखो, यह रात कितनी स्वच्छ है। मैं गाना गाना चाहता हूँ, तो बताओ किस राग से आरम्भ करूँ ?।

स आह—"माम ! किमनेन वृथाऽनर्थप्रचालनेन ? यतश्चौरकर्मप्रवृत्तावावाम्, निभृतैश्च चौरजारैरत्र स्थातव्यम्, उक्त च—

व्याख्या—माम !=मातुल !। अनर्थप्रचालनेन=विपदामन्त्रणेन। चौरकर्मप्रवृत्तौ=स्तेयकर्मणि प्रवृत्तौ। निभृतै =निगूढै। चोरजारै =चौरै, परस्त्रीगामिभिश्च। स्थातव्यम्=भवितव्यम्।

हिन्दी—गदहे की वात सुनकर शृगाल ने कहा—मामा, आपत्ति को व्यर्थ निमन्त्रण देने से क्या लाभ है ? हम लोग यहाँ चोरी करने के लिए आये हैं। चोरो और व्यभिचारियो को चाहिए कि वे शान्त और अपने को छिपाकर रहें। अत मौन रहना ही ठीक है, क्योकि कहा गया है—

कासयुक्तस्त्यजेच्चौर्यं निद्रालुश्चेत्त पुश्चलीम्।
जिह्वालौल्य रुजाक्रान्तो जीवित योऽत्र वाञ्छति ॥ ४९ ॥

अन्वय —य अत्र जीवित वाञ्छति (स) कासयुक्त चौर्यं, निद्रालु पुश्चली, रुजाक्रान्तश्च जिह्वालौल्य त्यजेत् ॥ ४९ ॥

व्याख्या—य =मनुष्य। अत्र=लोके। जीवित=जीवनम्। वाञ्छति=इच्छति, जीवितुमिच्छति। स कासयुक्त —कासेन युक्त कासयुक्त =कासरोगयुक्त कासरोगेणाक्रान्त पुरुष। चौर्यं—चोरस्य कर्म चौर्यं=स्तेयम्। निद्रालु=निद्रातुर। पुश्चली=व्यभिचारिणी स्त्रियम्। रुजाक्रान्त =रोगेणाभिभूत च जिह्वालौल्यम्=रसनाचापल्यम्। त्यजेत्=परित्यजेत्।

अय भाव यो हि मानवो विश्वस्मिन् जीवितुमिच्छति। कासरोगग्रस्ते तस्मिन् चौयकर्म कर्तुं प्रवृत्ते तदानीं तस्य कासोद्गमेन जना॰ जागृयु। निद्रालुश्चौर्यपर पुश्चलीसेवनपरश्च तत्रैव निद्रा प्राप्त मानवै. ज्ञात स्यात्। रोगग्रस्तो जनो जिह्वायाश्चापल्येन लोभादपथ्यं सेवेत। एव सति सर्वत्रानर्थसम्भावनया तेषा कदाचिदपि चौर्यादिक न हितकरं सम्भवतीति भाव ॥ ४९ ॥

हिन्दी—इस ससार मे जो खाँसीवाला हो उसे चोरी नही करनी चाहिए, अधिक सोनेवाले व्यक्ति को परस्त्रीगमन नही करना चाहिए और रोगी व्यक्ति को जीभचटोरी नही करनी चाहिए। अर्थात् जो मनुष्य ससार मे जीना चाहता है उसे ये दोष रहने पर ये कर्म नही करने चाहिए ॥ ४९ ॥

अपरं त्वदीय गीत न मधुरस्वरम्, शङ्खशब्दानुकार दूरादपि श्रूयते। तदत्र क्षेत्रे रक्षापुरुषा सुप्ता. सन्ति। ते उत्थाय वध बन्धन वा करिष्यन्ति। तद्भक्षय तावदमृतमयीश्चिर्भटी। मा त्वमत्र गीतव्यापारपरो भव।"

तच्छ्रुत्वा रासभ आह—"भो, वनाश्रयत्वात्त्व गीतरस न वेत्सि, तेनैतद् ब्रवीषि। उक्त च—

व्याख्या—शङ्खशब्दानुकार=शङ्खध्वनिसदृशम्। रक्षापुरुषा =क्षेत्रपाला। अमृतमयी =अमृततुल्यमधुरा। गीतव्यापार =गानतत्पर। वनाश्रयत्वात्= वयवासित्वात्। गीतरस=सङ्गीतमाधुर्यम्। न वेत्सि=नावगच्छसि।

हिन्दी—दूसरी बात यह है कि आपके गाने का स्वर मधुर नही है। शङ्ख की आवाज के समान दूर से सुनाई पड जाता है। यहाँ खेत मे रखवाले सोये रहते हैं। यदि वे जग जायेंगे तो वध या बन्धन दो मे एक होना अनिवार्य है। अत शान्त होकर इस अमृतमय ककडी को खाओ, व्यर्थ गाने के फेर मे मत पडो। शृगाल की यह बात सुनकर गधे ने कहा—जगली होने के कारण तुम सगीत का रस नही जान सकते हो इसीलिये ऐसा कह रहे हो। देखो, कहा गया है कि—

शरज्ज्योत्स्नाहृते दूर तमसि प्रियसन्निधौ।
धन्याना विशति श्रोत्रे गीतझङ्कारजा सुधा ॥ ५० ॥

अन्वय —तमसि दूर शरज्ज्योत्स्नाहृते नभसि प्रियसन्निधौ धन्याना श्रोत्रे गीतझङ्कारजा सुधा विशति ॥ ५० ॥

व्याख्या—तमसि=अन्धकारे। दूर=दूरदेशपर्यन्तम्। शरज्ज्योत्स्नाहृते—शरदि शरत्काले या ज्योत्स्ना तया हृते दूरीकृते इति शरज्ज्योत्स्नाहृते=शरत्कालीनचन्द्रिकया नाशिते। प्रियसन्निधौ=प्रियजनस्य सामीप्ये च सति। धन्याना= भाग्यशालिनाम्। श्रोत्रे=कर्णे। गीतझङ्कारजा—गीतस्य झकार तालस्वरसमन्वित शब्द ततो जाता समुत्पन्न इति गीतझङ्कारजा=गानतालस्वरसमन्वितसमुत्पन्ना गीतरवोत्था। सुधा=सङ्गीतामृतम्। विशति=प्रविशति। अमृतमयमधुरगीतश्रवणसुख पुण्यवन्त एव पिबन्ति नाकृतपुण्या इति भाव ॥ ५० ॥

हिन्दी—शरत्कालीन चाँदनी से जब रात का अन्धकार दूर हो जाता है

और अपना प्रिय व्यक्ति पास मे खडा रहता है उस समय गाये गये सगीत का अमृतमय रस भाग्यशालियो के ही कान मे पडता है ॥ ५० ॥

शृगाल आह—"माम ! अस्त्येतत्, परं न वेत्सि त्व गीतम्। केवलमुन्नदसि। तत्किं तेन स्वार्थभ्रंशकेन ?"

रासभ आह—"धिग्धिङ्मूर्ख ! किमह न जानामि गीतम् ? तद्यथा तस्य भेदान् शृणु—

व्याख्या—अस्त्येतत्=सत्यमिदम्। न वेत्सि गीतम्=गान न जानासि। उन्नदसि=उच्चै शब्द करोषि। स्वार्थभ्रशकेन=स्वार्थविघातकेन। तस्य भेदान्=गीतस्यावान्तरभेदान्। किमह न जानामि=अपि तु जानाम्येव।

हिन्दी—गधे के दुराग्रह को सुनकर शृगाल ने कहा—मामा ! तुम ठीक कहते हो, किन्तु तुम्हे गाना तो आता नही है, केवल जोर जोर से रेंकते हो। अत व्यर्थ की हानि करने से क्या लाभ है ?

यह सुनकर गधे ने कहा—अरे मूर्ख ! क्या मैं गाना ही नही जानता हूँ। अच्छा तो सगीत के जितने भेद होते हैं उनको मैं सुनाता हूँ सुनो—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनाश्चैकविंशति।
तानास्त्वेकोनपञ्चाशत्तिस्रो मात्रा लयास्त्रय ॥ ५१ ॥

अन्वय—सप्त स्वरा, त्रय ग्रामा, एकविंशति मूर्च्छना, एकोनपञ्चाशत् ताना, तिस्र मात्रा, त्रय लया च ॥ ५१ ॥

व्याख्या—स्वरो नाम श्रुत्यनन्तर जायमानोऽनुरणनात्मक स्निग्ध स्वरविशेष। एव सप्त स्वरा=षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम पञ्चम धैवत निषादनामान सप्त स्वरभेदा सन्ति। त्रय=त्रिसख्याका, ग्रामश्च स्वराणा सन्दोह (एकीभाव) ते च ग्रामा-षड्जग्रामो मध्यमग्रामो गान्धारग्रामश्चेति सङ्केतिता। तथा च ग्रामा=षड्जमध्यमनिषादसज्ञका स्वरसमूहा। एकविंशतिसख्यका। मूर्छना=स्वरस्यारोहावरोहक्रम। एकोनपञ्चाशत्=एकोनपञ्चाशत्सख्याका। ताना=ताला। येन च मूर्च्छनाशेषसश्रया प्रयोगा विस्तार्यन्ते स तान। तिस्र=त्रिसख्याका एव मात्रा भवन्ति। यावता समयेन स्वरो जानुमण्डले परिपतति सा मात्रा=ह्रस्व-दीर्घ प्लुतात्मिका। त्रय एव लया भवन्ति। लयो हि गीतादीना क्रियाकालयो साम्यम्। तथा च सङ्गीत शास्त्रानुसार सप्तस्वरा, त्रयो ग्रामा एकविंशति मूर्च्छना एकोनपञ्चाशत् ताला, तिस्रो मात्रा, त्रयश्च लया भवन्ति ॥ ५१ ॥

हिन्दी—स्वरो के सात भेद होते हैं। स्वरो के तीन समूह होते हैं, जिसको ग्राम कहते है। सगीत की इक्कीस मूर्छनाएँ होती हैं। उनचास ताल होते है। स्वरो की तीन मात्राएँ होती है और तीन ही ताल होते हैं ॥ ५१ ॥

स्थानत्रय यतीना च षडास्यानि रसा नव।
रागा. षट्त्रिंशतिर्भावाश्चत्वारिंशत्तत स्मृता· ॥ ५२ ॥

अन्वय—स्थानत्रय यतीना च, षड् आस्यानि, नव रसा, षड्विंशति रागा, तत चत्वारिंशत् भावा स्मृता ॥ ५२ ॥

व्याख्या—स्थान=स्वनिर्गमस्थानम्। स्थानत्रय=हृदयादूर्ध्वं मूर्द्धंश्चाधस्तात् यत्र हि प्राण सञ्चरति तत् किल स्थानमुच्यते। तच्च उर कण्ठ शिरश्चेति। स्थानत्रय=स्वराणामुत्पत्ते क्षेत्र कथ्यते। तालच्छन्दसोर्ज्ञानाय वाद्यैर्हीन श्रुतिमक्षो य किल विरामो भवति। स एव यतिर्विच्छेदो नाम। यतीना=विरामाणाम्। आस्यानि=मुखानि। तानि चाऽत्र षण्णा रागाणा षड् भवन्ति। षड्ज विहाय षण्णा स्वराणा वा षण्मुखानि सन्ति। रसा=नवरसभेदा शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-भयानक वीर-वीभत्स-अद्‌भुत शान्तनामान। रागा=रागिण्य। षड्विंशति=षड्विंशतिसख्याका तत चत्वारिंशत्=चत्वारिंशत्सख्याका भावा। भावा स्मृता उक्ता सन्ति। ये रसान् भावयन्ति=उद्भावयन्ति ते भावा अभिधीयन्ते। तथाहि विभावै अनुभावै सञ्चारिभिश्च व्यक्त आस्वाद्ययोग्यता नीत स्थायिभावो रसपदवी प्रयाति ॥ ५२ ॥

हिन्दी—स्वरो के तीन उद्‌गम स्थान होते हैं। यति के भी तीन भेद कहे गये हैं। आस्य आरम्भ छ प्रकार के होते हैं। रसो की सख्या नव होती है। रागो के छत्तीस भेद बताये गये हैं और भावो के चालीस भेद होते हैं ॥५२॥

पञ्चाशीत्यधिक ह्येतद् गीताङ्गाना शतं स्मृतम्।
स्वयमेव पुरा प्रोक्त भरतेन श्रुते परम् ॥ ५३ ॥

अन्वय—एतत् हि गीताङ्गाना पञ्चाशीत्यधिक शत स्मृतम्। (एतत् च) श्रुते पर पुरा स्वयमेव भरतेन प्रोक्तम् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—एतत् हि=पूर्वोक्त हि। गीताङ्गाना=गीतावयवानाम्। पञ्चाशीत्यधिक शतम्=शतोत्तर पञ्चाशीति स्मृतम्=उक्तम्। एतच्च श्रुते पर वेदस्य सारभूत तत्त्व श्रवणस्यात्यन्त सुखदम्। पुरा=पूर्वस्मिन् काले। स्वयमेव=निजमुखद्वारेव भरतेन=भरतमुनिना एव प्रोक्त=कथितम् ॥ ५३ ॥

हिन्दी—पञ्चम वेद स्वरूप तथा श्रवण सुखद सगीत के इन एक सौ पचासी भेदो को सगीत के प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि ने स्वय अपने मुख से कहा है ॥५३॥

नान्यद्गीतात्प्रिय लोके देवानामपि दृश्यते।
शुष्कस्नायुस्वराह्लादात् त्र्यक्ष जग्राह रावण ॥ ५४ ॥

अन्वय —लोके देवानामपि गीतात् अन्यत् प्रिय न दृश्यते (यत) रावण शुष्कस्नायुस्वराह्लादात् त्र्यक्ष जग्राह ॥ ५४ ॥

व्याख्या—लोके=भुवने ! देवानामपि=सुराणामपि । गीतात्=गानात् । अन्यत्=द्वितीयम् । किमपि वस्तु । प्रिय=मन सन्तोषदायक मनोहरम् । न दृश्यते=नहि विलोक्यते । यतो हि रावण =दशाननो लङ्काधिपति । शुष्कस्नायुस्वराह्लादात् शुष्का =तप क्लेशात् शेष गता स्नायवो=वस्नसा अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिबन्धनरूपा यस्य स शुष्कस्नायु =कण्ठ तस्मादुत्पन्नो य स्वर –गीतशब्द तेन आह्लाद =आनन्द तस्मात् शुष्कस्नायुस्वराह्लादात्=तन्त्रीस्वरालापात् त्र्यक्ष–त्रीणि अक्षीणि यस्य स त्र्यक्ष. त त्र्यक्ष=त्रिनेत्रम् शिव भगवन्त सदाशिव जग्राह=प्रसादयामास । नीरसेनापि स्वरेण स्तुतिगीतिं कृत्वा दशाननो भगवन्तमाशुतोष प्रसाद्य ततो वर लब्धवान् । अतो देवा अपि गानप्रिया भवन्तीत्यत्र नास्ति कश्चन सन्देहलेश ॥ ५४ ॥

हिन्दी—मनुष्यो की तो बात ही छोड दो, देवताओ को भी सगीत से बढकर कोई वस्तु प्रिय नही है । रावण ने तपस्या के क्लेश से सूखे नीरस कण्ठ के स्वरालाप से ही भगवान् शङ्कर को सन्तुष्ट किया था ॥ ५४ ॥

तत्कथ भगिनीसुत ! मामनभिज्ञ वदन्निवारयसि ?"

शृगाल आह—"माम ! यद्येव तदह यावद् वृत्तेर्द्वारस्थित. क्षेत्रपालमव लोकयामि, त्व पुन स्वेच्छया गीत कुरु।"

तथाऽनुष्ठिते रासभरटनमाकर्ण्य क्षेत्रप क्रोधात् दन्तान्घर्षयन् प्रधावित । यावद्रासभो दृष्टस्तावल्लगुडप्रहारैस्तथा हतो, यथा प्रताडितो भूपृष्ठे पतित । ततश्च सच्छिद्रमुलूखल तस्य गले बद्ध्वा क्षेत्रपाल प्रसुप्त । रासभोऽपि स्वजातिस्वभावाद्गतवेदन क्षणेनाऽभ्युत्थित । उक्त च—

व्याख्या—भगिनीसुत !=भागिनेय ! अनभिज्ञ=अज्ञातारम् । निवारयसि= प्रतिषेधयसि । वृत्ते =वेष्टनस्य क्षेत्ररोधकस्य । रासभरटम्=गर्दभरवम् । क्षेत्रप= क्षेत्रपाल । प्रताडित =हत । भूपृष्ठे=पृथिव्याम् । गतवेदन =विगतदु ख । अभ्युत्थित =उत्थित । स्वजातिस्वभावात्=निजजातिप्रकृते ।

हिन्दी—सगीत के पूर्वोक्त भेदो को बताकर गधे ने कहा—'इतना जानते हुए भी मुझे अनभिज्ञ कहकर क्यो मना कर रहे हो ?'

इसपर शृगाल ने उत्तर दिया—'मामा ! यदि ऐसी बात है तो मैं घेरे से बाहर बैठकर खेत के रखवालो को देखता हूँ, आप निश्चिन्त होकर गाइए ।'

शृगाल के चले जाने के बाद गधे ने जोर जोर से रेंकना शुरू कर दिया। उसकी आवाज सुनकर क्रुद्ध क्षेत्रपाल अपने दांतो को पीसता हुआ दौडा । खेत मे पहुँचकर जब उसने गधे को देखा तो डण्डे से इस प्रकार पीटना शुरू किया कि वह गधा मार खाकर वही धराशायी हो गया । जी भर पीटने के बाद क्षेत्रपाल ने छेदवाली उलूखल को लाकर उसके गले मे बांध दिया और पुन जाकर सो गया । क्षेत्रपाल के जाते ही वह गधा अपने जातिगत स्वभाव के कारण उस मार को भूलकर तत्काल उठकर खडा हो गया । कहा भी गया है कि—

सारमेयस्य चाऽश्वस्य रासभस्य विशेषत ।
मुहूर्तात्परतो न स्यात्प्रहारजनिता व्यथा ।। ५५ ।।

अन्वय—सारमेयस्य अश्वस्य च विशेपत रासभस्य प्रहारजनिता व्यथा मुहूर्तात् परत न स्यात् ।। ५५ ।।

व्याख्या—सारमेयस्य=कुक्कुरस्य । अश्वस्य=घोटकस्य । विशेपत =एतदुभयापेक्षया विशेषरूपेण रासभस्य=गर्दभस्य च प्रहारजनिता=ताडनोत्पन्ना । व्यथा =पीडा । मुहूर्तात्=घटिकाद्वयात । परत =अनन्तरम् । न स्यात्=न भवेत् । सारमेयादयो हि न चिरकालपर्यन्त प्रहारपीडामनुभवन्तीति भाव ।। ५५ ।।

हिन्दी—कुत्ते, घोडे तथा विशेपकर गधे की मारजनित पीडा केवल कुछ ही क्षणो तक रहती है ।। ५५ ।।

ततस्तमेवोलूखलमादाय वृत्ति चूर्णयित्वा पलायितुमारब्ध । अत्रान्तरे शृगालोऽपि दूरादेव दृष्ट्वा सस्मितम् आह—

व्याख्या—वृत्ति चूर्णयित्वा=बन्धन विदार्य । सस्मित=प्रहसन् । आह= अकथयत् ।

हिन्दी—गधे ने उलूखल के साथ खेत के घेरे को तोडकर वहां से भागना शुरू कर दिया । शृगाल ने दूर से ही जब उसको इस प्रकार भागते हुए देखा तो मुस्कराकर कहा—

साधु मातुल ! गीतेन, मया प्रोक्तोऽपि न स्थित. ।
अपूर्वोऽयं मणिबंद्ध साम्प्रत गीतलक्षण. ।। ५६ ।।

अन्वय—मातुल ! गीतेन साधु (एव) मया प्रोक्त. अपि (भवान्) न स्थित । अत एव साम्प्रत गीतलक्षण अपूर्व , अय मणि (भवता) बद्ध ॥ ५६ ॥

व्याख्या—मातुल !=माम ! गीतेन=गानेन, साधु=व्यर्थं गीत न गेय भवता इत्येव मया प्रोक्त अपि वारितोऽपि भवान् न स्थित स्वदुराग्रहे आरूढ । अत एव साम्प्रतम्=इदानीम् । गीतलक्षण =गीतस्य लक्षण पुरस्कार यस्य स गीत-लक्षण गीतपुरस्काररूपेण । अपूर्वं =अद्भुत अय मणि =इद रत्न भवता = त्वया बद्ध =त्वगलालङ्कार कृत । अनवसरदुराग्रहिणामेषैव दशा भवति ॥५६॥

हिन्दी—मैंने तो कितना मना किया कि गाना रहने दो, किन्तु मेरे मना करने पर भी तुमने गाना गाया ही । देखो, यह कितना सुन्दर मणि तुम्हारे गले मे बांध दिया गया है । वस्तुत तुमको गाने का समुचित पुरस्कार मिला है ॥ ५६ ॥

"तद्भवानपि मया वार्यमाणोऽपि न स्थित ।"

तत् श्रुत्वा चक्रधर आह–"भो मित्र, सत्यमेतत् ।" अथवा साध्विदमुच्यते–

हिन्दी—इस कथा को सुनाने के पश्चात् सुवर्णसिद्धि ने कहा—'आप भी मेरे मना करने पर नही रुके थे ।'

यह सुनकर चक्रधर ने कहा—'मित्र ! सत्य कहते हो ।' अथवा किसी ने ठीक ही कहा है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा मित्रोक्त न करोति य ।
स एव निधन याति, यथा मन्थरकौलिक ॥ ५७ ॥

अन्वय —यस्य स्वय प्रज्ञा नास्ति, य मित्रोक्त न करोति, स एव निधन याति यथा मन्थरकौलिक ॥ ५७ ॥

व्याख्या—यस्य=पुरुषस्य । स्वय=स्वत । प्रज्ञा=बुद्धि । नास्ति=न विद्यते । यश्च पुरुष मित्रोक्त = सुहृत्कथितम् । न करोति=नानुतिष्ठति । स= पुरुष निधन=नाश । याति=गच्छति । यथा=येन प्रकारेण । मन्थरकौलिक = मन्थरो नाम कश्चन तन्तुवायो मन्दबुद्धिर्मित्रस्य वचनमुपेक्ष्य नाश गतवानतो मन्दबुद्धिना पुसा मित्रोक्त नोपेक्षणीयमिति भाव ॥ ५७ ॥

हिन्दी—जो स्वय बुद्धिहीन है ही, मित्र का कहना भी नहीं मानता है, वह व्यक्ति मन्थर नामक जुलाहे की तरह मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

सुवर्णसिद्धिराह—'कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' तब उसने कहना आरम्भ कि

७. मन्थरकौलिक-कथा

कस्मिश्चिदधिष्ठाने मन्थरको नाम कौलिक प्रतिवसति स्म। तस्य कदाचित् पटकर्माणि कुर्वत सर्वपटकर्मकाष्ठानि भग्नानि। तत स कुठारमादाय वने काष्ठार्थं गत। स च समुद्रतटे यावद् भ्रमन् प्रयात तावत्तत्र शिशपापादपस्तेन दृष्ट। ततश्चिन्तितवान्—"महानयं वृक्षो दृश्यते। तदनेन कर्तितेन प्रभूतानि पटकर्मोपकरणानि भविष्यन्ति।" इत्यवधार्य तस्योपरि कुठारमुत्क्षिप्तवान्।

व्याख्या—कौलिक=तन्तुवाय। पटकर्माणि=वस्त्रनिर्माणकार्याणि। सर्वपटकर्मकाष्ठानि=वस्त्रनिर्माणक्षमानि, तुरीवेमादीनि उपकरणानि। भग्नानि= त्रुटितानि। कुठारमादाय=परशु गृहीत्वा। तत्र=समुद्रतीरे। शिशपापादप= शिशपानामकतरु। कर्तितेन=छिन्नेन। पटकर्मोपकरणानि=तुरीवेमादीनि वस्त्रनिर्माणोपकरणानि। अवधार्य=विचार्य। तस्योपरि=शिशपावृक्षोपरि। उत्क्षिप्तवान्=प्रक्षिप्तवान्।

हिन्दी—किसी नगर मे मन्थरक नाम का जुलाहा रहता था। एक दिन कपडा बनाते समय उसके कपडा बनाने के सभी औजार टूट गये। तब वह कुल्हाडी लेकर लकडी काटने के लिए वन मे गया। इधर-उधर घूमता हुआ जैसे ही सागर के किनारे पहुँचा वैसे ही उसने एक शीशम का पेड देखा। तब उसने सोचा कि यह पेड बहुत बडा दिखाई पड रहा है। इसके काटने से पर्याप्त उपकरण तैयार हो सकते है। ऐसा सोचकर उसने उस पर कुल्हाडी चलायी।

अथ तत्र वृक्षे कश्चिद् व्यन्तर. समाश्रित आसीत्। अथ तेनाभिहितम्—"भो मदाश्रयोऽयं पादप सर्वथा रक्षणीय। यतोऽहमत्र महासौख्येन तिष्ठामि, समुद्रकल्लोलस्पर्शनाच्छीतवायुनाप्यायित।"

कौलिक आह—"भो! किमहं करोमि, दारुसामग्रीं विना मे कुटुम्बं बुभुक्षया पीड्यते। तस्मादन्यत्र शीघ्रं गम्यताम्। अहमेनं कर्तयिष्यामि।"

व्यन्तर आह—"भो.! तुष्टस्तवाऽहम्। तत्प्रार्थ्यतामभीष्टं किञ्चित्। रक्षैनं पादपम्" इति।

कौलिक आह—"यद्येवं तदहं स्वगृहं गत्वा स्वमित्रं, स्वभार्यां च पृष्ट्वा आगमिष्यामि, ततस्त्वया देयम्।"

व्याख्या—व्यन्तर=यक्ष। समाश्रित=स्थित। तेन=व्यन्तरेण। मदाश्रयोऽयं=मम निवासभूत। सर्वथा=सर्वोपायेन। सौख्येन=सुखेन। समुद्रकल्लोल-

स्पर्शात् = सागरतरङ्गसम्पर्कात् । शीतवायुना = शीतवातेन । आप्यायित = सन्तुष्ट । दारुसामग्री विना = काष्ठोपकरण विना । कुटुम्ब = कलत्रादिकम् । बुभुक्षया = भोक्तुमिच्छया । तुष्ट = प्रसन्न । अभीष्ट = स्वाभिमत वस्तु । ततस्त्वया देयम् = पृष्ट्वा समागते सति प्रदातव्यम् ।

हिन्दी—उस पेड पर एक यक्ष रहता था । वृक्ष को काटते हुए देखकर उस यक्ष ने कहा—'मै इस पेड पर रहता हूँ। तुम्हे इस वृक्ष की रक्षा करनी चाहिए । इस वृक्ष को तुम नही काट सकते हो, क्योकि मै यहां समुद्र की लहरो के सम्पर्क से शीतल वायु का आनन्द लेकर सुखपूर्वक निवास करता हूँ ।'

कौलिक ने विनयपूर्वक कहा—'महाशय ! मै क्या करूँ, वस्त्र बुनने के लिए आवश्यक काष्ठ साधनो (तुरी, वेमा आदि) के अभाव मे मेरा परिवार भूखो मर रहा है । आप कृपया कही अन्यत्र चले जाइए, मैं इस वृक्ष को अवश्य काटूंगा ।'

कौलिक की उक्त बात सुनकर यक्ष ने कहा—'मै तुमपर प्रसन्न हूँ । तुम मुझसे कोई अभिलषित वर मांगो और इस पेड की रक्षा करो ।'

कौलिक ने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो मै अपने घर जाकर अपने मित्र और अपनी स्त्री से पूछ लेता हूँ, फिर मेरे लौटने पर वर दीजिएगा ।'

अथ "तथा" इति व्यन्तरेण प्रतिज्ञाते, स कौलिक प्रहृष्ट स्वगृह प्रति निवृत्तो यावदग्रे गच्छति, तावद् ग्रामप्रवेशे निजसुहृद नापितमपश्यत् । तत तस्य व्यन्तरवाक्य निवेदयामास–यत्—"अहो मित्र ! मम कश्चिद् व्यन्तर सिद्ध । तत्कथय किं प्रार्थये ? अह त्वा प्रष्टुमागत ।

नापित आह—"भद्र ! यद्येव तद्राज्य प्रार्थयस्व, येन त्व राजा भवसि, अह त्वन्मन्त्री । द्वावपीह सुखमनुभूय, परलोकसुखमनुभवाव ।

उक्तञ्च—

व्याख्या—अथ = कौलिकस्य प्रार्थनानन्तरम् । तथा = तथाऽस्तु । प्रतिज्ञाते = कथिते । निवृत्त = परावर्तित । ग्रामप्रवेशे = पुरप्रवेशे । निजसुहृद = स्वमित्रम् । तस्य = नापितस्य । सिद्ध = सन्तुष्ट । द्वौ = आवाम् । सुखमनुभूय = आनन्दमनुभूय । परलोकसुखम् = आनन्दसुखम् । अनुभवाव = अनुभव कुर्व ।

हिन्दी—कौलिक की बात सुनकर यक्ष ने 'अच्छा, जाओ' कहकर अनुमति दे दी । बाद जुलाहा खुश होकर अपने घर की ओर लौट गया । मार्ग मे गांव के बाहर ही अपने मित्र एक नाई को आते देखा और यक्ष की —

बात को उससे कह सुनाया। और कहा—मित्र, मेरे ऊपर एक यक्ष खुश हो गया है, उसने मुझसे वरदान माँगने को कहा है, तो बताओ, मैं उससे क्या माँग लूँ। यही पूछने के लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ।'

नाई ने कहा—'मित्र ! यदि ऐसी बात है, तो राज्य माँग लो, जिससे तुम राजा हो जाओ और मैं तुम्हारा मन्त्री बन जाऊँगा। दोनो यहाँ सुख भोगकर स्वर्ग मे भी सुख भोगेंगे।' कहा भी गया है—

राजा दानपरो नित्यमिह कीर्तिमवाप्य च।
तत्प्रभावात्पुन· स्वर्गं स्पर्धते त्रिदशै. सह ॥ ५८ ॥

अन्वय·—नित्य दानपरो राजा इह कीर्तिमवाप्य तत्प्रभावात् पुन स्वर्गं त्रिदशै सह स्पर्धते ॥ ५८ ॥

व्याख्या—नित्य=निरन्तरम्। दानपर =दानपरायण । राजा=नृपति । इह=ससारे। कीर्तिमवाप्य=यशो लब्ध्वा। पुन =भूय । तत्प्रभावात्=नित्यदानसामर्थ्यात्। त्रिदशै =देवै । सह=साकम्। स्पर्धते=स्पर्धां करोति, मोदते इत्यर्थं । धर्मिष्ठो राजा भूलोकसुखमनुभूय स्वर्गलोकसुखान्यपि भोक्तु प्रभवतीति भावः ॥ ५८ ॥

हिन्दी—हमेशा दान देनेवाला राजा इस लोक मे यश को प्राप्त कर उसके प्रभाव से फिर स्वर्ग मे भी देवताओ के साथ होड करता है। अर्थात् सुखपूर्वक विचरता है ॥ ५८ ॥

कौलिक आह—"अस्त्येतत् तथापि गृहिणीं पृच्छामि।"

स आह—"भद्र ! शास्त्रविरुद्धमेतत् यत्स्त्रिया सह मन्त्रः। यतस्ता. स्वल्पमतयो भवन्ति। उक्तञ्च—

व्याख्या—अस्त्येतत्=उचितमेतत्। गृहिणी=भार्या। शास्त्रविरुद्ध=शास्त्रप्रतिषिद्धम्। मन्त्र =परामर्श । ता =स्त्रिय । स्वल्पमतय =अल्पबुद्धय ।

हिन्दी—जुलाहे ने कहा—'मित्र ! यद्यपि तुम ठीक कहते हो, फिर भी अपनी पत्नी से परामर्श कर लेना आवश्यक समझता हूँ। अत उससे पूछ लेता हूँ।' यह सुन नाई ने कहा—'मित्र ! स्त्री से परामर्श लेना शास्त्रविरुद्ध है, क्योंकि स्त्रियाँ स्वाभाविक रूप से कम बुद्धिवाली होती हैं।' कहा भी गया है—

भोजनाच्छादने दद्यादृतुकाले च सङ्गमम्।
भूषणाद्य च नारीणा न ताभिर्मन्त्रयेत्सुधीः ॥ ५९ ॥

अन्वय —सुधी नारीणा भोजनाच्छादने भूषणाद्य (दद्यात्) ऋतुकाले सङ्गम च दद्यात् (किन्तु) ताभि (सह), न मन्त्रयेत् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—सुधी =विद्वान् पुरुष । नारीणा=स्त्रीभ्य । भोजनाच्छादने= अन्नवस्त्रे । भूषणाद्य =भूषणालङ्कारादिक च । दद्यात्=प्रयच्छेत् अन्नवस्त्रालङ्कारादिदानेन ता सन्तोषयेदित्यर्थं । ऋतुकाले=ऋतौ प्राप्ते समागमयोग्यकाले । सङ्गम=समागम च दद्यात्=समर्पयेत् । किन्तु=परन्तु । ताभि = स्त्रीभि सह, न मन्त्रयेत्=गुप्तपरामर्शादिक न कुर्यात् । रहस्यभङ्गभिया विद्वद्भि भार्यया सह मन्त्रणा न कर्तव्येति भाव ॥ ५९ ॥

हिन्दी—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वे स्त्रियो को भोजन एव वस्त्र दे, ऋतुकाल मे गर्भाधान के समय उन्हे सहवास का सुख दें तथा गहने आदि आवश्यक पदार्थ भी उन्हे दें, किन्तु उनके साथ कभी परामर्श न करें ॥ ५९ ॥

यत्र स्त्री , यत्र कितवो, बालो यत्र प्रशासिता ।
तद्गृहं क्षयमायाति, भार्गवो हीदमब्रवीत् ॥ ६० ॥

अन्वय—यत्र स्त्री , यत्र कितव , यत्र बाल (वा) प्रशासिता तद् गृह क्षयम् आयाति हि इद भार्गव अब्रवीत् ॥ ६० ॥

व्याख्या—यत्र =यस्मिन् गृहे । स्त्री=योषित् । यत्र=यस्मिन् गृहे । कितव = धूर्त , यत्र वा बाल =बालक , शिशु एषु अन्यतम कोऽपि प्रशासिता=नियन्त्रक व्यवस्थापको वर्तते । तद् गृहम्=गेहम् । क्षय=नाशम् । आयाति=प्राप्नोति, विनश्यति । हि =निश्चयेन इद=इत्यम् । एतत्किल वचनम् । भार्गव =भृगुपुत्र शुक्राचार्य । अब्रवीत्=अकथयत् । अप्रौढबुद्धिभि शिशु धूर्त-स्त्रीभि कृत शासन गृहस्य नाशायैव भवति, अतो यत्र नारीपरामर्शदात्री, कितव परामर्शदाता, बालकश्च नियन्ता भवति तत्कार्यं नून विनश्यतीत्यर्थ ॥ ६० ॥

हिन्दी—क्योकि जिस घर मे स्त्री का प्राधान्य होता है, जहां धूर्त, जुआडी आदि सलाह देते है और जहां बालक शासन करने वाला होता है निश्चय ही वह घर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। यह शुक्राचार्य ने अपने नीतिशास्त्र मे कहा है ॥ ६० ॥

तावत्स्यात्सुप्रसन्नास्यस्तावद् गुरुजने रत ।
पुरुषो योषिता यावन्न शृणोति वचो रह ॥ ६१ ॥

अन्वय —पुरुष यावत् रह योषिता वच न शृणोति तावत् सुप्रसन्नास्य (तावत्) गुरुजने रत स्याद् ॥ ६१ ॥

व्याख्या—पुरुष =जन । यावत्=यावत्कालपर्यन्तम् । रह =एकान्ते । योषिता=स्त्रीणाम् । वच =वचनम् । न शृणोति=नाकर्णयति । तावत्=तदवधि । सुप्रसन्नास्य –सुप्रसन्न आस्यो यस्य स सुप्रसन्नास्य =प्रसन्नमुख । गुरुजने= श्रेष्ठजने च रक्त =अनुरक्त । स्यात्=भवेत् । नारीवचनविमोहितानां पुंसां मानसिक' सद्भावो विनश्यति । अतो नारीवचन सदा न श्रोतव्यमिति भाव ॥६१॥

हिन्दी—पुरुष जब तक एकान्त मे स्त्री की बात नही सुनता, तभी तक वह प्रसन्न रहता है और अपने बडे व्यक्तियो मे अनुरक्त रहता है ॥ ६१॥

एता स्वार्थपरा नार्य, केवल स्वसुखे रता ।
न तासां वल्लभ कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥ ६२ ॥

अन्वय —एता नार्य स्वार्थपरा केवल स्वसुखे रता (भवन्ति) तासा स्वसुखं विना कोऽपि सुतोऽपि वल्लभो न (भवति) ॥ ६२ ॥

व्याख्या—एता नार्य =इमा॰ स्त्रिय । स्वार्थपरा =स्वसुखपरायणा केवल स्वसुखे रता =आत्मन सौख्ये दत्तचित्ता भवन्ति । तासां=स्त्रीणाम् । स्वसुखं विना=आत्मन सुख विहाय । सुतोऽपि =पुत्रोऽपि । वल्लभ =प्रियो न भवति । तथा च निरन्तरमात्मसुखसाधनपरायणानां नारीणां प्रेम लोकेऽतिदुर्लभमित्यर्थं ॥ ६२ ॥

हिन्दी—ये स्त्रियाँ स्वभाव से परम स्वार्थी होती है । केवल अपना ही सुख देखती हैं । इनका कोई भी प्रिय नही होता है । यहाँ तक कि अपना औरस पुत्र भी स्वात्मसुख के अभाव मे प्रिय नही लगता ॥ ६२ ॥

कौलिक आह—"तथाऽपि प्रष्टव्या सा मया । यत पतिव्रता सा । अपरं, तामपृष्ट्वाऽहं न किञ्चित्करोमि ।" एव तमभिधाय सत्वर गत्वा तामुवाच—"प्रिये ! अद्यास्माक कश्चिद् व्यन्तर सिद्ध । स वाञ्छित प्रयच्छति । तदहं त्वां प्रष्टुमागत' । तत्कथय किं प्रार्थये ? एष तावन्मम मित्र नापितो वदत्येवं यत्—"राज्य प्रार्थयस्व" । साऽऽह—आर्यपुत्र ! का मतिर्नापितानाम् ? तन्न कार्यं तद्वच । उक्तञ्च—

व्याख्या—सा =मम भार्या । पतिव्रता =पतिपरायणा साध्वी । त= नापितम् । सत्वर=शीघ्रम् । तां=भार्याम् । स =व्यन्तर । वाञ्छित= मनोरथम् । का मति =का बुद्धि । तद्वच =नापितस्य वचनम् ।

हिन्दी—जुलाहे ने कहा—'फिर भी मैं उससे अवश्य पूछूंगा, क्योकि वह पतिव्रता है । इसके अतिरिक्त एक और बात है कि मैं बिना उससे परामर्श

अन्वय —सुधी नारीणा भोजनाच्छादने भूषणाद्य (दद्यात्) ऋतुकाले सङ्गम च दद्यात् (किन्तु) ताभि (सह) न मन्त्रयेत् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—सुधी =विद्वान् पुरुष । नारीणा=स्त्रीभ्य । भोजनाच्छादने= अन्नवस्त्रे । भूषणाद्य =भूषणालङ्कारादिक च । दद्यात्=प्रयच्छेत् अन्नवस्त्रालङ्कारादिदानेन ता सन्तोषयेदित्यर्थ । ऋतुकाले=ऋतौ प्राप्ते समागमयोग्यकाले । सङ्गम=समागम च दद्यात्=समर्पयेत् । किन्तु=परन्तु । ताभि = स्त्रीभि सह, न मन्त्रयेत्=गुप्तपरामर्शादिक न कुर्यात । रहस्यभङ्गभिया विद्वद्भि भार्यया सह मन्त्रणा न कर्तव्येति भाव ॥ ५९ ॥

हिन्दी—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वे स्त्रियो को भोजन एव वस्त्र दें, ऋतुकाल मे गर्भाधान के समय उन्हे सहवास का सुख दें तथा गहने आदि आवश्यक पदार्थ भी उन्हे दे, किन्तु उनके साथ कभी परामर्श न करें ॥ ५९ ॥

यत्र स्त्री , यत्र कितवो, बालो यत्र प्रशासिता ।
तद्गृह क्षयमायाति, भार्गवो हीदमब्रवीत् ॥ ६० ॥

अन्वय—यत्र स्त्री , यत्र कितव , यत्र बाल (वा) प्रशासिता तद् गृह क्षयम् आयाति हि इद भार्गव अब्रवीत् ॥ ६० ॥

व्याख्या—यत्र =यस्मिन् गृहे । स्त्री=योषित् । यत्र=यस्मिन् गृहे । कितव = धूर्त , यत्र वा बाल=बालक , शिशु एषु अन्यतम कोऽपि प्रशासिता=नियन्त्रक व्यवस्थापको वर्तते । तद् गृहम्=गेहम् । क्षय=नाशम् । आयाति=प्राप्नोति, विनश्यति । हि =निश्चयेन इद=इत्थम् । एतत्किल वचनम् । भार्गव =भृगुपुत्र शुक्राचार्य । अब्रवीत्=अकथयत् । अप्रौढबुद्धिभि शिशु धूर्त स्त्रीभि कृत शासन गृहस्य नाशायैव भवति, अतो यत्र नारीपरामर्शदात्री, कितव परामर्शदाता, बालकश्च नियन्ता भवति तत्कार्यं नून विनश्यतीत्यर्थ ॥ ६० ॥

हिन्दी—क्योकि जिस घर मे स्त्री का प्राधान्य होता है, जहाँ धूर्त, जुआडी आदि सलाह देते है और जहाँ बालक शासन करने वाला होता है निश्चय ही वह घर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । यह शुक्राचार्य ने अपने नीतिशास्त्र मे कहा है ॥ ६० ॥

तावत्स्यात्सुप्रसन्नास्यस्तावद् गुरुजने रत ।
पुरुषो योषिता यावन्न शृणोति वचो रह ॥ ६१ ॥

अन्वय —पुरुष यावत् रह योषिता वच न शृणोति तावत् सुप्रसन्नास्य (तावत्) गुरुजने रत स्यात् ॥ ६१ ॥

व्याख्या—पुरुष =जन । यावत्=यावत्कालपर्यन्तम् । रह =एकान्ते । योषिता=स्त्रीणाम् । वच =वचनम् । न शृणोति=नाकर्णयति । तावत्=तदवधि । सुप्रसन्नास्य –सुप्रसन्न आस्यो यस्य स सुप्रसन्नास्य =प्रसन्नमुख । गुरुजने= श्रेष्ठजने च रक्त =अनुरक्त । स्यात्=भवेत् । नारीवचनविमोहितानां पुंसां मानसिक· सद्भावो विनश्यति । अतो नारीवचनं सदा न श्रोतव्यमिति भाव ॥६१॥

हिन्दी—पुरुष जब तक एकान्त मे स्त्री की बात नही सुनता, तभी तक वह प्रसन्न रहता है और अपने बडे व्यक्तियो मे अनुरक्त रहता है ॥ ६१॥

एता स्वार्थपरा नार्य., केवलं स्वसुखे रता ।
न तासां वल्लभः कोऽपि सुतोऽपि स्वसुखं विना ॥ ६२ ॥

अन्वय —एता नार्य स्वार्थपरा केवल स्वसुखे रता (भवन्ति) तासा स्वसुख विना कोऽपि सुतोऽपि वल्लभो न (भवति) ॥ ६२ ॥

व्याख्या—एता नार्य =इमा स्त्रिय । स्वार्थपरा =स्वसुखपरायणा केवल स्वसुखे रता =आत्मन सौख्ये दत्तचित्ता भवन्ति । तासा=स्त्रीणाम् । स्वसुखं विना=आत्मन. सुखं विहाय । सुतोऽपि =पुत्रोऽपि । वल्लभ =प्रियो न भवति । तथा च निरन्तरमात्मसुखसाधनपरायणाना नारीणा प्रेम लोकेऽतिदुर्लभमित्यर्थं ॥ ६२ ॥

हिन्दी—ये स्त्रियाँ स्वभाव से परम स्वार्थी होती है । केवल अपना ही सुख देखती हैं । इनका कोई भी प्रिय नही होता है । यहाँ तक कि अपना औरस पुत्र भी स्वात्मसुख के अभाव मे प्रिय नही लगता ॥ ६२ ॥

कौलिक आह—"तथाऽपि प्रष्टव्या सा मया । यत पतिव्रता सा । अपरं, तामपृष्ट्वाऽहं न किञ्चित्करोमि ।" एव तमभिधाय सत्वर गत्वा तामुवाच— "प्रिये ! अद्यास्माक कश्चिद् व्यन्तर· सिद्ध । स वाञ्छित प्रयच्छति । तदहं त्वा प्रष्टुमागत· । तत्कथय किं प्रार्थये ? एष तावन्मम मित्रं नापितो वदत्येवं यत्—"राज्य प्रार्थयस्व" । साऽऽह—आर्यपुत्र ! का मतिर्नापितानाम् ? तन्न कार्यं तद्वच । उक्तञ्च—

व्याख्या—सा =मम भार्या । पतिव्रता =पतिपरायणा साध्वी । त = नापितम् । सत्वर=शीघ्रम् । ता=भार्याम् । स =व्यन्तर । वाञ्छित= मनोरथम् । का मति =का बुद्धि । तद्वच =नापितस्य वचनम् ।

हिन्दी—जुलाहे ने कहा—'फिर भी मैं उससे अवश्य पूछूंगा, क्योकि वह पतिव्रता है । इसके अतिरिक्त एक और बात है कि मैं बिना उससे परामर्श

लिये कोई भी कार्य नही करता हूँ।' इस तरह नाई से कहकर उसने अपनी स्त्री के पास जाकर कहा—'प्रिये ! आज मुझपर एक यक्ष प्रसन्न हो गया है। वह मुझे वरदान देना चाहता है, तो बताओ, उससे क्या माग लूँ, यही पूछने के लिए तुम्हारे पास मैं आया हूँ। मेरा मित्र नाई कहता है कि राज्य मांगो।' तब उसकी स्त्री ने कहा—'आर्यपुत्र ! नाई की क्या बुद्धि होती है, उसका कहना किसी तरह न मानियेगा।' कहा भी गया है—

चारणैर्वन्दिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैरपि ।
न मन्त्र मतिमान्कुर्यात्सार्धं भिक्षुभिरेव च ॥ ६३ ॥

अन्वय—मतिमान् चारणै वन्दिभि नीचै नापितै च बालकै च भिक्षुभि अपि सार्द्धं मन्त्र न कुर्यात् ॥ ६३ ॥

व्याख्या—मतिमान्=बुद्धिमान्। चारणै=एतन्नामकै प्रसिद्धैर्नटविशेषै। राजवशप्रशसकै। वन्दिभि=स्तुतिपाठकै। नीचै=अधमैर्दुष्टै। नापितै=क्षुरकर्मकारिभि। बालकैरपि=स्वल्पवयस्कैरपि तथा भिक्षुभि=भिक्षावृत्तिभि क्षपणकै पुरुषै सार्द्धं मन्त्र न कुर्यात्=न मन्त्रयेत्। पूर्वोक्तैरेभि सह कृतो विचार न स्थिरो भवतीत्यर्थ ॥ ६३ ॥

हिन्दी—चारणो, बन्दीजनो, अधम दुष्ट व्यक्तियो, बालको एव सन्यासियो से बुद्धिमान् व्यक्ति को परामर्श नही करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अपर महती क्लेशपरम्परैषा राज्यस्थिति सन्धिविग्रहयानासनसश्रयद्वैधीभावादिभि कदाचित्पुरुषस्य सुख न प्रयच्छतीति। यत—

व्याख्या—अपर=किञ्च, क्लेशपरम्परा=कष्टपरिपाटी। राज्यस्थिति=राज्यव्यवस्था। सन्धि=शत्रुभि सन्धानम्। विग्रह=युद्धम्। यान=युद्धाक्रमणम्। आसनम्=युद्धप्रतीक्षायामवस्थानम्। सश्रय=अन्याश्रय। द्वैधीभाव=भेद। न प्रयच्छति=न ददाति।

हिन्दी—इसके अतिरिक्त राज्य अत्यन्त कष्टकारक है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय, द्वैधीभाव आदि राज्य का कार्य अत्यन्त कष्टप्रद होता है। वह कभी भी राजा को सुख नही देता। क्योंकि—

यदैव राज्ये क्रियतेऽभिषेकस्तदैव याति व्यसनेषु बुद्धि ।
घटा नृपाणामभिषेककाले सहाऽम्भसैवापदमुद्गिरन्ति ॥ ६४ ॥

अन्वय—यदैव राज्ये अभिषेक क्रियते तदैव बुद्धि व्यसनेषु याति, नृपाणा अभिषेककाले एव घटा अम्भसा सह आपदम् उद्गिरन्ति ॥

व्याख्या—यदैव =यस्मिन्नेव काले । राज्ये=राजपदे । अभिषेक =राज्याभिषेचनम् । क्रियते=विधीयते, पुरुषो राज्याभिषिक्तो भवतीत्यर्थ । तदैव=तस्मिन्नेव समये । तस्य बुद्धि =मति । व्यसनेषु=विपत्तिषु, कष्टेषु । याति=गच्छति प्रवेश कुरुते । नृपाणा=राज्ञाम् । अभिषेककाले=राज्याभिषेकस्य समये । घटा =जलपूर्णा कलशा । अम्भसा=जलेन, सहैव=साकम् । आपदम्=विपत्तिम् । उद्गिरन्ति=उद्वमन्ति, निपातयन्ति । राजनो हि राज्यप्राप्तिसमनन्तरमेव दुष्करानेकराजकीयसाधनबुद्धय सन्त विविधैश्वर्यसुखेऽपि जीवन कष्टमय भावयन्तीति भाव ॥ ६४ ॥

हिन्दी—राज्याभिषेक होते ही व्यक्ति की बुद्धि जटिल समस्याओ की ओर चली जाती है और विभिन्न चिन्ताएँ आकर घेर लेती हैं । राजाओ के अभिषेक का घट जल के साथ अनेक आपत्तियो को भी उद्गिरण करता है ॥ ६४ ॥

तथा च—

रामस्य व्रजन वने निवसन पाण्डो सुताना वने,
वृष्णीना निधन नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रशनम् ।
सौदास तदवस्थमर्जुनवध सचिन्त्य लङ्केश्वर,
दृष्ट्वा राज्यकृते विडम्बनगत तस्मान्न तद्वाञ्छयेत् ॥ ६५ ॥

अन्वय —रामस्य वने व्रजन, पाण्डो सुताना वने निवसनम्, वृष्णीना निधन, नृपते नलस्य राज्यात् परिभ्रशनम्, सौदास तदवस्थम् अर्जुनवध सञ्चिन्त्य राज्यकृते विडम्बनगत लङ्केश्वर दृष्ट्वा तस्मात् तत् न वाञ्छयेत् ॥ ६५ ॥

व्याख्या—रामस्य=श्रीरामचन्द्रस्य, कैकेय्या वचनात् पितुराज्ञया चतुर्दशवर्षपर्यन्त, वने=विपिने । व्रजन=गमनम् । पाण्डो सुताना=पाण्डवाना युधिष्ठिरादीना वने=अरण्ये । निवसन =द्वादशवर्षाणि यावत् राज्यार्थं काननस्थितिम् । वृष्णीना=भगवत श्रीकृष्णस्य लीलया वृष्णिवशीयाना यादवाना निधन=नाशम् । नलस्य नृपते =द्यूते भ्रात्रा पराजितस्य राज्ञ राज्यात्=राज्यपदात् । परिभ्रशनम्=परिपतनम् । सौदास=सुदासनामकमिक्ष्वाकुवशीय भूपति तदवस्थ=राक्षसयोनिगमनम्, गुरो वसिष्ठस्य शापात् सौदासस्य राक्षसयोनौ गमनम् । अर्जुनवध=कार्तवीर्यार्जुनस्य परशुरामकर्तृक नाशम् । सञ्चिन्त्य=विचार्य । राज्यकृते=राज्यार्थम् । विडम्बनगत=विडम्बने पतित, कालवश गत सीतापहारहेतो समूल नाशमनुभवन्त लङ्केश्वर =लङ्काधिपतिरावण त्रिलोकत्रस्तकारक दशानन च । दृष्ट्वा=विलोक्य । तस्मात् कारणात् । तत्=राज्य न वाञ्छयेत्=नेच्छेत् । अत सर्वथाऽनर्थस्य कारण राज्य नाहमभिलष्येयमित्यर्थ ॥ ६५ ॥

हिन्दी—देखो, राज्य के लिए राम को वन जाना पड़ा था। पाण्डवो को वन मे वास करना पडा था। यदुवंशियो का विनाश भी राज्य के लिए ही हुआ था। राजा नल राज्य के लिए ही अनेक कष्ट झेलते रहे। सौदास राजा को कुलगुरु वसिष्ठजी के शाप से राक्षसयोनि मे जाना पडा। कार्तवीर्य अर्जुन को राज्य के लिए ही परशुराम ने मार डाला और लङ्केश्वर रावण की राज्य के लिए ही कितनी कष्टप्रद मृत्यु हुई। अत बुद्धिमान् व्यक्ति को राज्यप्राप्ति की इच्छा नही करनी चाहिए ॥ ६५ ॥

यदर्थं भ्रातर पुत्रा अपि वाञ्छन्ति ये निजा। ।
वध राज्यकृता राज्ञा, तद्राज्य दूरतस्त्यजेत् ॥ ६६ ॥

अन्वय—ये निजा भ्रातर, पुत्रा ते अपि यदर्थं राज्यकृता राज्ञा वध वाञ्छन्ति तत् राज्य दूरत परित्यजेत् ॥ ६६ ॥

व्याख्या—ये किल निजा =स्वकीया । भ्रातर =सहोदराद्या । पुत्रा = तनुजा सन्ति ते अपि यदर्थं=यस्मै राज्याय यस्य राजस्य प्राप्तये। राज्यकृता= राज्यशासनाधिकारिणा राज्ञा=नृपतीनाम् । वध=नाशम् । वाञ्छन्ति=प्राणान् ग्रहीतुमिच्छन्ति । तत्=अनर्थावह राज्यम् । दूरत =दूरादेव । त्यजेत्=मुञ्चेत् । राज्यलोभो हि स्वीयत्वबुद्धि विघातयति । विवादास्पद राज्य महतेऽनर्थाय कल्पते । अत तत् सर्वथा हेयमित्यर्थ ॥ ६६ ॥

हिन्दी—जिस राज्य के लिए अपने सहोदर भाई तथा पुत्र भी राजा का का वध कर डालना चाहते है, उस राज्य को दूर से ही छोड देना चाहिए ॥६६॥

कौलिक आह—"सत्यमुक्त भवत्या। तत्कथय किं प्रार्थये ?"

साऽऽह—"त्व तावदेकं पट नित्यमेव निष्पादयसि। तेन सर्वा व्ययशुद्धि सपद्यते। इदानीं त्वमात्मनोऽन्यद्दाहुयुगल द्वितीय शिरश्च याचस्व, येन पटद्वय सपादयसि पुरत पृष्ठतश्च। एकस्य मूल्येन गृहे यथापूर्व व्यय सपादयिष्यसि, द्वितीयस्य मूल्येन विशेषकृत्यानि करिष्यसि। एव सौख्येन स्वजातिमध्ये श्लाघ्यमानस्य कालो यास्यति, लोकद्वयस्योपार्जना च भविष्यति।"

व्याख्या—प्रार्थये=याचे। नित्यमेव=प्रत्यहम् । निष्पादयसि=विरचयसि । व्ययशुद्धि =गृहव्ययनिर्वाह । अन्यद्बाहुयुगल=द्वितीय बाहुद्वयम् । याचस्व= प्रार्थयस्व । पुरत =अग्रत । यथापूर्वं=पूर्ववत् । विशेषकृत्यानि=अतिरिक्त- कार्याणि । सौख्येन=सुखेन । स्वजातिमध्ये=स्वकीयजातौ । श्लाघ्यमानस्य

प्रशस्यमानस्य । कालः = समय । यास्यति = व्यतिगमिष्यति । लोकद्वयस्य = भूलोकस्य स्वर्गस्य च । उपार्जना = प्राप्ति ।

हिन्दी—अपनी स्त्री की बात सुनकर जुलाहे ने कहा—'प्रिये, तुम ठीक कहती हो, पर बताओ कि उससे क्या माँगूँ ?'

स्त्री ने कहा—'तुम प्रतिदिन एक कपडा तैयार करते हो। उसी से घर का सब खर्च चलता है। तुम जाकर दो और हाथ एव एक शिर माँग लो। इससे तुम रोज दो वस्त्र बुन सकोगे, एक आगे से और दूसरा पीछे से। एक के दाम से घर का खर्च चलेगा और दूसरे के मूल्य से अन्य कार्य किया जायेगा। इस प्रकार अपनी जाति के लोगो मे प्रतिष्ठापूर्वक सुख से समय कट जायेगा और परलोक भी बन जायेगा।

सोऽपि तदाकर्ण्य प्रहृष्ट· प्राह—"साधु पतिव्रते ! साधु, युक्तमुक्तं भवत्या। तदेव करिष्यामि। एष मे निश्चय।"

ततोऽसौ गत्वा व्यन्तरं प्रार्थयाञ्चक्रे—"भो, यदि ममेप्सितं प्रयच्छसि तद् देहि मे द्वितीय बाहुयुगल शिरश्च।"

एवमभिहिते, तत्क्षणादेव स द्विशिराश्चतुर्बाहुश्च सञ्जात। ततो हृष्टमना यावद् गृहमागच्छति तावल्लोकै "राक्षसोऽयमिति मान्यमानैर्लगुडपाषाणप्रहारैस्ताडितो मृतश्च।"

अतोऽहं ब्रवीमि—"यस्य नास्ति स्वय प्रज्ञा" इति।

चक्रधर आह—"भो., सत्यमेतद्। सर्वोऽपि जनोऽश्रद्धेयामाशापिशाचिका प्राप्य हास्यपदवीं याति। अथवा साध्विदमुच्यते केनाऽपि—

व्याख्या—तदाकर्ण्य=भार्याया वचन श्रुत्वा। प्रहृष्ट = सुप्रसन्न। असौ= कौलिक। प्रार्थयाञ्चक्रे=प्रार्थयामास। ममेप्सित=मम मनोरथम्। बाहुयुगल = भुजद्वयम्। तत्क्षणात्=झटिति। लोकै =जनै। मन्यमानै =स्वीकुर्वद्भि। ताडित =व्यापादित.। अश्रद्धेया = अनादरणीयाम्। आशापिशाचिकाम् = आशारूपा पिशाचीम्। प्राप्य=अवाप्य। हास्यपदवी = हास्यताम्। याति =गच्छति।

हिन्दी—स्त्री के परामर्श को स्वीकार करते हुए जुलाहे ने प्रसन्न होकर कहा—'प्रिये, तुम ठीक कह रही हो। मैं तुम्हारे परामर्श के अनुसार करूँगा। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। यही मेरा भी निश्चय है।'

बाद यक्ष के पास जाकर उनसे नम्रतापूर्वक कहा—'यदि आप मेरी मनो-भिलषित वस्तु देना चाहते हैं तो मुझे दो भुजाएँ और एक शिर और प्रदान कीजिए ।'

इस प्रकार प्रार्थना करते ही उसे चार बाहु और दो शिर हो गये। वह खुश होकर जब घर लौटने लगा तो रास्ते मे ही लोगो ने उसे राक्षस समझकर घेर लिया और लाठी एव पत्थरो से उस पर प्रहार करना शुरू कर दिया। इस प्रकार वह मार खाकर वही मर गया।

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'इसलिए मैं कहता हूँ कि जिसकी स्वय बुद्धि नहीं होती और मित्रो का कहना भी नही मानता है उसकी जुलाहे की तरह ही कष्टप्रद मृत्यु होती है।'

यह सुनकर चक्रधर ने कहा—'आप ठीक कहते हैं। अविश्वसनीय दुराशा पिशाची के फन्दे मे पडने वाला प्रत्येक आदमी उपहास का पात्र होता है।' अथवा ठीक ही कहा गया है—

अनागतवतीं चिन्तामसम्भाव्या करोति य ।
स एव पाण्डुर. शेते सोमशर्मपिता यथा ॥ ६७ ॥

अन्वय —य अनागतवती असम्भाव्या चिन्ता करोति, स एव सोमशर्मपिता यथा पाण्डुर शेते ॥ ६७ ॥

व्याख्या—य =पुरुष । अनागतवती=अनागता, भविष्यन्तीम् । असम्भाव्या =असम्भावनीयाम् । चिन्ता = विचारपरम्पराम् । करोति = विधत्ते । स एव = पुरुष । निश्चयेन । सोमशर्मपिता = सोमशर्मणो जनक । यथा = यद्वत् इव । चिन्तयाऽऽक्रान्त । पाण्डुर = पीत सन् । शेते = दु खमग्न उदासीनो भवति । कश्चन स्वभावकृपण सोमशर्मानामा ब्राह्मण सक्तु चिन्तयन् पाण्डुरता गतवा-नित्यर्थ ॥ ६७ ॥

हिन्दी—असम्भाव्य और अनागत चिन्ता को करने वाला व्यक्ति ही सोम-शर्मा के पिता के समान पाण्डु रोगग्रस्त रोगी की भांति पीला होकर सोता है ॥ ६७ ॥

सुवर्णसिद्धिराह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

हिन्दी—सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' तब उसने कहना आरम्भ किया—

८. सोमशर्मपितृ-कथा

कस्मिंश्चिन्नगरे कश्चित्स्वभावकृपणो नाम ब्राह्मण प्रतिवसति स्म। तेन भिक्षाऽर्जितै सक्तुभिर्भुक्तशेषै कलश सम्पूरित । त च घट नागदन्तेऽवलम्ब्य, तस्याऽधस्तात्खट्वा निधाय सततमेकदृष्ट्या तमवलोकयति ।

अथ कदाचिद्रात्रौ सुप्तश्चिन्तयामास—यत् परिपूर्णोऽय घटस्तावत्सक्तुभि-र्वर्त्तते। तद्यदि दुर्भिक्ष भवति, तदनेन रूप्यकाणा शतमुत्पत्स्यते। ततस्तेन मया-ऽजाद्वयं ग्रहीतव्यम् तत षाण्मासिकप्रसववशात्ताभ्या यूथ भविष्यति। ततोऽजाभि प्रभूता गा ग्रहीष्यामि। गोभिर्महिषी । महिषीभिर्वडवा । वडवाप्रसवत· प्रभूता अश्वा भविष्यन्ति। तेषा विक्रयात्प्रभूत सुवर्ण भविष्यति। सुवर्णेन चतु शाल गृह सम्पत्स्यते।

व्याख्या—स्वभावकृपण =अतिकदर्य । तेन=ब्राह्मणेन। भिक्षार्जितै = भिक्षाया प्राप्तै । सक्तुभि =पिष्टान्नविशेषै । भुक्तशेषै =भोजनावशिष्टै । कलश =घट । सम्पूरित =आपूरित । नगदन्ते=भित्तिनिविष्टे काष्ठे । अवलम्ब्य=समारोप्य । तस्याधस्तात् =नागदन्तावलम्बितघटस्याधस्तात् । ताभ्या =छागमिथुनाभ्याम्। यूथ =छागवृन्दम्। अजाभि =छागै । प्रभूता =विपुला । वडवा =अश्वा । प्रसवक्रमेण। प्रभूत =प्रचुर चतु शालम्= चतु प्रकारकम्।

हिन्दी—किसी नगर मे अति कृपण स्वभाव का एक ब्राह्मण रहता था। उसने अपनी भिक्षा मे मिले हुए भोजन से अवशिष्ट सत्तू को सञ्चित करके एक घडा भर लिया था। उस घडे को खूंटी मे टांग दिया था और उसी के नीचे चारपाई बिछाकर सोया करता था । चारपाई पर सोये-सोये वह निरन्तर ध्यानपूर्वक उस घट को देखा करता था।

एव दिन सोते-सोते उसने सोचा कि यह घडा सत्तू से भर गया है। यदि अकाल पड जाता तो इसे बेचकर सौ रुपया मिल जाता। उन रुपयो से दो बकरियाँ खरीद लेता। फिर उनसे प्रति ६-६ माह मे बच्चे पैदा होते और क्रमश मेरे पास बकरियो का झुण्ड हो जाता। उन बकरियो को बेचकर मैं गायें खरीदता और गायो को बेचकर भैस खरीद लेता, फिर भैस को बेचकर घोडियाँ खरीदता। धीरे-धीरे घोडियाँ बच्चा पैदा करतीं तो अनेक घोडे तैयार हो जाते। उन घोडो को बेचने से अधिक सोना मिलता। पुन मैं उस स्वर्णराशि से सुन्दर चौसाल घर बनवाता।

तत कश्चिद् ब्राह्मणो मम गृहमागत्य प्राप्तवयस्का रूपाढ्या कन्या मह्यं दास्यति। तत्सकाशात्पुत्रो मे भविष्यति। तस्याऽहं "सोमशर्मा" इति नाम करिष्यामि। ततस्तस्मिञ्जानुचलनयोग्ये सञ्जातेऽहं पुस्तक गृहीत्वाऽश्वशालाया· पृष्ठदेशे उपवि वधारयिष्यामि। अत्राऽन्तरे सोमशर्मा मा दृष्ट्वा, जनन्युत्संगाज्जानुचलनपरोऽश्वखुरासन्नवर्ती मत्समीपमागमिष्यति। ततोऽहं ब्राह्मणीं कोपाविष्टोऽभिधास्यामि—"गृहाण तावद् बालकम्।" साऽपि गृहकर्मव्यग्रतयाऽस्मद्वचनं न श्रोष्यति। ततोऽहं समुत्थाय, ता पादप्रहारेण ताडयिष्यामि।

एव तेन ध्यानस्थितेन तथैव पादप्रहारो दत्तो यथा स घटो भग्न, स्वयञ्च सक्तुभिः पाण्डुरता गत·।

अतोऽहं ब्रवीमि—"अनागतवतीं चिन्ताम्" इति।

सुवर्णसिद्धिराह—"एवमेतत्। कस्ते दोष। यत सर्वोऽपि लोभेन विडम्बितो बोध्यते। उक्तञ्च—

व्याख्या—ब्राह्मण =विप्र। प्राप्तवयस्का=युवतीम्। रूपाढ्या=रूपवतीम्। दास्यति=विवाहे प्रदास्यति। तत्साकाशात्=भार्यासकाशात्। तस्य=पुत्रस्य। तस्मिन्=बालके। जानुचलनयोग्ये=जानुद्वयचलनसमर्थे। पृष्ठदेशे=पृष्ठभागे। तदवधारयिष्यामि=तस्य प्रतीक्षा करिष्यामि। जनन्युत्सङ्गात्=मातु क्रोडात्। जानुचलनपर =जानुभ्या चलन्। अश्वखुरासन्नवर्ती=अश्वपादनिकटचर। कोपाविष्ट =क्रुद्ध सन्। अभिधास्यामि=कथयिष्यामि। गृहकर्मव्यग्रतया= गेहकार्यव्यस्ततया। अस्मद्वचनम् = ममाज्ञाम्। समुत्थाय = उत्थाय। पादप्रहारेण=चरणाघातेन। ध्यानस्थितेन=विचारमग्नेन। भग्न =त्रुटित। पाण्डुरता=पीतवर्णताम् सक्तुभिरासिक्तशरीर पीतवर्ण। गत =प्राप्त, बभूव। कस्ते दोष =न कोऽपि दोषो भवत। विडम्बित =प्रतारित। बोध्यते= पीडयते।

हिन्दी—मेरा घर बन जाने के बाद कोई ब्राह्मण आकर अपनी युवती तथा रूपवती कन्या के साथ मेरा विवाह कर देगा। उसके गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होगा, उसका नाम मैं सोमशर्मा रखूंगा। जब वह घुटने से चलने योग्य हो जायेगा, तो मै पुस्तक लेकर उसकी प्रतीक्षा मे घोडसाल के पीछे जाकर बैठूंगा। सोमशर्मा वहां मुझे बैठा हुआ देखकर अपनी माता की गोद से उतरकर मेरे पास आने के लिए घुटने के बल चलता हुआ घोडो के पास होकर गुजरता मेरे पास आयेगा। तब मैं क्रुद्ध होकर अपनी स्त्री को आज्ञा दूंगा—लडके को पकडो, पर

घर के कार्य मे व्यस्त होने के कारण जब वह मेरी आज्ञा को नही सुनेगी तो मैं उस पर चरणप्रहार करूँगा।

इस प्रकार सोचते-सोचते उस ब्राह्मण ने तन्मय होकर ब्राह्मणी को मारने के लिए पाद प्रहार किया। उसके पाद-प्रहार से वह घडा फूट गया और वह ब्राह्मण सत्तू से पीला (सराबोर) हो उठा।

इसलिए कहता हूँ कि अनावश्यक चिन्ता को करनेवाला व्यक्ति सोमशर्मा के पिता की तरह दुर्गति को प्राप्त होता है।

सुवर्णसिद्धि ने कहा—'तुम्हारा इसमे दोष ही क्या है ? सभी लोभ से वशीभूत होने पर प्रताडित होते हैं।' कहा भी गया है—

यो लौल्यात्कुरुते कर्म, नैवोदकंमवेक्षते।
विडम्बनामवाप्नोति स यथा चन्द्रभूपति ॥ ६८ ॥

अन्वय —य लौल्यात् कर्म कुरुते उदर्क न अवेक्षते स विडम्बनाम् अवाप्नोति यथा चन्द्रभूपति (अवाप्तवान्) ॥ ६८ ॥

व्याख्या—य =पुरुष । लौल्यात्=चञ्चलतया । कर्म कुरुते=कार्यं करोति। उदर्क=उत्तर कालम् तत्परिणाम वा। कालेन न अवेक्षते=न पूर्वं पर्यालोचयति। स =जन । विडम्बनाम्=वञ्चनाम्। अवाप्नोति=लभते, लोकेन प्रताडितो भवतीत्यर्थ । यथा=यद्वत्। चन्द्रभूपति =चन्द्रो नाम कश्चिद् राजा विडम्बना प्राप्तवान्। परिणाम विचार्यैव कार्यं कर्तव्यम्। अन्यथा विचारमन्तरा क्रियमाण कार्यमनर्थायैव प्रभवतीत्यर्थ ॥ ६८ ॥

हिन्दी—जो व्यक्ति अति चपलता के कारण कार्य के परिणाम को सोचे बिना किसी कार्य को करता है वह अन्त में धोखा खा ही जाता है। चन्द्रभूपति भी इसी प्रकार चपलता के कारण धोखा खा गया था ॥ ६८ ॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" स अहा—

हिन्दी—चक्रधरने पूछा—'यह कैसे ?' इस पर सुवर्णसिद्धि ने कहा—

९. चन्द्रभूपति-कथा

कस्मिश्चिन्नगरे चन्द्रो नाम भूपति प्रतिवसति स्म। तस्य पुत्रा वानरक्रीडारता वानरयूथ नित्यमेवाऽनेकभोजनभक्ष्यादिभि पुष्टि नयन्ति स्म। अथ वानरयूथाऽधिपो य स औशनस-बार्हस्पत्य-चाणक्य-मतवित्, तदनुष्ठाता च तत्सर्वानप्यध्यापयति स्म।

अथ तस्मिन् राजगृहे लघुकुमारवाहनयोग्यं मेषयूथमस्ति। तन्मध्यादेको

जिह्वालौल्यादहर्निशं निःशङ्कं महानसे प्रविश्य, यत्पश्यति तत्सर्वं भक्षयति। ते च सूपकाराः यत्किञ्चित्काष्ठं, मृण्मयं भाजनं कांस्यपात्रं, ताम्रपात्रं वा पश्यन्ति, तेनाशु ताडयन्ति।

व्याख्या—नगरे=पुरे। प्रतिवसति स्म=अवसत्। तस्य=चन्द्रभूपतेः। वानरक्रीडारताः=मर्कटैः सह क्रीडानुरक्ताः वानरखेलक्रिया वा। वानरयूथं=मर्कटवृन्दम्। अनेकभोजनभक्ष्यादिभिः=विविधभोजनभक्ष्यपदार्थैः। पुष्टिं=पालनम् नयन्ति स्म=पालयन्ति स्म। वानरयूथाधिपः=मर्कटवृन्दाधिराजः। उशनस इदम् औशनसम्=भार्गवमुनिनिगदितम्। बार्हस्पत्यं बृहस्पतेरिदं बार्हस्पत्यं=बृहस्पतिनिर्मितं नीतिशास्त्रम्। चाणक्यमतवित्=चाणक्यप्रोक्तनीतिशास्त्रवेत्ता। सकलनीतिशास्त्रकुशलः=समस्तनीतिशास्त्रपारङ्गतः। तदनुष्ठाता=नीतिसम्मताचरणशीलः। सर्वान्=वानरान् अध्यापयति स्म=पाठयति स्म। लघुकुमारस्य=अल्पवयस्क-राजकुमारस्य। वाहनयोग्यं=वहनक्षमम्, अल्पकायम् मेषयूथं=अजवृन्दम्। तन्मध्यात्=यूथमध्यात्। जिह्वालौल्यात्=रसनास्वादग्रहणचापल्यात्। अहर्निशं=अहोरात्रम्। निःशङ्कं=निर्भयम्। महानसे=भोजनालये, भक्षयति स्म=खादयति स्म। सूपकाराः=पाचकाः। यत्किञ्चित् काष्ठं=लभ्येन्धनम्। मृण्मयं=मृत्तिकानिर्मितम्। भाजनं=पात्रम्। कांस्यपात्रं=कांस्यधातुनिर्मितपात्रम्। आशु=शीघ्रमेव। ताडयन्तिस्म=घ्नन्ति स्म।

हिन्दी—किसी नगर में चन्द्र नाम का एक राजा रहता था। उसके पुत्र बन्दरों के खेल में विशेष रुचि रखते थे। इसलिए बन्दरों के झुण्ड को विभिन्न प्रकार की खाद्य सामग्रियों को देकर वे उनका पालन पोषण करते थे। वानरों के झुण्ड का नायक उशनस्, बृहस्पति तथा चाणक्य आदि नीतिविदों द्वारा रचित नीतिशास्त्रों का ज्ञाता था। वह स्वयं भी नीतिसम्मत आचरण करता था और अन्य बन्दरों को भी नीतिशास्त्र पढ़ाया करता था।

उस राजघराने के छोटे छोटे राजकुमारों को चढ़ने के लिए भेंडों का एक झुण्ड भी पाला गया था। उनमें से एक भेंड अपने जिह्वास्वाद की चपलता के कारण रात-दिन जब भी अवसर पाता था निडर होकर रसोईघर में घुस जाया करता और जो कुछ पाता था, खा जाया करता था। भण्डारी भी उसे देखते ही लकड़ी, मिट्टी का बर्तन, या ताँबे का बर्तन जो कुछ पा जाते तुरन्त चलाकर मार दिया करते थे।

सोऽपि वानरयूथपस्तद् दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्—'अहो, मेषसूपकारकलहोऽयं

वानराणां क्षयाय भविष्यति। यतोऽन्नरसास्वादलम्पटोऽयं मेषो, महाकोपाश्च सूपकारा यथासन्नवस्तुना प्रहरन्ति। तद्यदि वस्तुनोऽभावात्कदाचिदुल्मुकेन ताडयिष्यन्ति, तदोर्णाप्रचुरोऽयं मेषः स्वल्पेनापि वह्निना प्रज्वलयिष्यति। तद्दह्यमानः पुनरश्वकुट्यां समीपवर्तिन्यां प्रवेक्ष्यति। साऽपि तृणप्राचुर्याज्ज्वलिष्यति। ततोऽश्वा वह्निदाहमवाप्स्यन्ति।

शालिहोत्रेण पुनरेतदुक्तं यत्—"वानरवसयाऽश्वानां वह्निदाहदोषं प्रशाम्यति", तन्नूनमेतेन भाव्यम्। एषोऽत्र निश्चयः। एवं निश्चित्य सर्वान् वानरानाहूय रहसि प्रोवाच—यत्—

व्याख्या—तद्दृष्ट्वा=मेषसूपकारयोर्विवादमवलोक्य। व्यचिन्तयत्=चिन्तयामास। कलहः=विवादः। क्षयाय=विनाशाय। यतः=यस्माद्धि। अन्नरसास्वादलम्पटः=सिद्धान्नभक्षणलोलुपः। महाकोपाः=अतीवक्रुद्धाः। यथासन्नवस्तुना=निकटस्थपदार्थेन। उल्मुकेन=ज्वलत्काष्ठेन। ऊर्णाप्रचुरः=लोमबहुलः। स्वल्पेन=अत्यल्पेन। दह्यमानः=प्रज्वल्यमानः। अश्वकुट्यां=घोटकशालायाम्। सा=अश्वशाला। तृणप्राचुर्यात्=तृणबाहुल्यात्। वह्निदाहं=अग्निदाहम्। शालिहोत्रेण=शालिहोत्रनाम्ना घोटकचिकित्सकेन। महर्षिणा=महामुनिना। वानरवसया=मर्कटवपया वह्निदाहदोषः=अग्निदाहजन्यदोषः। एतेन भाव्यम्=अवश्यमेवेयं घटना घटिष्यति। रहसि=एकान्ते। प्रोवाच=उवाच।

हिन्दी—वानरों के यूथप ने जब इस घटना को देखा तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। उसने मन ही मन सोचा—इस भेड़ और भण्डारियों के बीच होने वाला यह नित्य का कलह किसी दिन वानरों के विनाश का कारण होगा, क्योंकि यह भेड़ अन्न खाने का लोभी है और भण्डारी भी क्रुद्ध हो कर पास में पड़ी हुई किसी भी वस्तु को चलाकर मारा करते हैं। कभी संयोगवश किसी अन्य वस्तु के न मिलने पर अवश्य ही ये जलती हुई लकड़ी से ही मारेंगे। इस भेड़ की देह में ऊन है, वह चिनगारी लगते ही जल उठेगी। मार खाने पर भेड़ निकटवर्ती घुड़शाल की ओर दौड़ेगा। घासों के इधर उधर पड़े रहने के कारण वह तत्काल जलने लगेगी। परिणामतः घोड़े जलने लगेंगे। शालिहोत्र ने यह लिखा है कि घोड़ों के जलने का घाव बन्दरों की चर्बी से अच्छा होता है। एक न एक दिन घटना अवश्य घटेगी और वानरों की चर्बी की तलाश की जायेगी। यह निर्विवाद है। यह सोच विचार कर उसने सभी वानरों को एकान्त में ले जाकर कहा—

मेषेण सूपकाराणा कलहो योऽत्र जायते ।
स भविष्यत्यसन्दिग्ध वानराणा क्षयावह ॥ ६९ ॥

अन्वय —अत्र मेषेण (सह) सूपकाराणा य जायते, असन्दिग्ध स वानराणा क्षयावह भविष्यति ॥ ६९ ॥

व्याख्या—अत्र=अस्मिन् स्थाने । मेषेण=एडकेन सह । सूपकाराणा=भोजननिर्मातृणा सूदानाम् । कलह =विवाद । जायते=भवति । तत्र असन्दिग्ध=नि सशयम् । स =कलह । वानराणा=मर्कटानाम् । क्षयावह –क्षयमावहति करोति वा इति क्षयावह =विनाशकारक । भविष्यति=यास्यति । मेषसूपकारयो नित्यकलहान्नून वानराणा विनाशो भविष्यतीति भाव ॥ ६९ ॥

हिन्दी—यहाँ भेडो के साथ भण्डारियो का जो प्रतिदिन विवाद चलता रहता है, वह निश्चित ही वानरो के विनाश का कारण होगा ॥ ६९ ॥

तस्मात् स्यात् कलहो यत्र गृहे नित्यमकारण ।
तद्गृह जीवित वाञ्छन् दूरत परिवर्जयेत् ॥ ७० ॥

अन्वय —तस्मात् यत्र गृहे नित्यम् अकारण कलह स्यात् तत् गृह जीवित वाञ्छन् दूरत परिवर्जयेत् ॥ ७० ॥

व्याख्या—तस्मात् =पूर्वोक्तकारणात् । यत्र गृहे=यस्मिन् गेहे । नित्यम्=निरन्तर, प्रतिदिनम् । अकारण =कारणमन्तरा व्यर्थ । कलह =विवाद । स्यात्=भवेत् । तद्गृहम्=तत् सदनम् । जीवित वाञ्छन्=जीवनमभिलषन् । दूरत दूरादेव । परिवर्जयेत्=त्यजेत् । जिगीविषुभि पुरुषै कलहस्थले न स्थेयमिति भाव ॥ ७० ॥

हिन्दी—जिस घर मे प्रतिदिन व्यर्थ का कलह होता रहता हो उस घर को जीवित रहनेवाले व्यक्ति को तत्काल छोड देना चाहिए ॥ ७० ॥

कलहान्तानि हर्म्याणि कुवाक्यान्त च सौहृदम् ।
कुराजान्तानि राष्ट्राणि कुकर्मान्त यशो नृणाम् ॥ ७१ ॥

अन्वय —हर्म्याणि कलहान्तानि सौहृद कुवाक्यान्त, राष्ट्राणि कुराजान्तानि, च नृणा यश कुकर्मान्त (भवति) ॥ ७१ ॥

व्याख्या—हर्म्याणि=गृहान्तानि कलहान्तानि—कलहेन वैमनस्येन विवादेन अन्तो नाशो येषा तानि कलहान्तानि=विवादान्तानि भवन्ति । सौहृद=मित्रता, सख्यम् । कुवाक्यान्तम्—कुत्सितेन दुर्वचनेन अन्तो यस्य तत् कुवाक्यान्तम्=

कटुवाक्यान्तम् भवति । राष्ट्राणि=राज्यानि, देशा । कुराजान्तानि=कुत्सितेन राज्ञा दुष्टभूपतिना अन्तो येषा तानि कुराजान्तानि=दुष्टभूपतियुक्तानि । जायन्ते । नृणा=मनुष्याणाम् । यश =कीर्ति । कुकर्मान्त=कुकर्मणा-नीचकार्येण अन्तो यस्य तत् कुकर्मान्तम् । भवति । अर्थात् कलहेन गृहाणि, दुर्वचनेन मैत्री, दुष्टेन राज्ञा राज्यम्, असत्कर्मणा च नृणा यशो नाशमुपयान्तीत्यत कलहो नून हेय ।।७१।।

हिन्दी—प्रतिदिन के कलह से अच्छे अच्छे घर नष्ट हो जाते हैं । कटुवाक्यो के प्रयोग से सुदृढ मित्रता भी टूट जाती है । कुराजा के कारण राज्य का विनाश हो जाता है और व्यक्ति का यश दुष्कर्म करने से समाप्त हो जाता है । तात्पर्य यह है कि प्रतिदिन के झगडे से अच्छे-अच्छे घर, कुवाक्यो से मित्रता, दुष्ट राजा से राष्ट्र और कुकर्म से मनुष्यो का यश नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

तन्न यावत्सर्वेषा सक्षयो भवति, तावदेवैतद्राजगृह सन्त्यज्य वन गच्छाम । अथ तत्तस्य वचनमश्रद्धेय श्रुत्वा मदोद्धता वानरा प्रहस्य प्रोचु —"भो ! भवतो वृद्धभावाद् बुद्धिवैकल्यं सञ्जात, येनैतद् ब्रवीषि । उक्तञ्च—

व्याख्या—सन्त्यज्य=त्यक्त्वा । तत्=वृन्दम् । तस्य=यूथपस्य । अश्रद्धेयम्= अविश्वसनीयम् । मदोद्धता =मदोन्मत्ता । वृद्धभावात्=वार्द्धक्यात् । बुद्धि-वैकल्य=मतिविभ्रम । ब्रवीषि=कथयसि ।

हिन्दी—इसलिए वानरो का विनाश आने के पूर्व ही इस राजघराने को छोडकर किसी जङ्गल मे चले जाना चाहिए ।

यूथप के इस अविश्वसनीय वाक्य को सुनकर मतवाले वानरो ने हँसकर कहा—'अरे बुढापे के कारण आपकी बुद्धि भ्रम मे पड गयी है । इसीलिए आप ऐसी सलाह दे रहे हैं ।' कहा भी गया है—

वदन दशनैर्हीन, लाला स्रवति नित्यश. ।
न मति स्फुरति क्वापि बाले वृद्धे विशेषत. ॥ ७२ ॥

अन्वय —दशनै हीन वदन, नित्यश लाला स्रवति बाले वृद्धे विशेषत. क्वापि मति न स्फुरति ॥ ७२ ॥

व्याख्या—दशनै =दन्तै । हीन=विरहितम् । वदन=मुखम् । भवति । नित्यश =सर्वदा । मुखात् लाला=स्यन्दिनी, जलम् । स्रवति=नि सरति । बाले वृद्धे च—बाल्यावस्थाया वृद्धावस्थाया च बालकाना वृद्धाना च । विशेषत = विशेषरूपेण । क्वापि=कस्मिन्नपि विषये । मति =बुद्धि । न स्फुरति=न प्रवर्तते । बाला वृद्धाश्च बुद्धिहीना भवन्तीत्यर्थ ॥ ७२ ॥

हिन्दी—मुँह मे दांत न रहने के कारण निरन्तर लार टपकती रहती है। अत बाल्यावस्था और वृद्धावस्था मे विशेषकर किसी विषय मे बुद्धि स्फुरित नही होती है ॥ ७२ ॥

न वय स्वर्गसमानोपभोगान्नानाविधान्भक्ष्यविशेषान् राजपुत्रै स्वदत्तानमृत-कल्पान् परित्यज्य तत्राऽटव्या कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षफलानि भक्षयिष्याम ।" तच्छ्रुत्वाऽश्रुकलुषा दृष्टि कृत्वा स प्रोवाच—

"रे रे मूर्खा ! यूयमेतस्य सुखस्य परिणामं न जानीथ। किम्पाकरसास्वादन-प्रायमेतत्सुख परिणामे विषवद् भविष्यति। तदह कुलक्षय स्वयं नावलोकयि-ष्यामि। साम्प्रत वन यास्यामि उक्त च—

व्याख्या—वय=वानरा । स्वर्गसमानोपभोगान्=स्वर्गसदृशसुखभोगान् । नानाविधान्=अनेकप्रकारान् । स्वहस्तदत्तान्=निजकरै प्रेम्णा समर्पितान् । अमृतकल्पान्=अमृतोपमान्, सुधासदृशास्वादान् । तत्र=तस्मिन् । अटव्या= अरण्ये । कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षफलानि=कषायाणि कषायरसयुक्तानि, कटूनि कटुरसमिश्रितानि, तिक्तानि, क्षाराणि लवणरससहितानि, रूक्षाणि= विरसानि च तानि कषायकटुतिक्तक्षाररूक्षाणि तादृशानि फलानि विभिन्ना-स्वादयुक्तानि फलानि । अश्रुकलुषा=बाष्पकलुषाम् । दृष्टि=नेत्रम् । एतस्य= अस्य । परिणाम=विपाकम्, फलम् । किम्पाकरसास्वादनप्राय=विषवृक्षफला-स्वादोपमम् । नावलोकयिष्यामि=न विलोकयिष्यामि । साम्प्रतम्=इदानीम् । यास्यामि=गमिष्यामि ।

हिन्दी—हम लोग दिव्य उपभोगो को और अनेक प्रकार के भक्ष्यो एव राजकुमारो के हाथ से स्नेहपूर्वक दिये गये अमृत के समान स्वादिष्ट पदार्थों को छोडकर वन मे कसैले, कडवे, तीते, खट्टे एव नीरस फलो को खाने के लिए कभी भी नही जायेंगे। यूथप ने वानरो के इस निष्कर्ष को जब सुन लिया, तब आँखो मे आँसू भरकर रोता हुआ उनकी ओर देखकर कहा—

अरे मूर्खो ! खाने में सुस्वादु विषमय फल के समान यह सुख परिणाम मे कितना विषमय होगा। सुख की उस अन्तिम परिणति को तुम लोग नही जानते हो। मैं अपनी इन आँखो से अपने ही कुल का विनाश नही देख सकता हूँ। अत मैं अभी वन मे चला जाता हूँ, क्योकि—

मित्र व्यसनसम्प्राप्त स्वस्थान परपीडितम् ।
धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम् ॥ ७३ ॥

अन्वय·—व्यसनसप्राप्त मित्र, परपीडित स्वस्थानम्, देशभङ्ग कुलक्षय च ये न पश्यन्ति ते धन्या (भवन्ति) ।। ७३ ।।

व्याख्या—व्यसनसप्राप्त=व्यसन कष्ट सप्राप्त लब्ध येन तत् व्यसनसप्राप्त =कष्टे पतितम् । मित्र=सुहृदम् । परपीडितम्—परै शत्रुभि पीडितम् आक्रान्तमिति परपीडितम् तत् परपीडित=शत्रुसमाक्रान्तम् । स्वस्थानम् = आत्मनो निवासभूमिम् । देशभङ्ग=देशस्य देशखण्डस्य भङ्ग विच्छेदम् विध्वस वा । कुलक्षय—कुलस्य वशस्य क्षयो विनाश कुलक्षय त कुलक्षय=कुल-नाशम् । च ये नरा न पश्यन्ति=नावलोकयन्ति ते किल धन्या =श्रेष्ठा भवन्ति । भाग्यवन्तो जना एव कुलक्षयादिक नावलोकयन्ति ।। ७३ ।।

हिन्दी—दु ख मे पडे हुए मित्रो को और शत्रुओ द्वारा आक्रान्त अपने देश को नही देखना चाहिए । वे मनुष्य धन्य हैं जो अपने नेत्रो द्वारा अपने निवास-स्थान एव कुल का विनाश नही देखते हैं ।। ७३ ।।

एवमभिधाय सर्वास्तान् परित्यज्य स यूथाधिपोऽटव्या गत । अथ तस्मिन्गते-ऽन्यस्मिन्नहनि स मेषो महानसे प्रविष्टो, यावत्सूपकारेण नान्यत्किञ्चित्समासादितं तावदर्धज्वलितकाष्ठेन ताडयमानो जाज्वल्यमानशरीर. शब्दायमानोऽश्वकुट्या प्रत्यासन्नवर्तिन्या प्रविष्टः ।

तत्र तृणप्राचुर्ययुक्तायां क्षितौ तस्य प्रलुठतः सर्वत्राऽपि वह्निज्वालास्तथा समुत्थिता यथा केचिदश्वा, स्फुटितलोचना पञ्चत्व गताः । केचिद् बन्धनानि त्रोटयित्वा, अर्द्धदग्धशरीरा इतश्चेतश्च ह्रेषायमाणा धावमानाः, सर्वमपि जन-समूहमाकुलीचक्रु ।

व्याख्या—एवमभिधाय=पूर्वोक्त वाक्यमुक्त्वा । तान् = वानरान् । परि-त्यज्य=त्यक्त्वा । यूथाधिप =यूथप । अटव्याम्=वने । गत =अगच्छत् । गते= वन गने सति । अन्यस्मिन्नहनि=कस्मिश्चिद्दिने । महानसे=पाकशालायाम् । समासादितम्=अवाप्तम् । अर्द्धज्वलितकाष्ठेन=अर्द्धदग्धेन्धनेन । ताडयमान = हन्यमान । जाज्वल्यमानशरीर =प्रज्वलिताङ्ग । शब्दायमान =शब्द कुर्वन् । प्रत्यासन्नवर्तिन्या=निकटवर्तिन्याम् । तृणप्राचुर्ययुक्तायाम्=तृणबहुलायाम् । क्षितौ=पृथिव्याम् । प्रलुण्ठत =लुण्ठत । वह्निज्वाला=अग्निज्वाला । समुत्थिता= उत्थिता । स्फुटितलोचना =नष्टदृष्टय । पञ्चत्व=निधनम् । बन्धनानि=बन्धन-सूत्राणि । त्रोटयित्वा=खण्डयित्वा । अर्द्धदग्धशरीरा = ज्वलितार्द्धकाया ।

ह्लेषायमाणा =शब्दायमाना । जनसमूह=मनुष्यसमुदायम् । आकुलीचक्रु = व्याकुलयामासु ।

हिन्दी—ऐसा कहकर उन सबको छोडकर वह समूह का स्वामी (नेता) बन्दर वन मे चला गया। उसके चले जाने के बाद एक दिन भेड ने पाकशाला मे ज्यो ही प्रवेश किया त्यो ही भण्डारियो ने अन्य वस्तु के अभाव मे आधी जली हुई लकडी चलाकर मारा, अर्द्धदग्ध लकडी के लगते ही उस भेड की देह मे आग लग गयी। जलता हुआ वह भेड चिल्लाकर पास की घोडसाल मे घुस गया और अपनी आग को बुझाने के निमित्त जमीन पर लोटने लगा।

सूखी घासो के इधर-उधर पडने के कारण घोडसाल मे भी आग लग गयी। थोडी ही देर मे वहाँ ऐसी अग्निज्वाला उठी कि कुछ घोडो की आँखें फूट गयी और वे तत्काल मर भी गये कुछ घोडो ने अपने बन्धनो को तोड दिया और आधी जली देह लेकर इधर उधर हिनहिनाते हुए दौड लगाने लगे। उनकी इस भागदौड के कारण सम्पूर्ण जनसमुदाय व्याकुल हो उठा।

अत्राऽन्तरे राजा सविषाद शालिहोत्रज्ञान् वैद्यानाहूय, प्रोवाच—"भो! प्रोच्यतामेषामश्वाना कश्चिद्दाहो ोपाय।" तेऽपि शास्त्राणि विलोक्य प्रोचु "देव! प्रोक्तमत्र विषये भवता शालिहोत्रेण, यद्—

व्याख्या—अत्रान्तरे=अस्मिन्नेवावसरे। सविषाद=दु खित । शालिहोत्रज्ञान्=अश्वचिकित्सकान्। प्रोच्यता=कथ्यताम् । दाहोपशमनोपाय =अग्निदाहनाशकोपाय । तेऽपि=चिकित्सका । शास्त्राणि=अश्वचिकित्साशास्त्राणि । प्रोचु =उक्तवन्त । प्रोक्त=कथितम्। अत्र विषये=अश्वानामग्निदाहावसरे। शालिहोत्रेण=तन्नाम्ना महर्षिणा।

हिन्दी—घोडो के जलने का समाचार पाकर राजा अत्यन्त दु खी हुआ और अश्वचिकित्सा मे निपुण वैद्यो को बुलाकर कहा—घोडो के जलने पर जो कोई उपचार हो सकता है तो आप लोग कृपया बताये। वैद्यो ने चिकित्साशास्त्र देखकर कहा—महाराज, इस विषय मे भगवान् शालिहोत्र ने लिखा है कि—

कपीना मेदसा दोषो वह्निदाहसमुद्भव ।
अश्वाना नाशमभ्येति तम सूर्योदये यथा ॥ ७४ ॥

अन्वय—अश्वाना वह्निदाहसमुद्भव दोष कपीना मेदसा नाशमभ्येति, यथा सूर्योदये तम (नाशमभ्येति) ॥ ७४ ॥

व्याख्या—अश्वाना=घोटकानाम् । वह्निदाहसमुद्भव —वह्ने अग्ने दाहात् सन्तापात् समुद्भव =अनलदाहसमुत्थित । दोष =विकार । कपीना=वानराणाम् । मेदसा=वयसा । तथैव नाशमभ्येति=क्षय प्राप्नोति, शाम्यति । यथा=येन प्रकारेण । सूर्योदये=प्रात.काले । तम =अन्धकार । नाशमभ्येति=नश्यति । अर्थात् वानराणा वसा अश्वाना वह्निदाहजनित दोष 'दूरीकरोतीत्यर्थ. ॥ ७४ ॥

हिन्दी—घोडो के जलने का दाह वानरो की चर्बी से उसी प्रकार समाप्त हो जाता है जैसे कि सूर्योदय होने से अन्धकार समाप्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

तत्क्रियतामेतच्चिकित्सत द्राक्, यावदेते न दाहदोषेण विनश्यन्ति ।

सोऽपि तदाकर्ण्य समस्तवानरवधमादिष्टवान् । किं बहुना-सर्वेऽपि ते वानरा विविधायुधलगुडपाषाणादिभिर्व्यापादिता' इति ।

अथ सोऽपि वानरयूथपस्त पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादिसंक्षयं ज्ञात्वा विषादमुपगत', सन्त्यक्ताहारक्रियो वनाद्वन पर्यटति । अचिन्तयच्च—"कथमह तस्य नृपापसदस्यानृणता कृत्येनाऽपकृत्य करिष्यामि । उक्तञ्च—

व्याख्या—एतत्=वानरवसारूपम् । चिकित्सित=उपचार । द्राक्= त्वरितम् । सोऽपि=राजाऽपि । तदाकर्ण्य=तच्छ्रुत्वा । वानरवध=वानराणा विनाशाय । आदिष्टवान्=आज्ञापितवान् । व्यापादिता=हता । पुत्रपौत्रभ्रातृसुतभागिनेयादिसक्षय=स्वकुलविनाशम् । ज्ञात्वा=अवगत्य । परम्=अत्यन्तम् । विषादमुपगत =शोकग्रस्त । सत्यक्ताहारक्रिय =भोजन विहाय । पर्यटति= भ्रमति । नृपापसदस्य=दुष्टस्य राज्ञ । अनृणता=वैरसन्धानेनानृण्यम् । कृत्येन= स्वकृत्येन । अपकृत्य=अपकार कृत्वा । करिष्यामि=विधास्यामि ।

हिन्दी—अग्निदाह के कारण उत्पन्न दोष से इन घोडो के मरने के इस उपचार को करने का तत्काल आदेश दे दिया जाय ।

राजा ने वैद्यो की राय से समस्त वानरो को मार डालने का आदेश दे दिया । तदनुसार बिचारे बन्दर विभिन्न प्रकार के आयुधो, लाठियो और पत्थरो द्वारा मार डाले गये ।

उस यूथप ने जब इस समाचार को सुना तब अपने पुत्र-पौत्र, भतीजे, भागिनेय आदि सगे-सम्बन्धियो की मृत्यु से अत्यन्त दु खी हुआ । खाना-पीना छोडकर इधर उधर जङ्गलो मे घूमने लगा और निरन्तर यह सोचता रहा कि मैं किस प्रकार इस कृतघ्न राजा का अपकार करके अपने सम्बन्धियो की मृत्यु का बदला चुका लूं । कहा भी गया है—

मर्षयेद्धर्षणां योऽत्र वंशजां परनिर्मिताम् ।
भयाद्वा यदि वा कामात् स ज्ञेय पुरुषाऽधम ॥ ७५ ॥

अन्वय·—य अत्र भयात् यदि वा कामात् परनिर्मिता वशजा घर्षणा मर्षयेत् स पुरुषाधम ज्ञेय ७५ ॥

व्याख्या—य =पुमान् । अत्र=ससारे । भयात्=भीते कारणात् यदि वा अथवा कामात्=अभिलाषात् । केनाप्यभिप्रायेण । परनिर्मिता=परेण इतरेण पुसा निर्मिता शत्रुकृताम् । वशजा=कौटुम्बिकीम् । घर्षणा=पराभवम् । मर्षयेत्=क्षमते । स =पुमान् । पुरुषाधम =नराधम । ज्ञेय =ज्ञातव्य । कुलस्यापमान नीचा एव सहन्ते नोत्तमा ते तु त सोढुमक्षमा , एव भवन्तीति भाव ॥ ७५ ॥

हिन्दी—भय के कारण अथवा लोभ से वशीभूत होकर जो व्यक्ति शत्रुओ द्वारा उत्पन्न की हुई अपने वश की अवमानना को मौन होकर सह लेता है, उसे नराधम समझना चाहिए ॥ ७५ ॥

अथ तेन वृद्धवानरेण कुत्रचित्पिपासाकुलेन भ्रमता पद्मिनीखण्डमण्डित सर· समासादितम् । तद्यावत्सूक्ष्मेक्षिकयाऽवलोकयति तावद् वनचरमनुष्याणा पद- पङ्क्तिप्रवेशोऽस्ति न निष्क्रमणम् । ततश्चिन्तितम् "नूनमत्र आक्रान्ते दुष्टग्राहेण भाव्यम् । तत्पद्मिनीनालमादाय दूरस्थोऽपि जलं पिबामि ।"

तथाऽनुष्ठिते तन्मध्याद्राक्षसो निष्क्रम्य, रत्नमालाविभूषितकण्ठस्तमुवाच—"भो. ! अत्र य सलिले प्रवेश करोति स मे भक्ष्य इति । तन्नाऽस्ति धूर्ततर- स्त्वत्समोऽन्यो य पानीयमनेन विधिना पिबति । ततस्तुष्टोऽहृ, प्रार्थयस्व हृदयवाञ्छितम् ।"

कपिराह—"भो. ! कियती ते भक्षणशक्ति ?"

स आह—"शतसहस्रायुतलक्षाण्यपि जलप्रविष्टानि भक्षयामि । बाह्यत शृगालोऽपि मा धर्षयति "

वानर आह—"अस्ति मे केनचिद् भूपतिना सहाऽत्यन्त वैरम् । यद्येना रत्नमाला मे प्रयच्छसि, तत्सपरिवारमपि त भूपति वाक्यप्रपञ्चेन लोभयित्वाऽत्र सरसि प्रवेशयामि ।"

सोऽपि श्रद्धेयं वचस्तस्य श्रुत्वा रत्नमाला दत्त्वा प्राह—"भो मित्र ! यत्स- मुचितं भवति तत् कर्त्तव्यम्" इति ।

व्याख्या—अथ=पश्चात् । कुत्रचित्=इतस्तत । वृद्धवानरेण=वृद्धेन यूथा- धिपवानरेण । पिपासाकुलेन=पिपासितेन, तृषातुरेण । पद्मिनीखण्डमण्डित =

पद्मिनीखण्डेन कमलिनीसमूहेन मण्डित शोभितमिति पद्मिनीखण्डमण्डित=कम-लिनीकदम्बालङ्कृतम्। सर=तडाग। समासादितम्=अवाप्तम्। सूक्ष्मेक्षि-कया=सूक्ष्मदृष्ट्या। अवलोकयति=पश्यति। वनचरमनुष्याणा=वनचराश्च ते मनुष्याश्च वनचरमनुष्या तेषा वनचरमनुष्याणाम्=वनचरजीवानाम्। पद-पङ्क्ति=चरणचिह्नावलि प्रवेश, न निष्क्रमण=नहि निर्गम, न हि बहि-रागमनस्य चिह्नम् दृश्यते। जलान्ते=जलमध्ये। दुष्टग्राहेण=दुष्टमकरेण। भाव्यम्=भवितव्यम्। पद्मिनीनाल=कमलिनीदण्डम्। दूरस्थोऽपि=बहि स्थित सन्। निष्क्रम्य=बहिरागत्य। रत्नमालाविभूषितकण्ठ=रत्नस्य मालया विभूषित कण्ठो यस्य स रत्नमालाविभूषितकण्ठ=रत्नमालाऽलङ्कृतकण्ठ। त=यूथाधिप वानरम्। उवाच=प्रोवाच। धूर्तंतर=अतिशयेन धूर्तो धूर्तंतर=प्रवञ्चक, चतुर। पानीय=जलम्। तुष्ट=प्रसन्न। हृदयवाञ्छित=मनोऽभिलषितम्। भक्षणशक्ति=भोजनसामर्थ्यम्। अयुत=दशसहस्रम्। जलप्रविष्टानि=जला-न्तर्गतानि। बाह्यत=बहि स्थित सन्। धर्षयति=तिरस्करोति, प्रवञ्चयति। भूपतिना=राज्ञा। वैर=द्वेष। वाक्प्रपञ्चेन=वाग्जालेन। लोभयित्वा=प्रवञ्च्य। प्रवेशयामि=निवेशयामि। श्रद्धेय=विश्वासयोग्यम्। यत् समुचित=यद् युक्तम्। तत् कर्तव्यम्=तद् विधेयम्।

हिन्दी—कभी उस वृद्ध वानर ने प्यास से व्याकुल होकर इधर-उधर पानी की खोज मे घूमते हुए कमलिनी से सुशोभित एक तालाब को देखा। उसने जब ध्यान से देखा तो वहाँ तालाब मे प्रवेश करनेवाले जीवो का पदचिह्न दिखाई दिया, किन्तु उनके निकलने का कोई चिह्न नही था। इसे देखकर उसने सोचा कि इस तालाब मे कोई न कोई दुष्ट मगर अवश्य रहता है। अत अन्दर प्रवेश करना ठीक नही होगा। बाहर से ही कमलनाल के सहारे पानी पी लेता हूँ।

वह कमलनाल के द्वारा पानी पी रहा था कि तालाब के अन्दर से एक राक्षस निकला। वह रत्न की अत्यन्त सुन्दर माला पहने हुए था। वानर को देखकर उसने कहा—अरे वानर! इस पानी के अन्दर जो प्रवेश करता है, वह मेरा भक्ष्य होता है। तुम्हारे समान धूर्त मैंने नही देखा, क्योंकि तुम पानी मे प्रवेश किये बिना ही कमलनाल से पानी पी रहे हो। मैं तुम्हारी चतुरता से तुझ पर प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो मनोकामना हो वह मुझसे माग लो।

वानर ने पूछा—तुम कितने जीवो को खा सकते हो?

राक्षस ने कहा—पानी मे प्रविष्ट एक सौ, हजार, लाख व्यक्तियो को भी

खा सकता हूँ, किन्तु पानी से बाहर निकलने पर एक सियार भी मुझे विजित कर सकता है।

यह सुनकर उस वानर ने कहा—एक राजा के साथ मेरा आत्यन्तिक वैर है। यदि इस रत्नमाला को तुम मुझे दे दो तो मैं अपनी वाक्चातुरी से प्रलोभित करके सकुटुम्ब उस राजा को इस तालाब के अन्दर प्रवेश करा सकता हूँ।

राक्षस ने उस वानर की विश्वास योग्य बात को सुनकर रत्नमाला को देते हुए कहा—मित्र! जो तुम्हें उचित प्रतीत हो वह करना।

वानरोऽपि रत्नमालाविभूषितकण्ठो वृक्षप्रासादेषु परिभ्रमञ्जनैर्दृष्ट, पृष्टश्च-"भो यूथप! भवानियन्त कालं कुत्र स्थित ?

भवता ईदृग्रत्नमाला कुत्र लब्धा, दीप्त्या सूर्यमपि तिरस्करोति।" वानर प्राह—"अस्ति कुत्रचिदरण्ये गुप्ततरं महत्सरो धनदनिर्मितम्। तत्र सूर्येऽर्धोदिते रविवारे य कश्चिन्निमज्जति, स धनदप्रसादादीदृग्रत्नमालाविभूषितकण्ठो नि सरति।"

अथ भूभुजा तदाकर्ण्य, स वानर समाहूत, पृष्टश्च—"भो यूथाधिप! किं सत्यमेतत्, रत्नमालासनाथ सरोऽस्ति क्वाऽपि ?"

कपिराह—"स्वामिन्! एष प्रत्यक्षतया मत्कण्ठस्थितया रत्नमालया प्रत्ययस्ते। तद्यदि रत्नमालया प्रयोजन तन्मया सह कमपि प्रेषय, येन दर्शयामि।",

तच्छ्रुत्वा नृपतिराह—"—यद्येव तदह सपरिजन स्वयमेष्यामि, येन प्रभूता रत्नमाला उत्पद्यन्ते।"

व्याख्या—रत्नमालाविभूषितकण्ठ =रत्नमालालङ्कृतकण्ठ। वृक्षप्रासादेषु= वृक्षाश्च प्रासादाश्चेति वृक्षप्रासादा तेषु वृक्षप्रासादेषु=वृक्षेषु प्रासादेषु च। इयन्त कालम्=एतावद्दिनपर्यन्तम्। लब्धा=प्राप्ता। दीप्त्या=कान्त्या। तिरस्करोति= परिभवति। गुप्ततर=सुगोप्यम्। धनपतिनिर्मित=धनपतिना कुबेरेण निर्मित खनितमिति धनपतिनिर्मितम्=कुबेरकृतम्। सूर्येऽर्धोदिते=अर्धोदिते भास्करे। निमज्जति=स्नाति। धनदप्रसादात् = कुबेरकृपया। ईदृक्=एतादृक्। नि सरति= सरोवरान्निष्क्रामति। भूभुजा = राज्ञा। समाहूत =आकारित। रत्नमाला-सनाथ=रत्नमालायुतम्। क्वापि=कुत्रापि। प्रत्यक्षतया=प्रत्यक्षरूपया। प्रत्यय = विश्वास। सपरिजन = सपरिकर सानुचरश्च। एष्यामि = गमिष्यामि। प्रभूता = विपुला। उत्पद्यन्ते = मिलन्ति।

हिन्दी—राक्षस की दी हुई माला को कण्ठ मे धारण करके वह वानर वृक्षो एव भवनो पर क्रमश घूमता हुआ पुरवासियो की दृष्टि मे पड गया। नगरनिवासियो ने प्रेमपूर्वक उससे पूछा—अरे यूथप ! आप इतने दिनो तक कहाँ रहे, इतनी सुन्दर रत्न की माला आपको कहाँ से मिल गयी। यह तो अपनी कान्ति से सूर्य को भी तिरस्कृत कर दे रही है।

बन्दर ने उत्तर दिया—वन मे कुबेर द्वारा निर्मित एक अत्यन्त गुप्त तालाब है। उस तालाब मे रविवार को अर्ध सूर्योदय काल मे जो स्नान करता है, वह कुबेर की कृपा से ऐसी ही रत्नमाला से सुशोभित कण्ठवाला होकर तालाब से बाहर निकलता है।

राजा ने जब यह समाचार सुना तो वह उस यूथप को बुलाकर उससे पूछा—यूथाधिप ! क्या यह बात सत्य है ? कहाँ पर रत्नमालाओ से युक्त तालाब है ?

उस यूथप बन्दर ने कहा—स्वामिन् ! इतना तो मेरे कण्ठ मे प्रत्यक्ष रूप से स्थित इस रत्नमाला को देखकर ही विश्वास किया जा सकता है। यदि श्रीमान् को रत्नमाला की आवश्यकता है, तो मेरे साथ किसी को भेज दीजिए। मैं उसे भी वह सरोवर दिखा दूँगा।

यह सुनकर राजा ने कहा—यदि यह बात सत्य है तो मैं स्वय अपने समस्त परिवार के साथ वहाँ चलूँगा। चलने से मेरे पास बहुत-सी रत्नमालाएँ हो जायेंगी।

वानर आह—"एव क्रियताम्।"

वानर ने कहा—ठीक है, आप स्वय चल सकते हैं।

तथाऽनुष्ठिते, भूपतिना सह रत्नमालालोभेन सर्वे कलत्रभृत्या प्रस्थिता। वानरोऽपि राज्ञा दोलाऽधिरूढेन स्वोत्सङ्गे आरोपित सुखेन प्रीतिपूर्वमानीयते। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—तथाऽनुष्ठिते=तथैव स्वीकृते। भूपतिना=राज्ञा। रत्नमालालोभेन=रत्नमालाप्राप्तिलालसया। कलत्रभृत्या—कलत्राणि च भृत्याश्चेति कलत्रभृत्या =भार्या सेवकाश्च। प्रस्थिता =प्रचलिता। दोलाधिरूढेन=दोलायामधिरूढो दोलाधिरूढस्तेन दोलाधिरूढेन=प्रेङ्खाश्रितेन। स्वोत्सङ्गे=स्वस्योत्सङ्ग स्वोत्सङ्ग तस्मिन् स्वोत्सङ्गे=आत्मन क्रोडे। आरोपित =स्थापित, उपवेशित। आनीयते=नीयते।

हिन्दी—राजा के प्रस्थान करने पर रत्नमाला के लोभ से राजा की स्त्रियाँ तथा नौकर भी राजा के साथ चल पडे। पालकी बैठे हुए राजा ने प्रेमपूर्वक उस वृद्ध वानर को अपनी गोद मे बैठा लिया और वह सुखपूर्वक चलने लगा। अथवा ठीक ही कहा गया है—

तृष्णे! देवि! नमस्तुभ्य, यया वित्ताऽन्विता अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते, भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि ॥ ७६ ॥

अन्वय —तृष्णे! देवि! तुभ्य नम, (यतो हि) यया वित्तान्विता अपि अकृत्येषु नियोज्यन्ते, दुर्गमेषु अपि भ्राम्यन्ते ॥ ७६ ॥

व्याख्या—हे तृष्णे देवि!=तृष्णानामिके देवते। तुभ्य=ते। नम=नमस्कारोऽस्तु। यतो हि, यया=त्वया। वशीभूता। वित्तान्विता=वित्तेन अन्विता वित्तान्विता धनिनोऽपि। अकृत्येषु=अकार्येषु। नियोज्यन्ते=प्रवर्त्यन्ते। तथा दुर्गमेषु=गन्तु दु शकेषु अपि स्थानेषु। भ्राम्यन्ते=भ्रमणे प्रवृत्ता क्रियन्ते। तृष्णयाऽभिभूता धनाढया अपि अकार्येषु प्रवर्तन्ते इत्यर्थ ॥ ७६ ॥

हिन्दी—हे देवि तृष्णे! तुमको प्रणाम है, क्योकि जिस तेरे द्वारा वशीभूत होकर धनवाले व्यक्ति भी अनुचित कार्य मे प्रवृत्त हो जाते है और दुर्गम स्थानो मे भी भटकते फिरते हैं ॥ ७६ ॥

तथा च—

इच्छति शती सहस्र, सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाऽधिपस्तथा राज्य, राज्यस्थ स्वर्गमीहते ॥ ७७ ॥

अन्वय —शती सहस्र इच्छति, सहस्री लक्षम् ईहते, लक्षाधिप राज्य तथा राज्यस्थ स्वर्गम् ईहते ॥ ७७ ॥

व्याख्या—शती=शत शतसख्याक परिमित धनमस्यास्तीति शती=शताधिप। लक्ष=लक्षसख्यापरिमित द्रव्यम्। ईहते=कामयते। लक्षाधिप= लक्षसख्याकधनवान्। राज्य=नृपत्वम्। ईहते=वाञ्छति। तथा राज्यस्थ= राज्ये तिष्ठतीति राज्यस्थ=राज्यसिहासनाधिरूढ सन् स्वर्ग=देवलोकम्। ईहते=कामयते। उत्तरोत्तर तृष्णा वर्द्धते इत्यर्थ ॥ ७७ ॥

हिन्दी—सौ रुपयेवाला व्यक्ति हजार रुपये चाहता है, हजार रुपयेवाला लाख रुपये चाहता है, जो लखपती है वह सम्पन्न राज्य चाहता है उसी प्रकार राज्याधिरूढ सब सुविधाओवाला स्वर्ग चाहता है। (इस तृष्णा के वशीभूत

होकर प्रत्येक व्यक्ति आगे बढना चाहता है, किन्तु मनुष्य की कामनाएँ अपरिमित होती हैं, उनका कभी अन्त नही होता है ॥ ७७ ॥

जीर्यन्ते जीर्यतः केशा., दन्ता जीर्यन्ति जीर्यत ।
जीर्यतश्चक्षुषी श्रोत्रे, तृष्णैका तरुणायते ॥ ७८ ॥

अन्वय—जीर्यत केशा जीर्यन्ते । जीर्यत दन्ता जीर्यन्ति, जीर्यत चक्षुपी श्रोत्रे (जीर्येते किन्तु) एका तृष्णायते ॥ ७८ ॥

व्याख्या—जीर्यत –जीर्यतीति जीर्यन् तस्य जीर्यत =जीर्यमाणस्य वृद्धस्य जनस्य । केशा =लोमानि । दन्ता =रदा । चक्षुषी=नेत्रे । श्रोत्रे=कर्णौ च जीर्यन्ते । केवलम् एका तृष्णा=स्पृहा । तरुणायते—तरुणीवाचरतीति तरुणायते=नवीनतामाप्नोति । अर्थात् केवलमेका तृष्णैव सर्वदा उत्तरोत्तरमेधते इति भाव ॥ ७८ ॥

हिन्दी—वृद्ध व्यक्ति का बाल, दाँत, आंख और कान आदि सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं । किन्तु उसकी एकमात्र तृष्णा–कामना–इच्छा नित्य प्रति युवती सी बनी रहती है । अर्थात् मनुष्य की कामनाएँ कभी भी पूर्ण नही होती हैं, वे हमेशा नवयौवना युवती के समान नवीन होती रहती हैं ॥ ७८ ॥

अथ तत्सर समासाद्य वानर प्रत्यूषसमये राजानमुवाच—"देव ! अत्राऽर्धोदिते सूर्येऽन्त प्रविष्टाना सिद्धिर्भवति तत्सर्वोऽपि जन एकदैव प्रविशतु । त्वया पुनर्मया सह प्रवेष्टव्य, येन पूर्वदृष्टस्थानमासाद्य, प्रभूतास्ते रत्नमाला दर्शयामि ।"

अथ प्रविष्टास्ते लोका सर्वे भक्षिता राक्षसेन । अथ तेषु चिरमाणेषु राजा वानरमाह—"भो यूथाधिप ! किमिति चिरायते मे परिजन ?"

तच्छ्रुत्वा वानर· सत्वरं वृक्षमारुह्य, राजानमुवाच—"भो दुष्टनरपते ! राक्षसेनान्त सलिलस्थितेन भक्षितास्ते परिजन । साधित मया कुलक्षयज वैरम्, तद् गम्यताम् । त्वं स्वामीति मत्वा नाऽत्र प्रवेशित । उक्त च—

व्याख्या—अथ=तदनन्तरम् । समासाद्य=प्राप्य । प्रत्यूषसमये=प्रभातकाले । अत्र=सरसि । अर्धोदिते=अर्धोदयकालिके । अन्त प्रविष्टानाम्=मध्ये प्रविष्टानाम् । सिद्धि =मनोरथपूर्ति , रत्नप्राप्ति । एकदैव=एकस्मिन् काले । लोका जनसमुदाय । अथ=कियत्कालानन्तरम् । तेषु=राजपरिवारेषु । चिरमाणेषु=विलम्बायमानेषु । चिरायते=अतिकालायते । सत्वरम्=अतिशीघ्रम् । अन्त सलिलस्थेन=जलमध्यगतेन । साधित=सम्पादितम् । कुलक्षयज=कुटुम्ब-

क्षयेणोत्पन्नम् । स्वामीति मत्वा=कुलप्रभु मम पालकश्चेति विचार्य अत्र=सरसि । न प्रवेशित =न प्रवेशाय प्रयत्न कृत ।

हिन्दी—इसके बाद प्रात काल मे उस सरोवर पर पहुँचकर बन्दर ने राजा से कहा—राजन् ! सूर्य के अर्धोदय काल मे ही इस सरोवर मे प्रवेश करने से अभीष्ट की सिद्धि होती है। अत सभी लोग एक ही समय मे प्रवेश करें तो अच्छा होगा। और आप अभी रुक जाइए, मेरे साथ प्रवेश कीजिएगा, जिससे मैं पूर्वपरिचित स्थान मे आपको ले चलकर असख्य रत्नमालाओ को दिखलाऊँगा।

उस सरोवर मे प्रवेश करते ही राजा के समस्त परिवार को वह राक्षस खा गया। अपने परिजनो को देर करते देखकर राजा ने वानर से पूछा—यूथाधिप ! मेरे अनुयायी लोग अभी तक बाहर नही निकले, उनके निकलने मे देर क्यो हो रही ?

राजा के प्रश्न को सुनकर वह वानर तत्काल एक वृक्ष पर चढ गया और ऊपर से ही उत्तर दिया—अरे नीच राजा ! पानी मे रहने वाले राक्षस ने तुम्हारे परिवार को खा लिया है। मैंने अपने कुल के विनाश का बदला चुका लिया। अब तुम यहाँ से जा सकते हो। तुमको अपना पालक समझकर मैंने इस सरोवर मे प्रवेश नही करने दिया। कहा भी गया है कि—

कृते प्रतिकृत कुर्याद्धिसिते प्रतिहिंसितम् ।
न तत्र दोषं पश्यामि, यो दुष्टे दुष्टमाचरेत् ॥ ७९ ॥

अन्वय —य कृते प्रतिकृत कुर्यात्, हिंसिते प्रतिहिंसित च कुर्यात्, दुष्टे, दुष्टम् आचरेत् तत्र दोष न पश्यामि ॥ ७९ ॥

व्याख्या—य पुरुष कृते=केनापि पुरुषेण उपकारेऽपकारे वा विहिते सति । प्रतिकृतिं=प्रतिकार यथोचितमुपकारमपकार वा कुर्यात्=विदध्यात् । हिंसिते=हिंसायाम् । मारणे सति प्रतिहिंसित=प्रतिहिंसा प्रतिवध कुर्यात् । दुष्टे=दुर्जने दुष्टप्रकृतिके जने । दुष्ट=दोषयुक्तम् । कर्मदण्ड दौर्जन्य वा । समाचरेत्=अनुतिष्ठेत् । तत्र=तस्मिन् विषये । दोष न पश्यामि=नावलोकयामि । अर्थात् यो मानव अपकार कृते प्रतिकार कुर्यात्, वधे प्रतिवध विदध्यात्, दुष्टप्रकृतौ नरे दण्ड दद्यात् तत्र न कश्चन भवति दोष इति भाव ॥ ७९ ॥

हिन्दी—अपकार करनेवाले व्यक्ति का अपकार करना, मारनेवाले व्यक्ति को मारना और दुष्ट प्रकृति व्यक्ति के प्रति दुष्टता करना उचित है। ऐसा करने

पर कोई दोष नही होता । अत तुम्हारे प्रति किये गये आचरण को मैं दोष-युक्त नही समझता हूँ ॥ ७९ ॥

"तत्त्वया मम कुलक्षय कृत', मया पुनस्तव" इति ।

अथैतदाकर्ण्य, राजा कोपाविष्ट पदातिरेकाकी यथायातमार्गेण निष्क्रान्त । अथ तस्मिन् भूपतौ गते राक्षसस्तृप्तो जलान्निष्क्रम्य सानन्दमिदमाह—

व्याख्या—त्वया=भूपतिना । कुलक्षय =वशविनाश । मया=वानरेण । कोपाविष्ट =क्रोधाभिभूत । पदाति =पादचारी । यथायातमार्गेण=येनायात-स्तेन मार्गेण । निष्क्रान्त =गत । गते=प्रयाते । तृप्त =सुतृप्त । आह=उवाच ।

हिन्दी—तुमने मेरे कुल का विनाश किया । अत मैंने भी तुम्हारे कुल का नाश कर दिया । वानर की इस बात को सुनकर राजा क्रोधाभिभूत हो पैदल ही जिस रास्ते से आये थे उसी रास्ते से वापस चले गये । राजा के चले जाने के बाद राक्षस ने जलाशय से बाहर निकलकर अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा—

"हत शत्रु , कृतं मित्र, रत्नमाला न हारिता ।
नालेन पिबता तोय भवता साधु वानर ! ॥ ८० ॥

अन्वय —हे वानर ! भवता शत्रु हत , मित्र कृतम्, रत्नमाला (च) न हारिता नालेन तोय पिबता साधु (कृतम्) ॥ ८० ॥

व्याख्या—हे वानर ! =हे कपे ! भवता=त्वया । शत्रु'=शत्रुभूत कुलनाश-कारिणो राज्ञ परिवार । हत =नाशित' । मित्र कृत=मल्लक्षण, सखा प्राप्त । रत्नमाला=मत्प्रसादेन लब्धा रत्नमयी मालिका च । न हारिता=न हस्तान्मो-चिता । नालेन =कमलदण्डेन । तोय=पानीयम्, पिबता=आस्वादयता साधु= सम्यक् (कृतम्) । प्रज्ञाप्रभावेण कमलनालेन पानीय पीत्वा भवान् सर्वं स्वकार्यं कृतवानित्यहो प्रशसनीयास्ति ते बुद्धि ॥ ८० ॥

हिन्दी—कमलनाल से पानी पीने की निपुणता दिखाकर तुमने अपने शत्रु का विनाश कर दिया, मेरे साथ मित्रता कर ली और रत्नमाला को कही खोया भी नहीं । वानरराज ! तुम्हारी बुद्धि धन्य है । वस्तुत तुम एक चतुर वानर हो ॥ ८० ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—"यो लौल्यात्कुरुते कर्म" इति ।

अत मैं कहता हूँ कि जो लोभ के कारण कार्य करता है इत्यादि ।

एवमुक्त्वा, भूयोऽपि स चक्रधरमाह—"भो मित्र ! प्रेषय मा, येन स्वगृहं गच्छामि ।"

चक्रधर आह—"भद्र ! आपदर्थे धनमित्रसङ्ग्रह क्रियते। तन्मामेवविधं त्यक्त्वा क्व यास्यसि ? उक्तं च—

व्याख्या—एवमुक्त्वा=एव कथयित्वा। भूयोऽपि=पुनरपि। प्रेषय मा=गमनायानुमतिं प्रयच्छ। आपदर्थे = आपत्तिनिवारणाय धनमित्रादिसङ्ग्रह = धनाना मित्राणा च सङ्ग्रह =सञ्चय। एवविध=चक्राकुलम्। क्व यास्यसि= कुत्र गच्छसि।

हिन्दी—उक्त कथा को सुनने के बाद सुवर्णसिद्धि ने चक्रधर से कहा—मित्र ! अब मुझे जाने की अनुमति दो, जिससे मैं घर जा सकूँ।

चक्रधर ने कहा—भद्र ! विपत्तिकाल मे सहयोग करने के लिए ही धन और मित्र सग्रह किया जाता है। मुझे इस स्थिति मे छोडकर कहाँ जाओगे, क्योकि—

यस्त्यक्त्वा सापदं मित्र याति निष्ठुरता वहन्।
कृतघ्नस्तेन पापेन नरके यात्यसशयम् ॥ ८१ ॥

अन्वय—य सुहृत् सापद मित्र त्यक्त्वा निष्ठुरता वहन् याति कृतघ्न. (स) तेन पापेन असशय नरके याति ॥ ८१ ॥

व्याख्या—य=यो हि। सुहृत्=सखा। सापद=आपदा सहित सापद विपद्-ग्रस्त मित्र सुहृद त्यक्त्वा=विहाय। निष्ठुरता=निर्दयत्वम्। वहन्=धारयन्। याति=प्रयाति। कृतघ्न =कृत हन्तीति कृतघ्न =अकृतज्ञ। तत्कृत पूर्वोपकार विस्मृतवान्। स =पुरुष। तेन पापेन=मित्रोपेक्षारूपेण पातकेन। असशयम्= नि सन्देहम्। नरके=निरये याति=गच्छति। मित्रस्यापदो दूरीकरण मित्रस्यास्ति धर्म इति भाव ॥ ८१ ॥

हिन्दी—जो व्यक्ति आपत्ति मे पडे हुए मित्र को छोडकर निष्ठुरतापूर्वक चला जाता है वह कृतघ्न उसी पाप के कारण नि सन्देह नरक का भागी बनता है।

सुवर्णसिद्धिराह—भो, सत्यमेतद्यदि गम्यस्थाने शक्तिर्भवति। एतत्पुनर्मनुष्याणामगम्यस्थानम्। नाऽस्ति कस्याऽपि त्वामुन्मोचयितु शक्ति अपर यथा यथा चक्रभ्रमवेदनया तव मुखविकार पश्यामि तया-तयाऽहमेतज्जानामि यत् द्राग् गच्छामि मा कश्चिन्ममाऽप्यनर्थो भवेदिति। यत —

व्याख्या—गम्यस्थाने=गमनयोग्ये स्थले। मोचयितु=उन्मोचयितुम्। कष्टान्निवारयितुम्। शक्ति =सामर्थ्यम्। चक्रभ्रमवेदनया=चक्रभ्रमणजन्यकष्टेन। मुखविकार=वदनविकृतिम्। द्राक्=त्वरितम्। अनर्थ =आपत्ति।

हिन्दी—सुवर्णसिद्धि ने कहा—तुम ठीक कहते हो। यदि इस स्थान मे रहने की शक्ति होती तो मैं अवश्य रह जाता। यह स्थान मनुष्य के ठहरने योग्य नही है और तुम्हें इस चक्र से छुडाने की सामर्थ्य किसी मे नही है। दूसरी बात यह है कि जैसे चक्र के घूमने से पीडा के कारण तुम्हारी वदलती हुई मुखाकृति को देखता हूँ तो उसमे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि मुझे यहाँ से अतिशीघ्र चला जाना चाहिए। कही ऐसा न हो कि मैं भी किसी आपत्ति मे पड जाऊँ, क्योकि कहा गया है—

यादृशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर।
विकालेन गृहीतोऽसि, य· परैति स जीवति ॥ ८२ ॥

अन्वय·—हे वानर! यादृशी तव वदनच्छाया दृश्यते (तेन ज्ञायते) विकालेन (राक्षसेन) गृहीतोऽसि, (तस्मात्) य परैति स (एव) जीवति ॥ ८२ ॥

व्याख्या—हे वानर!=भो कपे! यादृशी=यथा (म्लानता गता)। तव= भवत। वदनच्छाया=मुखश्री। दृश्यते=प्रत्यक्षतयानुमीयते यत्त्व विकालेन= दुष्टकालेन राक्षसेन। गृहीत=आक्रान्त। असि। अत य=पुरुष। परैति= पलायते स एव जीवति=प्राणान् धर्तुं शक्नोति। अर्थात् दुर्दशाग्रस्त पुमास· मनर्थापातशङ्कया परित्यज्य तत स्थानात् पलायनमेव प्राणिना प्राणरक्षणोपाय इति भाव ॥ ८२॥

हिन्दी—हे वानर! जैसी तुम्हारे मुख की कान्ति दिखाई देती है उससे स्पष्ट मालूम पडता है कि तुम विकाल नामक राक्षस से अभिभूत हो चुके हो। अत जो यहा से दूर भाग जायेगा वही जीवित बच सकेगा ॥ ८२ ॥

चक्रधर आह—कथमेतत्? सोऽब्रवीत्—

चक्रधर ने पूछा—यह कैसे? सुवर्णसिद्धि ने कहा—

१०. विकाल-वानर-कथा

कस्मिंश्चिन्नगरे भद्रसेनो नाम राजा प्रतिवसति स्म। तस्य सर्वलक्षणसंपन्ना रत्नवती नाम कन्याऽस्ति। ता कश्चिद्राक्षसो जिहीर्षति। रात्रावागत्योपभुङ्क्ते, पर कृतरक्षोपधाना ता हर्तुं न शक्नोति। साऽपि तत्समये रक्ष सान्निध्यजाम- वस्यामनुभवति कम्पादिभि।

एवमतिक्रामति काले कदाचित्स राक्षसो मध्यनिशाया गृहकोणे स्थितः।

साऽपि राजकन्या स्वसखीमुवाच—"सखि ! पश्यैष विकालः समये नित्यमेव मां कदर्थयति । अस्ति तस्य दुरात्मनः प्रतिषेधोपायः कश्चित् ?"

तच्छ्रुत्वा राक्षसोऽपि व्यचिन्तयत्—"नूनं यथाऽहं, तथाऽन्योऽपि कश्चिद्विकाल-नामास्या हरणाय नित्यमेवागच्छति, परं सोऽप्येनां हर्तुं न शक्नोति । तत्तावदश्व-रूपं कृत्वाऽश्वमध्यगतो निरीक्षयामि—किंरूपः स किंप्रभावश्चेति ?" एवं राक्षसो-ऽश्वरूपं कृत्वाऽश्वानां मध्ये तिष्ठति ।

व्याख्या—सर्वलक्षणसम्पन्ना=सर्वैः लक्षणैः सम्पन्ना सर्वलक्षणसम्पन्ना= सर्वलक्षणयुक्ता सकलशुभलक्षणोपेता वा । कन्या=पुत्री । जिहीर्षति=हर्तुमिच्छति । उपभुङ्क्ते=तया सह कामक्रीडां करोति । कृतरक्षोपधाना=कृतं रक्षाया उपधानं यस्याः सा तां कृतरक्षोपधानाम्-मन्त्रतन्त्रादिद्वारा रक्षिताम् । हर्तुं=नेतुम् । तत्समये=राक्षसस्यागमनकाले-रतिसमये वा । रक्षःसान्निध्यजां=राक्षसागमन-कालिकीम् । कम्पादिभिः=शरीरकम्पनादिभिः । अतिक्रामति=गच्छति । मध्यनिशायाम्=अर्धरात्रे । विकालः=विकालनामा, विकरालाकृतिर्वा । समये= निशीथे । कदर्थयति=पीडयति । प्रतिषेधोपायः=निरोधोपायः । अन्योऽपि= इतरोऽपि । अस्याः=कन्यायाः । एनां=कन्याम् । अश्वरूपं कृत्वा=घोटकरूपं विधाय । अश्वमध्यगतः=अश्वानां मध्ये स्थितः । निरीक्षयामि=पश्यामि । किंप्रभावः=किंविक्रमः कीदृक्शक्तिसम्पन्नो वा ।

हिन्दी—किसी नगर में भद्रसेन नाम का राजा रहता था । उसकी सभी लक्षणों से सम्पन्न रत्नवती नाम की एक कन्या थी । कोई राक्षस उस कन्या को हरना चाहता था । वह रात में आकर उस कन्या के साथ काम-क्रीडा किया करता था । किन्तु मन्त्र-यन्त्र आदि के द्वारा अभिरक्षित होने के कारण उसका अपहरण नहीं कर सकता था । रात के समय वह अपने शरीर के कम्पन आदि से राक्षस के आगमन का आभास पा जाती थी ।

इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर एक दिन कभी वह राक्षस आधी रात में उस कन्या के घर के कोने में आकर बैठ गया । उसी समय वह राज-कन्या भी अपनी सखी से बोली—हे सखि ! देखो, यह विकाल नाम का राक्षस नित्य रात में निश्चित समय पर मुझे कष्ट पहुँचाता है । क्या उस पापी के रोकने का कोई उपाय है ?

उस कन्या के कथन को सुनकर उस राक्षस ने सोचा, मालूम पड़ता है कि जिस प्रकार मैं इसका अपहरण करना चाहता हूँ उसी प्रकार कोई दूसरा भी

विकाल नामक राक्षस इसको हरने के लिए नित्य आया करता है, किन्तु यह भी इसको हरने मे समर्थ नही होता। मैं घोडे का रूप धारण कर घोडो के बीच बैठ जाता हूँ और देखता हूँ कि वह कितना सुन्दर और कैसा प्रभावशाली है। तदनुसार वह राक्षस घोडा बनकर घोडो के मध्य मे खडा हो गया।

तथाऽनुष्ठिते निशीथसमये राजगृहे कश्चिदश्वचौरः प्रविष्ट। स च सर्वानश्वान् अवलोक्य, तं राक्षसमश्वतम विज्ञायाधिरूढ।

अत्रान्तरे राक्षसश्चिन्तयामास—"नूनमेष विकालनामा मा चौर मत्वा कोपान्निहन्तुमागत। तत्किं करोमि ?" एव चिन्तयन् सोऽपि तेन खलीन मुखे निधाय, कशाघातेन ताडित। अथाऽसौ भयत्रस्तमना प्रधावितुमारब्ध।

चौरोऽपि दूर गत्वा, खलीनाकर्षणेन त स्थिर कर्तुमारब्धवान्। स तु वेगाद्वेगतर गच्छति। अथ त तथाऽगणितखलीनाकर्षण मत्वा चौरश्चिन्तयमास—"अहो, नैवविधा वाजिनो भवन्त्यगणितखलीना। तन्नूनमनेनाऽश्वरूपेण राक्षसेन भवितव्यम्। यद्यपि कञ्चित्पासुल भूमिदेशमवलोकयामि तदात्मान तत्र पातयामि। नाऽन्यथा मे जीवितव्यमस्ति।

व्याख्या—तथाऽनुष्ठिते=तथाकृते सति। निशीथसमये=अर्धरात्रे। अश्वतम=श्रेष्ठमश्वम्। मत्वा=विज्ञाय। निहन्तु=मारयितुम्। सोऽपि=राक्षसोऽपि। तेन=चौरेण। खलीन—खे=मुखे लीन खलीन=कविकाम्। मुखे=मुखमध्ये। निधाय=आरोप्य। कशाघातेन=कशाप्रहारेण। भयत्रस्तमना=भयभीत। प्रधावितु=धावितुमारब्ध। खलीनाकर्षणेन=कविकाकर्षणेन। त=राक्षसाश्वम्। स=अश्व। वेगाद्वेगतर=तीव्रात्तीव्रतरम्। गच्छति=प्रधावति। अगणितखलीनाकर्षण=विगणितकविकाकर्षणम्। वाजिन=अश्वा। पासुल=सिकताबहुलम्। जीवितव्य=जीवनम्।

हिन्दी—वैसा करने पर आधी रात के समय कोई घोडो का चोर राजभवन मे घुसा और सब घोडो को देखकर उस राक्षस को सबसे अच्छा घोडा समझकर उसी पर सवार हो गया।

इसके बाद राक्षस सोचने लगा—नि सन्देह यही विकाल नाम का वह राक्षस है, जो मुझे चोर समझकर मारने के लिए आया है। तो क्या करूँ ? अभी वह सोच ही रहा था कि उस चोर ने उसके मुख मे लगाम लगाकर कोडे से मारा। कोडे की मार खाकर वह भयभीत हो उठा और दौडना प्रारम्भ किया।

कुछ दूर जाने के बाद चोर लगाम को खीचकर उसे रोकने लगा। लगाम को खीचने पर वह राक्षस और भी वेग से भागने लगा। लगाम के अवरोध को न मानते हुए देखकर चोर चिन्ता मे पड गया और सोचने लगा—इस प्रकार के घोडे नही हो सकते हैं, जो लगाम के अवरोध को न मानें। जान पडता है कि घोडा वना हुआ कोई राक्षस है। यदि कही बालूवाली जमीन मिल जाय तो मैं वहां कूद पड़ूँ, अन्यथा मेरा प्राण बचना कठिन है।

एव चिन्तयत इष्टदेवता स्मरतस्तस्य सोऽश्वो वटवृक्षस्य तले निष्क्रान्त। चौरोऽपि वटप्ररोहमासाद्य तत्रैव विलग्न। ततो द्वावपि तौ पृथग्भूतौ परमानन्दभाजौ, जीवितविषये लब्धप्रत्याशौ सम्पन्नौ।

अथ तत्र वटे कश्चिद्राक्षससुहृद्वानर स्थित आसीत्। तेन राक्षस त्रस्तमालोक्य व्याहृत—"भो मित्र! किमेव पलाय्यतेऽलीकभयेन? त्वद्भक्ष्योऽय मानुष, भक्ष्यताम्।"

सोऽपि वानरवचो निशम्य, स्वरूपमाधाय शङ्कितमना स्खलितगतिर्निवृत्त। चौरोऽपि त वानराहूत ज्ञात्वा, कोपात्तस्य लाङगूल लम्बमान मुखे निधाय, चर्वितवान्।

वानरोऽपि त राक्षसाऽभ्यधिक मन्यमानो भयान्न किञ्चिदुक्तवान्। केवल व्यथार्तो निमीलितनयनस्तिष्ठति। राक्षसोऽपि त तथाभूतमवलोक्य श्लोकमेनमपठत्—

याद्दशी वदनच्छाया दृश्यते तव वानर!।
विकालेन गृहीतोऽसि, य परैति स जीवति॥

इत्युक्त्वा प्रनष्टश्च।

व्याख्या—एव चिन्तयत=इत्थ विचारयत। इष्टदेवता स्मरत=स्वेष्टदेवता प्रार्थयत। तस्य=चोरस्य। तले=अधस्तात्। निष्क्रान्त=निगत। वटप्ररोह=वटवृक्षजटाम्। आसाद्य=धृत्वा। तत्रैव=वटमूले। विलग्न=प्रलग्न द्वौ=चोरराक्षसौ। पृथग्भूतौ=पृथग्जातौ। जीवितविषये=स्वस्वजीवनविषये। लब्धप्रत्याशौ=प्राप्ताशौ। त्रस्तमालोक्य=भयग्रस्त विलोक्य। व्याहृत=कथितम्। पलाय्यते=पलायन क्रियते। अलीकभयेन=मिथ्याभयेन। भक्ष्य=खाद्यभूत। निशम्य=श्रुत्वा। स्वरूपमाधाय=स्वकीय रूप धृत्वा। स्खलितगति=स्खलितवेग। वानराहूत=वानरेणावाहितम्। कोपात्=क्रोधात्। लाङ्गूल=पुच्छम्। चर्वितवान्=खादितवान्। राक्षसाऽभ्यधिक=राक्षसादपि बलवत्तरम्।

व्यथार्तं =पीडया दु खित । निमीलितनयन =निमीलितलोचन । तथाभूत= दु खित मौन च । प्रनष्ट =पलायित ।

हिन्दी—उसके ऐसा सोचते हुए और इष्ट देवता का स्मरण करते हुए वह घोडा एक वटवृक्ष के नीचे से निकला। चोर वट की जटाओ को पकडकर वही चिपक गया। तब वे दोनो अलग हुए तथा अत्यधिक प्रसन्न हुए एव जीवन के विषय में आशावान् हो गये।

उस वटवृक्ष पर राक्षस का मित्र एक वानर रहता था। राक्षस को भय-भीत होकर भागते हुए जब उसने देखा तो उसे रोकते हुए कहा—झूठमूठ के भय से तुम क्यो भाग रहे हो ? यह तो तुम्हारा भक्ष्य मनुष्य है। इसे पकडकर खा जाओ।

वानर की बात सुनकर वह राक्षस अपना स्वरूप प्रकट करके भयग्रस्त सा धीरे-धीरे अपनी गति को रोकते हुए खडा हो गया। चोर भी उस राक्षसको वानर द्वारा आवाहित समझकर क्रोध के कारण उसकी लटकती हुई पूँछ को चबाने लगा। उस चोर को राक्षस से भी अधिक बलवान् समझकर डर के मारे बानर ने कुछ नही कहा, केवल अपनी दोनो आँखो को बन्द करके मौन रह गया। राक्षस ने जब उसको इस प्रकार मौन देखा तो इस श्लोक को पढा—'यादृशी वदनच्छाया' आदि। इस श्लोक को पढने के बाद वह तत्काल वहाँ से भाग खडा हुआ।

"तत्प्रेषय मा येन गृहं गच्छामि। त्वं पुनरनुभुङ्क्ष्वात्र स्थित एव लोभवृक्षफलम्।"

चक्रधर आह—"भो अकारणमेतत्। दैववशात्सम्पद्यते नृणा शुभाऽशुभम्। उक्त च—

व्याख्या—भुङ्क्ष्व=अनुभव । लोभवृक्षफलम्=लोभरूनपादपस्य फल, परिणामम् दैववशात् =भाग्यवशात् ।

हिन्दी—सुवर्णसिद्धि ने कहा—अब आज्ञा दो कि मैं घर चला जाऊँ। तुम यहाँ रहकर लोभरूपी वृक्ष का फल भोगो।

चक्रधर ने कहा—मैं तुम्हारी इस बात से सहमत नही हूँ। भाग्य के कारण मनुष्य शुभाशुभ फल का उपभोग करता है। कहा भी गया है—

दुर्गंत्रिकूट परिखा समुद्रो रक्षासि योधा धनदाच्च वित्तम्।
शास्त्र च यस्योशनसा प्रणीत स रावणो दैववशाद्विपन्नः ॥ ८३ ॥

अन्वय —यस्य त्रिकूट दुर्गं, समुद्र परिखा, योधा रक्षांसि, धनदाच्च वित्तम्, उशनसा प्रणीत शास्त्रम्, स रावण दैववशात् विपन्न ॥ ८३ ॥

व्याख्या—यस्य=रावणस्य। त्रीणि कूटानि शिखराणि यस्य स त्रिकूट = त्रिकूटनामधेय पर्वत । दुर्गं =परेषा दुर्गम सुगुप्त स्थानमासीत्। समुद्र = शतयोजनविस्तीर्णो जलनिधि । तस्य=दुर्गस्य। परिखा=खेयम्, दुर्गस्य समन्तात् स्थापितो जलमूह आसीत्। रक्षांसि=राक्षसा । योधा =योद्धारो भटा आसन्। धनदात्—धन ददातीति धनद तस्मात् धनदात्=निजपराक्रमेण जितात् कुबेरात् च यस्य धन=धनप्राप्तिरासीत्। यस्य शास्त्र=ज्ञानसम्पादक नीतिशास्त्रम्। उशनसा=दैत्यगुरुणा शुक्राचार्येण। प्रणीत=निर्मितम् आसीत्। सोऽपि रावण । दैववशात्=भाग्यस्य प्रतिकूलतया विपन्न =विपत्ति प्राप्त विनष्ट । अर्थात् भाग्ये विरुद्धे सति महदैश्वर्यसम्पन्नो रावणोऽपि यदि विपत्तिमनुभूतवान् तर्हि का कथाऽन्येषामित्यर्थं ॥ ८३ ॥

हिन्दी—त्रिकूट पर्वत ही जिसका दुर्ग था, समुद्र खाई का काम करता था, राक्षस ही जिसके योद्धा थे, कुबेर का समस्त धन ही जिसका अपना था और शुक्राचार्य द्वारा निर्मित नीतिशास्त्र ही जिसका ज्ञानवर्द्धक शास्त्र था, वह रावण भी भाग्य की प्रतिकूलता के कारण मारा गया ॥ ८३ ॥

तथा च—अन्धक, कुब्जकश्चैव, त्रिस्तनी राजकन्यका।
त्रयोऽप्यन्यायत सिद्धा सम्मुखे कर्मणि स्थिते ॥ ८४ ॥

अन्वय —कर्मणि सम्मुखे स्थिते अन्धक, कुब्जक त्रिस्तनी राज्यकन्यका च त्रयोऽपि अन्यायत सिद्धा ॥ ८४ ॥

व्याख्या—कर्मणि=कर्मफले। सम्मुखे स्थिते=अनुकूलता गते। अन्धक = नेत्रहीन कुब्जक =कुब्ज । त्रिस्तनी—त्रीणि स्तनानि यस्या सा त्रिस्तनी= स्तनत्रयवती। राजकन्यका=राजसुता च। त्रयोऽपि=एते त्रय । अन्यायत = अनीत्या असत् कार्यं कुर्वन्न, अन्याय कुर्वन्तो, वा सिद्धा =सफलता गता । स्व स्वमर्थं प्राप्ता इत्यर्थं ॥ ८४ ॥

हिन्दी—और भी, अन्ध, कुब्ज तथा त्रिस्तनी राजकुमारी इन तीनो ने ही असत् कार्य किया था, किन्तु भाग्य की अनुकूलता मे तीनो के मनोरथ पूर्ण हो गये ॥ ८४ ॥

सुवर्णसिद्धि प्राह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे ?" चक्रधर ने कहना शुरू किया—

११ अन्धक-कुब्जक-त्रिस्तनी-कथा

"अस्त्युत्तरापथे मधुपुर नाम नगरम्। तत्र मधुसेनो नाम राजा बभूव। तस्य कदाचिद्विषयसुखमनुभवतस्त्रिस्तनी कन्या बभूव। अथ ता त्रिस्तनी जाता श्रुत्वा, स राजा कञ्चुकिन प्रोवाच—यत्—"भो ! त्यज्यतामिय त्रिस्तनी, गत्वा दूरेऽरण्ये यथा कश्चिन्न जानाति।"

तत् श्रुत्वा कञ्चुकिन प्रोचु—'महाराज ! ज्ञायते यदनिष्टकारिणी त्रिस्तनी कन्या भवति। तथापि ब्राह्मण आहूय प्रष्टव्या, येन लोकद्वय न विरुध्यते। यत'—

व्याख्या—उत्तरापथे = उत्तरस्या दिशि। कदाचित् = कस्मिश्चित् काले। विषयसुख = स्त्रीसुखम्, रतिसुखम्। त्रिस्तनी = स्तनत्रययुक्ता। जाताम् = उत्पन्नाम्। कञ्चुकिन = अन्त पुररक्षकान्। त्यज्यताम् = दूर परित्यज्यताम्। अरण्ये = बने। अनिष्टकारिणी = कष्टदायिनी। लोकद्वय = लोकपरलोकौ। न विरुध्यते = न विरुद्धं भवति।

हिन्दी—उत्तर दिशा मे मधुपुर नामक एक नगर था, वहाँ मधुसेन नाम का राजा रहता था। विषयो का सुख अनुभव करते हुए उसके यहाँ कभी त्रिस्तनी = तीन स्तनोवाली, कन्या उत्पन्न हुई। तब उस त्रिस्तनी कन्या के जन्म को सुनकर राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने कचुकियो को बुलाकर कहा—इस कन्या को ले जाकर कही दूर वन मे छोड दो। और ध्यान रखना कि इस बात को कोई जानने न पाये।

राजा के इस आदेश को सुनकर कञ्चुकियो ने कहा—महाराज ! हम लोग इस बात को जानते हैं कि त्रिस्तनी कन्या अनिष्टकारिणी होती है फिर भी ब्राह्मणो को बुलाकर पूछ लेना चाहिए जिससे इस लोक मे निन्दा और परलोक मे असद्गति न हो। क्योकि—

य सतत परिपृच्छति, शृणोति, सन्धारयत्यनिशम्।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धि ॥ ८५ ॥

अन्वय—य सतत परिपृच्छति, शृणोति, अनिश सन्धारयति च, तस्य बुद्धि दिवाकरकिरणै नलिनी इव विवर्द्धते ॥ ८५ ॥

व्याख्या—य = पुरुष। परिपृच्छति = पृष्ट्वा कार्यं करोति। शृणोति = आकर्णयति। अन्यान् पृच्छति, अन्यस्य वचन च शृणोति। अनिश = नित्यम्।

अन्वय —यस्य त्रिकूट दुर्गं, समुद्र परिखा, योधा रक्षांसि, धनदाच्च वित्तम्, उशनसा प्रणीत शास्त्रम्, स रावण दैववशात् विपन्न ॥ ८३ ॥

व्याख्या—यस्य=रावणस्य। त्रीणि कूटानि शिखराणि यस्य स त्रिकूट = त्रिकूटनामधेय पर्वत । दुर्गं =परेषा दुर्गम सुगुप्त स्थानमासीत् । समुद्र = शतयोजनविस्तीर्णो जलनिधि । तस्य=दुर्गस्य। परिखा=खेयम्, दुर्गस्य समन्तात् स्थापितो जलमूह आसीत् । रक्षांसि=राक्षसा । योधा =योद्धारो भटा आसन् । धनदात्—धन ददातीति धनद तस्मात् धनदात्=निजपराक्रमेण जितात् कुबेरात् च यस्य धन=धनप्राप्तिरासीत् । यस्य शास्त्र=ज्ञानसम्पादक नीतिशास्त्रम् । उशनसा =दैत्यगुरुणा शुक्राचार्येण । प्रणीत=निर्मितम् आसीत् । सोऽपि रावण । दैववशात्=भाग्यस्य प्रतिकूलतया विपन्न =विपत्ति प्राप्त विनष्ट । अर्थात् भाग्ये विरुद्धे सति महदैश्वर्यसम्पन्नो रावणोऽपि यदि विपत्तिमनुभूतवान् तर्हि का कथाऽन्येषामित्यर्थं ॥ ८३ ॥

हिन्दी—त्रिकूट पर्वत ही जिसका दुर्ग था, समुद्र खाई का काम करता था, राक्षस ही जिसके योद्धा थे, कुबेर का समस्त धन ही जिसका अपना था और शुक्राचार्य द्वारा निर्मित नीतिशास्त्र ही जिसका ज्ञानवर्द्धक शास्त्र था, वह रावण भी भाग्य की प्रतिकूलता के कारण मारा गया ॥ ८३ ॥

तथा च—अन्धक, कुब्जकश्चैव, त्रिस्तनी राजकन्यका ।
त्रयोऽप्यन्यायत सिद्धा सम्मुखे कर्मणि स्थिते ॥ ८४ ॥

अन्वय —कर्मणि सम्मुखे स्थिते अन्धक, कुब्जक त्रिस्तनी राज्यकन्यका च त्रयोऽपि अन्यायत सिद्धा ॥ ८४ ॥

व्याख्या—कर्मणि=कर्मफले । सम्मुखे स्थिते=अनुकूलता गते । अन्धक = नेत्रहीन कुब्जक =कुब्ज । त्रिस्तनी—त्रीणि स्तनानि यस्या सा त्रिस्तनी= स्तनत्रयवती । राजकन्यका=राजसुता च । त्रयोऽपि=एते त्रय । अन्यायत = अनीत्या असत् कार्यं कुर्वन्त, अन्याय कुर्वन्तो, वा सिद्धा =सफलता गता । स्व स्वमर्थ प्राप्ता इत्यर्थ ॥ ८४ ॥

हिन्दी—और भी, अन्ध, कुब्ज तथा त्रिस्तनी राजकुमारी इन तीनो ने ही असत् कार्य किया था, किन्तु भाग्य की अनुकूलता से तीनो के मनोरथ पूर्ण हो गये ॥ ८४ ॥

सुवर्णसिद्धि प्राह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे ?" चक्रधर ने कहना शुरू किया—

११ अन्धक-कुब्जक-त्रिस्तनी-कथा

" अस्त्युत्तरापथे मधुपुर नाम नगरम्। तत्र मधुसेनो नाम राजा बभूव। तस्य कदाचिद्विषयसुखमनुभवतस्त्रिस्तनो कन्या बभूव। अथ ता त्रिस्तनीं जाता श्रुत्वा, स राजा कञ्चुकिन प्रोवाच—यत्—"भो! त्यज्यतामिय त्रिस्तनी, गत्वा दूरेऽरण्ये यथा कश्चिन्न जानाति।"

तत् श्रुत्वा कञ्चुकिन प्रोचु—'महाराज! ज्ञायते यदनिष्टकारिणी त्रिस्तनो कन्या भवति। तथापि ब्राह्मण आहूय प्रष्टव्या, येन लोकद्वयं न विरुध्यते। यत·—

व्याख्या—उत्तरापथे=उत्तरस्या दिशि। कदाचित्=कस्मिंश्चित् काले। विषयसुख=स्त्रीसुखम्, रतिसुखम्। त्रिस्तनी=स्तनत्रययुक्ता। जाताम्= उत्पन्नाम्। कञ्चुकिन=अन्त पुररक्षकान्। त्यज्यताम्=दूर परित्यज्यताम्। अरण्ये=वने। अनिष्टकारिणी=कष्टदायिनी। लोकद्वय=लोकपरलोकौ। न विरुध्यते=न विरुद्धं भवति।

हिन्दी—उत्तर दिशा मे मधुपुर नामक एक नगर था, वहाँ मधुसेन नाम का राजा रहता था। विषयो का सुख अनुभव करते हुए उसके यहाँ कभी त्रिस्तनी=तीन स्तनोवाली, कन्या उत्पन्न हुई। तब उस त्रिस्तनी कन्या के जन्म को सुनकर राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने कचुकियो को बुलाकर कहा—इस कन्या को ले जाकर कही दूर वन मे छोड दो। और ध्यान रखना कि इस बात को कोई जानने न पाये।

राजा के इस आदेश को सुनकर कचुकियो ने कहा—महाराज! हम लोग इस बात को जानते हैं कि त्रिस्तनी कन्या अनिष्टकारिणी होती है फिर भी ब्राह्मणो को बुलाकर पूछ लेना चाहिए जिससे इस लोक मे निन्दा और परलोक मे असद्गति न हो। क्योकि—

य सतत परिपृच्छति, शृणोति, सन्धारयत्यनिशम्।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीव विवर्द्धते बुद्धि ॥ ८५ ॥

अन्वय—य सतत परिपृच्छति, शृणोति, अनिश सन्धारयति च, तस्य बुद्धि दिवाकरकिरणै नलिनी इव विवर्द्धते ॥ ८५ ॥

व्याख्या—य=पुरुष। परिपृच्छति=पृष्ट्वा कार्यं करोति। शृणोति= आकर्णयति। अन्यान् पृच्छति, अन्यस्य वचन च शृणोति। अनिश=नित्यम्।

सन्धारयति=धारयति। तस्य=पुरुषस्य। बुद्धि=मति। दिवाकरकिरणै। सूर्यरश्मिभि। नलिनी=कमलिनी। इव=यथा। विबर्द्धते=विकसिता भवति। अर्थात् यो हि पुमान् अन्यानपि परिपृच्छति। अन्येषा वचन शृणोति, अन्योक्त सन्धारयति च तस्य बुद्धि सूर्यकिरणै कमलिनीव विकसिता भवतीत्यर्थ ॥८५॥

हिन्दी—जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियो से परामर्श करता है, दूसरे की बात को ध्यान से सुनता है और उसके अनुसार आचरण करता है, उसकी बुद्धि सूर्य की किरणो से विकसित होनेवाली कमलिनी के समान हमेशा विकसित होती रहती है ॥ ८५ ॥

तथा च—

पृच्छकेन सदा भाव्यं पुरुषेण विजानता।
राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि प्रश्नान्मुक्तो द्विज पुरा ॥ ८६ ॥

अन्वय—विजानता पुरुषेण (अपि) सदा पृच्छकेन भाव्यम्, (यत) पुरा राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि द्विज प्रश्नात् मुक्त ॥ ८६ ॥

व्याख्या—विजानता–विजानातीति विजानन् तेन विजानता=अवगच्छता। पुरुषेणापि। सदा=सर्वदा। पृच्छकेन=पृच्छतीति पृच्छकस्तेन पृच्छकेन=प्रश्नकर्त्रा जिज्ञासुना। भाव्य=भवितव्यम्। पुरा=पूर्वस्मिन काले। राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि= राक्षसानामिन्द्र राक्षसेन्द्र तेन गृहीत राक्षसेन्द्रगृहीतोऽपि=राक्षसराजधृतोऽपि। द्विज =ब्राह्मण प्रश्नात्=प्रश्नकारणात्। मुक्त =उन्मुक्तो बभूव ॥ ८६ ॥

हिन्दी—और भी, सब कुछ जानते हुए भी मनुष्य को जिज्ञासु होना चाहिए, क्योकि राक्षस के द्वारा गृहीत ब्राह्मण उससे पूछने के कारण ही मुक्त हुआ था ॥ ८६ ॥

राजा आह—कथमेतत् ? ते प्रोचु —

राजा ने पूछा—"यह कैसे हुआ ?" तब कञ्चुकियो ने कहा—

"देव ! कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे चण्डकर्मा नाम राक्षस प्रतिवसति स्म। एकदा तेन भ्रमताऽटव्या कश्चिद् ब्राह्मण समासादित। ततस्तस्य स्कन्धमारुह्य प्रोवाच—"भो ! अग्रेसरो गम्यताम्।"

ब्राह्मणोऽपि भयत्रस्तमनास्तमादाय प्रस्थित। अथ तस्य कमलोदरकोमलौ पादौ दृष्ट्वा ब्राह्मणो राक्षसमपृच्छत्—"भो ! किमवंविधौ ते पादावति-कोमलौ ? राक्षस आह—"भो ! व्रतमस्ति, नाहमार्द्रपादो भूमिं स्पृशामि।"

ततस्तच्छ्रुत्वात्मनो मोक्षोपाय चिन्तयन् स सर प्राप्त । ततो राक्षसेनाऽभिहित—"भो ! यावदह स्नान कृत्वा, देवतार्चनविधि विधायागच्छामि, तावत्त्वयाऽत स्थानादन्यत्र न गन्तव्यम् ।"

व्याख्या—अटव्या=वने । समासादित=सलब्ध अग्रेसर=अग्रे गन्ता । तमादाय=राक्षसमादाय । कमलोदरकोमलौ=कमलस्योदरोऽभ्यन्तरभाग तद्वत्कोमलौ कमलोदरकोमलौ=बाह्याभ्यन्तरकोमलौ । पादौ=चरणौ । व्रतमस्ति=प्रतिज्ञाऽस्ति । आर्द्रपाद=क्लिन्नचरण । मोक्षोपाय=मोक्षस्योपायो मोक्षोपायस्त मोक्षोपाय=मुक्तिसाधनम् । सर=सरोवर । देवतार्चनविधि=देवपूजनविधानम् । विधाय=कृत्वा । न गन्तव्य=नाग्रे व्रजनीयम् ।

हिन्दी—स्वामिन् ! किसी वनप्रान्त मे चण्डवर्मा नाम का राक्षस रहता था । एक दिन वन मे घूमते हुए उसने एक ब्राह्मण को देखा । तब उस ब्राह्मण के कन्धे पर चढकर बोला—अरे ! आगे चलो ।

वह ब्राह्मण भयभीत होकर चला । कुछ दूर जाने के बाद राक्षस के कमलवत् कोमल चरणो को देखकर ब्राह्मण ने पूछा—आपके चरण इतना कोमल क्यो है ? राक्षस ने उत्तर दिया, मेरी यह प्रतिज्ञा है कि मैं भीगे हुए चरणो से पृथ्वी का स्पर्श नही करूँगा ।

राक्षस की बात सुनकर वह ब्राह्मण अपनी मुक्ति का उपाय सोचता हुआ उस सरोवर तक जा पहुँचा । राक्षस ने सरोवर को देखकर कहा—मैं स्नान कर देवताओ का पूजन कर लेता हूँ । जब तक मैं वापस न लौटूँ तब तक तुम आगे न बढना ।

तथाऽनुष्ठिते द्विजश्चिन्तयामास—"नून देवताऽर्चनविधेरूर्ध्वं मामेष भक्षयिष्यति । तद् द्रुततर गच्छामि, येनैष आर्द्रपादो न मम पृष्ठमेष्यति ।"

तथाऽनुष्ठिते, राक्षसो व्रतभङ्गभयात्तस्य पृष्ठ न गत ।" अतोऽह ब्रवीमि—"पृच्छकेन सदा भाव्यम्" इति ।

अथ तेभ्यस्तच्छ्रुत्वा, राजा द्विजानाहूय प्रोवाच—"भो ब्राह्मणा ! त्रिस्तनी मे कन्या समुत्पन्ना, तत्किं तस्या प्रतिविधानमस्ति, न वा ?"

ते प्रोचु —"देव ! श्रूयताम्—"

व्याख्या—तथाऽनुष्ठिते=तथैव कृते । द्विज =ब्राह्मण । चिन्तयामास=असोचत् । द्रुततर=शीघ्रम् । पृष्ठमेष्यति=अनुगमिष्यति । व्रतभङ्गभयात्=

प्रतिज्ञाभङ्गभीते । तेभ्य =स्वापत्येभ्य । तस्या =समुत्पन्नाया । प्रतिविधानम्=दोषपरिहारोपाय ।

हिन्दी—राक्षस के स्नान करने के लिए चले जाने पर ब्राह्मण ने विचार किया—'अवश्य ही देवार्चन विधि के पश्चात् वह राक्षस मुझको खा जायेगा। अत शीघ्र ही यहाँ से चला जाऊँ जिससे यह गीले पैर होने के कारण मेरे पीछे न आ सकेगा।'

ब्राह्मण के ऐसा करने पर अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग होने के डर से राक्षस उसके पीछे नही गया। इसलिए मैं कहता हूँ–सदा प्रश्न करनेवाला होना चाहिए।

तब उन कञ्चुकियो से उस बात को सुनकर राजा ने ब्राह्मणो को बुलाकर पूछा—हे ब्राह्मणो ! मुझे त्रिस्तनी कन्या पैदा हुई है। तो उसके प्रतीकार की कोई विधि है अथवा नही है ? उन्होने कहा—महाराज ! सुनिए—

हीनाङ्गी वाऽधिकाङ्गी वा या भवेत् कन्यका नृणाम् ।
भर्तु स्यात् सा विनाशाय स्वशीलनिधनाय च ॥ ८७ ॥

अन्वय —नृणा हीनाङ्गी वा अधिकाङ्गी वा या कन्यका भवेत् सा भर्तुं विनाशाय स्वशीलनिधनाय च स्यात् ॥ ८७ ॥

व्याख्या—नृणा=मनुष्याणाम् । हीनाङ्गी=न्यूनाङ्गी वा अधिकाङ्गी=अधिकावयवा वा या कन्यका =पुत्री। भवेत्=स्यात् सा कन्यका भर्तुं =स्वपते । विनाशाय=नाशाय। स्वशीलनिधनाय=निजचारित्र्यभङ्गाय च स्यात् =जायेत ॥ ८७ ॥

हिन्दी—मनुष्यो के यहा कम अङ्गवाली या अधिक अङ्गवाली जो कन्या उत्पन्न होती है, वह पति के विनाश के लिए और अपने चरित्र के हनन के लिए होगी ॥ ८७ ॥

या पुनस्त्रिस्तनी कन्या याति लोचनगोचरम् ।
पितर नाशयत्येव सा द्रुत नात्र सशय ॥ ८८ ॥

अन्वय —पुन या त्रिस्तनी कन्या लोचनगोचरा याति (तर्हि) सा (तु) द्रुतमेव पितर नाशयति अत्र सशय न ॥ ८८ ॥

व्याख्या—पुन =भूय । या त्रिस्तनी=स्तनत्रयवती। कन्या=पुत्री। लोचनगोचरा=लोचनयो नेत्रयो गोचरा विषयीभूता याति=भवति तर्हि सा तु द्रुतमेव=शीघ्रमेव। पितर=जनकम् । नाशयति=विनाशयति। अत्र=अस्मिन् विषये। सशय =सन्देहो न=नास्तीत्यर्थ ॥ ८८ ॥

हिन्दी—यदि त्रिस्तनी कन्या पिता के समक्ष उपस्थित होती है तो अपने पिता का शीघ्र ही नाश कर देती है, इसमे सन्देह नही ॥ ८८ ॥

तस्मादस्या दर्शनं परिहरतु देव । तथा यदि कश्चिदुद्वाहयति, तदेना तस्मै दत्त्वा, देशत्यागेन स नियोजयितव्य इति । एव कृते लोकद्वयाऽविरुद्धता भवति ।"

अथ तेषां तद्वचनमाकर्ण्य, स राजा पटहशब्देन सर्वत्र घोषणामाज्ञापयामास—"अहो ! त्रिस्तनीं राजकन्या य कश्चिदुद्वाहयति, स सुवर्णलक्षमाप्नोति देशत्यागञ्च ।"

एव तस्यामाघोषणाया क्रियमाणाया महान् कालो व्यतीत । न कश्चित्ता प्रतिगृह्णाति । साऽपि यौवनोन्मुखी सजाता सुगुप्तस्थानस्थिता, यत्नेन रक्ष्यमाणा तिष्ठति ।

व्याख्या—तस्मात्=अत एव । अस्या =कन्याया । परिहरतु=वर्जयतु । उद्वाहयति=विवाहयति । देशत्यागेन = राज्यत्यागेन । नियोजयितव्य =समायोजयितव्य । पटहशब्देन=आनकोद्घोषेण । आप्नोति=प्राप्नोति । महान् काल = अधिकसमय । यत्नेन =प्रयत्नेन । तिष्ठति = निवसति ।

हिन्दी—इसलिए महाराज ! आप इस कन्या का दर्शन न करे । यदि कोई इसके साथ विवाह करना चाहे तो उसके साथ इसका विवाह कर इसको राज्य से निकाल दिया जाय । ऐसा करने से आपका दोनो लोक बना रहेगा ।

तब उन ब्राह्मणो के वचन को सुनकर राजा ने नगाडा पीटकर घोषणा कराने की आज्ञा दे दी कि मेरी त्रिस्तनी कन्या के साथ जो विवाह करेगा उस व्यक्ति को एक लाख सुवर्ण मुद्राएँ दी जायेंगी और साथ ही उसको राज्य से निकाल भी दिया जायेगा ।

राजा की इस घोषणा के हुए बहुत दिन बीत गये, परन्तु कोई व्यक्ति उस कन्या से विवाह करने के लिए तैयार नही हुआ । वह कन्या भी धीरे-धीरे युवती हो गयी । उसको गुप्त स्थान मे अत्यन्त प्रयत्न के साथ सुरक्षित रखा गया ।

अथ तत्रैव नगरे कश्चिदन्धस्तिष्ठति । तस्य च मन्थरकनामा कुब्जोऽग्रेसरो यष्टिग्राही । ताभ्या त पटहशब्दमाकर्ण्य, मिथो मन्त्रित—स्पृश्यतेऽय पटह । यदि कथमपि दैवात् कन्या लभ्यते, सुवर्णप्राप्तिश्च भवति, तदा सुखेन सुवर्णप्राप्त्या

कालो व्रजति। अथ यदि तस्य दोषतो मृत्युर्भवति, तदा दारिद्र्योपात्तस्याऽस्य क्लेशस्य पर्यन्तो भवति। उक्त च—

व्याख्या—अथ=अथ=कियद्दिनानन्तरम्। कुब्ज =खञ्ज। अग्रेसर =अग्रग। यष्टिग्राही=यष्टिग्रहीता। मिथ =परस्परम्। मन्त्रित=विचारितम्। कालो व्रजति=समयो याति। तस्या =कन्याया। मृत्यु =मरणम्। दारिद्र्योपात्तस्य =दारिद्र्यजनितस्य। क्लेशस्य=दु खस्य। पर्यन्त =अवसान समाप्तिर्वा।

हिन्दी—उसी नगर मे एक अन्धा भी रहता था और मन्थरक नाम का एक लगडा व्यक्ति उसका मित्र था, जो उसकी लाठी पकडकर आगे आगे चलता था। उन दोनो ने जब राजा की घोषणा को सुना तो आपस मे विचार किया—चलो, पटह को छू लिया जाय, सयोग से राजकन्या मिल गयी तो एक लाख स्वण मुद्राएँ भी मिल जायेंगी, उनसे हम लोगो का समय सुख से बीतेगा। यदि उसके कुलक्षणी होने से मृत्यु होती है तो निर्धनता से होनेवाले इस कष्ट का अन्त हो जायेगा। क्योकि कहा भी गया है—

लज्जा स्नेह स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्री,
कान्तासङ्ग स्वजनममता दु.खहानिविलास।
धर्म शास्त्र सुरगुरुमति शौचमाचारचिन्ता,
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिना सम्भवन्ति॥ ८९॥

अन्वय—लज्जा, स्नेह, स्वरमधुरता, बुद्धय, यौवनश्री, कान्तासङ्ग, स्वजनममता, दु ख, हानि, विलास, धर्म शास्त्र सुरगुरुमति, शौचम् आचार-चिन्ता, प्राणिना (एते) सर्वे (व्यापारा) जठरपिठरे पूर्णे एव सम्भवन्ति।

व्याख्या—लज्जा=ह्री। स्नेह =अनुराग। स्वरमधुरता=स्वरस्य मधुरता स्वरमधुरता=शब्दमाधुरी प्रियभाषित्वम्। बुद्धय =मतय विवेका। यौवनश्री =यौवनस्य श्री शोभा यौवनश्री =युवावस्था। कान्तासङ्ग =कान्ताया भार्याया सङ्ग प्रसङ्ग कान्तासङ्ग =स्त्रीप्रसङ्ग। स्वजनममता=स्वजनस्य ममता स्वजनममता—निजजनमोह। दु ख=कष्टम्। हानि =नाश। विलास= शृङ्गारचेष्टा। धर्म =धर्माचरणम्। शास्त्र =शास्त्रानुशीलनम्। सुरगुरुमति = सुरेषु देवेषु गुरुषु पूज्येषु च मति बुद्धिरिति सुरगुरुमति =देवगुरुपूज्यबुद्धि। शौच =पवित्रता, आचारचिन्ता=आचारस्य सदाचारस्य चिन्ता विवेक इति आचार-चिन्ता=आचरणविवेक। जठरपिठर=उदरभाण्डे। पूर्णे=पूरिते। सम्भवन्ति=सम्पद्यन्ते॥ ८९॥

हिन्दी—लज्जा, प्रेम, प्रियभाषिता, विचारशीलता, युवावस्था का सौन्दर्य, स्त्री का साथ, प्रिय व्यक्तियो का मोह कष्ट, हानि, विलास, सुखोपभोग, धर्माचरण, शास्त्राध्ययन, देवता तथा गुरुजनो मे श्रद्धा, आचार, पवित्रता आदि का प्रादुर्भाव (विचार) मनुष्य के मन मे तभी तक होता है जब तक उसका उदरभाण्ड (पेट) भरा रहता है, पेट के खाली रहने पर कोई भी बात अच्छी नही लगती ॥ ८९ ॥

एवमुक्त्वाऽन्धेन गत्वा, स पटह स्पृष्ट । उक्त च—"भो , अह ता कन्या-मुद्वाहयामि, यदि राजा मे प्रयच्छति ।"

ततस्तै राजपुरुषैर्गत्वा, राज्ञे निवेदितम्—"देव ! अन्धेन केनचित्पटह स्पृष्ट । तदत्र विषये देव प्रमाणम् ।"

राजा प्राह—

व्याख्या—एवमुक्त्वा=एव कथयित्वा । अन्धेन=नेत्रहीनेन । गत्वा=उप-गम्य । पटह =घोषणापटह । स्पृष्ट =पस्पर्श । प्रयच्छति=ददाति । राज-पुरुषै =राजभृत्यै । निवेदितम्=कथितम् । तदत्र विषये देव प्रमाणम्=भवान यदिच्छेत् तत् कुर्यात् ।

हिन्दी—इस प्रकार आपस मे विचार करके अन्धे ने जाकर पटह को पकड लिया और कहा—यदि महाराज प्रस्तुत हो तो मैं उस कन्या के साथ विवाह करना चहता हूँ ।

राजपुरुषो ने राजा के पास जाकर इस समाचार को सुनाते हुए राजा से निवेदन किया—देव ! एक अन्धे ने पटह को पकड लिया है । इस विषय मे आपका जो आदेश हो उसका पालन हम लोग करेंगे । सिपाहियो के वचन को सुनकर राजा ने कहा—

अन्धो वा बधिरो वाऽपि कुष्ठी वाप्यन्त्यजोऽपि वा ।
प्रतिगृह्णातु ता कन्या सलक्षा स्याद्विदेशग ॥ ९० ॥

अन्वय —अन्धो वा बधिरोऽपि वा कुष्ठी अपि, अन्त्यजोऽपि, सलक्षा ता कन्या प्रतिगृह्णातु विदेशग (च) स्यात् ॥ ९० ॥

व्याख्या—अन्ध =नेत्रहीनो वा, बधिरोऽपि वा । कुष्ठी=कुष्ठरोगान्वितोऽपि वा, अन्त्यज =नीचोऽपि वा, सलक्षा लक्षेण रूप्यकेन सह सलक्षा ता सलक्षा=लक्षरूप्यकसहिता ता त्रिस्तनी कन्या दुहितर प्रतिगृह्णातु=स्वीकरोतु अथ च विदेशग =विदेश गच्छतीति विदेशग =परदेशग राज्याद् बहिर्गत । स्यात्=भवेत् ॥ ९० ॥

कालो व्रजति । अथ यदि तस्य दोषता मृत्युर्भवति, तदा दारिद्र्योपात्तस्याऽस्य क्लेशस्य पर्यन्तो भवति । उक्तं च—

व्याख्या—अथ=अथ=कियद्दिनानन्तरम् । कुब्ज =खञ्ज । अग्रेसर =अग्रग । यष्टिग्राही=यष्टिग्रहीता । मिथ =परस्परम् । मन्त्रित=विचारितम् । कालो व्रजति=समयो याति । तस्या =कन्याया । मृत्यु =मरणम् । दारिद्र्योपात्तस्य =दारिद्र्यजनितस्य । क्लेशस्य=दु खस्य । पर्यन्त =अवसान समाप्तिर्वा ।

हिन्दी—उसी नगर मे एक अन्धा भी रहता था और मन्थरक नाम का एक लगडा व्यक्ति उसका मित्र था, जो उसकी लाठी पकडकर आगे आगे चलता था । उन दोनो ने जब राजा की घोषणा को सुना तो आपस मे विचार किया—चलो, पटह को छू लिया जाय, सयोग से राजकन्या मिल गयी तो एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ भी मिल जायेंगी, उनसे हम लोगो का समय सुख से बीतेगा । यदि उसके कुलक्षणी होने से मृत्यु होती है तो निर्धनता से होनेवाले इस कष्ट का अन्त हो जायेगा । क्योकि कहा भी गया है—

लज्जा स्नेह स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्री ,
कान्तासङ्ग स्वजनममता दुःखहानिर्विलास ।
धर्मं शास्त्र सुरगुरुमति शौचमाचारचिन्ता,
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिना सम्भवन्ति ॥ ८९ ॥

अन्वय —लज्जा, स्नेह , स्वरमधुरता, बुद्धय , यौवनश्री , कान्तासङ्ग , स्वजनममता, दु ख , हानि , विलास , धर्मं शास्त्र सुरगुरुमति , शौचम् आचार-चिन्ता, प्राणिना (एते) सर्वे (व्यापारा) जठरपिठरे पूर्णे एव सम्भवन्ति ।

व्याख्या—लज्जा=ह्री । स्नेह =अनुराग । स्वरमधुरता=स्वरस्य मधुरता स्वरमधुरता=शब्दमाधुरी प्रियभाषित्वम् । बुद्धय =मतय विवेका । यौवनश्री =यौवनस्य श्री शोभा यौवनश्री =युवावस्था । कान्तासङ्ग =कान्ताया भार्याया सङ्ग प्रसङ्ग कान्तासङ्ग =स्त्रीप्रसङ्ग । स्वजनममता=स्वजनस्य ममता स्वजनममता—निजजनमोह । दु ख=कष्टम् । हानि =नाश । विलास = शृङ्गारचेष्टा । धर्म =धर्माचरणम् । शास्त्र =शास्त्रानुशीलनम् । सुरगुरुमति = सुरेषु देवेषु गुरुषु पूज्येषु च मति बुद्धिरिति सुरगुरुमति =देवगुरुपूज्यबुद्धि । शौच =पवित्रता, आचारचिन्ता=आचारस्य सदाचारस्य चिन्ता विवेक इति आचार-चिन्ता=आचरणविवेक । जठरपिठरे=उदरभाण्डे । पूर्णे=पूरिते । सम्भवन्ति=सम्पद्यन्ते ॥ ८९ ॥

हिन्दी—लज्जा, प्रेम, प्रियभाषिता, विचारशीलता, युवावस्था का सौन्दर्य, स्त्री का साथ, प्रिय व्यक्तियों का मोह कष्ट, हानि, विलास, सुखोपभोग, धर्माचरण, शास्त्राध्ययन, देवता तथा गुरुजनों मे श्रद्धा, आचार, पवित्रता आदि का प्रादुर्भाव (विचार) मनुष्य के मन मे तभी तक होता है जब तक उसका उदरभाण्ड (पेट) भरा रहता है, पेट के खाली रहने पर कोई भी बात अच्छी नही लगती ॥ ८९ ॥

एवमुक्त्वाऽन्धेन गत्वा, स पटह स्पृष्ट । उक्त च—"भो , अह ता कन्या-मुद्वाहयामि, यदि राजा मे प्रयच्छति ।"

ततस्तै राजपुरुषैर्गत्वा, राज्ञे निवेदितम्—"देव ! अन्धेन केनचित्पटहः स्पृष्ट । तदत्र विषये देव प्रमाणम् ।"

राजा प्राह—

व्याख्या—एवमुक्त्वा=एव कथयित्वा । अन्धेन=नेत्रहीनेन । गत्वा=उपगम्य । पटह =घोषणापटह । स्पृष्ट =पस्पर्श । प्रयच्छति=ददाति । राजपुरुषै =राजभृत्यै । निवेदितम्=कथितम् । तदत्र विषये देव प्रमाणम्= भवान यदिच्छेत् तत् कुर्यात् ।

हिन्दी—इस प्रकार आपस मे विचार करके अन्धे ने जाकर पटह को पकड लिया और कहा—यदि महाराज प्रस्तुत हो तो मैं उस कन्या के साथ विवाह करना चहता हूँ ।

राजपुरुषो ने राजा के पास जाकर इस समाचार को सुनाते हुए राजा से निवेदन किया—देव ! एक अन्धे ने पटह को पकड लिया है । इस विषय मे आपका जो आदेश हो उसका पालन हम लोग करेंगे । सिपाहियो के वचन को सुनकर राजा ने कहा—

अन्धो वा बधिरो वाऽपि कुष्ठी वाप्यन्त्यजोऽपि वा ।
प्रतिगृह्णातु ता कन्या सलक्षा स्याद्विदेशग ॥ ९० ॥

अन्वय —अन्धो वा बधिरोऽपि वा कुष्ठी अपि, अन्त्यजोऽपि, सलक्षा ता कन्या प्रतिगृह्णातु विदेशग (च) स्यात् ॥ ९० ॥

व्याख्या—अन्ध =नेत्रहीनो वा, बधिरोऽपि वा । कुष्ठी=कुष्ठरोगान्वितोऽपि वा, अन्त्यज =नीचोऽपि वा, सलक्षा लक्षेण रूप्यकेन सह सलक्षा ता सलक्षा= लक्षरूप्यकसहिता ता त्रिस्तनी कन्या दुहितर प्रतिगृह्णातु=स्वीकरोतु अथ च विदेशग =विदेश गच्छतीति विदेशग =परदेशग राज्याद् बहिर्गत । स्यात्= भवेत् ॥ ९० ॥

हिन्दी—चाहे वह अन्धा हो, बहिरा हो, कोढ़ी हो या अन्त्यज हो, मैं उसके साथ इस कन्या का विवाह करने को प्रस्तुत हूँ। वह एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं के साथ इस कन्या को ग्रहण कर सकता है। केवल शर्त यह है कि उसे तत्काल यह राज्य छोड़ देना होगा ॥ ९० ॥

अथ राजादेशात्तं राजपुरुषैस्त नदीतीरे नीत्वा सुवर्णलक्षेण सम विवाहविधिना त्रिस्तनी तस्मै दत्त्वा, जलयाने निधाय कैवर्ता प्रोक्ता—"भो ! देशान्तर नीत्वा कस्मिंश्चिदधिष्ठानेऽन्ध सपत्नीक, कुब्जकेन सह मोचनीय"।

तथानुष्ठिते विदेशमासाद्य, कस्मिंश्चिदधिष्ठाने कैवर्तदर्शिते त्रयोऽपि मूल्येन गृह प्राप्ता सुखेन काल नयन्तिस्म। केवलमन्ध पर्यङ्के सुप्त तिष्ठति, गृहव्यापार मन्थरक करोति। एव गच्छता कालेन त्रिस्तन्या कुब्जकेन सह विकृति सम-पद्यत। अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—राजादेशात् = नृपाज्ञया। त = अन्धम्। नदीतीरे = नदीतटे। नीत्वा = उपस्थाप्य। तस्मै = अन्धाय। जलयाने = जलस्य यानमिति जलयान तस्मिन् जलयाने = नौकायाम्। निधाय = उपवेश्य। कैवर्ता = धीवरा। सप-त्नीक = सस्त्रीक। मोचनीय = परित्याज्य। आसाद्य = प्राप्य। कस्मिंश्चिदधि-ष्ठाने = कस्मिन्नपि स्थाने। कैवर्तदर्शिते = धीवरनिर्दिष्टे। मूल्येन = भाटकेन। गृह प्राप्ता = गेहमासादिता। सुखेन = सुखपूर्वक। काल नयन्ति स्म = समय यापयन्ति स्म। पर्यङ्के = मञ्चके शय्याया। गृहव्यापार = गृहप्रबन्धम्। विकृति = मनोविकार, पापसम्बन्ध। समपद्यत = अजायत।

हिन्दी—तब राजा के आदेश से उन राजपुरुषों ने उस अन्धे को नदी के किनारे पर ले जाकर विधि से विवाह कर त्रिस्तनी को एक लाख स्वर्णमुद्राओं के साथ उसे देकर उन्हें नौका में बैठाकर मल्लाहों से कहा—अरे, दूसरे देश में ले जाकर कुबड़े के साथ पत्नी सहित इस अन्धे को छोड़ देना।

वैसा करने पर विदेश को प्राप्त कर केवटों द्वारा दिखाये गये किसी नगर में भाड़े पर मकान लेकर वे तीनों ही सुख से रहने लगे। अन्धा रात दिन चार-पाई पर पड़ा रहता था और मन्थरक घर का सारा प्रबन्ध किया करता था। इस प्रकार कुछ दिन बीत जाने पर त्रिस्तनी की लगड़े मन्थरक के साथ मनो-विकृति (अवैध सम्बन्ध) हो गयी। अथवा ठीक ही कहा गया है—

यदि स्याच्छीतलो वह्निश्चन्द्रमा दहनात्मक ।
सुस्वादु सागर स्त्रीणा तत्सतीत्व प्रजायते ॥ ९१ ॥

अन्वय –यदि वह्नि शीतल स्यात्, यदि (वा) चन्द्रमा दहनात्मक स्यात् यदि सागर सुस्वादु स्यात् तत् स्त्रीणा सतीत्व प्रजायते ॥ ९१ ॥

व्याख्या—यदि=कदाचित् । वह्नि =अग्नि । शीतल —शीत स्यात्= भवेत् । यदि चन्द्रमा =चन्द्र । दहनात्मक =दाहको भवेत्, यदि वा सागर = लवणसमुद्र । सुस्वादु =सुपेयो मधुरस्वादिष्टो वा भवेत् । तत्=तर्हि । स्त्रीणा =नारीणाम् । सतीत्वम्=पातिव्रत्यम् । प्रजायते =सम्भवति ॥ ९१ ॥

हिन्दी–यदि आग अपनी स्वाभाविक उष्णता को छोडकर शीतल हो जाय, चन्द्रमा शीतलता को छोडकर उष्ण हो जाय और क्षार समुद्र सुपेय—मधुर हो जाय तो कदाचित् स्त्री अपने सतीत्व का पालन कर सकती है ॥ ९१ ॥

अथाऽन्येद्युस्त्रिस्तन्या मन्थरकोऽभिहित —"भो सुभग ! यद्येषोऽन्ध कथञ्चित् व्यापाद्यते, तदावयोः सुखेन कालो याति । तदन्विष्यता कुत्रचिद्विषम्, येनाऽस्मै तत् प्रदाय सुखिनी भवामि ।"

अन्यदा कुब्जकेन परिभ्रमता, मृत कृष्णसर्प प्राप्त । त गृहीत्वा, प्रहृष्टमना गृहमभ्येत्य, तामाह—"सुभगे ! लब्धोऽय कृष्णसर्प । तदेन खण्डश कृत्वा, प्रभूतशुण्ठ्यादिभि , सस्कार्यास्मै विकलनेत्राय मत्स्यामिष भणित्वा प्रयच्छ,येन द्राग्विनश्यति । यतोऽस्य मत्स्यामिष सदा प्रियम् ।" एवमुक्त्वा मन्थरको बहिर्गत ।

व्याख्या—अन्येद्यु =एकस्मिन्नहनि । अभिहित =कथित । कथञ्चित्= कथमपि । व्यापाद्यते=हन्यते, आवयो =तव मम च, अस्मै=अन्धाय । प्रदाय= दत्त्वा । सुखिनी=चिन्तारहिता, विगतभया । अन्यदा = अन्यस्मिन् काले । मृत =गतप्राण । कृष्णसर्प =कृष्णाहि । लब्ध =प्राप्त । प्रहृष्टमना =प्रसन्नचेता । अभ्येत्य=आगत्य । खण्डश कृत्वा=खण्ड खण्ड विधाय । शुण्ठ्यादिभि =शुण्ठी-मरीच्यादिभि । सस्कार्य=ससाध्य । विकलनेत्राय=दृष्टिशून्याय । आमिष मासम् । भणित्वा=कथयित्वा । द्राक्=झटिति । बहिर्गत = बहिर्निर्गत ।

हिन्दी—इसके बाद त्रिस्तनीने एक दिन मन्थरक से कहा—हे प्रिय ! यदि यह अन्धा किसी प्रकार मार दिया जाता तो हम दोनो का समय सुखपूर्वक बीतता । तो तुम कही से विष खोजकर लाओ जिससे इसको विष खिलाकर निश्चिन्त एव निर्भय हो जाऊँ ।

इसके उपरान्त एक बार घूमते हुए कुबडेको एक मरा हुआ काला साँप मिल गया । उसे लेकर वह प्रसन्नतापूर्वक लौटा और त्रिस्तनी से कहा—प्रिये !

यह काला सांप मिला है, तो इसे टुकडे टुकडे करके सोठ, मिर्च, नमक आदि से छौंककर खूब बढिया बना दो और मछलो का मास कहकर इस अन्धे को खिला दो जिमसे यह शीघ्र ही मर जायेगा। क्योकि इसे मछली का मास हमेशा अच्छा लगता है। यह कहकर मन्थरक कही बाहर चला गया।

साऽपि प्रदीप्ते वह्नौ कृष्णसर्पं खण्डश कृत्वा तक्रस्थाल्यामाधाय गृहव्यापाराकुला त विकलाऽक्ष सप्रश्रयमुवाच,,--आर्यपुत्र! तवाऽभीष्ट मत्स्यमास समानीतम्। यतस्त्व सदैव तत्पृच्छसि। ते च मत्स्या वह्नौ पाचनाय तिष्ठन्ति। तद्यावदह गृहकृत्य करोमि, तावत्त्व दर्वीमादाय क्षणमेक तान् प्रचालय।"

सोऽपि तदाकर्ण्य हृष्टमना सृक्कणी परिलिहन् द्रुतमुत्थाय दर्वीमादाय प्रमथितुमारब्ध। अथ तस्य मत्स्यान् मथ्नतो विषगर्भबाष्पेण सस्पृष्ट नीलपटल चक्षुर्भ्यामगलत्। असावप्यन्धस्त बहुगुण मन्यमानो विशेषान्नेत्राभ्या बाष्पग्रहणमकरोत्।

व्याख्या—सापि=त्रिस्तनी अपि। प्रदीप्ते वह्नौ=प्रज्वलितेऽग्नौ। तक्रस्थाल्या=तक्रभाण्डे। विकलाक्ष=विकृतनेत्र दृष्टिशून्यम्। सप्रश्रय=सस्नेह सविनय वा। उवाच=उक्तवती। आर्यपुत्र! =श्रेष्ठ पतिदेवते। तवाभीष्ट= तवाभिलषितम् प्रिय वस्तु। मत्स्यमास=मीनामिषम्। समानीत=आगतमस्ति। पाकाय=पाचनाय। गृहकृत्य=गेहकार्यम्। दर्वीमादाय=कम्बि खजाक वा गृहीत्वा। प्रचालय=मन्थय। तदाकर्ण्य=तत् श्रुत्वा। हृष्टमना=प्रसन्नचेता सन् सृक्कणी=ओष्ठप्रान्तौ। परिलिहन्=जिह्वया लिहन्। द्रुत=शीघ्रम्। उत्थाय =उत्थितो भूत्वा। प्रमथितु=परिचालयितुम्। आरब्ध=समारब्ध। मथ्नत= परिचालयत। विषगर्भबाष्पेण=गरलमिलितबाष्पेण। नीलपटल=नेत्रयोर्नीलमावरणम्। अगलत्=अस्रवत्। द्रवरूपेण पपात। बहुगुण=लाभप्रदम्। विशेषात् =विशिष्टरूपेण। नेत्राभ्या=लोचनाभ्याम्। बाष्पग्रहण=बाष्पस्वेदम्। अकरोत् =अकार्षीत्।

हिन्दी—उस त्रिस्तनी ने उस साप को टुकडे टुकडे काटकर छाँछ की हँडिया मे रख उसे आग पर रखकर गृह कार्य की व्यस्तता के कारण प्रेमपूर्वक उस अन्धे से कहा—आर्यपुत्र! आपकी प्रिय वस्तु मछली मँगायी गयी है, क्योकि आप उसके विषय मे बार बार पूछा करते है। उन मछलियो को पकने के लिए मैंने आग पर चढा दिया है आप चम्मच लेकर उसे तब तक चलाते रहिये जब तक मैं घर का अन्य कार्य कर लेती हूँ।

उसकी बात को सुनकर अन्धे ने प्रसन्नतापूर्वक अपने दोनो ओठो के किनारे को जीभ से चाटते हुए चम्मच को लेकर उसको चलाना प्रारम्भ किया। मछली को चलाते समय उसके नेत्रो मे विषमिश्रित वाष्प के लगने से आँख का मोतियाविन्द गलकर गिरने लगा। वाष्प के प्रिय लगने के कारण अन्धे ने भी अपनी आँखो को खूब सेका।

ततो लब्धदृष्टिर्जातो यावत्पश्यति, तावत्तक्रमध्ये कृष्णसर्पखण्डानि केवलान्येवाऽवलोकयति ततो व्यचिन्तयत्–"अहो, किमेतत् ? मम मत्स्यामिष] कथितमासीदनया। एतानि तु कृष्णसर्पखण्डानि। तत्तावद्विजानामि सम्यक् त्रिस्तन्याश्चेष्टित, किं मम वधोपायक्रम कुब्जस्य वा। उताहो अन्यस्य वा कस्यचित्।" एव विचिन्त्य स्वाकार गूहयन्नन्धवत्कर्म करोति यथा, पुरा।

अत्रान्तरे कुब्ज समागत्य, नि शङ्कतयालिङ्गनचुम्बनादिभिस्त्रिस्तनीं सेवितुमुपचक्रमे। सोऽप्यन्धस्तमवलोकयन्नपि यावन्न किञ्चिच्छस्त्र पश्यति, तावत्कोप व्याकुलमना पूर्ववच्छयनं गत्वा कुब्ज चरणाभ्या सङ्गृह्य, सामर्थ्यात्स्वमस्तकोपरि भ्रामयित्वा त्रिस्तनीं हृदये व्यताडयत्।

अथ कुब्जप्रहारेण तस्यास्तृतीय स्तन उरसि प्रविष्ट.। तथा बलान्मस्तकोपरि भ्रमणेन कुब्ज प्राञ्जलता गत.।

अतोऽह ब्रवीमि—अन्धक कुब्जकश्चैव इति।

सुवर्णसिद्धिराह–"भो ! सत्यमेतत्। दैवाऽनुकूलतया सर्व कल्याण सम्पद्यते। तथापि पुरुषेण सता वचन कार्यम्। पुनरेवमेव वर्तितव्यम्। अथ एवमेव यो वर्तते, स त्वमिव विनश्यति। तथा च—

व्याख्या—तत =तदनन्तरम्। लब्धदृष्टि =लब्धा दृष्टि येनाऽसौ लब्धदृष्टि =प्राप्तदर्शनशक्ति। तक्रमध्ये=तक्रभाण्डमध्ये। अवलोकयति=ददर्श। व्यचिन्तयत्=विचारितवान्। अनया=त्रिस्तन्या मम भार्यया। विजानामि=विस्तरेणावगच्छामि। चेष्टित =ईहित कृत्यम्। वधोपायक्रम =हननप्रयास। उताहो=अथवा। स्वाकार=स्वस्वरूपम्। गूहयन्=अप्रकटयन्। समागत्य=उपस्थाय। नि शङ्कतया =निर्भयतया। आलिङ्गनचुम्बनादिभि =सश्लेषमुख चुम्बनप्रभृतिभी रतिक्रीडया। सेवितु=रमितुम्। उपचक्रमे=आरब्धवान्। अवलोकयन्नपि =पश्यन्नपि। यावत्=यावत्पर्यन्तम्। शस्त्र=प्रहारसाधनमस्त्रम्। पूर्ववत्=अन्धवत्। कोपव्याकुलमना =क्रोधाक्रान्तचित्त। चरणाभ्याम्=पद्भ्याम्। सगृह्य=धृत्वा। सामर्थ्यात्=पूर्णशक्त्या। स्वमस्तकोपरि=निज-

शिरसि । भ्रामयित्वा=भ्रमण कारयित्वा । हृदये=वक्ष स्थले । व्यताडयत्=आघातितवान् । कुब्जप्रहारेण=कुब्जपादाघातन । तृतीय स्तन =त्रिनय मध्यस्थमुरोजम् । उरसि=हृदये । प्रविष्ट =अन्तरित । बलात्=बलाघातात् वेगात् । मस्तकोपरि=शिरसि । भ्रामणेन=परिभ्रामणेन चालनेन । प्राञ्जलता गत =ऋजुता–सामान्यस्वरूपता प्राप्त । दैवानुकूलतया=अदृष्टानुकूल्येन । सम्पद्यते=सम्पन्न भवति । सता=सज्जनानाम् । वचन =कथनम् । कार्यं=विधेयम् । वर्तितव्य=व्यवहार कार्य । विनश्यति=नाश गच्छति ।

हिन्दी—भापके सेवन से अन्धे की आंखे खुल गयी । बाद मे उसने देखा कि मटठे मे काले सांप के टुकडे पडे हुए है । यह देखकर उसने सोचा—अरे ! यह क्या है ? त्रिस्तनी ने तो मुझसे कहा था कि मछली का मास है । ये तो काले सांप के टुकडे है । अच्छा, जरा समझ तो लूं त्रिस्तनी की चाल को । यह मुझे मारने का उपाय किया किया गया है, या कुब्जे को अथवा किसी अन्य को । यह सोच कर वह अपने स्वरूप को छिपाते हुए अन्धे की तरह पूर्ववत् कार्य करने लगा ।

इसी समय वह कुबडा घर मे आकर त्रिस्तनी का आलिङ्गन एव चुम्बन आदि करके उसके साथ रमण करने लगा । अन्धे ने उन्हे इस अवस्था मे देख कर मारने के निमित्त जब दूसरी वस्तु नही पायी, तो क्रोध से व्याकुल होकर पूर्ववत् टटोलता हुआ खाट के पास जाकर कुबडे की दोनो टांगो को पकड लिया और पूर्ण बल लगाकर अपने शिर के ऊपर घुमाने के बाद त्रिस्तनी की छाती पर दे मारा ।

अन्धे के इस प्रहार से त्रिस्तनी का तीसरा स्तन उसकी छाती मे घुस गया और बलपूर्वक घुमाने के कारण कुबडा भी सीधा हो गया, इसलिए मैं कहता हूँ कि भाग्य के अनुकूल होने पर अन्धा, लगडा एव त्रिस्तनी तीनो का दोष बुरा कर्म करते हुए भी मिट गया ।

यह सुनकर सुवर्णसिद्धि ने कहा–भाई, तुम ठीक कहते हो । भाग्य के अनुकूल रहने पर सर्वत्र कल्याण लाभ होता है । फिर भी मनुष्यो को सज्जन व्यक्तियो का आदेश मानना चाहिए अपने मन का नही करना चाहिए । दूसरो की बात न मानकर अपने मन से कार्य करनेवाला व्यक्ति तुम्हारी ही तरह कष्ट उठाता है । क्योंकि कहा भी गया है—

एकोदरा पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिण ।
असहता विनश्यन्ति, भारुण्डा इव पक्षिण ॥" ९२ ॥

अन्वय.—असहता एकोदरा पृथग्ग्रीवा अन्योन्यफलभक्षिण भारुण्डा पक्षिण इव विनश्यन्ति ॥ ९२ ॥

व्याख्या—असहता =न सहता असहता =असमिलिता परस्परविरुद्धा सन्त । एकोदरा =एक समानमुदर येषा ते एकोदरा =अभिन्नकुक्षय । पृथग् ग्रीवा =पृथक् ग्रीवा येषा ते पृथग्ग्रीवा =भिन्नकण्ठा । अन्योन्यफलभक्षिण = अन्योऽन्य फल भक्षितु शील येषा ते अन्योन्यफलभक्षिण =परस्परविषम- फलाशिन । भारुण्डा =भारुण्डाख्या । पक्षिण =खगा । इव=यथा । विन- श्यन्ति=नाश प्राप्नुवन्ति । विनाशकारण पारस्परिको विरोधो न श्रेयसे जायते इत्यर्थं ॥ ९२ ॥

हिन्दी—एकमत होकर कार्य करनेवाले व्यक्ति एक उदर, किन्तु दो मुख वाले और परस्पर मे पृथक् पृथक् फलो को खानेवाले भारुण्ड नामक पक्षी के समान विनष्ट हो जाते हैं ॥ ९२ ॥

चक्रधर आह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

चक्रधर ने पूछा—'यह कैसे ?' सुवर्णसिद्धि ने कहा—

१३. भारुण्डपक्षि-कथा

कस्मिंश्चित् सरोवरे भारुण्डनामा पक्षी एकोदर, पृथग्ग्रीव प्रतिवसति स्म । तेन च समुद्रतीरे परिभ्रमता किंचित्फलममृतकल्पं तरङ्गक्षिप्त सम्प्राप्तम् । सोऽपि भक्षयन्निदमाह—"अहो, बहूनि मयाऽमृतप्रायाणि समुद्रकल्लोलाहृतानि फलानि भक्षितानि । परमपूर्वोऽस्यास्वाद । तत्किं पारिजातहरिचन्दनतरुसंभवम् ? किं वा किंचिदमृतमयफलमिदमव्यक्तेनापि विधिनाऽपातितम् ।"

एव तस्य ब्रुवतो द्वितीयमुखेनाऽभिहितम्—"भो, यद्येवं तन्ममाऽपि स्तोकं प्रयच्छ, येनाऽहमपि जिह्वासौख्यमनुभवामि ।"

ततो विहस्य प्रथमवक्त्रेणाऽभिहितम्—"आवयोस्तावदेकमुदरम्, एका तृप्तिश्च भवति । तत किं पृथग्भक्षितेन ? वरमनेन शेषेण प्रिया तोष्यते ।"

व्याख्या—अमृतकल्प =सुधासमान, मधुरम् । तरङ्गाक्षिप्त=जलवीचि- प्रक्षिप्तम् । सप्राप्त=लब्धम्, समुद्रकल्लोलाहृतानि =सागरतरङ्गानीतानि । अमृतप्रायाणि=अमृततुल्यानि फलानि । भक्षितानि=खादितानि । अपूर्व =अभि- नव । आस्वाद ।पारिजातहरिचन्दनतरुसभव=देववृक्षोत्पन्नम् । अमृतमय फल= सुधानिर्मितफलम् । अव्यक्तेन=अलक्षितेन । विधिना=दैवेन । आपातित=निपाति-

तम् । स्तोक=किञ्चिदल्पम् । प्रयच्छ=देहि । जिह्वासौख्य=आस्वादसुखम् । अनुभवामि=प्राप्नोमि । तृप्ति=सन्तोष । वरम्=एतदुचितम् । शेषेण= अवशिष्टभागेन । प्रिया=भार्या ।

हिन्दी—किसी सरोवर मे एक पेट, किन्तु पृथक् पृथक् कण्ठवाला एक भारुण्ड नाम का पक्षी रहता था । एक दिन समुद्र के किनारे घूमते हुए उसको अमृत तुल्य फल मिल गया, जो समुद्र की तरङ्गो द्वारा तीर पर लाया गया था । उस फल को खाते हुए उसने कहा—ओह ! मैंने समुद्र की लहरो द्वारा तीर पर लाये गये बहुत से अमृत तुल्य फल खाये थे, किन्तु इसका स्वाद तो विलक्षण ही है, तो क्या यह किसी देववृक्ष का फल है ? अथवा अलक्षित भाग्य ने कही से इस अमृतमय फल को लाकर यहाँ छोड दिया है ?

प्रथम मुख की इस बात को सुनकर द्वितीय मुख ने कहा—अरे भाई ! यदि इतना मधुर फल है तो थोडा मुझे भी दे दो, जिससे मैं भी इसके आस्वाद का आनन्द ले लूं ।

यह सुनकर पहले मुख ने कहा—हमारा एक ही तो पेट है और एक से ही तृप्ति भी होती है, फिर अलग-अलग खाने से क्या लाभ है ? अच्छा तो यह होगा कि अवशिष्ट भाग प्रियतमा को दे दिया जाय, जिससे वह भी सन्तुष्ट हो जायेगी ।

एवमभिधाय तेन शेष भारुण्ड्या प्रदत्तम् । साऽपि तदास्वाद्य प्रहृष्टतमा- लिङ्गनचुम्बनसभावनाद्यनेकचाटुपरा च बभूव । द्वितीय मुख तद्दिनादेव प्रभृति सोद्वेग सविषाद च तिष्ठति ।

अथाऽन्येद्युर्द्वितीयमुखेन विषफल प्राप्त । तद् दृष्ट्वाऽपरमाह—"भो निस्त्रिंश ! पुरुषाधम ! निरपेक्ष ! मया विषफलमासादितम् । तत्तवाऽपमानाद्भक्षयामि ।"

अपरेणाऽभिहितम्—"मूर्ख ! मा मैव कुरु । एव कृते द्वयोरपि विनाशो भविष्यति" । अथैव वदता तेनाऽपमानेन तत्फल भक्षितम् । किं बहुना, द्वावपि विनष्टौ ।" अतोऽह ब्रवीमि—

"एकोदरा. पृथग्ग्रीवा" इति ।

चक्रधर आह—"सत्यमेतत् । तद्गच्छ गृहम् । परमेकाकिना न गन्तव्यम् । उक्त च—

व्याख्या—एवमभिधाय=इत्थमुक्त्वा । तेन=प्रथममुखेन । भारुण्ड्या = प्रियायै । प्रदत्तम्=प्रददे । तदास्वाद्य=तद् भक्षयित्वा । प्रहृष्टतमा=अतिप्रसन्ना-

सती, आलिङ्गनचुम्बनसम्भावनाद्यनेकचाटुपरा = आलिङ्गन = समाश्लेष, चुम्बन=मुखादिचुम्बनम्, सम्भावन=भ्रूविक्षेपादि, चाटुतत्परा=प्रशंसावचन-तत्परा। बभूव=अजायत। सोद्वेग=सविषाद च उद्वेगेन विषादेन च सहित। अथ = अनन्तरम्। अन्येद्यु = अन्यस्मिन् दिने। विषफल=गरलफलम्। प्राप्त = लब्धम्। तद् दृष्ट्वा = तदासाद्य। अपर=प्रथमम्। मुखमाह = उक्तवान्। भो निस्त्रिंश !=हे निर्घृण ! निष्ठुर ! हे पुरुषाधम ! अधम जन ! हे निरपेक्ष != नि सङ्ग ! विषफल=गरलफलम्। आसादित=प्राप्तम्। तवापमानात्=तवाना-दरात्। भक्षयामि=खादामि। अपरेण=अन्येन प्रथममुखेन। अभिहित=कथितम्। मा मैव कुरु=एव न कर्तव्यम्। एव कृते=त्वया विषफले भक्षिते सति। द्वयो = आवयोरपि। विनाश =नाश। अथैव वदता = तत एव ब्रुवाणेन तेनापमानेन = तदनादरेण। तत्फल=विषफलम्। भक्षित=खादितम्। द्वावपि विनष्टौ= मृतौ। एकाकिना=एकेन न गन्तव्य=मा व्रजनीयम्।

हिन्दी—यह कहकर अवशिष्ट फल को उसने अपनी पत्नी को दे दिया। उस फल के खाने के बाद वह प्रसन्न होकर पति को आलिङ्गन चुम्बन तथा कटाक्ष-विक्षेप आदि द्वारा प्रसन्न करने लगी। दूसरा मुँह उस दिन से उदास एव खिन्न रहने लगा।

किसी दूसरे दिन दूसरे मुँह को एक विष का फल मिल गया। उसको देख-कर उसने कहा—अरे निष्करुण ! नराधम ! निरपेक्ष ! आज मैंने विषफल पाया है। तुमसे अपमानित होने के कारण मैं उसे खाऊँगा। यह सुनकर पहले मुँह ने कहा—मूर्ख ! ऐसा करने से तो हम दोनो का ही विनाश हो जायेगा।

उसके मना करने पर भी दूसरे मुँह ने उस फल को खा लिया। अधिक क्या कहा जाय, दोनो ही उस विषफल के खाने से मर गये। इसीलिए मैं कहता हूँ कि एकमत न होकर कार्य करने से भारुण्ड पक्षी के समान व्यक्ति का विनाश हो जाता है।

चक्रधर ने कहा—तुम ठीक कहते हो। अच्छा, तो तुम जाओ, किन्तु अकेले मत जाना, क्योंकि कहा गया है—

एक स्वादु न भुञ्जीत, नैक सुप्तेषु जागृयात्।
एको न गच्छेदध्वान, नैकश्चार्थान्प्रचिन्तयेत् ॥ ९३ ॥

अन्वय —एक स्वादु न भुञ्जीत, सुप्तेषु एक न जागृयात्। अध्वान एकः न गच्छेत् अर्थान् च एक न प्रचिन्तयेत् ॥ ९३ ॥

व्याख्या—एक =एकाकी मनुष्य । स्वादु =स्वादिष्ट मधुर वा वस्तु न भुञ्जीत=नाश्नीयात् । सुप्तेषु=निद्रितेषु । अन्येषु जनेषु । एक एकाकी जन । न जागृयात्=न जागरण कुर्यात् । तदानी सोऽपि शयीत । एक =असहाय पुमान् । अध्वान=पन्थानम् । न गच्छेत्=न व्रजेत् । एकश्च अर्थान्=विषयान् । न प्रचिन्तयेत्=नालोचयेत् । कमप्यपर सहाय कृत्वैव बहिर्गमनादिक कुर्यादिति भाव ॥ ९३ ॥

हिन्दी—स्वादिष्ट या मीठी वस्तु को अकेले नही खाना चाहिए। यदि साथ के सभी व्यक्ति सो गये हो, तो उनमे से एक व्यक्ति को नही जागना चाहिए। मार्ग मे अकेले ही यात्रा नही करनी चाहिए। किसी गूढ विषय पर अकेले ही विचार नही करना चाहिए ॥ ९३ ॥

अपि च—अपि कापुरुषो मार्गे द्वितीय क्षेमकारक ।
कर्कटेन द्वितीयेन जीवित परिरक्षितम् ॥ ९४ ॥

अन्वय —कापुरुष अपि द्वितीय मार्गे क्षेमकर (भवति) (यथा) द्वितीयेन कर्कटेन (ब्राह्मणस्य) जीवित परिरक्षितम् ॥ ९४ ॥

व्याख्या—कापुरुष =कुत्सित पुरुष कापुरुष =भयशीलो भीरुर्वा अपि । द्वितीय =स्वेतर । मार्गे=पथि । क्षेमकारक =क्षेम कल्याण करोतीति क्षेमकारक =कल्याणकारी हितकरो वा भवति । यथा द्वितीयेन=स्वस्मादितरेण । कर्कटेन=केनापि कुलीरकेण । ब्राह्मणस्य जीवित=जीवनम् । परिरक्षित=प्राणरक्षण कृतम् । क्वचन गन्तु काम स्वकीयरक्षणार्थं कमप्यपर सहायमवश्य कुर्यादित्यर्थं ॥ ९४ ॥

हिन्दी—मार्ग मे यदि अत्यन्त भीरु व्यक्ति हो तो भी उसे साथ लेकर जाना चाहिए, क्योकि साथ में रहने के कारण ही कर्कटक ने ब्राह्मण की जीवनरक्षा की थी ॥ ९४ ॥

सुवर्णसिद्धिराह—"कथमेतत् ?" सोऽब्रवीत्—

सुवर्णसिद्धि ने पूछा—'यह कैसे हुआ ?' चक्रधर ने कहना आरम्भ किया

१४ ब्राह्मणकर्कटक-कथा

कस्मिश्चिदधिष्ठाने ब्रह्मदत्तनामा ब्राह्मण प्रतिवसति स्म । स च प्रयोजनवशाद् ग्राम प्रस्थित स्वमात्राऽभिहित, यद्—"वत्स ! कथमेकाकी व्रजसि ? तदन्विष्यता कश्चिद् द्वितीय सहाय ।

स आह—"अम्ब ! मा भैषी । निरुपद्रवोऽयं मार्गं । कार्यवशादेकाकी गमिष्यामि "

अथ तस्य त निश्चयं ज्ञात्वा, समीपस्थवाप्या सकाशात्कर्कटमादाय मात्राऽभिहित—"वत्स ! अवश्य यदि गन्तव्य, तदेष कर्कटोऽपि सहायो भवतु । तदेन गृहीत्वा गच्छ "

सोऽपि मातुर्वचनादुभाभ्या त पाणिभ्या सगृह्य कर्पूरपुटिकामध्ये निधाय, पात्रमध्ये संस्थाप्य शीघ्र प्रस्थित ।

व्याख्या—कस्मिश्चिदधिष्ठाने=कस्मिश्चिन्नगरे । प्रतिवसतिस्म=निवसतिस्म । प्रयोजनवशात्=अत्यावश्यककार्यात् । प्रस्थित =प्रचलित । स्वमात्रा=निजजनन्या । अभिहित =उक्त । एकाकी=एक , असहाय । व्रजसि=गच्छसि । तत्=तस्मात् कारणात् । अन्विष्यता=मृग्यताम् । द्वितीय =अपर । सहाय = सहायक । अम्ब !=मात !, मा भैषी =भय न कुरु । निरुपद्रव =निर्विघ्न । अय मार्ग =एष =पन्था । तस्य =बालकस्य । निश्चय=निर्णयम् । ज्ञात्वा=अवगत्य । समीपस्थवाप्या =निकटस्थवाप्या । कर्कट=कुलीरम् । आदाय गृहीत्वा । वत्स !=पुत्र ! । एत गृहीत्वा=कर्कटमेनमादाय । सहाय =सहचर । उभाभ्या = द्वाभ्याम् । पाणिभ्या = हस्ताभ्याम् । सगृह्य=धृत्वा । कर्पूरपुटिकामध्ये =कर्पूरपेटिकायाम् । सस्थाप्य = निधाय, । पात्रमध्ये=अन्यस्मिन् पात्रे । निधाय शीघ्र प्रस्थित =त्वरित प्रचलित ।

हिन्दी—किसी नगर मे ब्रह्मदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था । वह आवश्यक कार्य से जब एक दिन किसी दूसरे ग्राम को जाने लगा, तो उसकी माँ ने कहा—पुत्र ! अकेले क्यो जा रह हो, किसी साथी को खोज लो ।

उसने उत्तर दिया—माँ, आप डरें मत, यह मार्ग निर्विघ्न है । कुछ कार्य-वश अकेले ही जा रहा हूँ ।

माँ ने उसके दृढ निश्चय को जानकर पास की बावली से कर्कट को लाकर देते हुए कहा—वत्स ! यदि तुम्हारा वहाँ जाना आवश्यक है तो इस केंकडे को ही साथ मे ले लो । यही तुम्हारा सहायक होगा ।

मा की आज्ञा से उसने उस केकडे को दोनो हाथो से पकडकर कपूर की डिबिया मे रख लिया और उसे झोले मे रखकर चल दिया ।

अथ गच्छन्ग्रीष्मोष्मणा सन्तप्त कश्चिन्मार्गस्थ वृक्षमासाद्य, तत्रैव प्रसुप्त । अत्रान्तरे वृक्षकोटरान्निर्गत्य सर्पस्तत्समीपमागत ।

स चाभ्यन्तरगतां कर्पूरपुटिकामतिलौल्यादभक्षयत्। सोऽपि कर्कटस्तत्रैव स्थितः सन् सर्पप्राणानपाऽहरत। ब्राह्मणोऽपि यावत्प्रबुद्धः पश्यति, तावत्समीपे मृतः कृष्णसर्पो निजपार्श्वे कर्पूरपुटिकोपरि स्थितस्तिष्ठति। तं दृष्ट्वा व्यचिन्तयत्—"कर्कटेनाऽयं हतः" इति। प्रसन्नो भूत्वाऽब्रवीच्च—"भो! सत्यमभिहितं मम मात्रा यत्—"पुरुषेण कोऽपि सहायः कार्यः। नैकाकिना गन्तव्यम्।" यतो मया श्रद्धापूरितचेतसा तद्वचनमनुष्ठितं तेनाऽहं कर्कटेन सर्पव्यापादनाद्रक्षितः" अथवा साध्विदमुच्यते—

व्याख्या—गच्छन्=व्रजन्। ग्रीष्मोष्मणा=ग्रीष्मार्तघर्मेण। सन्तप्तः=प्रतप्तः। मार्गस्थम्=पथि वर्तमानम्। वृक्षम्=तरुम्। आसाद्य=प्राप्य। तत्रैव=वृक्षस्याधस्तात्। प्रसुप्तः=शयितः। वृक्षकोटरात्=तरुविवरात्,वृक्षरन्ध्रात्। निर्गत्य=निःसृत्य। तत्समीपं=ब्राह्मणसमीपम्। स च=सर्पः। अभ्यन्तरगताम्=वस्त्रान्तर्गताम्। कर्पूरपुटिकाम्। अतिलौल्यात्=जिह्वोत्कण्ठ्यात्। तत्रैव=पुटिकायाम्। सर्पप्राणान्=सर्पजीवनम्। अपाहरत्=व्यनाशयत्। प्रबुद्धः=सुप्तोत्थितः। व्यचिन्तयत्=चिन्तयामास। कर्कटेन=कुलीरेण। हतः=मारितः। अब्रवीत्=उवाच। अभिहितं=कथितम्। मम मात्रा=मे जनन्या। श्रद्धापूरितचेतसा = श्रद्धापूर्णहृदयेन। तद्वचनं=मातुः कथनम्। अनुष्ठितं=कृतम्। सर्पव्यापादनात्=सर्पदंशनात्, सर्पमारणात्। रक्षितः=मोचितः।

हिन्दी— कुछ दूर जाने के बाद ग्रीष्मकालिक भीषण धूप से व्याकुल होकर रास्ते के बीच मे ही एक पेड के नीचे वह सो गया। इसी समय पेड के खोखले से निकलकर एक सांप उस ब्राह्मण के पास आया।

कपूर की सुगन्धि मे स्वाभाविक रुचि होने के कारण सर्प ने ब्राह्मण को छोड दिया और पोटली को फाडकर उसके अन्दर रखी हुई कपूर की डिबिया को लोभवश निगलने लगा। उसमे रखे हुए केकडे ने बाहर निकलकर साप को मार डाला।

नीद खुलने पर जब ब्राह्मण ने इधर उधर देखा, तो उसकी दृष्टि पास मे पडी हुई उस कपूर की डिबिया पर पडी, जिसपर मरा हुआ वह साप पडा था। उस साप को देखकर वह सोचने लगा कि केकडे ने ही इसको मारा है। पुनः उसने अपने मन मे सोचा कि मेरी मा ने ठीक ही कहा था—यात्राकाल मे मनुष्य को कोई न कोई सहायक अवश्य खाज लेना चाहिए। अच्छा ही हुआ कि मैंने श्रद्धापूर्वक मा की आज्ञा को [illegible] किया था। उसी का यह परिणाम है कि

आज इस केकडे ने मुझे साँप के काटने से बचा लिया है। अथवा ठीक ही कहा गया है—

क्षीणः श्रयति शशी रविमृद्धो वर्द्धयति पयसा नाथम्।
अन्ये विपदि सहाया धनिना, श्रियमनुभवन्त्यन्ये ॥ ९५ ॥

अन्वय —क्षीण शशी, रवि श्रयति, ऋद्ध (शशी) पयसा नाथ वर्द्धयति (एवमेव) विपदि धनिना सहाया अन्ये (भवन्ति) (तेषा) श्रिय च अन्ये अनुभवन्ति ॥ ९५ ॥

व्याख्या—क्षीण =कलाक्षय प्राप्त, कलाविहीनो वा। शशी=चन्द्रमा। रवि=सूर्यम्। श्रयति=आश्रयते। ऋद्ध =समृद्ध पूर्णकल। पयसा नाथ= समुद्रम्। वर्द्धयति=प्रवर्द्धयति आनन्दयति वा। अत स्पष्टमेवैतत् यत् विपदि= आपत्तौ। धनिना=समृद्धानाम्। सहाया =सहायका अन्ये भवन्ति। तेषा श्रिय=लक्ष्मी, धनम्। अन्ये=इतरे जना। अनुभवन्ति=उपभुञ्जते।

"स्रवति" "रविवृद्धो" इति पाठान्तरे तु व्याख्या—

क्षीण =कलाविहीनोऽपि। शशी=चन्द्रमा। स्रवति=अमृत वर्षति, लोक-आनन्दयति। रविवृद्धो=रवे सकाशात् कलाभिवृद्धो सत्या स एव चन्द्र = पयसा नाथ समुद्र वर्द्धयति=वृद्धि नयति। अन्ये=विरलाः पुरुषा। विपदि= आत्मनो विपत्तौ जातायामपि परेषा सहाया भवन्ति। अन्ये=इतरे तु धनिना श्रीसम्पन्नानां, श्रिय=सम्पत्तिम्। अनुभवन्ति=उपभुञ्जते। अर्थात् महा-पुरुषा कष्टे पतिता अपि लोकानानन्दयन्ति, किं पुनर्वक्तव्य यदि ते सम्पत्ति-परिपूर्णा स्युरित्यर्थं ॥ ९५ ॥

हिन्दी—अपनी विपत्ति के समय दूसरो की सहायता करनेवाले लोग दूसरे होते हैं और बहुतेरे लोग धनिको की सम्पत्ति का अनुभव करते हैं। जैसे चन्द्रमा क्षीण होने पर भी अमृत बरसाता है और वही सूर्य के द्वारा कलाभि-वृद्धि होने पर समुद्र को बढाता है।

अमावास्या का कलाहीन चन्द्रमा सूर्य का आश्रय ग्रहण करता है, पूर्णिमा के दिन कलाओसे पूर्ण होने पर सूर्यको भूल जाता है तथा समुद्र को आह्लादित करता है। इससे यह स्पष्ट है कि सम्पन्न व्यक्तियो को आपत्ति काल मे सहयोग देनेवाले दूसरे व्यक्ति होते है और उनके धन का उपयोग दूसरे व्यक्ति करते हैं।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥ ९६ ॥

अन्वयः—मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भैषजे गुरौ च यस्य यादृशी भावना भवति तादृशी (एव तस्य) सिद्धि भवति ॥ ९६ ॥

व्याख्या—मन्त्रे=मन्त्रसिद्धौ। तीर्थे=पवित्रे काश्यादिक्षेत्रे। तीर्थयात्रायां तीर्थस्थाने वा। द्विजे=ब्राह्मणे। देवे=देवतायाम्। दैवज्ञे=ज्योतिषिके। भेषजे=औषधौ। गुरौ=उपदेष्टरि च यस्य=जनस्य। भावना=भक्तिर्विश्वासो वा श्रद्धा वा। यादृशी=सम्यगसम्यग्वा। येन प्रकारेण वर्तते। तस्य=पुरुषस्य। तादृशी=तथैव। सिद्धि =फलप्राप्ति। भवति=जायते। मन्त्रतीर्थादिभिर्भावनानुकूलमेव फल प्राप्नुवन्ति मानवा इत्यर्थ ॥ ९६ ॥

हिन्दी—ठीक भी है—मन्त्र की साधना मे, तीर्थयात्रा एव तीर्थस्थान मे ब्राह्मणो की सेवा आदि मे, देवताओ के विषय मे, भविष्यवक्ता ज्योतिषियो मे, औषधियो मे तथा गुरु मे जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है उसके अनुसार ही उसको फल भी मिलता है ॥ ९६ ॥

एवमुक्त्वाऽसौ ब्राह्मणो यथाऽभिप्रेत गत ।

व्याख्या—एव पूर्वोक्तम्। उक्त्वा=पठित्वा। ब्राह्मणो=असौ=ब्रह्मदत्त। यथाभिप्रेत=यथेच्छ स्थानम्। गत=प्रस्थित।

हिन्दी—ऐसा कहकर वह ब्राह्मण अपने लक्ष्य स्थान को चला गया।

अतोऽहं ब्रवीमि—"अपि कापुरुषो मार्गे" इति।

एव श्रुत्वा सुवर्णसिद्धिस्तमनुज्ञाप्य स्वगृह प्रति निवृत्त ।

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते पञ्चतन्त्रेऽपरीक्षितकारक नाम पञ्चमं तन्त्र समाप्तम्।

एव=ब्रह्मदत्तचरितम्। श्रुत्वा=निशम्य। सुवर्णसिद्धि=स्वर्णप्रापक। तम-नुज्ञाप्य=भ्रमच्चक्रमस्तक स्व मित्रम्। अनुज्ञाप्य=प्राध्र्य, सम्बोध्य वा। तेनानुमत स्वगृह=निजभवनम्। प्रतिनिवृत्त=अनुप्रस्थित, परावृतो वा जात।

इस कथा को सुनने के बाद चक्रधर ने सुवर्णसिद्धि से कहा—इसलिए मैं कहता हूँ कि यात्रा के समय साथ मे रहनेवाला अति दुर्बल प्राणी भी उपकारक होता है।

चक्रधर की पूर्वोक्त बात सुनकर सुवर्णसिद्धि उसकी आज्ञा लेकर अपने घर की ओर लौट गया।

इस प्रकार विष्णुशर्मा द्वारा प्रणीत पञ्चतन्त्र नामक ग्रन्थ के अपरीक्षित-कारक नाम के पाँचवें तन्त्र (प्रकरण) की डा० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी द्वारा की गयी व्याख्या एव हिन्दी अनुवाद समाप्त।

—.०.—